॥ ओ३म् ॥

अथ वेदांगप्रकाशः

तत्रत्य

अष्टमो भागः ।

आख्यातिकः ॥

श्रीमत् स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतव्याख्या-
सहितः । पाणिनिमुनिप्रणीतायामष्टाध्याय्यां
सप्तमो भागः । पठनपाठनव्यवस्थायां
दशमम्पुस्तकम् ।

प्रकाशक

आर्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर.

संवत् २००८

प्रथमावृत्ति 1000 | सन १९५१. | अजिल्द ५) सजिल्द ५॥)

प्रकाशक—
आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड,
अजमेर.

मुद्रक—
म० मथुराप्रसाद शिवहरे
दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर.

ओ३म्

अथ भूमिका।



यह अष्टाध्यायी का सातवां भाग और पठन-पाठन व्यवस्था में दशम पुस्तक है। 'आख्यात' उस को कहते हैं कि जो प्रकृति प्रत्ययों के संयोग से भाव, कर्म, कर्त्ता, भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल, एक, द्वि और बहुत अर्थों के वाचक हैं। इस ग्रन्थ में मुख्य † करके आख्यात शब्दों ही का व्याख्यान किया है इससे इसको आख्यातिक कहते हैं।

(प्रश्न) 'धातु' किन को कहते हैं?

(उत्तर) जो सत्ता आदि विविध प्रकार के अर्थों को धारण करें।

(प्रश्न) वे कौन हैं?

(उत्तर) भू आदि शब्द।

(प्रश्न) भू आदि शब्द के प्रकार के होते हैं?

(उत्तर) दो प्रकार के, एक सामान्यार्थवाची और दूसरे विशेषार्थवाची। सामान्यार्थवाची उन को कहते हैं कि जिन का योग सब विशेषार्थवाचकों के साथ रहे। जैसे—योऽस्ति स भवति। यो भवति स करोति। जो है सो होता [है] और जो होता है सो

† यद्यपि इस ग्रन्थ में कृदन्त का व्याख्यान भी है तथापि आख्यात भाग की प्रधानता होने से इसका नाम आख्यातिक रक्खा है। इसी बात को 'प्राय' शब्द सूचित करता है।

ही करता है, और जो नहीं है उसका होना क्या, और जो नहीं होता उसके करने का तो क्या ही संभव है ? दूसरे विशेषार्थवाचक उन को कहते हैं कि जिनका प्रयोग विशेष व्यवहारों में किया जावे। जैसे—देवदत्तः किं करोति ? स भूते-पचति, भुङ्क्ते, पठति, ददाति वा इत्यादि। जैसे किसी से किसी ने पूछा कि देवदत्त क्या करता है ? वह उत्तर देता है—पकाता है, भोजन करता है, पढ़ता है अथवा दान देता है।

(प्रश्न) आख्यात का क्या लक्षण है ?

(उत्तर) भावप्रधानमाख्यातम् ‡ जो धातु से परे लकारों के स्थान में तिङ् आदि आदेश किये जाते हैं वे भावप्रधान अर्थात् भू आदि धातुओं के सत्ता आदि अर्थों के वाचक होते हैं, उन्हीं को आख्यात कहते हैं।

(प्रश्न) कितने अर्थों में लकारों के स्थान में तिङ् आदि आदेश होते हैं ?

(उत्तर) तीन अर्थात् भाव, कर्म और कर्ता अर्थों में। भाव दो प्रकार का होता है एक आभ्यन्तर, दूसरा बाह्य। आभ्यन्तर भाव उस को कहते हैं कि जो धात्वर्थमात्र में स्थित होकर सामान्य अर्थ का वाचक होता है। जिसके एक होने से एक ही वचन होता है जैसे—आस्यते भवता भवद्भ्यां भवद्भिर्वा, आसितव्यम्, भवितव्यम् इत्यादि। इस में कदापि द्विवचन और बहुवचन का प्रयोग नहीं हो सकता। और बाह्यभाव उस को कहते हैं कि जिस में एक, द्वि और बहुवचन के प्रयोग होवें। कृदभिहितो भावो द्रव्यवद्भवति। महाभाष्य अ० ३। पा० १। सू० ६७। द्रव्यों के समान इस के अनेक प्रकार होने से एक, द्वि और बहुवचनान्त प्रयोग होते हैं। जैसे—भावः, भावौ, भावाः, पाकः, पाकौ, पाकाः इत्यादि।

---

‡ निरुक्त १। १॥

क उसको कहते हैं कि जो कर्त्ता के करने से ही किया जाय। जैसे—देवदत्तः कटं करोतीत्यादि। यहां कर्त्ता के किये विना चटाई कदापि नहीं बन सकती।

कर्त्ता उसको कहते हैं कि जो स्वाधीन साधनों से युक्त होकर क्रिया करने में स्वतन्त्र होवे। जैसे—देवदत्त कर्त्ता, चटाई कर्म और करना क्रिया है। इस में विशेष यह कि—इदं विचार्यते—भावकर्मकर्त्तारः सार्वधातुकार्था वा स्युर्विकरणार्था वेति। एवं तर्हीदं स्यात्—यदा भावकर्मणोर्लस्तदा कर्त्तरि विकरणः। यदा कर्त्तरि लस्तदा भावकर्मणोर्विकरणः। [इदमस्य वचनं स्वाभाविकमथापि वाचनिकं प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत इति। न चास्ति संभवो यदेकस्याः प्रकृतेर्द्वयोर्नानार्थयोर्युगपदनुसहायीभावः स्यात्। एवं च कृत्वैकपक्षीभूतमेवेदं भवति—सार्वधातुकार्था एवेति]। महाभाष्य अ० ३। पा० १। सू० ६७।

यह विचारना चाहिये कि भाव, कर्म और कर्त्ता तिङ् प्रत्ययों के अर्थ हैं? वा विकरण शप् आदि के? इस की व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिये कि जब भाव कर्म अर्थों में लकार हों तब तो कर्त्ता मे विकरण और जब कर्त्ता में लकार हो तब भाव कर्म अर्थों मे विकरण होवें। यह ठीक नहीं, क्योंकि तिङ् और विकरण आदि प्रत्ययों की अर्थों के कहने की शक्ति चाहे स्वाभाविक हो चाहे वाचनिक (सूत्रकार द्वारा संकेतित), दोनों अवस्था में प्रकृति और प्रत्यय मिलकर एकार्थ को कहते हैं। इसलिए यह सम्भव नहीं कि एक प्रकृति का दो विभिन्नार्थक प्रत्ययों के साथ सम्बन्ध हो। अतः इस विषय में दो पक्ष उठ ही नहीं सकते, एक यही पक्ष है—भाव, कर्म और कर्त्ता ये सार्वधातुक के ही अर्थ हैं।

(प्रश्न) किन धातुओं से लकार किन अर्थों में होते हैं ?

(उत्तर) अकर्मक धातुओं से भाव और कर्त्ता अर्थ में तथा सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्त्ता अर्थ में होते हैं ।

(प्रश्न) अकर्मक और सकर्मक धातुओं का क्या लक्षण है ?

(उत्तर) जिन धातुओं का सम्बन्ध कर्म के साथ होता है वह सकर्मक कहाती हैं, और जिनका सम्बन्ध कर्म के साथ नहीं होता वह अकर्मक होती हैं । सकर्मक, जैसे—पुस्तकं पठति, ग्रामं गच्छति, ओदनं पचति इत्यादि । यहां पठ का पुस्तक, गम का ग्राम और पच का ओदन के साथ सम्बन्ध है । अकर्मक, जैसे—भवति, विद्यते, हसति इत्यादि । यहां भू, विद और हस धातु का किसी कर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । अत ये अकर्मक हैं ❀ ।

❀ सकर्मक और अकर्मक धातुओं की व्यवस्था कई प्रकार से समझी जाती है । मुख्य तो यही है कि जिस प्रकरण में प्रयुक्त क्रिया हो उसका अर्थ किसी कर्म के साथ सम्भवित होवे तो सकर्मक, नहीं तो अकर्मक । और जो धातु सकर्मक हैं वे ही कभी देश, काल और वस्तु के भेद से अकर्मक और अकर्मक सकर्मक भी हो जाते हैं । और जितने धातु अकर्मक हैं वे सब किसी पदार्थ के आश्रय से सकर्मक हो जाते हैं, जैसे—मासमास्ते । यह आस धातु अकर्मक है इसका मास ही कर्म हो जाता है । इस प्रकरण को कारकीय ग्रन्थ के कर्मकारक प्रकरण में भी लिख चुके हैं । अर्थात् जिस जिस की कर्म संज्ञा यहां करदी है । उस उस अर्थ का जिस जिस धातु के साथ सम्भव हो उस उस को सकर्मक अन्य सब अकर्मक मानने चाहियें ।

क्रिया का लक्षण—"का पुनः क्रिया ? ईहा। का पुनरीहा ? चेष्टा। का पुनश्चेष्टा ? व्यापारः। सर्वथा भवाञ्छब्दैरेव शब्दान् व्याचष्टे न किंचिदर्थजातं निदर्शयत्येवं जातीयका क्रियेति। क्रिया नामेयमत्यन्ताऽपरिदृष्टा, अशक्या पिण्डीभूता निदर्शयितुम्। यथाऽसौ गर्भो निर्लुठितः। साऽसावनुमानगम्या। कोऽसावनुमानः ? इह सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु यदा पचतीत्येतद्भवति सा नूनं क्रिया। अथवा यया देवदत्त इह भूत्वा पाटलिपुत्रे भवति सा नूनं क्रिया"। महाभाष्य अ० १। पा० ३। सू० १। आ० १।

क्रिया उस को कहते हैं कि जो कुछ आत्मा, मन, प्राण, इन्द्रिय और शरीर में चेष्टा होती है, जैसे कोई मनुष्य चलते हुए हाथ को देख कर अनुमान करता है कि जिससे यह हाथ चलता है वही क्रिया है। जो अनुमान से जानने योग्य है वह आंख आदि इन्द्रियों से ग्रहण करने में कैसे आ सकती है ? किन्तु विज्ञान ही से दिखलाई देती है।

धातु और प्रत्ययस्थ अनुबन्धों के प्रयोजन—जिन धातुओं के उदात्त अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ऌ, ए और ओ, ये अनुबन्ध इत्संज्ञक होते हैं उनसे परस्मैपद और जिन के पूर्वोक्त हो अनुदात्त अकारादि स्वर इत्संज्ञक हों उन और व्यञ्जनों में ङकार जिन का इत्संज्ञक होता है उनसे आत्मनेपद होता है[1]। जिन का स्वरित अकारादि तथा ञकार इत्संज्ञक हो उनसे आत्मनेपद और परस्मैपद दोनों होते हैं।[2] जिनका आकार इत् जाता है उन और जिन का ईकार इत् जाता है उन से परे निष्ठासंज्ञक प्रत्ययों को इट्

१. अनुदात्तङित आत्मनेपदम्। आ० ९७। २ स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले। आ० १०५।

का आगम नहीं होता[१] । जिनका ह्रस्व इकार इत् जाता है उनको नुम का आगम होता है[२] । जिनका उकार इत् जाता है उन से परे क्त्वा प्रत्यय को इट् का आगम विकल्प[३] करके और निष्ठा प्रत्यय को इडागम नहीं[४] होता है । जिनका ऊकार इत् जाता है उन से परे सामान्य आर्धधातुक प्रत्यय को इट् का आगम विकल्प[५] करके और निष्ठा प्रत्यय को इट् का आगम नहीं[६] होता । जिनका ह्रस्व ऋकार इत् जाता है चङ्परकणिच् परे हो तो उनके उपधा को ह्रस्व नहीं होता[७] । जिनका लृकार इत् जाता है उन से परे च्लि प्रत्यय के स्थान मे अङ् आदेश होता है[८] । जिनका एकार इत् जाता है उनको इडादि सिच् के परे परस्मैपद मे वृद्धि नहीं होती है[९] । जिन का ओकार इत् जाता है उन से परे निष्ठा के तकार का नकार आदेश होता है[१०] । जिनका ञि इत् जाता है उन से परे वर्तमान काल मे क्त प्रत्यय होता है[११] । जिन का टु इत् जाता है उन से परे अथुच् प्रत्यय होता है[१२] । जिन का डु इत् जाता है उन से क्त्रि प्रत्यय होता है[१३]। और जिन का ष इत् जाता है उन से स्त्रीलिङ्ग मे अङ् प्रत्यय होता है[१४], इत्यादि प्रयोजन जानो ।

---

१ आकार—आदितश्च। आ० ११७० । ईकार-श्वीदितो निष्ठायाम् । आ० ११७५ । २ इदितो नुम् धातोः । आ० १२८ । ३ उदितो वा । आ० १५४४ । ४ यस्य विभाषा । आ० ११६२ । ५ स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा । आ० १४० । ६ यस्य विभाषा । आ० ११६२ । ७ नाग्लोपिशास्वृदिताम् । आ० ४६७ । ८ पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु । आ० । २१७ । ९ ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम् । आ० १६२ । १० ओदितश्च । आ० ११५६ । ११ ञीतः क्तः । आ० १२३१ । १२ ट्वितोऽथुच् । आ० १४२० । १३ ड्वितः क्त्रिः । आ० १४३९ । १४ षिद्भिदादिभ्योऽङ् । आ० १४६३ ।

अब संक्षेप से प्रत्ययस्थ अनुबन्धों के प्रयोजन कहते हैं—जिनका ककार, गकार और ङकार इत् जाता है वे प्रत्यय परे हों तो अङ्ग को गुण और वृद्धि नहीं होती[1]। [कित् परे रहने पर] वचि स्वपि [और यज] आदि धातुओं को सम्प्रसारण[2] और अन्तोदात्त स्वर[3] भी होता है, और कित् ङित् के परे ग्रह आदि धातुओं को सम्प्रसारण भी होता है[4]। और ञित् णित् प्रत्यय के परे अजन्त अङ्ग तथा उपधाभूत अकार को वृद्धि[5] होती और प्रकृति को आद्युदात्त स्वर[6] भी होता है। चित् का अन्तोदात्तस्वर प्रयोजन है[7]। टित् का प्रयोजन ङाप् प्रत्यय[8], ङित् का प्रयोजन टिलोप[9], तित् का प्रयोजन स्वरितस्वर[10] होता है।

आगमस्थ [अनुबन्धों] के प्रयोजन—टित्, कित् और मित् ये तीन प्रकार के आगम होते हैं। इन के नियम ये हैं कि प्रकृति और प्रत्यय के समुदाय में टित् आगम जिस को विधान करें उस के आदि का अवयव[11], कित् आगम जिस का विधान करें उस के अन्त का अवयव और मित् आगम जिसको विधान करें उसके अन्त्य अच् से परे[12] होता है।

(प्रश्न) आदि और अन्त का क्या लक्षण है ?

(उत्तर) "यस्मात् पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिरित्युच्यते । यस्मात् पूर्वमस्ति परं च नास्ति सोऽन्त इत्युच्यते" । महाभाष्ये अध्याय १ । पादे १ । सूत्रम् २१ ।

जिसके पूर्व कुछ न हो और पर हो वह आदि कहाता है, और जिस के पूर्व कुछ है और पर नहीं है उसको अन्त कहते हैं ।

(प्रश्न) कौन कौन धातु सेट् और कौन कौन अनिट् होते हैं ?

(उत्तर) "अथ के पुनरनुदात्ता ? आदन्ता अदरिद्रा । इवर्णान्ताश्चाश्रि-श्वि-डी शी-दीधी वेवीङ । उकारान्ता. यु-रु णु-क्षु-क्ष्णु-स्नूर्णुवर्जम् । ऋदन्तश्चाऽजागृ-वृङ्-वृञ । शकि कवर्गान्तानाम् । पचि-वचि-सिचि-मुचि-रिचि-विचि-प्रच्छि-यजि-भजि भञ्जि-रञ्जि-सृजि त्यजि-भुजि-भ्रस्जि-मस्जि-रुजि-युजि-णिजि-विजि-सञ्जि-स्वञ्जयश्चवर्गान्तानाम् । अदि-सदि-शदि-हदि-छिदि-छृदि-तुदि-खिदि-भिदि-स्कन्दि-क्षुदि -स्विद्यति-पद्यति विन्दि-विन्ति-विद्यति-राधि-युधि-बुधि-शुधि क्रुधि रुधि साधि व्यधि बन्धि-सिध्यति-हनि-मन्य-तयस्तवर्गान्तानाम् । तपि-तिपि वपि शपि छुपि-लुपि-लिपि स्वप्यापि क्षिपि सृपि-तृपि-दृपि-यमि-रभि लभि गमि-रमि-नमि-नमय पवर्गान्तानाम् । दंशि रिशि-दिशि-विशि लिशि-स्पृशि-क्रशि-मृशि-मृशि-दशि-पुष्यति त्विषि-कृषि-श्लिषि-विषि-पिषि-शिषि-शुषि-तुषि-दुषि-द्विषि-घसि-वसि-दहि-दिहि नहि-दुहि-नहि-रुहि लिहि-मिहयश्चाऽऽदमान्तानाम् । "वमि प्रमाणी" । महा० अ० ७ । पा २ । सू० १० ।

आकारान्तों में एक दरिद्रा धातु को छोड़ के शेष सब अनिट् हैं । इवर्णान्तों में श्रि, श्वि, डी, शी, दीधी, वेवी इन छः धातुओं

को छोड़ के शेष अनिट्, तवर्णान्तों में यु, रु, णु, क्षु, क्ष्णु, स्नु, ऊर्णु इन सात धातुओं को छोड के शेष अनिट्, ऋ-णान्तों में जागृ, वृङ्, वृञ् धातुओं को छोड़ के बाकी अनिट् [हैं], कवर्गान्तों में एक शकि धातु अनिट् बाकी सब सेट्, चवर्गान्तों में यथाक्रम से पठित पचि आदि बाईस (२२) धातु अनिट् बाकी सब सेट्, तवर्गान्तों में यथापठित अदि आदि अट्ठाईस (२८) धातु अनिट् अन्य सब सेट्। पवर्गान्तों में तिपि आदि यथापठित बीस (२०) धातु अनिट् अन्य सब सेट् और ऊष्मान्त अर्थात् श ष स और ह जिन के अन्त में हों उन में शदि आदि इकत्तीस (३१) धातु अनिट् अन्य सब सेट् हैं। इन में वम धातु वह समझना चाहिये कि जिस को सम्प्रसारण होता है अर्थात् आच्छादनार्थवाची का ग्रहण नहीं समझना। पूर्वोक्त सेट् अनिट् धातुओं की व्यवस्था महाभाष्यकार ने इस प्रकार लिखी है परन्तु इसमें सब धातुओं का इक्प्रत्ययान्त निर्देश किया है इस बात का बोध ठीक ठीक नहीं होता, सो इसका विशेष व्याख्यान गणस्थ धातुओं में देखने से विदित होगा।

इस विषय में किन्हीं प्राचीन शिष्ट † वैयाकरणों की बनाई कारिका भी हैं सो आगे लिखते हैं:—

> अनिट् स्वरान्तो भवतीति दृश्यताम्,
> इमांस्तु सेटः प्रवदन्ति तद्विदः।
> अदन्तमृदन्तमृतां च वृङ्वृञौ,
> श्विडीङिवर्णेष्वथ शीङ्श्रिआवपि ॥ १ ॥

---

† ये अनिट् कारिकाएं आचार्य व्याघ्रभूति विरचित हैं। देखो, माधवीया धातुवृत्ति—शिष धातु पृष्ठ ११२, मृश धातु पृष्ठ १५२।

गणस्थमूदन्तमुतां च रुस्नुवौ,
क्षुवन्तथोर्णोतिमथो युणुक्ष्णवः ।
इति स्वरान्ता निपुणं समुच्चितास्,
ततो हलन्तानपि सन्निबोधत ॥ २ ॥

धातु दो प्रकार के होते हैं—एक स्वरान्त, दूसरे व्यञ्जनान्त । उनमें स्वरान्त एकाच् धातु सब अनिट् होते हैं परन्तु अकारान्त, दीर्घ ऋकारान्त, ह्रस्व ऋकारान्तों में—वृङ् वृञ्, इवर्णान्तों में श्वि डीङ् शीङ् और श्रिञ्, गणों में पढ़े सब ऊकारान्त तथा उवर्णान्तों में—रु स्नु क्षु ऊर्णु यु णु और क्ष्णु, इन सब को छोड़ के [सब अनिट् होते हैं] अर्थात् ये अकारान्त आदि जो गिनाये हैं सब सेट् हैं * । इस के आगे हलन्त.—

शकिस्तु कान्तेष्वनिडेक इष्यते,
घसिश्च सान्तेषु वसिः प्रसारणी ।
रभिस्तु भान्तेष्वथ मैथुने यभिस्,
ततस्तृतीयो लभिरेव नेतरे ॥ ३ ॥

---

* स्वरान्तों में महाभाष्यकार ने अनेकाच् की अपेक्षा छोड़ के आकारान्तों में दरिद्रा और इवर्णान्तों में दीधीङ्, वेवीङ् धातु गिनाये हैं, और कारिका बनाने वालों का अभिप्राय यह है कि 'एकाच उपदेशेऽनु०' (भा० ११०) सूत्र में जो एकाच् ग्रहण है उसका आश्रय लेकर ये धातु सेट् और अनिट् हैं । अर्थात् दोनों प्रकार का व्याख्यान ठीक है इससे महाभाष्य और कारिकाओं में परस्पर कुछ विरोध नहीं आसकता ।

ककारान्तों में एक शक्, सकारान्तों में घस और निवासार्थ वाला वस तथा भकारान्तों में रभ, लभ और मैथुन अर्थ वाला यभ, ये तीन धातु अनिट् हैं बाक़ी सब सेट् समझने चाहियें।

यमिर्[1]मन्तेष्वनिडेक इष्यते,
रमिश्च यश्च श्यनि पठ्यते मनिः।
नमिश्चतुर्थो हनिरेव पञ्चमो,
गमिश्च षष्ठः प्रतिषेधवाचिनाम् ॥४॥

मकारान्तों में यम, रम, नम, गम ये चार और नकारान्तों में हन तथा दिवादिगण में पढ़ा मन ये दो धातु अनिट् हैं।

पचिं वचिं विचिरिचिरञ्जिपृच्छतीन्,
निजिं सिचिं मुचिभजिभञ्जिभृज्जतीन्।
त्यजिं यजिं युजिरुजिसञ्जिमज्जतीन्,
भुजिं स्वजिं सृजिविजी[2] विद्ध्यनिट् स्वरान् ॥५॥

चकारान्तों में पच, वच, विच, रिच, सिच, मुचि ये छः। छकारान्तों में एक प्रच्छ, जकारान्तों में रंज, निज, भज, भञ्ज, भ्रस्ज, त्यज, यज, युज, रुज, सञ्ज, मस्ज, भुज, स्वञ्ज, सृज, विज ये पन्द्रह धातु अनिट् हैं बाक़ी सब सेट् समझना चाहियें।

---

१ कहीं कहीं 'यमिर्यमन्तेषु' पाठ है।

२ कहीं कहीं 'मृजिमृजी' पाठ है वह ठीक नहीं, क्योंकि मृज् धातु ऊदित होने से विकल्प से इट् का आगम (आ० १४०) होता है। अनुदात्त का दूसरा रूप 'अम्' आगम (आ० २४५) भी इसमें नहीं देखा जाता। महाभाष्य के पूर्वोद्धृत पाठ में स्पष्ट रूप से 'विजि' ग्रहण किया है।

होता और जो उपदेश में अनुदात्त होते हैं उनके आदि वर्ण के नीचे अनुदात्त की तिर्छी रेखा कर देते थे, और परस्मैपद आत्मनेपद के लिए यह संकेत था कि जिनका अन्त्य वर्ण अनुदात्त चिह्नित इत् हो और जो उपदेश † में ङित् हों उनसे आत्मनेपद, शेषों से परस्मैपद और जिन के अन्त्य वर्ण स्वरित संज्ञक इत् हों उन से तथा जो उपदेश में ञित् हों उनसे उभयपद समझते थे, इससे बहुत लाघव के साथ सब बोध हो जाता था। अब विद्या की प्रवृत्ति कम हो जाने के कारण यह परम्परा बिगड़ गई है। अब इस ग्रन्थ में अनुदात्त से अनिट्, अनुदात्तेत् से आत्मनेपद और उदात्त से सेट्, उदात्तेत् से परस्मैपद समझने हैं, फिर भी आत्मनेपदी और परस्मैपदी शब्द भी सर्वत्र अत्यन्त सुगम होने के लिए लिख दिये हैं कि जिससे किसी को भ्रम न पड़ सके। इन सब प्रकारों से इत्संज्ञक वर्णों और सेट् अनिट् की व्यवस्था को ठीक २ जान के पढ़ने पढ़ाने वाले सब लोग शुद्ध प्रयोगों से व्यवहार और अर्थज्ञान से उपयुक्त हों। जो धातु उपदेश में उदात्त = सेट् हैं उन से परे आर्ध-

---

† कैयट, हरदत्त, दीक्षित आदि सब अर्वाचीन वैयाकरण 'अनुदात्तङित०' में सन् के ङिद्वत् अतिदेश (आ० ३५५) से प्राप्त होने वाले आत्मनेपद को हटाने के लिए उपदेश की अनुवृत्ति मानते हैं। परन्तु उनका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उपदेश के अनन्तर इत् संज्ञा होती है—उपदेशोत्तरकालमित्संज्ञा (महाभाष्य १। १। २५) जब इत् संज्ञा ही उपदेश के अनन्तर होगी तब उपदेश में ङित् कैसे हो सकती है। महाभाष्यकार ने उक्त पाद में आत्मनेपद की निवृत्ति के लिये सम्बन्धन्त सेवति माना है (महाभाष्य १। २। १ सिद्धन्तु पूर्वस्यकार्यातिदेशात्) अतः ङित् पर रहने पर जो कार्य हो उसी के प्रति सन् ङित् होगा, न कि ङित् को जो कार्य हो उसके प्रति।

धातुक प्रत्ययों को इडागम हो जाता है। और जो उपदेश में अनुदात्त = अनिट् हैं उनसे परे आर्द्धधातुकसंज्ञक प्रत्ययों को इडागम नहीं होता है।

इस ग्रंथ में ग्यारह लकार अर्थात् लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लिङ्,† लुङ्, लृङ् क्रम से लिखे हैं, अन्य ग्रन्थों में लेट् लकार (जो) केवल वैदिक प्रयोग विषयक है सो नहीं लिखा है, यहां विस्तार पूर्वक इसके प्रयोग लिखेंगे, लिङ् दो बार इसलिए लिखा है कि इसके दो प्रकार के अर्थों में के दो प्रकार प्रयोग होते हैं। और दशगण अर्थात् भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि, क्र्यादि और चुरादि क्रम से लिखे हैं, इसके पीछे बारह प्रक्रिया * अर्थात् णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, यङ् लुगन्त, नामधातु, कण्ड्वादि, प्रत्ययमाला, आत्मनेपद, परस्मैपद, भावकर्म, कर्मकर्त्ता और लकारार्थ, ये भी क्रम से विस्तार पूर्वक लिखे जावेंगे और इतना ही तिङन्त का विषय है इसी को 'आख्यात' भी कहते हैं, और जो सूत्र सामान्य करके सब धातुओं में लगते हैं उनको प्रथम-

---

† वस्तुतः लकार दश ही हैं। लिङ् के दो भेद होने से इन्हें पृथक् पृथक् गिना है।

* संस्कारविधि के वेदारम्भसंस्कारान्तर्गत 'पठनपाठन व्यवस्था' प्रकरण में लिखा है—"धातुपाठ और दशों लकारों के रूप सधवाना तथा दश प्रक्रिया भी सधवानी"। यहां सिद्धांतकौमुदी आदि अर्वाचीन ग्रंथों के अनुसार व्याख्या की है। अत एव आत्मनेपद, भावकर्म आदि का पृथक् निर्देश किया है। वस्तुतः ऋषि दयानन्द को प्रत्येक धातु के दशों प्रक्रिया के रूप सधवाने इष्ट हैं। धातुपाठ की क्षीरतरङ्गिणी, धातुप्रदीप और माधवीया धातुवृत्ति आदि प्राचीन ग्रंथों में ऋषि दयानन्द अभिमत क्रम ही उपलब्ध होता है। संस्कारविधि निर्दिष्ट दश प्रक्रिया

प्रथम एक ही वार लिखेंगे और जो किन्हीं विशेष धातुओं में लगते हैं उन का एकवार लिखकर पीछे जहां उनका सम्बन्ध होगा वहां २ इस ग्रन्थ की सूत्र संख्या जो उन के आगे लिखी होगी, व्याख्या में रख दिया करेंगे, उसके अनुसार उन सूत्रों का सम्बन्ध सब लोग जहां २ देख लेवें।

॥ इति भूमिका ॥

य हैं—१ कर्तृ प्रक्रिया (इसी में यथाप्राप्त परस्मैपद, आत्मनेपद), २ कर्म प्रक्रिया, ३ भाव प्रक्रिया, ४ कर्मकर्तृ प्रक्रिया, ५ सन्नन्त प्रक्रिया, ६ यङन्त प्रक्रिया, ७ यङ्लुगन्त प्रक्रिया, ८ णिजन्त प्रक्रिया, ९ प्रत्ययमाला, १० नामधातु प्रक्रिया। यहां यह ध्यान रहे कि जिस प्रकार शुद्ध धातु की कर्तृ-कर्म-भाव-कर्मकर्तृ चार प्रक्रिया में रूप सधवाये जाते हैं इसी प्रकार सन्नन्त यङन्त आदि सब के चारों प्रक्रियाओं में रूप सधवाने चाहियें।

❀ ओ३म् ❀

अथ आख्यातिकः

---

१ [भू[1]] सत्तायाम् उदात्त उदात्तेत् परस्मैभाषः[2] । यह धातु परस्मैपदी है । भू शब्द सत्ता = होने अर्थ का वाचक है । इस अर्थ को कहने के योग्य होने से भू शब्द समर्थ है । जो इससे किसी अर्थ का बोध न होता तो असमर्थ समझा जाता, फिर असमर्थ से कोई कार्य भी नहीं हो सकता । इस विषय की परिभाषा "समर्थ

---

१ धातु के स्वरूप में सन्देह न हो इसलिये 'भू' आदि धातुओं में विभक्ति का निर्देश नहीं किया ।

२ परस्मैभाषा यह परस्मैपद की पूर्वाचार्यों की संज्ञा है ।

३ धातुपाठ में धातुओं के जो अर्थ दिये हैं वे प्रायः उपलक्षणार्थ हैं । महाभाष्य (अ० १ । ३ । १ ॥ ६ । १ । ९) में लिखा है—'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति' अर्थात् धातुएं बहुत अर्थ वाली भी होती हैं । धातुपाठ में भी 'कुर्द खुर्द गुर्द गुद क्रीडायामेव' (भ्वादि० २१ २४) में एव कार से अर्थ का अवधारण करना इस बात का ज्ञापक है । सूत्रकार ने भी 'गन्धनावक्षेपण०' (अ० १ । ३ । ३२) इत्यादि सूत्रों में अनेक अर्थों का निर्देश किया है । इसलिये 'क्षारभोजिन्या श्वेतपरः पुत्रो भवति' वाक्य में 'उत्पत्ति', 'अनु पर पुत्रो भवति' में अनुत्पाद (पहिले न हो पीछे होना) आदि अर्थ देखे जाते हैं । "सुगमनुभवति, हिमवतो गङ्गा प्रभवति सेना पराभवति' इत्यादि वाक्यों में जो विविध अर्थ प्रतीत होते हैं वे 'भू' धातु के ही हैं । उपसर्ग केवल अन्तर्निहित धात्वर्थ के द्योतक होते हैं ।

पदविधिः" सन्धिविषय[१] में लिख चुके हैं, और शब्द का लक्षण भी नामिक की भूमिका[२] में लिखा है। भू शब्द सत्ता अर्थ के साथ समर्थ हुआ तो इसकी धातुसंज्ञा होकर कृत् प्रत्ययों की उत्पत्ति आदि कार्य होते हैं।

१—भूवादयो धातवः ॥* १ । ३ । १ ॥

भू शब्द से लेकर जो दशगणों में शब्द पढ़े हैं उन सब की धातु संज्ञा होती है। इस से भू शब्द की धातु संज्ञा होकर—

२—धातोः ॥ ३ । १ । ९१ ॥

[यह अधिकार सूत्र है। आगे कहे हुए] सब तव्यत् आदि प्रत्यय धातुसंज्ञक शब्दों से होते हैं।

३—कृदतिङ् ॥ ३ । १ । ९३ ॥

धातु से विहित [तिङ्भिन्न] जो प्रत्यय हैं वे कृत्संज्ञक हों। यहां तिङन्त की अपेक्षा में—

४-वर्तमाने लट् ॥ ३ । २ । १२३ ॥

आरम्भ से लेकर जब तक क्रिया की समाप्ति न हो तब तक वर्तमान काल समझना चाहिये। वर्तमान अर्थ के वाचक धातुओं से लट् प्रत्यय हो। अब ये कृत्संज्ञक लट् आदि प्रत्यय भाव, कर्म और कर्त्ता इन तीन अर्थों में सामान्य करके होते हैं। उनका विभाग—

५-लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः ॥ ३।४।६९॥

* इन तीनों अङ्कों में से पहिले से अध्याय, दूसरे से पाद और तीसरे से सूत्र संख्या समझनी चाहिये।

१. पृष्ठ २५। २. पृष्ठ ५।

सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्त्ता अर्थ में तथा अकर्मक धातुओं से भाव और कर्त्ता अर्थ में लकार होते हैं। यहां भू धातु से कर्त्ता अर्थ में लट् आया। 'भू—लट्' इस अवस्था में—

६—हलन्त्यम् ॥ १ । ३ । ३ ॥

उपदेश में धातु आदि के समुदाय का जो अन्त्य वर्ण है वह इत् संज्ञक होवे।

७—तस्य लोपः ॥ १ । ३ । ६ ॥

इत् संज्ञा वाले वर्णों का लोप हो जाता है। यहां टकार की इत्संज्ञा और लोप हो कर प्रत्यय के आदि लकार की भी इत्संज्ञा "लशक्वतद्धिते"[1] सूत्र से प्राप्त है सो अगले सूत्र में लकार के स्थान में आदेशविधानरूप ज्ञापक से नहीं होती।

८—लस्य ॥ ३ । ४ । ७७ ॥

लकार के स्थान में वक्ष्यमाण आदेश हों।

९—तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ् ॥ ३ । ४ । ७८ ।

तिप्, तस, झि, सिप्, थस्, थ; मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ; थास्, आथाम्, ध्वम्; इट्, वहि, महिङ् ये १८ अठारह आदेश लकार के स्थान में होते हैं।

१०—लः परस्मैपदम् ॥ १ । ४ । ९८ ॥

लकार के स्थान में जो आदेश हैं वे परस्मैपदसंज्ञक हों। इससे सामान्य करके विधान है, परन्तु उसके अपवाद "तङानाo"[2] सूत्र से तङ् आदि नव की आत्मनेपद संज्ञा की है, इससे तिप् [से

१. भाo २०, माo २१। २. भाo ९१।

मस्] पर्यन्त ९ नव की परस्मैपद संज्ञा जानो[1]। अब भू धातु से परस्मैपद हों वा आत्मनेपद इस सन्देह की निवृत्ति के लिये—

११—शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् ॥ १ । ३ । ७८ ॥

जिन धातुओं से आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्यय कहे हैं उनको छोड़ क शाप धातुओं से परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय हों। यहां भू से तिप आदि नव प्रत्यय प्राप्त हुए।

१२—तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः ॥ १ । ४ । १०० ॥

तिङ्सम्बन्धी जो तिप् आदि प्रत्यय हैं वे यथाक्रम से तीन-तीन प्रथम, मध्यम और उत्तम संज्ञक हों[2] अर्थात्—तिप्, तस्, झि प्रथम; सिप्, थस्, थ मध्यम और मिप्, वस्, मस् उत्तम पुरुष जानो।

१३—तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः ॥ १ । ४ । १०१ ॥

उन्हीं तिङ्सम्बन्धी तिप् आदि तीन-तीन के समुदाय में प्रत्येक एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञक हों, अर्थात् तिप् एकवचन, तस् द्विवचन और झि बहुवचन। इसी प्रकार सिप् आदि में जानो।

---

१. इस प्रकरण में एक संज्ञा का अधिकार है। जो संज्ञा अनवकाश या परे होती है वह सावकाश या पूर्व संज्ञा को बाध लेती है। अतः 'तिप्' से 'मस्' पर्यन्त ९ प्रत्ययों और शतृ, शानच् की ही परस्मैपद संज्ञा होती है।

२. यहां प्रथम द्वन्द्व समास होता है तत्पश्चात् एकशेष। यथा—प्रथमश्च मध्यमश्च उत्तमश्च प्रथममध्यमोत्तमाः। प्रथममध्यमोत्तमाश्च प्रथममध्यमोत्तमाश्च प्रथममध्यमोत्तमाः। इससे शेष नव आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्ययों में भी क्रमशः तीन-तीन की प्रथम, मध्यम और उत्तम संज्ञा हो जाती है।

१४–युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः ॥ १ । ४ । १०४ ॥

तिङन्तक्रिया के समानाधिकरण युष्मद् शब्द उपपद के रहते हुए युष्मद् शब्द का प्रयोग हो वा न हो तो भी धातु से मध्यम पुरुष हो ।

१५–अस्मद्युत्तमः ॥ १ । ४ । १०६ ॥

तिङन्त के साथ एकाधिकरण अस्मत् शब्द उपपद हो, उस का प्रयोग हो वा न हो तो भी धातु से उत्तम पुरुष हो ।

१६–शेषे प्रथमः ॥ १ । ४ । १०७ ॥

तिङन्त के साथ युष्मद् और अस्मद् से भिन्न एकाधिकरण नाम उपपद हो, उस का प्रयोग हो वा न हो तो भी धातु से प्रथम पुरुष हो । यहां शेष कर्त्ता की विवक्षा में लकार के स्थान में जो तिप् आदि आदेश हैं उन में से प्रथम पुरुष का एकवचन तिप्[1] आया । "भू तिप्" इस अवस्था में—

१७–यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्॥ १ । ४ । १३ ॥

जिस धातु वा प्रातिपदिक से जिस प्रत्यय का विधान हो उस धातु वा प्रातिपदिक का आदि अक्षर जिस के आदि में हो उस समुदाय की प्रत्यय के पर रहने पर अङ्ग संज्ञा होती है अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय के बीच में जो विकरण प्रत्यय है उस की भी अङ्ग संज्ञा हो जावे[2] ।

---

१. द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (ना०९) इस नियम से ।

२. सूत्र के 'तदादि' पद में उत्तरपदलोपी समास है—तस्य आदि तदादिः, तदादिरादिर्यस्य तत् तदादि्यादि । तत्=प्रकृति, तस्यादिस्त

१८-तिङ्शित् सार्वधातुकम् ॥३।४।११३॥

धातु के अधिकार में कहे जो तिङ् और शित् प्रत्यय [हैं] वे सार्वधातुकसंज्ञक हों। इस से तिप् आदि का सार्वधातुक संज्ञा हुई।

१९-कर्तरि शप् ॥ ३ । १ । ६८ ॥

कर्तावाची सार्वधातुक परे हो तो धातु से परे शप् प्रत्यय हो। इस में भू और तिप् के बीच में शप् प्रत्यय हो कर "भू—शप्—तिप्" इस अवस्था में दोनों हल् पकारों की (६) से इत्संज्ञा होकर (७) से लोप होकर "भू—श—ति" रहा।

२०-लशक्वतद्धिते ॥ १ । ३ । ८ ॥

प्रत्यय के आदि में जो लकार, शकार और कवर्ग [हैं] उन की इत्संज्ञा होवे। इस से 'श' का इत्संज्ञा होकर (७) से लोप हो गया। "भू—अ—ति" इस अवस्था में—

२१-सार्वधातुकार्धधातुकयोः ॥ ७ । ३ । ८४॥

गुण वृद्धि आदि संज्ञा और इक् की के स्थान में नियम होना सन्धिविषय में लिख चुके हैं[1]। सार्वधातुक और आर्धधातुक संज्ञक प्रत्यय परे हों तो इगन्त अङ्ग के स्थान में गुण आदेश हो। इससे ऊकार का अन्तरतम ओकार गुण होकर "भो—अ—ति" इस अवस्था में—

२२-एचोऽयवायावः ॥ ६ । १ । ७६ ॥

दादि = प्रकृति का पूर्व वर्ण, तदादिरादिर्यस्य = वह वर्ण आदि में है जिस समुदाय के उस की अङ्ग संज्ञा होती है।

1. गुणसंज्ञा—सन्धि० १९। वृद्धिसंज्ञा—सन्धि० १८। इक् का नियम—सन्धि ७८।

एच् प्रत्याहार के स्थान में अय्, अव्, आय्, आव् ये चार आदेश यथासंख्य करके हों। ओकार को अव् होकर-भवति। द्विवचन की विवक्षा में "भव—तस्"। तिङ् प्रत्ययों की विभक्ति संज्ञा नामिक[1] में हो चुकी है। यहां तस् के सकार की इत् संज्ञा प्राप्त है, उसका निषेध करते हैं—

२३-न विभक्तौ तुस्माः ॥ १ । ३ । ४ ॥

विभक्ति में जो तवर्ग, सकार और मकार [हैं] वे इत्संज्ञक न हों। तिङन्त की पदसंज्ञा भी कर चुके हैं नामिक में[2]।

२४-ससजुषो रुः ॥ ८ । २ । ६६ ॥

पदान्त सकार और सजुष् शब्द के अन्त्य वर्ण को रु आदेश हो।

२५-उपदेशेऽजनुनासिक इत् ॥ १ । ३ । २ ॥

उपदेश में जो अनुनासिक अच् है उस की इत्संज्ञा हो। इस से उकार की इत्संज्ञा होकर-"भव-तर्"।

२६-खरवसानयोर्विसर्जनीयः ॥८ । ३ । १५॥

खर् प्रत्याहार के परे तथा अवसान में वर्तमान जो रेफ उसके स्थान में विसर्जनीय आदेश हो। इस से रेफ को विसर्ग होकर— "भवतः"। "भव— झि" यहां—

२७-झोऽन्तः ॥ ७ । १ । ३ ॥

प्रत्यय के आदि अवयव झकार को अन्त आदेश होवे। तकार में अकार उच्चारणार्थ है, किन्तु आदेश हलन्त ही होता है। "भव—अन्त्—इ"। दोनों अकारों को पररूप एकादेश[3] होकर— भवन्ति। भव+सिप्=भवसि भव+थस्=भवथः, भव+थ= भवथ। भव+मिप्—

१ ना० ८। २ ना० १३। ३ सन्धि० १५३।

२८—अतो दीर्घो यञि ॥ ७ । ३ । १०१ ॥

यञादि सार्वधातुक प्रत्यय परे हों तो अदन्त अङ्ग को दीर्घ आदेश होवे । यहां शप् के अकार की अङ्ग संज्ञा होने से दीर्घ होता है—भवामि, भव+वस्=भवावः, भव+मस्=भवामः । स भवति, तौ भवतः, ते भवन्ति, त्वं भवसि, युवां भवथः, यूयं भवथ; अहं भवामि, आवां भवावः, वयं भवामः ।

इन लकारों का क्रम वर्णक्रम से चलाया करते हैं। जैसे—लट्, लिट्, लुट्, लृट् लेट् लोट् ये ६ छः टित् और ऐसा ही क्रम ङित् लकारों [लङ्, लिङ् लुङ् लृङ्] में जानो । इस क्रम के अनुसार लट् के आगे लिट् प्राप्त हुआ । जितने सूत्र प्रथम लकार में लिख दिये उन को अब नहीं लिखेंगे, जो जो विशेष आते जावेंगे उन को लखेंगे । [लिट्—]

२९—परोक्षे लिट् ॥ ३ । २ । ११५ ॥

यहां भूत और अनद्यतन की अनुवृत्ति आती है । परोक्ष अनद्यतन भूतकाल में हुए कार्यों के वाचक धातुओं से लिट् लकार होवे । परोक्ष शब्द का अर्थ—

का०—परोभावः परस्याक्षे परोक्षे लिटि दृश्यताम् ।
उत्त्वं वाऽऽदेः परादक्ष्णः सिद्धं वाऽस्मान्निपातनात्॥
महा० ३ । २ । ११५ ॥

जिससे विषयों के साथ ज्ञान की व्याप्ति हो उसको 'अक्ष' कहते हैं अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण अक्ष शब्द से समझना चाहिये । और इन्द्रियों से जो परे हो उस को परोक्ष कहते हैं। अक्ष शब्द के परे 'पर' शब्द को 'परो' आदेश, अथवा अकार को उकार वा परोक्ष शब्द को पृषोदरादि मान के इस सूत्र से निपातन किया है ।

भा०- कथं जातीयकं पुनः परोक्षं नाम ? केचित् तावदाहुर्वर्षशतवृत्तं परोक्षमिति । अपर आहुर्वर्षसहस्रवृत्तं परोक्षमिति । अपर आहुः कुड्यकटान्तरितं परोक्षमिति। अपर आहुर्द्व्यहवृत्तं त्र्यहवृत्तं वेति । महा० ३ । २ । ११५ ॥

परोक्ष जो अपने सामने न हुआ हो, उस की कितनी अवधि समझनी चाहिये, इस विषय में ऋषि लोगों का बहुत भिन्न भिन्न विचार है । कोई कहते हैं कि जो १०० सौ वर्ष पहले हो चुका हो, कोई कहते हैं कि जो १००० हजार वर्ष प्रथम हो गया हो, कोई कहते हैं कि जो भित्ति और चटाई के आड में हो और कोई कहते हैं कि दो वा तीन दिन पहले हुआ हो उस को परोक्ष समझना चाहिये । सो यह सब प्रकार से परोक्ष हो सकता है, क्योंकि मुख्य परोक्ष के साथ सब का सम्बन्ध हो सकता है । "भू—लिट्" यहां टकार इकार की इत्संज्ञा और लोप होकर लकार के स्थान में तिप् आदि नव हो जाते हैं ।

३०–लिट् च ॥ ३ । ४ । ११५ ॥

यह सूत्र सार्वधातुक संज्ञा का अपवाद है । लिट् के स्थान में जो तिप् आदि आदेश हैं वे आर्धधातुकसंज्ञक हों । यहां एक संज्ञा का अधिकार तो है ही नहीं, इस कारण पक्ष में सार्वधातुक संज्ञा भी प्राप्त है, इसलिये एव शब्द की अनुवृत्ति[1] समझनी चाहिये कि आर्धधातुक संज्ञा ही हो, अन्य नहीं ।

---

1. लङः शाकटायनस्यैव (अ० ३ । ४ । १११) सूत्र से मण्डूकप्लुति-न्याय से 'एव' की अनुवृत्ति समझनी चाहिये । अथवा—"छन्दस्युभयथा" (अ० ३ । ४ । ११७) सूत्र में 'उभयथा' के ग्रहण से

३१—परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः ॥ ३ । ४ । ८२ ॥

धातु से परे लिट् लकार के स्थान में परस्मैपदसंज्ञक जो तिप् आदि आदेश हैं उनको णल् आदि नव आदेश यथासंख्य करके हो जावें। "भू-णल्"—

३२—चुटू ॥ १ । ३ । ७ ॥

प्रत्यय के आदि जो चवर्ग, टवर्ग उन की इत्संज्ञा हो। यहां णकार लकार की इत्संज्ञा और लोप होकर—"भू-अ" इस अवस्था में—

३३—इन्धिभवतिभ्यां च ॥ १ । २ । ६ ॥

इन्धि और भू धातु से परे जो लिट् वह कित्संज्ञक[1] हो। [यह सूत्र पित् लिट् के लिये है।[2]] इस में णल् को कित् होकर—

ज्ञापित होता है कि इस प्रकरण में सार्वधातुक और आर्धधातुक दोनों संज्ञाओं का समावेश नहीं होता। अन्यथा वेद में दोनों संज्ञाओं के समुच्चय के लिये 'छन्दसि च' इतना ही सूत्र बना देते।

१. पतञ्जलि ने "गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्" (अ० १।२।१) सूत्र के भाष्य में प्राचीन वृत्तिकारों के चार पक्ष दर्शाये हैं। १ भावना, २. संबन्ध, ३ संज्ञा, ४ अतिदेश। इस ग्रन्थ में तृतीय पक्ष के अनुसार जहाँ ङित् कित् का विधान किया है वहां उन की ङित् कित् संज्ञाएं मानी हैं। यही संज्ञापक्ष प्राचीन दशपादी-उणादि वृत्तिकार ने भी माना है। देखो हमारी संपादित गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस से प्रकाशित द० उ० वृत्ति पृष्ठ १९, २१, ४७, ५९ इत्यादि।

२. इन्धेः संयोगार्थं ग्रहणं भवतेः पिदर्थम् (महा० १।२।६) अर्थात् इस सूत्र में 'इन्धि' का ग्रहण संयोगान्त होने से और 'भवति' का ग्रहण पित् लिट् के लिये किया है।

३४—क्ङिति च १ । १ । २० ॥

कित्, गित् और ङित् प्रत्यय परे हों तो इक् के स्थान में गुण वृद्धि न हों। इस से गुण का निषेध हो गया। [अथवा "भू-अ" इस अवस्था में] द्विर्वचन, यणादेश, गुण, वृद्धि आदि कार्य भी प्राप्त हैं इन सब का बाधक वुक् होता है¹।

३५—भुवो वुग् लुङ्लिटोः ॥ ६ । ४ । ८८ ॥

अजादि लुङ् और लिट् लकार परे हों तो भू अङ्ग को वुक् का आगम होता है। वकारमात्र की इत्संज्ञा होकर—भूव्-अ।

३६—एकाचो द्वे प्रथमस्य ॥ ६ । १ । १ ॥

यह अधिकार सूत्र है। धातु के प्रथम एकाच् अवयव को द्वित्व होवे।

---

१. "यत् कृतेऽपि प्राप्नोत्यकृतेऽपि तन्नित्यम्" इस नियम से वुक् नित्य है, क्योंकि वह यणादेश, गुण और वृद्धि के होने पर भी प्राप्त होता है और न होने पर भी। परन्तु यणादेश, गुण, वृद्धि ये वुक् हो जाने पर प्राप्त नहीं होते अतः ये अनित्य हैं। नित्य और अनित्य में नित्य बलवान् होता है (पारि० ३८)। इसलिये वुक् यणादि को बाध लेता है। यद्यपि द्विर्वचन वुक् करने पर भी प्राप्त होता है तथापि वह 'शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यः' (पारि० ४२) इस नियम से अनित्य है, क्योंकि वुक् होने पर 'भूव्' को द्विर्वचन की प्राप्ति होती है और वुक् न होने पर 'भू' मात्र को। इसी प्रकार वुक् भी अनित्य है। यदि द्विर्वचन पहले हो तो 'भू-भू' समुदाय को वुक् प्राप्त होता है और यदि द्विर्वचन से पहले वुक् हो तो 'भू' मात्र को। अतः दोनों के अनित्य होने पर 'पूर्व से पर बलवान् होता है' (पारि० ३८) इस नियम से वुक् द्विर्वचन को परत्व के कारण बाधता है।

३७—अजादेर्द्वितीयस्य ॥ ६ । १ । २ ॥

यहां भी एकाच् की अनुवृत्ति आती है। अजादि धातुओं के द्वितीय एकाच् अवयव को द्वित्व होवे।

३८—लिटि धातोरनभ्यासस्य ॥ ६ । १ । ८ ॥

लिट् लकार परे हो तो अनभ्यास धातु के प्रथम एकाच् और अजादि धातु के द्वितीय एकाच् अवयव को द्विर्वचन होवे। इस में विशेष यह है कि जहां धातुओं में अनेक अच् होते हैं वहां प्रथम एकाच और द्वितीय एकाच् अवयव का कहना बन सकता है, और जिन में एक ही अच है वहां उसी एकाच् [को व्यपदेशिवद् भाव से प्रथम एकाच् मानकर] द्वित्व हो जाता है। यहां भी एकाच अवयव 'भूव्' मात्र को द्विर्वचन होकर—"भूव्-भूव्-अ" यहां—

३९—पूर्वोऽभ्यासः ॥ ६ । १ । ४ ॥

द्विर्वचन का जो पूर्वभाग है वह अभ्यास संज्ञक हो। प्रथम 'भूव्' की अभ्यास संज्ञा होकर—

४०—हलादिः शेषः ॥ ७ । ४ । ६० ॥

अभ्यास का आदि हल् शेष रहे, अन्य हलों का लोप हो जावे। इस से प्रथम "भूव्" के "व्" का लोप होके—भू—भूव्—अ।

४१—ह्रस्वः ॥ ७ । ४ । ५९ ॥

अभ्यास के अच को ह्रस्व आदेश हो। ह्रस्व उकार हुआ।

४२—भवतेरः ॥ ७ । ४ । ७३ ॥

लिट् लकार परे हो तो भू धातु के अभ्यास को अकार आदेश हो। ह्रस्व उकार का प्रमाणकृत आन्तर्य से ह्रस्व अकार होकर—भ—भूव्—अ।

४३—अभ्यासे चर्च ॥ ८ । ४ । ५४ ॥

अभ्यास में जो झल् उनको चर् और जश् आदेश हों। यहां भकार को बकार हो जाता है।

४४—असिद्धवदत्राभात् ॥ ६ । ४ । २२ ॥

इस सूत्र से लेकर इस पाद की समाप्तिपर्यन्त एक प्रयोग में दो [समानाश्रय] कार्य प्राप्त हों तो आभात् शास्त्रीय कार्य करने में आभात् शास्त्रीय कार्य असिद्ध हो जावे। इस से वुक् के आगम को असिद्ध मान कर उवङ्[1] आदेश प्राप्त होता है इसलिये—

४५—वा० वुग्युटावुवङ्यणोः कर्तव्ये सिद्धौ वक्तव्यौ ॥ ६ । ४ । २२ ॥

उवङ् और यणादेश करने में वुक् और युट् का आगम यथासंख्य करके असिद्ध न माने जावें, किन्तु सिद्ध ही समझने चाहियें। इस से उवङ् नहीं होता। बभूव। "भू—अतुस्" यहां गुण प्राप्त है।

४६—असंयोगाल्लिट् कित् ॥ १ । २ । ५ ॥

असंयोगान्त धातुओं से परे जो अपित् लिट् वह कित् संज्ञक होवे। तिप्, सिप्, मिप् के स्थान में जो आदेश हैं उन को छोड़कर अन्य अपित् समझने चाहियें। इस से कित् होकर (३४) से गुण नहीं होता। [अथवा पूर्ववत् गुण आदि को बाधकर "वुक्" हो जाता है।] भूव+अतुस्=बभूवतुः, बभूव+उस=बभूवुः, ।· बभूव्-थल्—

४७—आर्धधातुकस्येड् वलादेः ॥ ७ । २ । ३५ ॥

[1]. अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ (आर्ष १५९) सूत्र से।

अङ्ग से परे जो वलादि आर्धधातुक उस को इट् का आगम हो। थल् आदि में इट् होकर—"बभूविथ"। "बभूव+अथुस्=बभूवथु, बभूव्+अ=बभूव, बभूव्+णल्=बभूव, बभूव्+इट्+व=बभूविव, बभूव्+इट्+म=बभूविम"। इस के पश्चात् क्रम से प्राप्त लुट्—

४८—अनद्यतने लुट् ॥ ३ । ३ । १५ ॥

पूर्व रात्रि के मध्य से लेकर अपर रात्रि के मध्य पर्यन्त अद्यतन काल कहाता है[१], वह जिसमें न हो उस को अनद्यतन कहते हैं, सो भूत, भविष्यत् दोनों के साथ सम्बन्ध रखता है। भविष्यत् अनद्यतन के अर्थ के वाचक धातु से लुट् लकार होवे। "भू—लुट्"—

४९—स्यतासी लृलुटोः ॥ ३ । १ । ३३ ॥

यहां किसी अनुबन्धविशेष की सूचना नहीं की इस से "लृ" करके लृट् और लृङ् दोनों का बोध होता है। और यह सूत्र शप् आदि विकरण प्रत्ययों का अपवाद है। [लृ और] लुट् लकार परे हो तो धातु से स्य और तासि प्रत्यय यथासंख्य करके हों। यहां लुट् के परे तासि हुआ। "भू—तासि—लुट्"।

५०—आर्धधातुकं शेषः ॥ ३ । ४ । ११४ ॥

धात्वधिकार में कहे तिङ् और शित् प्रत्ययों से भिन्न जो प्रत्यय वे आर्धधातुकसंज्ञक होते हैं। इससे तासि प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा, और लुट् के स्थान में तिबादि आदेश होकर—"भू+

१. अहरुभयतोऽर्धरात्रमेषोऽद्यतन काल इति पूर्वे वैयाकरणाः। द्र० काशिका १ । २ । ५७ ॥

तासि—तिप्" । यहा "तासि" में अनुनासिक इकार की इत्संज्ञा[1] और लोप होकर—

१, तासि के इकार की इत्संज्ञा होने से "मन्—त्—आ" (आत्मनेपद की) इस अवस्था में "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति" (भा० १२९) सूत्र से नकार का लोप नहीं होता, क्योंकि "मनुत्" भाग इदित् है। महाभाष्य (६।४।२१) के सिद्धान्तानुसार "असिद्धवदत्राभात्" (भा० ४४) सूत्र में "आङ्" अभिविधि अर्थ में है। तदनुसार नकार लोप करने में टिलोप के असिद्ध हो जाने से नलोप की प्राप्ति ही नहीं है, पुन उसकी रक्षा की क्या चिन्ता ? जब "आ" को मर्यादा अर्थ में मानकर "भ-अधिकार से पूर्व" ऐसा अर्थ करते हैं तब टिलोप को असिद्धत्व की प्राप्ति नहीं होती, उस अवस्था में इकार की इत्संज्ञा मानना युक्त है। अन्यों का मत है कि 'श्नसो रल्लोपः' (भा० १५२) सूत्र में अकार का तपर करना 'असिद्धवदत्राभात्' नियम के अनित्यत्व का ज्ञापक है (तपर करने का प्रयोजन यही है कि "आसीत्" इत्यादि में आकार लोप न हो। अकार लोप करने में 'आभात्' नियम से 'आट्' असिद्ध हो जायगा, पुनः उस के लोप की प्राप्ति ही नहीं। इस प्रकार तपर करना व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि आभाच्छास्त्रीय असिद्धत्व अनित्य है)। उसके अनित्य होने से 'मन्ता' आदि में नकार की रक्षा के लिये इदित् करना चाहिये। यह मत भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञापक से इष्ट प्रयोगों की सिद्धि मात्र होती है (ज्ञापकादिष्टसिद्धि), ज्ञापक को मान कर किसी प्रयोग में दोषोद्भावन नहीं किया जाता, यही समस्त वैयाकरणों का मत है। कुछ वैयाकरणों का कथन है कि इकार उच्चारणार्थ है। यह भी ठीक नहीं, उनके मत में सकार की इत्संज्ञा का निषेध कैसे होगा। महर्षि ने इस सूत्र के अष्टाध्यायीभाष्य में इकार का प्रयोजन "सकार की रक्षा" लिखा है वह युक्ततर है।

५१—लुटः प्रथमस्य डारौरसः ॥ २ । ४ ।८५॥

लुट् लकार के प्रथम पुरुष को डा, रौ और रस् आदेश यथासंख्य करके हों। तिप् के स्थान में डा आदेश होकर डकार की इत् संज्ञा होने से तास् प्रत्यय के आस् मात्र का लोप[1] होकर—"भू—इ—त्—आ" यहां—

५२—पुगन्तलघूपधस्य च ॥ ७ । ३ । ८६ ॥

सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे हों तो पुगन्त और लघु वर्ण जिसकी उपधा में हो उस [अङ्ग] को गुण हो। इस से इट् के आगम को लघूपध मान कर गुण प्राप्त हुआ, इसलिये—

५३—दीधीवेवीटाम् ॥ १ । १ । २१ ॥

दीधी और वेवी धातु तथा इट् का आगम इन को गुण वृद्धि न हों। फिर आर्धधातुक तास् के परे भू को गुण और अवादेश होकर—"भविता"।

५४—रि च ॥ ७ । ४ । ५१ ॥

रेफादि प्रत्यय परे हो तो तास् और अस्ति[2] के सकार का लोप

१ 'डा' को डित् करने का कोई प्रयोजन नहीं है, अत वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "भसंज्ञा" के न होने पर भी डित्करण सामर्थ्य से 'टे' (अ० ६ । ४ । १४३) से टि का लोप हो जाता है (डित्यमभस्याप्यनुबन्धकरणसामर्थ्यात्)। २. भट्टोजिदीक्षित अस्ति से परे रादि प्रत्यय की असम्भवना मान कर इस सूत्र में अस्ति की अनुवृत्ति नहीं लाते, वह ठीक नहीं है। लोक में सम्भावना न होने पर भी वेद में हो सकती है। काशिकार ने अस् धातु का 'व्यतिरे' छान्दस उदाहरण दिया। इसलिए अस्ति की अनुवृत्ति लानी चाहिये।

हो जावे। भवितास्+रौ = भवितारौ, भवितास्+रस् = भवितारः।

५५—तासस्त्योर्लोपः ॥ ७ । ४ । ५० ॥

सकारादि प्रत्यय परे हो तो तास् और अस्ति के सकार का लोप हो जावे। जैसे—भवितास्+सिप् = भवितासि, भवितास्+थस् = भवितास्थः, भवितास्+थ = भवितास्थ; भवितास्+मिप् = भवितास्मि, भवितास्+वस् = भवितास्वः, भवितास्+मस् = भवितास्मः। ["लृट्"—]

५६—लृट् शेषे च ॥ ३ । ३ । १३ ॥

क्रियार्थ क्रिया उपपद हो या न हो तो भी भविष्यत् अर्थ के वाचक धातु से लृट् लकार होवे। "भू—लृट्"। यहां (४९) से स्य प्रत्यय, गुण, तिबादि आदेश, स्य प्रत्यय को इट् का आगम और अवादेश होकर—

५७—आदेशप्रत्यययोः ॥ ८ । ३ । ५९ ॥

इण् और कवर्ग से परे जो आदेश और प्रत्यय का अवयव सकार उस को मूर्द्धन्य आदेश हो जावे। जैसे—भवि+स्य+तिप् = भविष्यति, भविष्यतः, भविष्यन्ति; भविष्यसि, भविष्यथः भविष्यथ; भविष्यामि, भविष्यावः, भविष्यामः। ["लेट्"—]

५८—लिङर्थे लेट् ॥ ३ । ४ । ७ ॥

यहां छन्द की अनुवृत्ति आती है। जो विधि आदि और हेतु हेतुमान् लिङ् लकार के अर्थ हैं। उनमें धातुमात्र से वैदिकप्रयोग-विषयक लेट् लकार होवे। यहां भू धातु से लेट्, तिबादि आदेश होकर "भू—तिप्" इस अवस्था में शप् विकरण प्राप्त है।

५६—सिब् बहुलं लेटि ॥ ३ । १ । ३४ ॥

धातु से सिप् प्रत्यय हो लेट लकार परे हो तो बहुल करके। विकल्प का पर्यायवाची बहुल ग्रहण समझना चाहिये। इसी से पक्ष में शप् भी होता है। सिप् में से इप् मात्र की इत् संज्ञा हो जाती है।

६०—वा०-सिब्बहुलं णिद्वक्तव्यः ॥३।१।३४ ॥

सिप् प्रत्यय बहुल = विकल्प से णित् समझना चाहिये। सिप् को आर्धधातुक मानकर इडागम हो जाता है।

६१—अचोऽञ्णिति ॥ ७ । २ । ११५ ॥

अजन्त अङ्ग को वृद्धि हो ञित, णित् प्रत्यय परे हों तो। ऊकार को औ वृद्धि होकर "भौ-इ-स-ति" यहा—

६२—लेटोऽडाटौ ॥ ३ । ४ । ९४ ॥

लेट् लकार को अट् और आट् के आगम पर्याय से हों। टकार की इत् संज्ञा होकर—भावि+स्+अ+ति = भाविषति, भाविष्+आट+ति = भाविषाति।

६३—इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ॥ ३ । ४ । ९७ ॥

लेट् लकार सम्बन्धी परस्मैपदविषयक इकार का लोप विकल्प करके हो। [पदान्त में झलों को जशादेश[1] होकर] अवसान में झलों के स्थान में चर आदेश विकल्प करके होते हैं[2]। भाविषत्, भाविषात्, भाविषद्, भाविषाद्। जिस पक्ष में णित् संज्ञा के न नहीं होने से वृद्धि नहीं होती वहा—भविषति, भविषाति, भविषत्, भविषात्, भविषद्, भविषाद्। और सिप् प्रत्यय के विकल्प मे जिस पक्ष म शप् होता है वहा—भवति, भवाति, भवत्, भवात्, भवद्, भवाद्। "तस्"

१ झलां जशोऽन्ते। सन्धि० १९० । २ वावसाने। ना० १११।

अन्य सब कार्य पूर्व के समान। भाविषतः, भाविषातः; भविषतः भविषातः भवतः, भवातः। "झि"—भाविषन्ति, भाविषान्ति। इकारलोप होने के पश्चात् संयोगान्त तकार का लोप होकर—भाविषन् भाविषान्, भविषन्ति, भविषान्ति, भविषन्, भविषान्, भवन्ति, भवान्ति, भवन्, भवान्। "सिप्" भाविषसि, भाविषासि। यहां इकारलोप के पश्चात् सकार को विसर्जनीय हो जाते हैं। भाविषः, भाविषाः, भविषसि, भविषासि, भविषः, भविषाः भवसि भवासि, भवः, भवाः। "थस्"—भाविषथः भाविषाथः, भविषथः, भविषाथः, भवथः, भवाथः। "मिप्" यहां अट् और आट् का आगम होने के कारण यञादि न होने से दीर्घ नहीं होता। अट् पक्ष में (सन्धि० १५३ से) पररूप एकादेश होता है। "भाविषमि, भाविषामि, भाविषम्, भाविषाम्, भविषमि, भविषामि, भविषम्, भविषाम्, भवमि, भवामि, भवम्, भवाम्। "वस्, मस्"—

६४—स उत्तमस्य ॥ ३ । ४ । ९८ ॥

लट् लकार सम्बन्धी उत्तम पुरुष के सकार का विकल्प करके लोप होवे। भाविषव, भाविषवः; भाविषाव, भाविषावः; भविषव, भविषवः; भविषाव, भविषावः; भवव, भववः; भवाव, भवावः। भविषम, भाविषमः; भाविषाम, भाविषामः, भविषम भविषमः; भविषाम, भविषामः; भवम, भवमः; भवाम, भवामः। "लोट्"—

६५—लोट् च ॥ ३ । ३ । १६२ ॥

विधि आदि अर्थों में धातु से लोट् लकार हो। और—

६६—आशिषि लिङ्लोटौ ॥ ३ । ३ । १७३ ॥

आशीर्वाद अर्थ में भी लिङ् और लोट् लकार हो। "भव्-अ-ति" इस अवस्था में—

६७—एरुः ॥ ३ । ४ । ८६ ॥

लोट् लकार के इकार को उकार आदेश हो जावे । भवतु ।

६८—तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् ॥७। १ । ३५ ॥

आशीर्वाद अर्थ में जो तु और हि उन को तातङ् आदेश विकल्प करके होवे । यहां तृतीयाध्याय के चतुर्थ पाद में "एरुः[1]" सूत्र के आगे तात् आदेश पढ़ने से लोट् के अन्त्य इकार को आदेश हो ही जाता फिर इतने गौरव और अन्यत्र पढ़ने से ज्ञापक होता है कि तातङ् आदेश में ङित्करण अन्त्य अल् के स्थान में होने के लिये नहीं, किन्तु गुण वृद्धि के निषेध और सम्प्रसारण आदि कार्य होने के लिये है । अङ्मात्र की इत्संज्ञा होकर—भवतात् ।

६९—लोटो लङ्वत् ॥ ३ । ४ । ८५ ॥

लोट् लकार को लङ्वत् कार्य हों । लङ्वत् शब्द में वतिप्रत्यय षष्ठी और सप्तमी दोनों विभक्तियों के स्थान में हो सकता है, सो यहां षष्ठ्यर्थ में वति समझना चाहिये सप्तम्यर्थ में नहीं, क्योंकि लङ् के परे जो अट् का आगम आदि कार्य होते हैं वे लोट् के परे न हों ।

७०—तस्थस्थमिपान्तान्तन्तामः ॥३।४।१०१॥

ङित् लकार के जो तस्, थस्, थ और मिप् उन को ताम्, तम्, त और अम् आदेश यथासंख्य करके हों । जैसे—भवताम् । भव—झि (६७) से 'उ' होकर भवन्तु । भव-सिप्—

७१—सेर्ह्यपिच्च ॥ ३ । ४ । ८७ ॥

लोट् लकार का जो सि उस को अपित् हि आदेश होवे । पित्त्वधर्म का अतिदेश आदेश में प्राप्त है इसलिये अपित् कहा है ।

१. अ० ३ । ४ । ८६ ॥

७२—अतो हेः ॥ ६ । ४ । १०५ ॥

अदन्त अङ्ग से परे जो हि उस का लुक् हो जावे। "भव"। पक्ष में (६८) से तातङ् होकर—भवतात्। भव+थस्=भवतम्। भव+थ=भवत।

७३—मेर्निः ॥ ३ । ४ । ८९ ॥

लोट् लकार का जो मि उस को नि आदेश हो। यहां इकार उच्चारणरूप ज्ञापक से ही उकारादेश नहीं होता है—"भव-नि"।

७४—आडुत्तमस्य पिच्च ॥ ३ । ४ । ९२ ॥

लोट् लकार के उत्तम पुरुष को आट् का आगम हो, और वह पित् हो जावे। अपित् सार्वधातुक को पित् आगम होने से गुण आदि कार्य और संप्रसारण का निषेध हो जाता है। परन्तु यहां भ्वादि गण में इस का कुछ काम नहीं पड़ता, क्योंकि यहां तो शप् प्रत्यय को मानकर सब काम होते हैं। किन्तु अदादि जुहोत्यादि में काम पड़ेगा। यहां सर्वत्र शप् के अकार के साथ दीर्घ एकादेश हो जाता है। भव-आ-नि=भवानि। "भव-वस्"। [(६९) से लङ्वत् अतिदेश होकर—]

७५—नित्यं ङितः ॥ ३ । ४ । ९९ ॥

ङित् लकार के उत्तम पुरुष का जो सकार उस का नित्य ही लोप होवे। भवाव, भवाम। ["लङ्"—]

७६—अनद्यतने लङ् ॥ ३ । २ । १११ ॥

अनद्यतन भूत अर्थ के वाचक धातु से लङ लकार होवे।

७७—लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः ॥ ६ । ४ । ७१ ॥

लुङ्, लङ् और लृङ् लकार परे हों तो धातु को उदात्त अट् का आगम हो[1]। भू के आदि में होता है।

७८—इतश्च ॥ ३ । ४ । १०० ॥

ङित् लकार का जो परस्मैपदविषयक इकार उस का लोप होवे। अभवत्। अभव+तस् = अभवताम् (७०) से ताम्। अभवन्, अभवः, अभवतम्, अभवत, अभव+मिप् = अभवम् (७०) से अम् और पररूप एकादेश होता है। अभवाव, अभवाम। ["लिङ्"—]

७९–विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्न-प्रार्थनेषु लिङ् ॥ ३ । ३ । १६१ ॥

विधि = प्रेरणा, निमन्त्रण = अवश्याचरण, आमन्त्रण =

---

१. अट् आट् का आगम तिबादि प्रत्यय और विकरण प्रत्यय करने के अनन्तर होता है, पूर्व नहीं। यज वप आदि संप्रसारण होने वाली धातुओं को कर्मप्रक्रिया में हलादि मानकर पहले अट् आगम किया जाय तो "ऐज्यत, औप्यत" प्रयोग ही निष्पन्न नहीं होंगे। इसलिये यज धातु से 'त' प्रत्यय, उस के अनन्तर 'यक्', यक् को मानकर संप्रसारण —'इ-ज्-य-त' इतना कार्य करके अङ्ग को अजादि मानकर आट् का आगम होता है। इसीलिये सांतसिद्ध (पीछे से) होने से अट् आट् का स्वर सब से बलवान् होता है। कई लोग अट् का आगम विकरण से पूर्व करते हैं और विधानसामर्थ्य से अट् आट् के स्वर को बलवान् मानते हैं यह भूल है। विकरण से पूर्व अट् आट् करने पर अट् स्वर को भ्वादि अदादि जुहोत्यादि गण की धातुओं में अवकाश मिल जाता है। अतः उ, श्नम्, श्ना, श आदि विकरणों में विकरणस्वर की प्राप्ति को कौन रोकेगा। अतः अट् आट् का आगम विकरण के पश्चात् ही करना चाहिये।

यथेष्ट आचरण, अधीष्ट = सत्कारपूर्वक क्रिया, सम्प्रश्न = सम्यक् पूछना, प्रार्थना = मांगना इन अर्थों में धातु से लिङ् लकार होवे। "भव-तिप्"।

८०—यासुट् परस्मैपदपूदात्तो ङिच्च ॥ ३। ४। १०३ ॥

यह सूत्र सीयुट् का अपवाद है। परस्मैपदविषयक लिङ् लकार को यासुट् का आगम हो, सो उदात्त और ङित्संज्ञक हो जावे। इस आगम को उदात्तविधान करने से ज्ञापक होता है कि अन्य आगम जिन में स्वरविशेष का विधान न किया हो वे सब अनुदात्त होते हैं। और लकार के स्थान में जो तिप् आदि आदेश होते हैं वे ङित् नहीं होते, क्योंकि उन के ङित् होने से उन को हुआ आगम भी ङित् हो ही जाता फिर ङित् कहने से यही ज्ञापक होता है कि यहां स्थानिवद्भाव नहीं होता।

८१—सुट् तिथोः ॥ ३। ४। १०७ ॥

लिङ् लकार के जो तकार, थकार उनका सुट् का आगम हो। सुट् का आगम यासुट् का बाधक इसलिये नहीं होता कि लिङ् को यासुट् और तकार थकार को सुट् कहने से विषयभेद हो जाता है, और एक विषय में उत्सर्गापवाद की प्रवृत्ति होती है।

८२—लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य ॥ ७। २। ७९॥

सार्वधातुकविषयक लिङ् के अनन्त्य सकार का लोप हो जावे। इसमें यासुट् और सुट् दोनों के सकारों का लोप हो जाता है, और आशिष् लिङ् में परस्मैपद और आत्मनेपद में आर्धधातुकविषय के होने से ये सकार बने रहते हैं। भव—या—तिप्।

८३—अतो येयः ॥ ७। २। ८० ॥

अदन्त अङ्ग से परे जो सार्वधातुक का अवयव 'या' उसको

इय् आदेश होवे। "लोपो व्योर्वलि"[1] सूत्र से हल् यकार का लोप होकर—भव+इ+तिप्=भवेत्, भव+इ+तस्=भवेताम्।

८४—झेर्जुस् ॥ ३ । ४ । १०८ ॥

लिङ् लकार का जो झि उसको जुस् आदेश होवे। जकार की इत्संज्ञा [होकर—]

८५—उस्यपदान्तात् ॥ ६ । १ । ९५ ॥

अपदान्त अवर्ण से उस् परे हो तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश हो जावे। इसकी प्राप्ति तो है, परन्तु परत्व और नित्यत्व[2] से इय् आदेश हो जाता है फिर प्राप्ति नहीं रहती। इस सूत्र का काम अदादि गण में पड़ेगा कि जहां इय् आदेश की प्राप्ति नहीं होती। भव+इय्+उस्=भवेयुः, भव+इय्+सिप्=भवेः, भव+इय्+थस्=भवेतम्, भव+इय्+थ=भवेत, भव+इय्+मिप्=भवेयम्, भव+इय्+वस्=भवेव, भव+इय्+मस्=

---

१. अ० ६ । १ । ६५ ॥

२ "यत् कृतेऽपि प्राप्नोत्यकृतेऽपि तन्नित्यम्" इस न्याय से इयादेश नित्य है। पररूप एकादेश करने पर 'अन्तादिवच्च' (सन्धि ११५) के नियम से यास् का अन्त्यावयव मानकर इयादेश की प्राप्ति होती है। वस्तुतः यहां "उस्यपदान्तात्" (आ० ८५) सूत्र की प्रवृत्ति ही नहीं होती। क्योंकि यह सूत्र अवर्ण से उस् पर रहने पर पररूप करता है। "विप्रतिषेधे परं कार्यम्"(सन्धि० ११४) सूत्र के भाष्य (१।२।४) में "अतो या इयः" ऐसा व्याख्यान करने से प्रतीत होता है कि इयादेश 'सकारान्त 'यास्' को होता है अर्थात् इयादेश सकार लोप का अपवाद है। अतः यहां "लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य" (आ० ८२) से सकार का लोप ही नहीं होता। सकार लोप न होने से अवर्ण से परे 'उस्' नहीं मिलता।

भवेम । ["आशिषि लिङ्"] आशीर्वाद अर्थ में (६६) सूत्र से लिङ् आया।

८६—लिङाशिषि ॥ ३ । ४ । ११६ ॥

आशीर्वाद अर्थ में जो लिङ् उसके स्थान में जो तिबादि आदेश वे आर्धधातुकसंज्ञक हों।

८७—किदाशिषि ॥ ३ । ४ । १०४ ॥

परस्मैपदविषयक लिङ् लकार को जो यासुट् का आगम कित् कहा है वह आशीर्वाद अर्थ में कित् समझना चाहिये। [कित् होने से गुण नहीं होता] आर्धधातुक संज्ञा होने से शप् विकरण प्राप्त नहीं, अन्य किसी का विधान नहीं है। भू+यास्+तिप् = भूयात् । यहां पदान्त में संयोग के आदि यासुट् के सकार का लोप हो जाता है[1]। भू+यास्+तस् = भूयास्ताम्, भू+यास्+झि = भूयासु, भू+यास्+सिप् = भूयाः, भू+यास्+थस् = भूयास्तम्, भू+ यास्+थ = भूयास्त; भू+यास्+मिप् = भूयासम्, भू+यास्+ वस्— भूयास्व, भू+यास्+मस् = भूयास्म। ("लुङ्")—

८८—लुङ् ॥ ३ । २ । ११० ॥

सामान्यभूत अर्थ के वाचक धातुओं से लुङ् लकार हो। शप् विकरण की प्राप्ति में—

८९—च्लि लुङि ॥ ३ । १ । ४३ ॥

लुङ् लकार परे हो तो धातु से च्लि प्रत्यय होवे।

९०—च्लेः सिच् ॥ ३ । १ । ४३ ॥

लुङ् लकार परे हो तो च्लि के स्थान में सिच् आदेश हो जावे। इकार चकार की इत्संज्ञा हो जाती है।

---

१. स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (अ० २१०)।

६१—गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु ॥ २ । ४ । ७७ ॥

गाति, स्था, घुसंज्ञक, पा, भू इन धातुओं से परे जो सिच् उसका लुक् हो जावे। सिच् का लुक होने के पश्चात् उस को स्थानिवत् मान के उस से परे अपृक्त हलादि सार्वधातुक तिप् को ईट् का आगम प्राप्त है, इसलिये—

६२—वा०–आहिभुवोरीट्प्रतिषेधः* ॥ १ । १ ७ । ० ॥

आह आदेश और भू से परे जो सिच् का लुक् उस को स्थानिवद्भाव न हो। स्थानिवत् के निषेध से ईट् का आगम नहीं होता। अब भू अङ्ग को तिप् के परे गुण पाता है इसलिये—

६३—भूसुवोस्तिङि ॥ ७ । ३ । ८८ ॥

---

* इस वार्त्तिक को सिद्धान्तकौमुदी वालों ने न समझ कर "अस्तिसिचोऽपृक्ते" (अ० १।१२) इस सूत्र का व्याख्यान मूल महाभाष्य और काशिका आदि से विपरीत किया है, जो कदाचित् उनका व्याख्यान ठीक होवे तो वार्त्तिक व्यर्थ हो जावे और असम्भव अभिप्राय सूत्र से निकाला है इसलिये मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि ऋषियों के अभिप्राय से विरुद्ध इन के पाण्डित्य को कौन मान सकता है ? ।

[माधवीया धातुवृत्ति के अवलोकन से ज्ञात होता है कि कई प्राचीन वैयाकरण इस वार्त्तिक से शुद्ध भू धातु में भी ईट् का प्रतिषेध करते थे। वस्तुतः यहां इस वार्त्तिक की प्रवृत्ति नहीं होती। यह वार्त्तिक अस् स्थानीय, 'भू' आदेश के विषय में ही प्रवृत्त होता है। महाभाष्यकार ने 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (अ० ७ । ३ । ९६) सूत्र में द्विसकार निर्देश मानकर 'विद्यमान सिच् को ईट् का आगम होता है' ऐसा अर्थ किया है। यहां सिच् का लोप हो गया है अत: ईट् का आगम नहीं होगा।]

अव्यवहित सार्वधातुक तिङ् परे हो तो भू और सू अङ्गों को गुण न होवे। (७७) सूत्र से अडागम हो कर—अट्+भू+तिप्= अभूत्, अभू+तस्=अभूताम्, अभू+वुक्+झि=अभूवन्; अभू +सिप्=अभूः, अभू+थस्=अभूतम्, अभू+थ=अभूत; अभू +वुक्+मिप्+अभूवम्, अभू+वस्=अभूव, अभू+मस्= अभूम।

६४—न माङ्योगे ॥ ६ । ४ । ७४ ॥

माङ् अव्यय शब्द के योग में लुङ्, लङ् और लृङ् लकारों को जो अट् और आट् के आगम कहे हैं वे न हों। जैसे—[illegible] मा भूत्, मा भवान् भूत्, मा स्म भवत्, मा स्म भूत्। इत्यादि में अट् का आगम नहीं होता और आट्के आगम का निषेध आगे अजादि धातुओं में दिखलाया जावेगा। ["लृङ्"—]

६५—लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियाऽतिपत्तौ ॥

३ । ३ । १३९

जो हेतुहेतुमद्भाव आदि लिङ् लकार के निमित्त अर्थ हैं उनमें क्रिया की असिद्धि गम्यमान हो तो धातु से लृङ् लकार हो जावे। (७७) से अट् और स्य प्रत्यय आदि कार्य होकर—अट्+भू+ इट्+स्य+तिप्=अभविष्यत्, अभविष्यताम्, अभविष्यन्; अभ- विष्यः, अभविष्यतम्, अभविष्यत। अभविष्य+मिप=अभविष्यम्, यहां अम के अकार के साथ पररूप हो जाता है। अभविष्याव, अभविष्याम"।

अथ तवर्गीयान्ताश्चतुस्सप्ततिः [1]।[तत्रैधादयः षट्त्रिंशदा- त्मनेपदिनः]। २ [एध] वृद्धौ=बढ़ना। अब यहां से आगे एध आदि तवर्गीयान्त ७४ चौहत्तर [1] धातुओं का व्याख्यान है। भू

१. एधादि आत्मनेपदी ३६, अतादि परस्मैपदी ३८=७४।

धातु में जितने सामान्य विषयक सूत्र लिखे हैं वे यहां नहीं लिखे जावेंगे। पूर्ववत् वर्तमान अर्थ में लट् आया।

९६–तङानावात्मनेपदम् ॥ १।४।९९ ॥

लकार के स्थान में तङ् और आन (=शानच्, कानच्) आत्मनेपदसञ्ज्ञक आदेश हों। [तङ्] इस से त से लेकर महिङ् तक नव [प्रत्ययों] का ग्रहण है। एध्+शप्+त = एधते।

९७–अनुदात्तङित आत्मनेपदम् ॥ १।३।१२ ॥

अनुदात्त वर्ण जिन का इत् गया हो और ङित् धातुओं से त आदि ९ नव आत्मनेपदसञ्ज्ञक प्रत्यय हों। यहां भी एध में अनुदात्त अकार इत् जाता है,[१] इस कारण इसमें आत्मनेपदसञ्ज्ञक प्रत्यय आये। शप् विकरण होकर—

९८–टित आत्मनेपदानां टेरे ॥ ३।४।७९ ॥

टित् लकारों के स्थान में जो आत्मनेपदसंज्ञक आदेश उन के टिभाग को ए आदेश हो जावे। एध्+शप्+त=एधते।

९९–सार्वधातुकमपित् ॥ १।२।४ ॥

सार्वधातुकसञ्ज्ञक अपित् प्रत्ययों की ङित् सञ्ज्ञा हो।

१००–आतो ङितः ॥ ७।२।८१ ॥

अदन्त अङ्ग से परे जो ङित् प्रत्ययों का आकार उस को इय् आदेश हो जावे। आम् भाग को एकार[२] होकर—एध्+शप्+आताम् = एधेते, एध्+शप्+झ = एधन्ते।

१०१–थासः से ॥ ३।४।८० ॥

टित् लकार के थास् को से आदेश होवे। एध्+शप्+थास् =

१. उपदेशेऽजनुनासिक इत् (ना० ११) सूत्र से। २. टित आत्मनेपदानां टेरे (आ० ९८) सूत्र से।

एधसे, एध्+शप्+आथाम्=एधेथे, एध्+शप्+ध्वम्+एधध्वे। एध्+शप्+इट्=एधे। यहां गुण एकार के परे पररूप एकादेश[1] हो जाता है। एध्+शप्+वहि=एधावहे. एध्+शप्+महिङ्=एधामहे। ["लिट्"—]

१०२–इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः॥ ३। १। ३६॥

लिट् लकार परे हो तो इजादि और गुरुमान् धातुओं से आम् प्रत्यय हो जावे, परन्तु ऋच्छ धातु से न होवे।

१०३–आमः॥ २। ४। ८१॥

आम् से परे जो लि उसका लुक् हो जावे। इससे लिट् का लुक् होकर—

१०४–कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि॥ ३। १। ३६॥

इस सूत्र में लिट् ग्रहण किया है। इसी से यहां लुक् हुए लिट् का रूपातिदेश समझना चाहिये। आमन्त से लिट् लकार परे हो तो कृञ् भू और अस् धातुओं का अनुप्रयोग अर्थात् इन सामान्य धातुओं का आम्प्रत्ययान्त एध आदि विशेष धातुओं से परे एक प्रयोग में समावेश किया जावे। आत्मनेपद प्रकरण में[2] अनुप्रयोग शब्द के साथ कृञ् धातु का ग्रहण किया है इसी ज्ञापक से "कृभ्वस्तियोगे०"[3] इस सूत्र से लेकर "कृञो०"[4] इस सूत्र में कृञ् के ञकारपर्यन्त प्रत्याहार ग्रहण से तीनों[5] धातुओं का अनुप्रयोग

---

१ अतो गुणे (सन्धि० १५२) सूत्र से। २. आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य। (अ० १। ३। ६३) सूत्र में। ३. अष्टा० ५। ४। ५० ॥ ४. अष्टा० ५। ४। ५८ ॥ ५. कृञ् प्रत्याहार के मध्य में "अभिविधौ संपदा च" (अ० ५। ४। ५३) सूत्र में पौथी संपूर्वक पद धातु भी पढ़ी है, परन्तु उस का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि कृञ् आदि का विशेष अर्थवाची एध आदि धातुओं के पीछे अनुप्रयोग करना है।

किया जाता है, और ये कृञ् आदि तीनों धातु सामान्यार्थवाचक और आम्प्रत्ययान्त विशेषार्थवाचक हैं इस कारण एक अर्थ के साथ दोनों धातुओं का सम्बन्ध होजाता है। यह कृञ् धातु ञित् है।

१०५-स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले ॥
१। ३। ७२ ॥

यह सूत्र परस्मैपद का बाधक है। क्रिया का फल कर्ता के लिये होवे तो स्वरित और ञित् धातुओं से आत्मनेपद हो, अन्यत्र परस्मैपद। इस से क्रिया का फल अन्य के लिये होने से कृञ् धातु से परस्मैपद प्राप्त है, इसलिये—

१०६-आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य ॥
१। ३। ६३ ॥

जिस धातु से आम् प्रत्यय किया हो उस से जो आत्मनेपद होता हो तो अनुप्रयुक्त कृञ् से भी आत्मनेपद और आम्प्रत्ययान्त धातु परस्मैपद हो तो परस्मैपद हो जावे। यहां एध धातु आत्मनेपदी है, इसलिये कृञ् से भी आत्मनेपद प्रत्यय ही होते हैं।

१०७-लिटस्तझयोरेशिरेच् ॥ ३। ४। ८१ ॥

लिट् लकार के स्थान में जो त और झ हैं उन को एश् और इरेच् आदेश यथासंख्य करके हो जावें। ये सम्पूर्ण के स्थान में शित् आदेश होकर—"एध-आम्-कृ-ए" इस अवस्था में एकार की

कृ, भू और अस् ये तीन धातुएं तो सामान्य अर्थवाली हैं अतः इन का संबन्ध प्रत्येक विशेष अर्थवाली धातु के साथ हो सकता है। सपूर्वक पद् धातु विशेष अर्थवाली है, अतः इसका अन्य विशेष अर्थवाली धातु के पीछे प्रयोग नहीं हो सकता। क्योंकि दो विभिन्न अर्थवाली धातुएं एक अर्थ को नहीं कह सकतीं। इसलिये सपदा का ग्रहण नहीं होता।

किरसंज्ञा होने से गुण, वृद्धि तो प्राप्त नहीं, परन्तु द्विर्वचन का बाधक परत्व से यणादेश हो जाता है, उसको स्थानिवत् मान[1] कर पुनः द्विर्वचन होता है। एध-आम्-कृ-कृ-ए।

१०८—उरत् ॥ ७ । ४ । ६६ ॥

अभ्यास के ऋकार को अत् आदेश होवे। ऋ के स्थान में रपर होने के नियम से अर् होकर रेफ का लोप (४०) से हो जाता है।

१०९—कुहोश्चुः ॥ ७ । ४ । ६२ ॥

अभ्यास के जो कवर्ग और हकार उनको चवर्ग आदेश होता है। एध्+आम्+चकृ+ए= एधाञ्चक्रे,[2] एध्+आम्+चकृ+आताम्=एधाञ्चक्राते, एधाञ्चकृ+इरेच्=एधाञ्चक्रिरे।

११०—एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ॥७।२।१० ॥

उपदेश में जो एकाच् अनुदात्त धातु हो उस से परे वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् का आगम न हो। इस से थास् के स्थान में 'से' के परे इडागम न हुआ। एधाञ्चकृ+थास्=एधाञ्चकृषे, एधाञ्चक्राथे।

१११—इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् ॥ ८ । ३ । ७८ ॥

---

1. द्विर्वचनेऽचि (सन्धि० ९१) सूत्र से।

2. प्रक्रिया इस प्रकार समझनी चाहिये—'एध+लिट्' तदन्तर 'आम्, लिट् का लुक्, प्रत्ययलक्षण मानकर आमन्त की प्रातिपदिक संज्ञा, स्वाद्युत्पत्ति, "कृन्मेजन्तः" (अ० १ । १ । ३९) से अव्यय संज्ञा, सुप् का लुक्, 'कृ' का अनुप्रयोग, "मोऽनुस्वारः" (सन्धि ११९) से मकार को अनुस्वार "वा पदान्तस्य" (सन्धि १९८) से विकल्प से परसवर्ण —'एधाञ्चक्रे, एधां चक्रे' ये दो रूप होते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

इण्णन्त अङ्ग से परे जो षीध्वम्, लुङ् और लिट् का धकार उसको मूर्धन्य आदेश हो। धकार का अन्तरातम ढकार हो जाता है। एधाञ्चकृ+ध्वम्—एधाञ्चकृढ्वे, एधाञ्चकृ+इट् = एधाञ्चक्रे, एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे। भू का अनुप्रयोग पूर्व के समान, कि जैसा साधन केवल भू का लिट् में लिख आये हैं। एधाम्बभूव, एधाम्बभूवतुः, एधाम्बभूवुः; एधाम्बभूविथ, एधाम्बभूवथुः, एधाम्बभूव; एधाम्बभूव, एधाम्बभूविव, एधाम्बभूविम।

११२—अत आदेः ॥ ७ । ४ । ७० ॥

अभ्यास के आदि अकार को दीर्घादेश होवे। अस धातु के अभ्यास के अकार को पररूप एकादेश प्राप्त है इसलिये दीर्घादेश कहा है। एध्+आम्+अ+अस्+णल् = एधामास, एधामासतुः, एधामासुः; एधामासिथ, एधामासथुः; एधामास, एधामास, एधामासिव, एधामासिम। यहां अस धातु को आर्धधातुकविषय में भू आदेश अस धातु के अनुप्रयोगवचनसामर्थ्य से ही नहीं होता। इस के आगे लुट्—प्रथमपुरुष त, आताम्, झ के स्थान में डा आदि आदेश हो के—एधिता, एधितारौ, एधितारः, एधितासे, एधितासाथे।

११३—धि च ॥ ८ । २ । २५ ॥

धकारादि प्रत्यय परे हो तो सकार का लोप हो जावे। यहां ध्वम् प्रत्यय के परे तास के सकार का लोप हो जाता है। एधितास्+ध्वम् = एधिताध्वे।

११४—ह एति ॥ ७ । ४ । ५२ ॥

एकार परे हो तो तास और अस्ति के सकार को हकारादेश होवे। एधितास्+इट् = एधिताहे, एधितास्वहे, एधितास्महे। इस के आगे लृट्—स्य आदि सब कार्य्य होकर—एध्+इट्+स्य+त = एधिष्यते, एधिष्येते, एधिष्यन्ते; एधिष्यसे, एधिष्येथे, एधिष्यध्वे; एधिष्ये,

एधिष्यावहे, एधिष्यामहे। अब इस के आगे क्रम से "लेट्"—प्रथम शप् का अपवाद सिप् विकरण—

११५—वैतोऽन्यत्र ॥ ३ । ४ । ९६ ॥

आकार को जहां ऐकार कहा है उस विषय को छोड़ के लेट् लकार सम्बन्धी जो एकार उसको ऐकार आदेश विकल्प करके हो जावे। टिभाग को जो एकारादेश कह चुके हैं उसी एकार को यहां ऐकार समझना चाहिये। "एध्+इट्+सिप्+अट्+त=एधिषतै, एध्+इट्+सिप्+आट्+त—एधिषातै, एधिषते, एधिषाते"। शप् पक्ष में—एधतै, एधातै, एधते, एधाते।

११६—आत ऐ ॥ ३ । ४ । ९५ ॥

लेट् लकार सम्बन्धी आकार को ऐकार आदेश नित्य ही हो जावे। इससे "आताम्, आथाम्" के आकार को ऐकार होता है। उस ऐकार के परे अट् आट् को वृद्धि एकादेश हो जाने से रूपभेद नहीं होता। "एध्+इट्+सिप्+अट्+आताम्"। एधिषैते, एधैते। झ—एधिषन्तै, एधिषान्तै, एधिषन्ते एधिषान्ते, एधन्तै, एधान्तै, एधन्ते एधान्ते। थास्—एधिषसै, एधिषासै, एधिषसे, एधिषासे, एधसै, एधासै, एधसे, एधासे। आथाम्—एधिषैथे, एधैथे। ध्वम्—एधिषध्वै, एधिषाध्वै, एधिषध्वे, एधिषाध्वे, एधध्वै, एधाध्वै, एधध्वे, एधाध्वे। इट्—एधिषै, एधिषे, एधै, एधे। यहां जिस पक्ष में इट् प्रत्यय के एकार का ऐकार आदेश होता है वहां अट् और आट् के आगम को वृद्धि एकादेश होजाने से प्रयोग भिन्न नहीं होते। वहि—एधिषवहै, एधिषावहै, एधिषवहे, एधिषावहे, एधवहै, एधावहै, एधवहे, एधावहे। महिङ्—एधिषमहै, एधिषामहै, एधिषमहे, एधिषामहे,

एधमहै, एधामहै, एधमहे एधामहे। यहां भी जब आट् होता है तब वस् मस् प्रत्ययों के यत्वादि न होने से दीर्घ नहीं होता, इस लिये दोनों के दो-दो रूप होते हैं। "लोट्"—

११७—आमेतः ॥ ३ । ४ । ९० ॥

लोट् लकार का जो एकार उस को आम् आदेश हो जावे। टिभाग को जो एकार कहा है उसी को यहां आम् आदेश समझना चाहिये। एध्+शप्+त=एधताम्, एधेताम्, एधन्ताम्।

११८—सवाभ्यां वामौ ॥ ३ । ४ । ९१ ॥

सकार, वकार से परे जो लोट् लकार का एकार उस को व और अम् आदेश यथासंख्य करके हों। एध्+शप्+थास्= एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम्।

११९—एत ऐ ॥ ३ । ४ । ९२ ॥

लोट् लकार के उत्तम पुरुष का जो एकार उस को ऐ आदेश होवे। यह आम् आदेश का बाधक है। एध्+शप्+आट्+ऐ= एधै, एधावहै, एधामहै। इस के आगे "लङ्"—पूर्व के समान अन्य सब कार्य जाना।

१२०—आडजादीनाम् ॥ ६ । ४ । ७२ ॥

लुङ्, लङ् और लृङ् लकार परे हों तो अजादि धातुओं को आट् का आगम हो जावे। अट् का अपवाद आट् का आगम है। वृद्धि एकादेश होकर—"आट्+एध्+अ+त=ऐधत, ऐधेताम्, ऐधन्त; ऐधथाः, ऐधेथाम्, ऐधध्वम्; ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि। आगे "लिङ्"—

१२१—लिङः सीयुट् ॥ ३ । ४ । १०२ ॥

लिङ् लकार को सीयुट् का आगम हो। सीयुट् और सुट् दोनों सकारों का लोप (८२) से होकर—"एध्+अ+इय्+त = एधेत, एधेयाताम्।

१२२—झस्य रन् ॥ ३।४।१०५॥

लिङ् लकार का जो झकार उस को रन् आदेश हो जावे। एधेरन्; एधेथाः, एधेयाथाम्, एधेध्वम्।

१२३—इटोऽत् ॥ ३।४।१०६॥

लिङ् लकार के स्थान में जो इट् आदेश उसको अत् आदेश हो जावे। तपरकरण दीर्घ की निवृत्ति के लिये है। एधेय, एधेवहि, एधेमहि। आशिष् लिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होने से सकार का लोप नहीं होता। सीयुट् और सुट् दोनों सकारों को मूर्धन्यादेश (५७) से हो जाता है। एध्+इट्+सीयुट्+सुट्+त = एधिषीष्ट। यहां मूर्धन्य षकार के योग में तवर्ग को टवर्ग[1] हो जाता है, और आताम् में तकार को कहा सुट् का आगम आकार से परे होता है। एध्+सीयुट्+आ+सुट्+ताम् = एधिषीयास्ताम्, एधिषीरन्। यहां रेफादि रन् आदेश के परे सीयुट् के यकार का लोप हो जाता है। एधिषीष्ठाः, एधिषीयास्थाम्, एधिषीध्वम्; एधिषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि। इस के आगे "लुङ्"—इस में कुछ विशेष नहीं है। आट्+एध्+सिच्+त = ऐधिष्ट, ऐधिषाताम्।

१२४—आत्मनेपदेष्वनतः ॥ ७।१।५॥

यह सूत्र अन्त आदेश का बाधक है। अकारभिन्न से परे आत्मनेपदविषयक प्रत्यय के आदि झकार को अत् आदेश होवे। आ+एध्+इट्+स्+झ = ऐधिषत; ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्। ध्वम्

१. ष्टुना ष्टुः (सन्धि० २१४) सूत्र से।

के धकार को (१११) सूत्र से मूर्धन्य नहीं होता, क्योंकि "इट्" इणन्त अङ्ग नहीं है ॐ। "एध्+इट्+स्+ध्वम् = ऐधिध्वम्" यहां (११३) से सकार का लोप हो जाता है। ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि। "लृङ्"—इस में कुछ विशेष नहीं। आट्+एध्+इट्+स्य+त = ऐधिष्यत, ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त; ऐधिष्यथाः,

ॐ सिद्धान्तकौमुदी में जो "ऐधिढ्वम्" प्रयोग लिखा है सो किसी प्रकार शुद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि "इट्" इणन्त अङ्ग कैसे समझा जावे "इणः षीध्वं०" [१] सूत्र में अङ्ग ग्रहण का यही प्रयोजन है कि "एधिषीध्वम्" यहां मूर्धन्यादेश न हो जावे, और लुङ् लकार में कदाचित् इट् की अङ्ग संज्ञा हो भी जावे तो भी अगले "विभाषेटः" सूत्र में इट् का पृथक् निर्देश होने से स्पष्ट है कि इण् के ग्रहण से इट् का ग्रहण नहीं होता। अतः जब 'ऐधिध्वम्' में इणन्त अङ्ग नहीं फिर "ऐधिढ्वम्" प्रयोग सर्वथा अशुद्ध है।

१. इस सूत्र में गोबलीवर्द-न्याय से इड्भिन्न ही अङ्ग लिया जाता है। न्यासकार ने "विभाषेटः" (आ० १११) सूत्र को उभयत्र विभाषा माना है। 'अलविध्वम्' इस उदाहरण में पूर्व सूत्र "इणः षीध्वम्०" (आ० १११०) से मूर्धन्यादेश की अप्राप्ति दर्शायी है। यदि "इणः षीध्वम्" सूत्र में इट् भी अङ्ग के ग्रहण से गृहीत हो जावे तो 'अलविध्वम्' प्रयोग में भी "इणः षीध्वम्" सूत्र से नित्य प्राप्ति होगी, न कि अप्राप्ति। इस से विदित होता है कि न्यासकार के मत में 'एधिषीध्वम्' में मूर्धन्यादेश नहीं हो सकता। चन्द्राचार्य ने इस पाणिनीय सूत्र का यही अभिप्राय समझ कर अपने व्याकरण में "धातोः षीलुङ्लोश्च धो ढः" सूत्र में विस्पष्ट धातु ग्रहण किया है। धातु ग्रहण करने पर 'एधिषीध्वम्' में किसी प्रकार मूर्धन्यादेश नहीं हो सकता। इस से भी स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्य अङ्ग ग्रहण से इट् का ग्रहण नहीं मानते। अतः कौमुदीकार का यहां मूर्धन्यादेश दर्शाना नितान्त अशुद्ध है।

ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम्; ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि ॥ ३ [* स्पर्ध] सङ्घर्षे = घिसना [1] और ईर्ष्या । इस के प्रयोग एध के समान जानने । जैसे—स्पर्धते, स्पर्धेते इत्यादि । परन्तु लिट् के रूप विशेष हैं—

१२५—शर्पूर्वाः खयः ॥ ७ । ४ । ६१ ॥

अभ्याससम्बन्धी शर् जिन के पूर्व हैं वे खय् बाकी रहें, अन्य हलों का लोप हो जावे । स्पर्ध+स्पर्ध्+ए, (१०७) से एश् = पस्पर्धे, पस्पर्धाते, पस्पर्धिरे; पस्पर्धिषे, पस्पर्धाथे, पस्पर्धिध्वे, पस्पर्धे, पस्पर्धिवहे, पस्पर्धिमहे; स्पर्धिता; स्पर्धिष्यते; स्पर्धिषतै, स्पर्धिषातै, स्पर्धिषते, स्पर्धिषाते इत्यादि; स्पर्धताम्; अस्पर्धत; स्पर्धेत; स्पर्धिषीष्ट । अस्पर्धिष्यत ॥ ४ [गाधृ] प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च = सत्कार, प्राप्त होने की इच्छा, गाँठना । गाधते । अभ्यास के अच् को ह्रस्व और गकार को जकार होकर—जगाध्+ए = जगाधे, जगाधाते, जगाधिरे, गाधिता, गाधिष्यते, गाधिषतै, गाधिषातै, गाधताम्, अगाधत, गाधेत, गाधिषीष्ट, अगाधिष्ट, अगाधिष्यत ॥

---

* एक यह नियम इस ग्रन्थ में पढ़ने पढ़ाने वालों को ध्यान में रखना चाहिये कि भू के तुल्य परस्मैपदी धातुओं के प्रयोग और एध के समान आत्मनेपदी धातुओं के प्रयोग समझें । यहां से आगे सब धातुओं के ग्यारहों लकारों के एक-एक प्रयोग लकारों के क्रमानुसार लिखेंगे और जहां विशेष सूत्र लग के विशेष प्रयोग बनेंगे वहां सब रूप लिख दिया करेंगे और असिद्ध प्रयोग सिद्धित अवयवों के सहित रक्खे जाते हैं वे आगे विशेष विशेष धातुओं के प्रयोगों ही में रक्खेंगे और जो एक अर्थ में एक प्रकार के बहुत धातु होंगे उनमें से एक के प्रयोग लिख दिया करेंगे उसी के समान दूसरों के समझने होंगे ।

1. धातुवृत्तिकार आदि 'संघर्ष' का अर्थ 'प्रतिपक्षी को हराने की इच्छा' करते हैं ।

५ [बाधृ] विलोडने=हटा देना। बाधते, बबाधे, बाधिता, बाधिष्यते, बाधिषतै, बाधिषातै, बाधिषते, बाधिषातै इत्यादि, बाधताम्, अबाधत, बाधेत, बाधिषीष्ट, अबाधिष्ट, अबाधिष्यत ॥ ६, ७ [नाथृ, नाधृ[1]] याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु। याच्ञा=मांगना, उपताप=पीडा, ऐश्वर्य=उत्तम पदार्थ, आशीः=इच्छा। आशीर्वाद अर्थ ही में नाथ् धातु से आत्मनेपद[2] और [अन्य] अर्थों में परस्मैपद होता है। जैसे—सर्पिषो नाथते। अन्यत्र—नाथति, नाथतः, नाथन्ति इत्यादि। शेष रूप बाधृ के समान होते हैं॥ ८ [दध्] धारणे=धारण करना। दधते, दधेते, दधन्ते इत्यादि।

१२६—अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ॥ ६। ४। १२०॥

जिस लिट् को मान के धातु के अभ्यास को आदेश नहीं हुआ हो उस के परे धातु के अभ्यास का लोप हो और दो हलों के बीच में जो अकार है उस को एकार आदेश हो जावे कित् लिट् परे हो तो। जैसे—द+दध्+ए=देधे, देधाते, देधिरे, देधिषे, देधाथे, देधिध्वे, देधे, देधिवहे, देधिमहे, दधिता, दधिष्यते। 'लेट्' में विशेष—

---

१ धातुप्रदीपकार 'नाधृ' को णोपदेश मानता है। वह महाभाष्य के 'सर्वे नादयो णोपदेशा नृतिनन्दिनर्दिनक्किनाटिनाथृनृवर्जम्' में नाधृ को नहीं पढता। अन्य वृत्तिकार इसे नोपदेश ही मानते हैं और "नाथृनाधृनृवर्जम्" ऐसा भाष्य का पाठ मानते हैं। मुद्रित भाष्यपुस्तकों में भी यही पाठ उपलब्ध होता है। देखो महाभाष्य ६। १। ६४।

२. आशिषि नाथ (महा० १। ३। २१) वार्तिक से 'आशी' अर्थ में ही आत्मनेपद होता है।

स्वादिषावै, स्वर्दिषवै, स्वर्दिषावै; स्वर्दताम्, स्वर्दताम्; अस्वर्दव, अस्वर्दव; स्वर्देव, स्वर्देव; स्वर्दिषीष्ट, स्वर्दिषीष्ट; अस्वर्दिष्ट, अस्वर्दिष्ट; अस्वर्दिष्यव, अस्वर्दिष्यव ॥ २०[उर्द] माने[1] क्रीडायां च[2] = तोलना, खेलना ।

१३१—उपधायां च ॥ ८ । २ । ७८ ॥

धातु के उपधाभूत हल् जिन से परे हों ऐसे रेफ और वकार की उपधा इक् को दीर्घ हो जावे । इस से उर्द धातु के उकार को सब लकारों में दीर्घ ऊकार[3] हो जाता है । ऊर्दते । और यह धातु इजादि गुरुमान् भी है इस से एध के समान लिट् लकार में आम् प्रत्यय आदि सब कार्य हो जाते हैं । ऊर्दाञ्चक्रे, ऊर्दाञ्चक्राते, ऊर्दाञ्चक्रिरे, ऊर्दाम्बभूव, ऊर्दामास; ऊर्दिता, ऊर्दिष्यते, ऊर्दिषवै, ऊर्दिषावै, ऊर्दताम्, (१२०) और्दत, ऊर्देत, ऊर्दिषीष्ट, और्दिष्ट, और्दिष्यत ॥ २१—२४ [कुर्द, खुर्द, गुर्द गुद[4]] क्रीडायामेव = खेलने ही में । पूर्व के समान उपधा को दीर्घ[3] होकर—कूर्दते, खूर्दते, गूर्दते; चुकूर्दे, चुखूर्दे, जुगूर्दे; गोदते, जुगुदे; कूर्दिता, कूर्दिष्यते,

१. समताकार के मत में 'मान' का अर्थ का 'मुग्ध' है । २. कई वैयाकरण चकार से 'आस्वादन' अर्थ का समुच्चय करते हैं । ३. चान्द्र वैयाकरण "टु ओ स्फूर्जा वज्रनिर्घोषे" धातु में उपधा के दीर्घ पाठ से ज्ञापन करते हैं कि 'उर्द, कुर्द, खुर्द' आदि में "उपधायां च" से दीर्घ नहीं होता, अन्यथा 'स्फूर्जा' में दीर्घ विधान व्यर्थ होता है । उनके मत में—'उर्दते, कुर्दते, खुर्दते, गुर्दते' प्रयोग बनते हैं । अन्य वैयाकरण 'स्फूर्जा' दीर्घपाठ से 'उपधायां च' सूत्र का अनित्यत्व ज्ञापन करते हैं उन के मत में 'उर्दते, ऊर्दते; कुर्दते, कूर्दते' दोनों प्रयोग बनते हैं ।

४. सायण और क्षीरस्वामी आदि 'गुद' शब्द को 'क्रीडायाम्' अर्थ के साथ जोड़ते हैं, धातु नहीं मानते ।

स्वादिपातै, स्वर्दिपतै, स्वर्दिपातै, स्वर्दवाम, स्वर्दवाम्; अस्वर्दत, अस्वर्दत; स्वर्देव, स्वर्देव, स्वर्दिषीष्ट, स्वर्दिषीष्ट; अस्वर्दिष्ट, अस्वर्दिष्ट; अस्वर्दिष्यत, अस्वर्दिष्यत ॥ २० [उर्द] माने[1] क्रीडायां च[2] =तोलना, खेलना ।

१३१—उपधायां च ॥ ८ । २ । ७८ ॥

धातु के उपधाभूत हल् जिन से परे हों ऐसे रेफ और वकार की उपधा इक् को दीर्घ हो जावे । इस से उर्द धातु के उकार को सब लकारों में दीर्घ ऊकार[3] हो जाता है । ऊर्दते । और यह धातु इजादि गुरुमान् भी है इस से एध के समान लिट् लकार में आम् प्रत्यय आदि सब कार्य हो जाते हैं । ऊर्दांचक्रे, ऊर्दांचक्राते, ऊर्दांचक्रिरे, ऊर्दाम्बभूव, ऊर्दामास, ऊर्दिता, ऊर्दिष्यते, ऊर्दिषते, ऊर्दिषातै, ऊर्दवाम्, (१२०) और्दत, ऊर्दैत, ऊर्दिषीष्ट, और्दिष्ट, और्दिष्यत ॥ २१—२४ [कुर्द, खुर्द, गुर्द गुद[4]] क्रीडायामेव =खेलने ही में । पूर्व के समान उपधा को दीर्घ[3] होकर—कूर्दते, खूर्दते, गूर्दते; चुकूर्दे, चुखूर्दे, जुगूर्दे, गोदते, जुगुदे; कूर्दिता, कूर्दिष्यते,

---

१ समगाकार के मत में 'मान' का अर्थ का 'सुख' है । २. कई वैयाकरण चकार से 'आस्वादन' अर्थ का समुच्चय करते हैं । ३. अन्य वैयाकरण "टु ओ स्फूर्जा वज्रनिर्घोषे" धातु में उपधा के दीर्घ पाठ से ज्ञापन करते हैं कि 'उर्द, कुर्द, खुर्द' आदि में "उपधायां च" से दीर्घ नहीं होता, अन्यथा 'स्फूर्जा' में दीर्घ विधान व्यर्थ होता है । इनके मत में— 'उर्दते, कुर्दते, खुर्दते, गुर्दते' प्रयोग बनते हैं । अन्य वैयाकरण 'स्फूर्जा' दीर्घपाठ से 'उपधायां च' सूत्र का अनित्यत्व ज्ञापन करते हैं इन के मत में 'उर्दते, ऊर्दते, कुर्दते, कूर्दते' दोनों प्रयोग बनते हैं ।

४. सायण और क्षीरस्वामी आदि 'गुद' धातु को 'क्रीडायाम्' अर्थ के साथ जोड़ते हैं, धातु नहीं मानते ।

पूर्दिपतै, कूर्दिपातै, कूर्दताम्, अकूर्दत, कूर्देत, कूर्दिपीष्ट, अकूर्दिष्ट, अकूर्दिष्यत; गोदिता, गोदिष्यते, गोदिपतै, गोर्दिपातै, गोदताम्, अगोदत, गोदेत, गोदिपीष्ट, अगोदिष्ट, अगोदिष्यत ॥ २५ [षूद] क्षरणे = झरना वा नष्ट होना। (१३०) सूदते, सुसूदे, सूदिता, सूदिष्यते, सूदिपतै, सूदिपातै, सूदताम्, असूदत, सूदेत, सूदिपीष्ट, असूदिष्ट, असूदिष्यत। जो धातु उपदेश में मूर्धन्य षकारादि हैं उनकी व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिये कि—

भा०—अजदन्त्यपराः सादयः षोपदेशाः। स्मिङ्-स्वदि-स्विदि-स्वञ्ज-स्वपयश्च। सृपि-सृजि-स्तॄ-स्त्या-सेकृ-सॄवर्जम् ॥ ६ । १ । ६३ ॥

जिन धातुओं के सकार से अच् तथा दन्त्य अक्षर परे हों वे सब षोपदेश धातु समझने चाहियें[1]। दन्त्य अक्षरों में दन्त्योष्ठ्य वकार का ग्रहण नहीं होता है इसी से स्वदि आदि धातु पृथक् पढ़े हैं, और सृप् आदि धातु अजदन्त्यपर हैं इन को षोपदेश नहीं समझना चाहिये ॥ २६ [ह्राद्] अव्यक्ते शब्दे = स्पष्ट उच्चारण का न होना। ह्रादते, जह्रादे, ह्रादिता, ह्रादिष्यते, ह्रादिपतै, ह्रादिपातै, ह्रादताम्, अह्रादत, ह्रादेत, ह्रादिपीष्ट, अह्रादिष्ट, अह्रादिष्यत ॥ २७ [ह्लादी] सुखे च = सुख होना। यहां चकार से अव्यक्त शब्द की

१ यद्यपि महाभाष्यकार ने इस परिगणन में 'एकाच्' ग्रहण नहीं किया, तथापि "धातोरकाचो०" (३ । १ । २२) के 'सूचिसूत्रिमूत्रि०, इत्यादि वार्तिक के 'सोसूच्यते सोसूत्र्यते' उदाहरणों में षत्व नहीं किया, इससे विदित होता है कि यह परिगणन एकाच् धातुओं का ही है। यद्यपि इस परिगणन से 'ष्वष्क' धातु में षोपदेशत्व की प्रतीति नहीं होती, तथापि "सुब्धातुष्ठिवुष्वष्कतीनां प्रतिषेधः" (महा० ६ । १ । ६४) वार्तिक में प्रतिषेधविधान-सामर्थ्य से इसे षोपदेश समझना चाहिये।

अनुवृत्ति आती है और इसी प्रकार जिन-जिन धातुओं के अर्थ के पश्चात् चकार पड़ा हो वहां वहां सर्वत्र पूर्व धातु के अर्थ का सम्बन्ध समझ लेना चाहिये। ह्लादते, जह्लादे, इत्यादि ॥ २८ [स्वाद] आस्वादने = चाखना। स्वादते, सस्वादे ॥ २९ [पर्द] कुत्सिते शब्दे = निन्दित शब्द करना[1]। पर्दते, पपर्दे, पर्दिता, पर्दिष्यते, पर्दताम्, अपर्दत, पर्देत, पर्दिषीष्ट, अपर्दिष्ट, अपर्दिष्यत ॥ ३० [यती] प्रयत्ने = पुरुषार्थ करना। यतते, येते, येताते, येतिरे। यतिता, यतिष्यते, यातिषते, यातिषातै, यतताम्, अयतत, यतेत, यतिषीष्ट, अयतिष्ट, अयतिष्यत ॥ ३१, ३२ [युतृ, जुतृ] भासने = प्रकाश होना। योतते, युयुते; जोतते, जुजुते; योतिता, जोतिता; योतिष्यते, जोतिष्यते इत्यादि ॥ ३३, ३४ [विथृ वेथृ] याचने = मांगना। वेथते, विविथे, विवेथे, अभ्यास से ह्रस्व इकार हो जाता है। वेथिता, वेथिष्यते ॥ [३५ श्रथि] शैथिल्ये = शिथिलता। इदित् को नुम् (१२८) से होकर—श्रन्थते, शश्रन्थे, श्रन्थिता, श्रन्थिष्यते ॥ ३६ [ग्रथि] कौटिल्ये = टेढ़ापन। ग्रन्थते, जग्रन्थे ॥ ३७ [कत्थ] श्लाघायाम् = प्रशंसा करना। कत्थते, चकत्थे, कत्थिता, कत्थिष्यते, कत्थिषते, कत्थिषातै, कत्थताम्, अकत्थत, कत्थेत, कत्थिषीष्ट, अकत्थिष्ट, अकत्थिष्यत। इत्येधादय उदात्ता उदात्तेत आत्मनेपदिनः षट्त्रिंशत् ॥

अथ [तादयो] ऽष्टात्रिंशत् परस्मैपदिनः। अब तवर्गान्तों में अड़तीस (३८) धातु परस्मैपदी हैं ॥ ३८ [अत] सातत्यगमने = निरन्तर चलना। परस्मैपद में तिप् आदि नव (९) प्रत्यय आये। अत्+शप्+तिप् = अतति, अततः, अतन्ति; अतसि, अतथः, अतथ; अतामि, अतावः, अतामः। "लिट्"—में द्विर्वचन

1. यह धातु अपानवायु के शब्द के लिये है।

होने के पश्चात् अभ्यास को दीर्घ (११२) से और एकादेश होकर—आत, आततुः, आतुः; आतिथ, आतथुः, आत; आत, आतिव, आतिम। "लुट्"—अतिता, अतितारौ, अतितारः, अतितासि, अतितास्थः, अतितास्थ; अतितास्मि, अतितास्वः, अतितास्मः। "लृट्"—अतिष्यति, अतिष्यतः, अतिष्यन्ति; अतिष्यसि, अतिष्यथः, अतिष्यथ; अतिष्यामि, अतिष्यावः, अतिष्यामः। "लेट्"—आतिषति, आतिषाति, अतिषति, अतिषाति इत्यादि। "लोट्"—अततु, अततात्, अतताम्, अतन्तु; अत अततात्, अततम्, अतत, अतानि, अताव, अताम। "लङ्"—आट् (११९) से और उसके साथ वृद्धि होकर—आतत्, आतताम्, आतन्; आतः, आततम्, आतत; आतम्, आताव, आताम। "लिङ्"—अतेत्, अतेताम्, अतेयुः; अतेः, अतेतम्, अतेत, अतेयम्, अतेव, अतेम। "आशिष् लिङ्"—संयोगादि यास् के सकार का "स्कोः संयोगा०"[1] सूत्र से लोप—अत्यात्, अत्यास्ताम्, अत्यासुः; अत्याः, अत्यास्तम्, अत्यास्त, अत्यासम्, अत्यास्व, अत्यास्म। "लुङ्"—["आट्+अत्+सिच्+इट्+त्" इस अवस्था में—]

१३२—वदव्रजहलन्तस्याचः ॥ ७। २। ३ ॥

परस्मैपद विषय में सिच् प्रत्यय परे हो तो वद, व्रज और हलन्त धातुओं के अच् को वृद्धि होवे। यहां अच् ग्रहण इक् की निवृत्ति के लिये है। वद, व्रज धातु भी हलन्त हैं इनका पृथक् ग्रहण इसलिये है कि लघु अकार जिनकी उपधा में हो ऐसी हलादि धातुओं को विकल्प से वृद्धि कही है[2] सो इन दोनों को नित्य ही होगी। इससे अत धातु को वृद्धि प्राप्त हुई।

१३३—नेटि ॥ ७। २। ४ ॥

1. आ० २१० ॥ 2. अतो हलादेर्लघोः (आ० १३४) सूत्र से।

इडादि सिच् परे हो तो पूर्वोक्त हलन्त धातुओं के अच् को वृद्धि न होवे। [इस से वृद्धि का निषेध हो गया।]

१३४—अस्तिसिचोऽपृक्ते ॥ ७। ३। ९६ ॥

अस्ति धातु और सिच् प्रत्यय से परे अपृक्त हलादि सार्वधातुक को ईट् का आगम हो। "आट्+अव्+इट्+स्+ईट्+त्" इस अवस्था में—

१३५—इट ईटि ॥ ८। २। २८ ॥

इट् से परे सकार का लोप हो ईट् परे हो तो। फिर त्रिपादी में हुए सिच् के लोप को असिद्ध मान कर सन्धि प्राप्त नहीं है इसलिये—

१३६—वा०—सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वक्तव्यः ॥ महा० ८। २। ६ ॥

दीर्घ एकादेश करने में सिच् के सकार का लोप सिद्ध समझना चाहिये। फिर दीर्घ एकादेश होकर—आवीत्, आविष्टाम्।

१३७—सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ॥ ३। ४। १०९ ॥

सिच् प्रत्यय, अभ्यस्तसंज्ञक धातु और विद् धातु से परे जो ङित् लकार का झि उस को जुस् आदेश होवे। यहाँ सिच् से परे झि को जुस् होता है। आट्+अव्+सिच्+जुस्=आविषुः।

"अव्" धातु को आट् के आगम पक्ष में तो वृद्धि होने न होने में कुछ भेद नहीं, परन्तु जहाँ आट् का निषेध है वहां विशेष है। जैसे—मा भवानवीत्, अविष्टाम्, अविषुः॥ आवीः, आविष्टम्, आविष्ट; आविषम्, आविष्व, आविष्म। ["लृङ्"—] आविष्यत्, आविष्यताम्, आविष्यन्; आविष्यः, आविष्यतम्, आविष्यत, आविष्यम्, आविष्याव, आविष्याम॥ २९ [चिती] संज्ञाने= ठीक-ठीक जानना। (५१) सूत्र से [illegible] चित् धातु को

गुण होकर—चित्+शप्+तिप्=चेतति, चेततः, चेतन्ति; चिचेत। [सूत्र ४६ से अपित् लिट् कित् होकर] (४५) से गुण नहीं होता—चिचिततुः, चिचितुः; चिचेतिथ, चिचितथुः, चिचित; चिचेत, चिचितिव, चिचितिम; चेतिता; चेतिष्यति; चेतिषति, चेतिषाति, चेतति, चेताति, चेतत्, चेतात् इत्यादि; चेततु, चेततात्; अचेतत्; चेतेत्; (८७. ३४) चित्यात्, अचेतीत्; अचेतिष्यत्॥ ४० [च्युतिर्] आसेचने= सींचना। (५२) से गुण—च्योतति; चुच्योत, चुच्युततुः; च्योतिता; च्योतिष्यति; च्योतिषति, च्योतिषाति इत्यादि; च्योततु, च्योततात्; अच्योतत्; च्योतेत्; च्युत्यात्, च्युत्यास्ताम्, च्युत्यासुः इत्यादि।

१३८—इरितो वा॥ ३। १। ५७॥

जिस धातु का इर् भाग इत्संज्ञक हुआ हो उस धातु से परे च्लि के स्थान [में] अङ् आदेश विकल्प करके हो। अट्+च्युत्+अङ्+तिप्=अच्युतत्, अच्युतताम्, अच्युतन्; अच्युतः, अच्युततम्, अच्युतत; अच्युतम् अच्युताव, अच्युताम। जिस पक्ष में अङ नहीं होता वहां—अच्योतीत्, अच्योतिष्टाम्, अच्योतिषुः, इत्यादि; अच्योतिष्यत्॥ ४१ [श्च्युतिर्[1]] क्षरणे= झरना या नाश होना। श्च्योतति, चुश्च्योत इत्यादि च्युत् के समान जानो॥ ४२ [मन्थ] विलोडने=विलोना। मन्थति, मन्थतः, मन्थन्ति; ममन्थ; मन्थिता; मन्थिषति, मन्थिषाति—मन्थति, मन्थाति; मन्थतु; अमन्थत्; मन्थेत्।

१३९—अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति॥ ६। ४। २४॥

१ कई वृत्तिकार क्षरण अर्थ में 'श्चुतिर्' धातु भी मानते हैं। वेद के 'मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतम्' (ऋ० ४।५८।२) मन्त्र में इसका प्रयोग भी उपलब्ध होता है।

कित् ङित् प्रत्यय परे हों तो जिसका ह्रस्व इकार इत् न गया हो ऐसा जो हलन्त अङ्ग उसकी उपधा के नकार का लोप होवे। [(८५) से कित्] मन्थ्+यासुट्+तिप्= मथ्यात्, अमन्थीत्, अमन्थिष्यत्॥ ४३-४६ [कुथि, पुथि, लुथि, मथि] हिंसासंक्लेशनयोः = मारना और अति दुःख देना। (१२८) से नुम् होके—कुन्थति, चुकुन्थ, कुन्थिता, कुन्थिष्यति, कुन्थिषति, कुन्थिषाति, कुन्थतु, अकुन्थत्, कुन्थेत्, कुन्थ्यात्। इदित् के होने से "कुन्थ्यात्" में (१३९) से नकार का लोप नहीं हुआ। अकुन्थीत्, अकुन्थिष्यत्। पुथि आदि के रूप कुथि के समान होते हैं। ४८ [षिध] गत्याम् = ज्ञान, गमन, प्राप्ति। यहां धातु के आदि षकार को स होकर—सेधति, सेधतः, सेधन्ति; सिषेध, सिषिधतुः, सिषिधुः; सेधिता; सेधिष्यति; सेधिषति, सेधिषाति, सेधतु; असेधत्; सेधेत्; सिध्यात्; असेधीत्; असेधिष्यत्॥ ४९ [षिधू[1]] शास्त्रे माङ्गल्ये च = शिक्षा और मङ्गलाचारण। इस धातु के सार्वधातुक लकारों में तो पूर्व सिध धातु के समान और दीर्घ ऊकार इत् गया है इसलिये [आर्धधातुक लकारों में] विशेष है।

१४०—स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा॥७।२।४४॥

स्वरति, सूति, सूयति, धूञ् और ऊदित् धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक को विकल्प करके इट् का आगम हो। "लिट्"—सिषेध, सिषिधतुः, सिषिधुः। अनिट् पक्ष में—सिध्—थल्।

१४१—झषस्तथोर्धोऽधः॥८।२।४०॥

धा धातु को छोड़ के झष् प्रत्याहार से परे जो त और थ उन को ध आदेश हो। यहां थल् के थकार को ध होकर—सिसिध्+

1. कई लोग 'षिधु' उदित् पढ़ते हैं। इसका उदित्व अप्रमाण है। यह न्यासकार ने (अ० ७।२।१०) में बड़े प्रयत्न से सिद्ध किया है।

ध = सिषेद्ध। यहां पूर्व धकार को झष् के परे जश्त्व हो जाता है। पक्ष में—सिषेधिथ[1]। सिषिधिथुः, सिषिध, सिषेध, सिषिध्व, सिषिधिव, सिषिध्म, सिषिधिम। "लुट्"—सिध्+तास्+डा = सेद्धा। यहां भी पूर्ववत् तास् के तकार को धकार और पूर्व को जश्त्व होता है। सेद्धारौ, सेद्धारः; सेद्धासि, सेद्धास्थः, सेद्धास्थ; सेद्धास्मि, सेद्धास्वः, सेद्धास्मः। सेट् पक्ष में—सेधिता, सेधितारौ, सेधितारः इत्यादि। "लृट्"—सिध्+स्य+तिप् = सेत्स्यति। यहां खर् के परे 'झल्' धकार को "खरि च"[2] सूत्र से 'चर्' तकार हो जाता है। सेत्स्यतः, सेत्स्यन्ति, सेधिष्यति, सेधिष्यतः, सेधिष्यन्ति। "लेट्"—सेत्सति, सेत्साति, सेधिषति, सेधिषाति, सेत्सत्, सेत्सात्, सेत्सद्, सेत्साद्, सेधति, सेधाति इत्यादि। सेधतु, असेधत्, सेधेत्। ["आशीर्लिङ्"—] सिध्यात्, सिध्यास्ताम्, सिध्यासुः। "लुङ्"—अनिट् पक्ष में—अट्+सिध्+सिच्+इट्+तिप् = असैत्सीत् (१३२) (१३५)।

१४२—झलो झलि ॥ ८ । २ । २६ ॥

१. धातुप्रदीपकार मैत्रेयरक्षित मर्यादिनियम (अ० ७ । २ । १३) से प्राप्त इट् को सब से बलवान् मानता है। इसलिये उसके मत में "स्वरतिसूति" (अ० ७ । २ । ४४) इत्यादि सूत्र से प्राप्त इड्विकल्प को बाधकर भी नित्य इट् होता है। काशिकाकार ने "अचस्तास्वत्" (अ० ७ । २ । ६१) सूत्र की वृत्ति में 'विधोता, विधविता विधविथ, तास् में विकल्प इट् को बाधकर थल में नित्य इडागम होता है' लिखा है। न्यासकार भी इसी के अनुकूल है। तदनुसार 'सिषेद्ध' यही रूप बनेगा। हरदत्त और धातुवृत्तिकार ने दोनों पक्ष (थल् में इड्विकल्प और नित्यत्व) लिखे हैं। वास्तविकता क्या है इस पर कृतभाष्यपरिश्रम विद्वान् विचार करें। २. सन्धि० २३५।

झल् से परे जो सकार उसका लोप हो झल् परे हो तो। असिध्+स्+ताम्=असैद्धाम्। यहां स लोप होने के पश्चात् ताम् के तकार को ध और पूर्व को जश्त्व हो जाता है। असिध्+स्+झि=असैत्सुः, असिध्+स्+ईट्+सिप्=असैत्सीः, असिध्+स्+थस्=असैद्धम्, असैद्ध, असैत्सम्, असैत्स्व, असैत्स्म। सेट् पक्ष में असेधीत्, असेधिष्टाम्, असेधिषुः इत्यादि। "लृङ्"—अट्+सिध्+इट्+स्य+तिप्=असेत्स्यत्, असेत्स्यताम्, असेत्स्यन्, असेत्स्य, असेत्स्यतम्, असेत्स्यत, असेत्स्यम्, असेत्स्याव, असेत्स्याम। सेट् पक्ष में—असेधिष्यत्, असेधिष्यताम्, असेधिष्यन्॥ ४९ [खाद] भक्षणे=खाना। इस धातु का अकार इत् जाता है। खादति, चखाद, खादिता, खादिष्यति, खादिषति, खादियात, खादतु, अखादत्, खादेत्, खाद्यात्, अखादीत्, अखादिष्यत्॥ ५० [खद] स्थैर्ये हिंसायां च=स्थिर होना, मारना, और चकार से भक्षण अर्थ का भी समुच्चय होता है। खदति, खद्+खद्+णल्=चखाद (१२७), चखदतु, चखदुः, चखदिथ, चखदथुः, चखद।

१४३—णलुत्तमो वा ॥ ७ । १ । ९१ ॥

उत्तम पुरुष का णल् आदेश विकल्प करके णित्संज्ञक होवे। स्वाभाविक णित् को विकल्प करने से प्राप्तविभाषा है। चखाद, चखद। णित्पक्ष में वृद्धि होती है अन्यत्र नहीं। खदिता, खदिष्यति, खादिषति,[1] खादिषाति, खदतु, अखदत्, खदेत्, खद्यात्।

१४४—अतो हलादेर्लघोः ॥ ७ । २ । ७ ॥

परस्मैपदविषयक इडादि सिच् परे हो तो हलादि अङ्ग के लघु अकार को विकल्प करके वृद्धि होवे। अखादीत्, अखदीत्।

यहां इडादि सिच् में वृद्धि का निषेध प्राप्त है[1] इसलिये विधान है। अखदिष्यत्॥ ५१ [वद] स्थैर्ये = स्थिर होना। बदति, बवाद, बेदतुः, बेदुः।

१४५—थलि च सेटि ॥ ६। ४। १२१ ॥

सेट् थल् परे हो तो लिट् लकार को मान कर जिस धातु के आदि को कोई आदेश न हुआ हो उस के अभ्यास का लोप और दो हलों के बीच में जो अकार है उस को एकारादेश होजावे। बद्+बद+इट्+थल् = बेदिथ, बेदथुः, बेद, बवाद, बबद, बेदिव, बेदिम, बदिता, बदिष्यति, बादियति, बादियाति, बदियति, बदियाति, बदति, बदासि, बदतु, अबदत्, बदेत्, बद्यात्, अबादीत् (१४४) अबदीत्, अबदिष्यत्॥ ५२ [गद] व्यक्तायां वाचि = स्पष्ट बोलना। गदति, जगाद, जगदतुः, गदिता, गदिष्यति, अगादीत्, अगदीत् इत्यादि॥ ५३ [रद] विलेखने = काटना और जोतना। रदति, रराद, रदिता, अरादीत्, अरदीत्॥ ५४ [णद] अव्यक्ते शब्दे = अप्रकट शब्द होना।

१४६—णो नः ॥ ६। १। ६४ ॥

धातु के आदि णकार को नकारादेश होवे। नदति, ननाद, नेदतुः, नेदुः, नेदिथ, नेदथुः, नेद, ननाद, ननद, नेदिव, नेदिम, नदिता, नदिष्यति, नादियति, नादियाति, नदतु, अनदत्, नदेत्, नद्यात्, अनादीत्, अनदीत्।

णोपदेश धातुओं की व्यवस्था—

भा०—सर्वे नादयो णोपदेशाः। नृति, नन्दि, नर्दि, नक्कि, नाटि, नाथृ, नाधृ, नृ-वर्जम्॥ अ० ६। १। ६४॥

१ नेटि (भा० १३३) सूत्र से।

नकारादि धातु सब णोपदेश समझने चाहियें, परन्तु नृति आदि धातुओं को छोड़ कर। अर्थात् नृति आदि णोपदेश नहीं, इसलिये णोपदेशों को कहा कार्य नृति आदि को नहीं होगा ॥
५५ [अर्द] गतौ ❀ याचने च=मांगना । अर्दति, अर्दतः, अर्दन्ति ।

१४७—तस्मान्नुड् द्विहलः ॥ ७ । ४ । ७१ ॥

दीर्घ किये हुए अभ्यास के अकार से परे जो द्विहल् धातु उसको नुट् का आगम होवे। नुट् टित् होने से अभ्यास से परे द्वितीय भाग के आदि में होता है। आ+नुट्+अर्द्+णल्—आनर्द, आनर्दतुः, आनर्दुः, आनर्दिथ, आनर्दथुः, आनर्द, आनर्द, आनर्दिव, आनर्दिम; अर्दिता, अर्दिष्यति, अर्दिषति, अर्दिषाति, अर्दतु, आर्दत्, अर्देत्, अर्द्यात्, आर्दीत्, आर्दिष्टाम्, आर्दिषुः; आर्दिष्यत् ॥ ५६, ५७ [नर्द, गर्द] शब्दे = शब्द होना । नर्दति, गर्दति, ननर्द, जगर्द, नर्दिता, नर्दिष्यति, नर्दिषति, नर्दिषाति, नर्दतु, अनर्दत्, नर्देत्, नर्द्यात्, अनर्दीत्, अनर्दिष्यत् ॥ ५८ [तर्द] हिंसायाम्=मारना । तर्दति । ततर्द ॥ ५९ [कर्द] कुत्सिते शब्दे = निन्दित शब्द करना । कर्दति, चकर्द, अकर्दीत् ॥ ६० [खर्द] दन्तशूके[1] = दांतों से काटना । खर्दति, चखर्द,

---

❀ इस बात पर भी ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि गति, हिंसा आदि अर्थ जो अनेक धातुओं के बहुधा आते हैं उनके अर्थ भाषा में बार-बार नहीं लिखेंगे, और जिस अर्थ के साथ चकार पढ़ते हैं वहां पूर्व धातु के अर्थ का समुच्चय सर्वत्र समझना चाहिये ॥

1. कई लोग 'दन्दशूके' पढ़ते हैं । 'दन्दशूको बिलेशयः' इस कोश के प्रमाण से दन्दशूक सर्प का नाम है। अतः सर्पसम्बन्धिनी दशन क्रिया इस का अर्थ है । भट्टिकार ने 'द्रुपमति रघुसिंहे

अखर्दीत्, अखर्दिष्यत् ॥ ६१, ६२ [अति, अदि] बन्धने =बाधना । (१२७) अन्तति, अन्दति, आ+अन्त्+णल् (१४७)=आनन्त, आनन्द, अन्तिता, अन्तिष्यति, अन्तिषति, अन्तिषाति, अन्ततु, आन्तत्, अन्तेत्, अन्त्यात्, आन्तीत्, आन्तिष्यत् ॥ ६३ [इदि] परमैश्वर्ये = विद्या, धन, पुत्रादि की प्राप्ति । इद्+शप्+तिप्=इन्दति । यह धातु नुमागम होने के पश्चात् इजादि गुरुमान् हो जाता है । फिर (१०२) (१०३) (१०४) इत्यादि सूत्रों से इन्द्+आम्+कृ+णल्=इन्दाञ्चकार, इन्दाञ्चक्रतुः, इन्दाञ्चक्रुः ।

१४८—कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि ॥७।२।१३॥

कृ, सृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु, श्रु इन धातुओं से परे जो लिट् वलादि आर्धधातुक उस को इट् का आगम न होवे । कृ आदि सब धातु अनिट् हैं इन से परे सामान्य आर्धधातुक को इट् का निषेध हो ही जाता । फिर यह कृ सृ भृ ग्रहण नियमार्थ है कि जितने अनिट् धातु हैं उन सब से परे लिट् को इडागम हो जावे इन कृ आदि से परे न हो । इसी नियम से—"एधाञ्चकृषे, एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे, उर्णाञ्चकृषे" इत्यादि में इट् नहीं होता और थल् में विशेष है—

१४९—ऋतो भारद्वाजस्य ॥ ७ । २ । ६३ ॥

तास् प्रत्यय के परे नित्य अनिट् जो ऋकारान्त धातु उस से परे थल् वलादि आर्धधातुक को भारद्वाज आचार्य के मत में इट् का आगम न होवे । इन्दाञ्चकृ+थल्=इन्दाञ्चकर्थ । थल्

दन्दशूकान् जिघांसी' • श्लोक में दन्दशूक शब्द हिंस्रमात्र में प्रयुक्त किया है ।

के पित् होने से गुण हो जाता है। इन्दाञ्चकार, इन्दाञ्चकतुः, इन्दाञ्चकुः। इन्दाञ्चकार (१४३) इन्दाञ्चकर, इन्दाञ्चकृव, इन्दाञ्चकृम, इन्दिता, इन्दिष्यति, इन्दिपति, इन्दिपाति, इन्दतु, ऐन्दत्, इन्देत्, इन्द्यात्, ऐन्दीत्, ऐन्दिष्यत्॥ ६४, ६५ [विदि, भिदि[1]] अवयवे = अवयव करना। विन्दति, भिन्दति, विविन्द, बिभिन्द, विन्दिता, विन्दिष्यति, विन्दिपति, विन्दिपाति, विन्दतु, अविन्दत्, भिन्देत्, विन्द्यात्, अविन्दीत्, अविन्दिष्यत्॥ ६६ [गडि[2]] वदनैकदेशे = मुख के अवयव से क्रिया करना। गण्डति, जगण्ड, गण्डिता, गण्डिष्यति॥ ६७ [णिदि] कुत्सायाम् = निन्दा। निन्दति, निनिन्द॥ ६८ [टुनदि] समृद्धौ = सम्पन्न का होना।

---

१. कई वृत्तिकार 'भिदि' धातु नहीं पढ़ते।

२. तवर्गान्तों में इकारान्त 'गडि' धातु का पाठ अप्रासङ्गिक है। टवर्गान्त शौडादि में यह धातु आगे भी पढ़ी है। मैत्रेय, क्षीरस्वामी इस धातु को नहीं पढ़ते। काश्यप के मत में 'अति, अदि, विदि, इदि, गडि' इन पांच धातुओं के निष्ठन्त रूप नहीं होते। जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी (पृष्ठ ४१४ पं० २५) में लिखा है कि गडि के निष्ठन्त प्रयोग नहीं होते, केवल 'गण्ड' शब्द सिद्ध करने के लिये यह धातु पढ़ी है। अतः सम्भव है निष्ठन्तरूप के अभाव की समानता से अति आदि के प्रकरण में इकारान्त गडि धातु पढ़ी हो। अन्य धातुवृत्तिकार इन के निष्ठन्त रूप भी उदाहृत करते हैं। महाभाष्य ७।१।५८ के 'पठतिरयमविशेषेणोपदिष्टः, स पूर्वं धृत्वा पश्चं इत्येवं विषयः। रमतिरयमविशेषेणोपदिष्टः, स रातिः रन्ता रन्तिः इत्येवं विषयः। कनतिरयमविशेषेणोपदिष्टः स कोष्ट इत्येवं विषयः' पाठ से विदित होता है कि प्रत्येक धातु के निष्ठन्त रूप मानना आवश्यक नहीं है।

१५०—आदिर्ञिटुडवः ॥ १ । ३ । ५ ॥

धातु के आदि जो ञि, टु और डु इन की इत्संज्ञा हो। यहां टुनदि धातु के टु की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। [नन्दति, ननन्द, नन्दिता, नन्दिष्यति] ॥ ६९ [चदि] आह्लादने दीप्तौ च = आनन्द और प्रकाश का होना। चन्दति, चचन्द ॥ ७० [त्रदि] चेष्टायाम् = अवयवों का चलाना। त्रन्दति, तत्रन्द, त्रन्दिता ॥ ७१-७३ [कदि, क्रदि, क्लदि] आह्वाने रोदने च = बुलाना, रोना। कन्दति, क्रन्दति, क्लन्दति, चकन्द, चक्रन्द, चक्लन्द, कन्दिता, कन्दिष्यति, कन्दिषति, कन्दिषाति, कन्दतु, अकन्दत्, कन्देत्, कन्द्यात्, अकन्दीत्, अकन्दिष्यत् ॥ ७४ [क्लिदि] परिदेवने = क्लेश होना। क्लिन्दति, चिक्लिन्द, क्लिन्दिता ॥ ७५ [शुन्ध] शुद्धौ = पवित्र करना। शुन्धति, शुशुन्ध, शुन्धिता, शुन्धिष्यति, शुन्धिषति, शुन्धिषाति, शुन्धतु, अशुन्धत्, शुन्धेत्, शुन्ध्+यासुट्+तिप् = शुध्यात् (१३९), अशुन्धीत्, अशुन्धिष्यत् ॥ अतादय उदात्ता उदात्तेतोऽष्टाविंशतिः परस्मैपदिनः समाप्ताः ॥

अथ त्रयोनवतिः कवर्गीयान्ताः। [तत्र शीकादयो द्वाचत्वारिंशदात्मनेपदिनः।] अब आगे कवर्गीयान्त ९३ धातुओं का व्याख्यान है। उनमें प्रथम शीकृ आदि ४२ (बयालीस) आत्मनेपदी हैं। ७६ [शीकृ] सेचने = सींचना। ऋकार का इत्संज्ञा। एध् के समान प्रयोगसिद्धि जानो। शीकते, शिशीके, शीकिता, शीकिष्यते, शीकिषतै, शीकिषातै, शीकताम्, अशीकत, शीकेत, शीकिषीष्ट, अशीकिष्ट, अशीकिष्यत ॥ ७७ [लोकृ] दर्शने = देखना। लोकते, लोकेते, लोकन्ते, लोकसे, लोकेथे, लोकध्वे, लोके, लोकावहे, लोकामहे। लुलोके, लुलोकाते, लुलोकिरे, लुलोकिषे,

लुलोकाथे, लुलोकिध्वे; लुलोके, लुलोकिवहे, लुलोकिमहे। लोकिता, लोकितारौ, लोकितारः; लोकितासे, लोकितासाथे, लोकिताध्वे, लोकिताहे, लोकितास्वहे, लोकितास्महे। लोकिष्यते, लोकिष्येते, लोकिष्यन्ते; लोकिष्यसे, लोकिष्येथे, लोकिष्यध्वे; लोकिष्ये, लोकिष्यावहे, लोकिष्यामहे। लोकिपतै, लोकिपातै, लोकिपतै, लोकिपातै, लोकतै, लोकातै, लोकतै, लोकातै; लोकिपैते, लोकैते; लोकिपन्तै, लोकिपान्तै, लोकिपन्तै, लोकिपान्तै, लोकन्तै, लोकान्तै, लोकन्तै, लोकान्तै; लोकिपसै, लोकिपासै, लोकिपसै, लोकिपासै; लोकसै, लोकासै, लोकसै, लोकासै; लोकिपैथे, लोकैथे; लोकिपध्वै, लोकिपाध्वै, लोकध्वै, लोकाध्वै, लोकध्वै लोकाध्वै, लोकिपै, लोकिपै, लोकै, लोकै, लोकिपवहै, लोकिपावहै; लोकवहै, लोकावहै, लोकवहै, लोकावहै; लोकिपमहै, लोकिपामहै, लोकिपमहै, लोकिपामहै, लोकमहै, लोकामहै, लोकमहै, लोकामहै। लोकताम्, लोकेताम्, लोकन्ताम्; लोकस्व, लोकेथाम्, लोकध्वम्, लोकै, लोकावहै लोकामहै। अलोकत, अलोकेताम्, अलोकन्त, अलोकथाः; अलोकेथाम्, अलोकध्वम्; अलोके, अलोकावहि, अलोकामहि। लोकेत, लोकेयाताम्, लोकेरन्, लोकेथाः, लोकेयाथाम्, लोकेध्वम्; लोकेय, लोकेवहि, लोकेमहि। लोकिषीष्ट, लोकिषीयास्ताम्, लोकिषीरन्, लोकिषीष्ठाः, लोकिषीयास्थाम्, लोकिषीध्वम्; लोकिषीय, लोकिषीवहि, लोकिषीमहि। अलोकिष्ट, अलोकिषाताम्, अलोकिषत; अलोकिष्ठाः, अलोकिषाथाम्, अलोकिढ्वम्, अलोकिषि, अलोकिष्वहि, अलोकिष्महि। अलोकिष्यत, अलोकिष्येताम्, अलोकिष्यन्त, अलोकिष्यथाः, अलोकिष्येथाम्, अलोकिष्यध्वम्; अलोकिष्ये, अलोकिष्यावहि, अलोकिष्यामहि॥ ७८ [श्लोकृ]

सङ्घाते = इकट्ठा करना। इस धातु का अर्थ योगरूढ होने से धर्मसञ्चय (कीर्ति) और पदवाक्यों का संचय (श्लोक) कहाता

है। श्लोकते, शुश्लोके, श्लोकिता, श्लोकिष्यते, श्लोकिषतै, श्लोकिपातै, श्लोकताम्, अश्लोकत, श्लोकेत, श्लोकिपीष्ट, अश्लोकिष्ट, अश्लोकिष्यत ॥ ७९, ८० [द्रेकृ, ध्रेकृ] शब्दोत्साहयोः = शब्द करना और उत्साह होना। द्रेकते, दिद्रेके, द्रेकिता, द्रेकिष्यते, द्रेकिषतै, द्रेकिपातै, द्रेकताम्, अद्रेकत, द्रेकेत, द्रेकिपीष्ट, अद्रेकिष्ट, अद्रेकिष्यत; ध्रेकते, दिध्रेके ॥ ८१ [रेकृ] शङ्कायाम् = सन्देह करना। रेकते, रिरेके, रेकिता, रेकिष्यते ॥ ८२-८६ [सेकृ, स्रेकृ, स्रकि, श्रकि, श्लकि] गत्यर्थाः। इन पांचों का गति अर्थ है। सेकते, सिसेके, स्रेकते सिस्रेके, स्रङ्कते, सस्रङ्के, श्रङ्कते, शश्रङ्के, श्लङ्कते, शश्लङ्के ॥ ८७ [शकि] शङ्कायाम् = संशय करना। शङ्कते, शशङ्के ॥ ८८ [अकि] लक्षणे = चिह्न। अङ्कते, अङ्क + अङ्क + एश = आनङ्के (११२, १४७), आनङ्काते, आनङ्किरे, अङ्किता, अङ्किष्यते ॥ ८९ [वकि] कौटिल्ये = टेढा होना। वङ्कते, ववङ्के, वङ्किता, वङ्किष्यते, वङ्किपतै, वङ्किपातै, वङ्कताम्, अवङ्कत, वङ्केत, वङ्किपीष्ट, अवङ्किष्ट, अवङ्किष्यत ॥ ९० [मकि] मण्डने = भूषण। मङ्कते, ममङ्के ॥ ९१ [कक] लौल्ये = चलित होना। ककते, चकके। ९२, ९३ [कुक, वृक] आदाने = लेना। कोकते, चुकुके, वर्कते, ववृके।

११३—वा०—ऋदुपधेभ्यो लिटः कित्त्वं गुणात् पूर्वविप्रतिषेधेन ॥ महा० १ । २ । ५ ॥

जिन की उपधा में ऋकार हो उन धातुओं से परे लिट् प्रत्यय, गुण होने से पूर्व विप्रतिषेध करके कित्वत् हो जावे। प्रयोजन यह है कि ऋदुपध धातुओं से भी लुट् आदि आर्धधातुक प्रत्ययों के परे गुण को अवकाश है। और अपित् लिट् अतुस् आदि में संप्रसारण होना कित्व को अवकाश है और "ववृके" आदि

में परत्व से गुण प्राप्त है, सो न हो जावे ॥ ९४ [चक] तृप्तौ प्रतिघाते च = तृप्त होना और मारना । चकते; चेके, चेकाते, चेकिरे; चकिता, चकिष्यते, चाकिष्यते, चाकिपाते, चकिपते, चकिपाते, चाकिपते, चाकिपाते, चकिपते, चकिपाते, चकते, चकाते, चकते, चकाते, चाकिपैते, चकिपैते, चकैते इत्यादि, चकताम्; अचकत, चकेत, चकिपीष्ट, अचकिष्ट, अचकिष्यत ॥ ९५—१०१ [ककि, वकि श्वकि, त्रकि, ढौकृ, त्रौकृ, ष्वस्क, वस्क, मस्क, टिकृ, टीकृ तिकृ, तीकृ, रघि, लघि] गत्यर्थाः । ये १५ (पन्द्रह) धातु गति = ज्ञान, गमन, प्राप्ति अर्थ में हैं । कङ्कते, चकङ्के, वङ्कते, ववङ्के, श्वङ्कते, शश्वङ्के, त्रङ्कते, तत्रङ्के, ढौकते, डुढौके, त्रौकते, तुत्रौके ।

१५२—वा०—सादेशे सुब्धातुष्ठिवुष्वस्कतीनां सत्वप्रतिषेधः ॥ महा० ६ । १ । ६३ ॥

सुब्धातु (नामधातु) ष्ठिवु और ष्वस्क धातुओं के आदि षकार को दन्त्य सकार न होवे । सुब्धातु—षोढ इवाचरति, षोढीयति, षण्ढीयति । ष्ठिवु धातु आगे आवेगा । ष्वस्क—ष्वस्कते, ष्वस्कते, ष्वस्कन्ते, पष्वस्के, ष्वस्किता, ष्वस्किष्यते, ष्वस्किपते, ष्वस्किपाते, ष्वस्कताम्, अष्वस्कत, ष्वस्केत, ष्वस्किषीष्ट, अष्वस्किष्ट, अष्वस्किष्यत; वस्कते, ववस्के, मस्कते, ममस्के; टेकते, टिटिके, टिटिकाते, टिटिकिरे, टेकिता, टेकिष्यते, टेकिपते, टेकिपाते, टेकताम्, अटेकत, टेकेत, टेकिपीष्ट, अटेकिष्ट, अटेकिष्यत; टीकते, टिटीके; तेकते, तितिके; तीकते, तितीके, रङ्घते, ररङ्घे, लङ्घते, ललङ्घे ॥ [लघि] भोजननिवृत्तौ च लङ्घन करना । ११०-११२ [अघि, वघि, मघि] गत्याक्षेपे = निन्दित चलना । अङ्घते, आनङ्घे, आनङ्घाते, आनङ्घिरे,

अङ्घिता, अङ्घिष्यते, वङ्घते, ववङ्घे, मङ्घते, ममङ्घे ॥ [मघि] कैतवे च = धूर्तपन । ११४—११६ [राघृ, लाघृ, द्राघृ, ध्राघृ] सामर्थ्ये = समर्थ होना । राघते, रराघे, लाघते, ललाघे, द्राघते, दद्राघे, ध्राघते, दध्राघे ॥ [द्राघृ] = आयामे च = विस्तार होना । ११७ [श्लाघृ] कत्थने = प्रशंसा करना, श्लाघते, शश्लाघे, श्लाघिता श्लाघिष्यते, श्लाघिषतै, श्लाघिषातै, श्लाघताम्, अश्लाघत, श्लाघेत, श्लाघिषीष्ट, अश्लाघिष्ट, अश्लाघिष्यत ॥ इति शीकादय उदात्ता अनुदात्तेतो द्विचत्वारिंशदात्मनेभाषा समाप्ता । ये शीक आदि सेट् आत्मनेपदी बयालीस (४२) धातु पूरे हुए ।

अथ [फक्कादय एकपञ्चाशत्] परस्मैपादिन । अब आगे फक्क आदि परस्मैपदी ५१ धातु लिखते हैं । ११८ [फक्क] नीचैर्गतौ = मन्द-मन्द चलना वा अयोग्य व्यवहार करना । फक्कति, पफक्क, फक्किता, फक्किष्यति, फक्किषति, फक्किषाति, फक्कतु, अफक्कत्, फक्केत्, फक्क्यात्, अफक्कीत्, अफक्किष्यत् ॥ ११९ [तक] हसने = हसना । तकति, तताक, तेकतुः, तेकुः, तेकिथ, तकथु, तेक, तताक, ततक, तकिव, तकिम; तकिता, तकिष्यति, ताकिषति, ताकिषाति, तकिषति, तकिषाति, तकति, तकाति, तकतु, अतकत्, तकेत्, तक्यात्, अताकीत्, अतकीत्, अताकिष्टाम्, अतकिष्टाम्, अतकिष्यत ॥ १२० [तकि] कृच्छ्रजीवने = कष्ट से जीवना । तङ्कति, ततङ्क, तङ्किता ॥ १२१ [बुक्क] भषणे = भूसना । बुक्कति, बुबुक्क, बुक्किता, बुक्किष्यति ॥ १२२ [कख] हसने । कखति, चकाख, कखिता, अकाखीत्, अकखीत् ॥ १२३—१२७ [ओखृ, राखृ, लाखृ, द्राखृ, ध्राखृ] शोषणालमर्थयोः = सूखना, भूषण, पर्याप्ति और निषेध । ऋकार की इत्संज्ञा । ओखति राखति,

ओखाञ्चकार (१०२) इत्यादि सूत्र लगते हैं। ओखिता, ओखिष्यति, ओखिषति, ओखिषाति, ओखतु, औखत्, ओखेत्, ओख्यात्, औखीत्, औखिष्यत्॥ १२८, १२९ [शाखृ श्लाखृ] व्याप्तौ = व्याप्त होना। शाखति, श्लाखति, शशाख, शश्लाख॥ १३१—१५८ [उख, उखि, वख, वखि, मख, मखि, णख, णखि, रख, रखि, लख, लखि, इख, इखि, ईखि, वल्ग, रगि, लगि, अगि, वगि, मगि, तगि, त्वगि, श्रगि, श्लगि, इगि, रिगि, लिगि] गत्यर्थाः। ओखति। 'उ+ओख्+णल्' इस अवस्था में—

१५३—अभ्यासस्याऽसवर्णे ॥ ६।४।७८॥

असवर्ण अच् परे हो तो अभ्यास के इवर्ण उवर्ण को इयङ् उवङ् आदेश हों। यह सूत्र यणादेश का बाधक है, और गुण हो जाने से यह धातु इजादि गुरुमान् तो हो जाता है, परन्तु सन्निपातपरिभाषा[1] अर्थात् जो जिस के आश्रय से समर्थ होता है वह उसका विरोधी न होना चाहिये [यहां लिडादेश 'णल्' प्रत्यय को मान कर गुण होता है, गुण को मानकर आम् प्रत्यय होता है, आम् प्रत्यय के होने से उसी लिडादेश णल् का लुक् हो जावे] इस नियम से आम् नहीं होता। उ+ओख्+णल् = उवोख। ऊखतुः—यहां सवर्ण अच् के परे उवङ् नहीं होता, सवर्णदीर्घ एकादेश हो जाता है। ऊखुः, उवोखिथ, ऊखथुः, ऊख, उवोख, ऊखिव, ऊखिम, ओखिता, ओखिष्यति, ओखिषति, ओखिषाति, ओखतु, ओखतात्, औखत्, ओखेत्, उख्यात्, औखीत्, औखिष्यत्। उङ्खति, उङ्खाञ्चकार, उङ्खाञ्चक्रतुः, उङ्खाञ्चक्रुः, उङ्खाम्बभूव, उङ्खामास। वखति,

---

१. सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य। परि॰ ७४।

चवाख, ववखतुः (१२९)। वङ्खति, ववङ्ख। मखति, ममाख, मेखतुः, मेखुः, मखिता, मखिष्यति, माखिपति, माखिपाति, मखिपति, मखिपाति, माखिपत्, माखिपात्. माखिपद्, माखिपाद्, मखिपत्, मखिपात्, माखिपद्, मखिपाद्, मखति, मखाति, मखत्, मखात्, मखद्, मखाद् इत्यादि, अमाखीत्, अमखीत्। नखति, ननाख, नेखतुः। नङ्खति, ननङ्ख। एखति, इयेख (१५३), एखिता, एखिष्यति, ऐखिपति, ऐखिपाति, एखतु, एखतात्, ऐखत्, एखेत्, इख्यात्, ऐखीत्, ऐखिष्यत्। इङ्खति, इङ्खाञ्चकार, ऐङ्खीत्। ईङ्खति, ईङ्खाञ्चकार। वल्गति, ववल्ग। [1]रङ्गति, ररङ्ग। लङ्गति, ललङ्ग। अङ्गति, आनङ्ग (१४७)। वङ्गति, ववङ्ग,। इङ्गति, इङ्गाञ्चकार, इङ्गामास, इङ्गाम्बभूव, इङ्गिता, इङ्गिष्यति इत्यादि ॥ १५८—१६१ [रिख त्रख, त्रिखि, शिखि,] इत्यपि केचित्। रिख आदि चार धातु किन्हीं आचार्यों के मत में पूर्व वख आदि धातुओं के समान गत्यर्थ हैं। रेखति, रिरेख, रिरिखतु', रेखिता, रेखिष्यति, रेखिपति, रेखिपाति, रेखतु, अरेखत्, रेखेत्, रिख्यात्, अरेखीत्, अरेखिष्यत्। त्रखति, तत्राख। त्रिङ्खति, तित्रिङ्ख। शिङ्खति, शिशिङ्ख ॥ [त्वगि] कम्पने च = कांपना। त्वङ्गति। तत्वङ्ग ॥ १६२—१६४ [युगि, जुगि, वुगि,] वर्जने = वर्जन देना। युङ्गति, युयुङ्ग। १६५ [घघ] हसने = हसना। घघति, जघाघ, जघघ. घाघिपति, घाघिपाति, घघिपति, घघिपाति, अघाघीत्, अघघीत्, अघघिष्यत् ॥ १६६ [मघि] मण्डने = समाधान करना[1]। मङ्घति, ममङ्घ ॥

---

1. मण्डन का अर्थ 'भूषित करना' भी होता है।

१६७ [लघि¹] शोषणे। लङ्घति, ललङ्घ ॥ १६८ [शिघि] आघ्राण = सूंघना। शिङ्घति, शिशिङ्घ, शिङ्घिता, शिङ्घिष्यति, शिङ्घिपति, शिङ्घिपाति, शिङ्घतु, अशिङ्घत्, शिङ्घेत्, शिङ्घ्यात्, अशिङ्घीत्, अशिङ्घिष्यत् ॥ इति फक्काद्य उदात्ता उदात्तेत एकपञ्चाशत् समाप्ताः। फक्क आदि ५१ धातु समाप्त हुए ॥

अथ वर्चाद्यन्तास्त्रिनवतिः । [तत्र वर्चादय एकविंशत्यात्मनेपदिनः ।] अब यहां से आगे ९३ (तिरानवे) धातुओं का व्याख्यान है [उनमें वर्चादि २१ आत्मनेपदी हैं] ॥

१६९ [वर्च] दीप्तौ = प्रकाश होना। वर्चते, ववर्चे, वर्चिता, वर्चिष्यते, वर्चिपतै, वर्चिपातै, वर्चताम्, अवर्चत, वर्चेत, वर्चिषीष्ट, अवर्चिष्ट, अवर्चिष्यत ।' १७० [षच] सेचने सेवने च = सींचना, सेवा करना। सचते, सेचे, सेचाते, सेचिरे, सचिता, सचिष्यते, साचिपतै, साचिपातै, साचिपते, साचिपाते, सचिपतै, सचिपातै, सचिपते, सचिपाते, सचतै, सचातै, सचतै, सचाते, सचताम्, असचत, सचेत, सचिषीष्ट, असचिष्ट, असचिष्यत ॥ १७१ [लोचृ] दर्शने = देखना। लोचते, लुलोचे, लोचिपतै, लोचिपातै ॥ १७२ [शच] व्यक्तायां वाचि = स्पष्ट बोलना। शचते, शेचे, शाचिपतै, शाचिपातै, अशचिष्ट ॥ १७३ १७४ [श्वच, श्वचि] गतौ। श्वचते, श्वञ्चते, शश्वचे, शश्वञ्चे, श्वचिपतै ॥ १७५ [कच] बन्धने = बांधना। कचते, चकचे, कचिता, कचिष्यते, काचिपतै, काचिपातै, कचताम्, अकचत, कचेत, कचिषीष्ट, अकचिष्ट, अकचिष्यत ॥ १७६, १७७

१. धातुप्रदीपकार मैत्रेय को छोड़कर अन्य कोई वृत्तिकार इसे नहीं पढ़ता। भट्टिकार 'अन्ये चाशङ्घिषु शैलान् गुहास्वन्ये न्यनेषत' श्लोक में इसका गत्यर्थ में प्रयोग करता है।

[कचि, काचि] दीप्तिबन्धनयो = प्रकाश और बाधना । कञ्चते, काञ्चते, चकञ्चे, चकाञ्चे ॥ १७८, १७९ [मच, मुचि] कल्कने = अभिमान करना । मचते, मुञ्चते, मेचे, मुमुञ्चे, मचिता, मचिष्यते, माचिषतै, माचिषातै, मचताम्, अमचत, मचेत, मचिषीष्ट, अमचिष्ट, अमचिष्यत ॥ १८० [मचि] धारणोच्छ्रायपूजनेषु = धारण, बढना, सत्कार करना । मञ्चते, ममञ्चे, मञ्चिषतै, मञ्चिषातै ॥ १८१ [पचि] व्यक्तीकरणे = प्रकट करना । पञ्चते, पपञ्चे, पञ्चिषतै पञ्चिषातै ॥ १८२ [ष्टुच] प्रसादे = प्रसन्न होना । स्तोचते, तुष्टुचे, स्तोचिषतै, स्तोचिषातै, स्तोचताम्, अस्तोचत, स्तोचेत, स्तोचिषीष्ट, अस्तोचिष्ट, - अस्तोचिष्यत् ॥ १८३ [ऋज] गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु = गति—ज्ञान, गमन, प्राप्ति, स्थिति, सचय, समीप में वस्तु जोड़ना । अर्जते, ऋज्+ऋज्+एश्=आनृजे (१०८) (४०) (११२) (१४७), आनृजाते, आनृजिरे, अर्जिता, अर्जिष्यते, अर्जिषतै, अर्जिषातै, अर्जताम्, आर्जत, अर्जेत, अर्जिषीष्ट, आर्जिष्ट, आर्जिष्यत ॥ १८४, १८५ [ऋजि, भृजी] भर्जने = भूनना । ऋञ्जते, भर्जते, ऋञ्जाञ्चक्रे, बभृजे, ऋञ्जिता, भर्जिता, ऋञ्जिष्यते, भर्जिष्यते, आर्ञ्जिष्ट, अभर्जिष्ट ॥ १८६—१८८ [एजृ, भ्रेजृ, भ्राजृ] दीप्तौ = प्रकाश होना । एजते, एजाञ्चक्रे, एजाम्बभूव, एजामास, एजिता, एजिष्यते, एजिषतै, एजिषातै, एजताम्, ऐजत, एजेत, एजिषीष्ट, ऐजिष्ट, ऐजिष्यत । भ्रेजते, बिभ्रेजे । भ्राजते, बभ्राजे, इत्यादि ॥ १८९ [ईज] गतिकुत्सनयो = गति, निन्दा । ईजते, ईजाञ्चक्रे, ईजाम्बभूव, ईजामास, ईजिता, ईजिष्यते, ईजिषतै, ईजिषातै, ईजताम्, ऐजत, ईजेत, ईजिषीष्ट, ऐजिष्ट, ऐजिष्यत । इति वर्चादय उदात्ता अनुदात्तेत एकविंशति समाप्ता ॥

अथ [शुचादयो] द्विसप्ततिर्ञ्चन्ताः परस्मैपदिनः। अब यहां से आगे परस्मैपदी ७२ [बहत्तर] धातुओं का व्याख्यान है ॥ १९० [शुच] शोके = शोचना । शोचति, शुशोच, शुशुचतुः, शोचिता, शोचिष्यति, शोचिषति, शोचिषाति, शोचिषत्, शोचिषात्, शोचिषद्, शोचिषाद्, शोचति, शोचाति, शोचतु, अशोचत्, शोचेत्, शुच्यात्, अशोचीत्, अशोचिष्यत् ॥ १९१ [कुच] शब्दे तारे = एकरस शब्द होना । कोचति, चुकोच, कोचिषति, कोचिषाति ॥ १९२, १९३ [कुञ्च, क्रुञ्च] गतिकौटिल्याल्पीभावयोः = टेढ़ा चलना, थोड़ा होना । कुञ्चति, क्रुञ्चति, चुकुञ्च, चुक्रुञ्च, कुच्यात् (१२९), क्रुञ्च्यात्[1] ॥ १९४ [लुञ्च] अपनयने = दूर करना । लुञ्चति, लुलुञ्च, लुञ्चिता, लुच्यात् (१३६), अलुञ्चत्, अलुञ्चिष्यत् ॥ १९५ [अञ्चु] गतिपूजनयोः = गति और पूजा । अञ्चति, अञ्चिषति, अञ्चिषाति, अच्यात् * ॥ १९६—२०३ [वञ्चु, चञ्चु, तञ्चु, त्वञ्चु, म्रुञ्चु, म्लुञ्चु, म्रुचु, म्लुचु] गत्यर्थाः । वञ्चति, वच्यात्, चच्यात्, तच्यात्, त्वच्यात्, म्रुच्यात्, म्लुच्यात् ।

१५४—जृस्तम्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्वि-भ्यश्च ॥ ३ । १ । ५८ ॥

---

* अञ्चु धातु के नकार का लोप गति अर्थ में ही होता है और "नाञ्चेः पूजायाम्" । (अ० ६ । ४ । ३०) इस सूत्र से पूजा अर्थ में नकार का लोप नहीं होता वहां "अञ्च्याद्" प्रयोग होता है ॥

---

1. परेश्च घाङ्कयोः (अ० ८ । २ । २२) सूत्र के महाभाष्य से ज्ञापित होता है कि 'क्रुञ्च' धातु नकारोपध नहीं है । अतः सूत्र १२९ से अनुनासिक का लोप नहीं होता ।

ज, स्तम्भु, ग्रुचु, म्लुचु, ग्रुचु, ग्लुचु, ग्लुञ्चु, और श्वि धातुओं से परे जो च्लि प्रत्यय उसके स्थान में अङ् आदेश विकल्प करके होवे। अग्रुचत्, अग्रोचीत्, अम्लुचत्, अम्लोचीत्॥ २०४—२०७ [ग्रुचु, ग्लुचु, कुजु, खुजु] स्तेयकरणे = चोरी करना । ग्रोचति, जुग्रोच, जुग्रुचतु, ग्रोचिता, ग्रोचिष्यति, ग्रोचिषति, ग्रोचिषाति, ग्रोचतु, अग्रोचत्, ग्रोचेत्, ग्रुच्यात्, अग्रुचत्, अग्रोचीत्; ग्लोचति, ग्लुच्यात्, अग्लुचत्, अग्लोचीत्, कोजति, चुकोज, कुज्यात्, अकोजीत्, खुज्यात्, अखोजीत्॥ २०८, २०९ [ग्लुञ्चु, षस्ज] गतौ । ग्लुञ्चति, जुग्लुञ्च, ग्लुच्यात् (१३९), अग्लुचत्, अग्लोचीत्। सज्जति *, ससज्ज, सज्जिता, सज्जिष्यति, सज्जिषति, सज्जिषाति, सज्जतु, असज्जत्, सज्जेत्, सज्ज्यात्, असज्जीत्, असज्जिष्यत्॥ सज्जति· स्वरितेदित्येके । किन्हीं आचार्यों के मत में यह सस्ज धातु स्वरितेत्, अर्थात् [कर्त्रभिप्राय में] आत्मनेपदी भी है[1] इससे सज्जते, ससज्जे इत्यादि प्रयोग भी होते हैं॥ २१०, २११ [गुज गुजि] अव्यक्ते शब्दे = अप्रकट शब्द का होना । गोजति, गुञ्जति, जुगुञ्ज, गुञ्ज्यात्, अगुञ्जीत्, अगुञ्जिष्यत्॥

---

* सस्ज धातु के हल सकार को "स्तो श्चुना श्चु" (सन्धि० २११) इस सूत्र ■ शकार और उस शकार को "झलां जश् झशि" (सन्धि० २३४) इस सूत्र से जकार हो जाता है॥

---

1. वस्तुत महाभाष्यकार के 'यदभिप्रायेषु सज्जते' (महा० १। १। २७) इस प्रयोग से ज्ञापित होता है कि यह धातु आत्मनेपदी भी है। स्वरितेत् मानने पर अकर्त्रभिप्राय में आत्मनेपद नहीं हो सकता। महाभाष्यकार का उपर्युक्त प्रयोग अकर्त्रभिप्राय विषयक ही है। अतः किन्हीं आचार्यों का इसे स्वरितेत् मानना अयुक्त है।

२१२ [अर्च] पूजायाम् । अर्चति, आनर्च (११२) (१४७), अर्चिता, अर्चिष्यति, अर्चियति, अर्चिषाति, अर्चतु, आर्चत्, अर्चेत्, अर्च्यात्, आर्चीत्, आर्चिष्यत्॥ २१३ [म्लेछ] अव्यक्ते शब्दे । म्लेच्छति, मिम्लेच्छ॥ २१४, २१५ [लछ, लाछि] लक्षणे = चिह्न करना । लच्छति, ललच्छ, लच्छिता, लच्छिष्यति, लच्छिषति, लच्छिषाति, लच्छतु, अलच्छत्, लच्छेत्, लच्छ्यात्, अलच्छीत्, अलच्छिष्यत्, लाञ्छति, ललाञ्छ ॥ २१६ [वाछि] इच्छायाम् । वाञ्छति, ववाञ्छ ॥ २१७ [आछि] आयामे = विस्तार । आञ्छति, आञ्छ[1], आञ्छिता, आञ्छिष्यति, आञ्छिषति, आञ्छिषाति, आञ्छतु, आञ्छत्, आञ्छेत्, आञ्छ्यात्, आञ्छीत्, आञ्छिष्यत् ॥ २१८ [ह्रीछ] लज्जायाम् । ह्रीच्छति, जिह्रीच्छ ॥ २१९ [हुर्छा] कौटिल्ये = कुटिलपन। (१३१) इस सूत्र से रेफ की उपधा को दीर्घ होकर—हूर्च्छति, जुहूर्च्छ, हूर्च्छिता, हूर्च्छिष्यति, हूर्च्छिषति, हूर्च्छिषाति, हूर्च्छतु, अहूर्च्छत्, हूर्च्छेत्, हूर्च्छ्यात्, अहूर्च्छीत्, अहूर्च्छिष्यत्॥ २२० [मुर्छा] मोहसमुच्छ्राययो = अज्ञान, बढना। मूर्च्छति, मुमूर्च्छ॥ २२१ [स्फुर्छा]

---

1 अभ्यास में ह्रस्व का विधान होने से अभ्यास में अकार ह्रस्व हो मिलेगा फिर "अत आदे" (आ० ११२) सूत्र में तपर करना व्यर्थ है । अतः तपरकरण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि अभ्यास में जो स्वभावत ह्रस्व है उसे ही दीर्घ होता है जो दीर्घ को ह्रस्व हुआ है उसे दीर्घ नहीं होता । इसलिये यहा 'आञ्छ' में अभ्यास को दीर्घ नहीं हुआ और दीर्घ न होने से १४० से नुट् का आगम भी नहीं हुआ । अन्य आचार्य सूत्र ११२ में तकार को मुखसुखार्थ मानते हैं उनके मत में "आनञ्छ" प्रयोग बनता है ।

विस्तृतौ = विस्तार। स्फूर्च्छति, पुस्फूर्च्छ (१२४), अस्फूर्च्छीत्॥ २२२ [युछ] प्रमादे। युच्छति, युयुच्छ॥ २२३ [उछि] उञ्छे = ऊछना। उञ्छति, उञ्छाञ्चकार, उञ्छाम्बभूव, उञ्छामास, उञ्छिता, उञ्छिष्यति, उञ्छिपति, उञ्छिपाति, उञ्छतु, औञ्छत्, उञ्छेत्, उञ्छ्यात्, औञ्छीत्, औञ्छिष्यत्॥ २२४ [उछी] विवासे = समाप्ति। व्युच्छति, उच्छति। उछी धातु के बहुधा वि उपसर्गपूर्वक ही प्रयोग आते हैं। और इस धातु में छकार के परे तुगागम् होने से इजादि गुरुमान् होने से आम् प्रत्यय होता है इसमें 'अनृच्छ' यह प्रतिषेध ज्ञापक है। व्युच्छाञ्चकार॥ २२५—२३० [ध्रज, ध्रजि, धृज, धृजि, ध्वज, ध्वजि] गतौ। ध्रजति, ध्रञ्जति, धर्जति, धृञ्जति, ध्वजति, ध्वञ्जति, दध्राज, दध्रञ्ज, दधर्ज, दधृञ्जतु, दधृञ्ज, दध्वाज, दध्वञ्ज, अध्राजीत्, अध्रजीत्, अध्रञ्जीत्, अधर्जीत्, अधृञ्जीत्, अध्वाजीत्, अध्वजीत्, अध्वञ्जीत्॥ २३१ [कूज] अव्यक्ते शब्दे। कूजति, चुकूज, अकूजीत्॥ २३२, २३३ [अर्ज, षर्ज] अर्जने = सञ्चय करना। अर्जति, आनर्ज, अर्जिता, अर्जिष्यति, अर्जिपति, अर्जिपाति, अर्जतु, आर्जत्, अर्जेत्, अर्ज्यात्, आर्जीत्, आर्जिष्यत्, सर्जति, ससर्ज॥ २३४ [गर्ज] शब्दे = गर्जना। गर्जति, जगर्ज॥ २३५ [तर्ज] भर्त्सने = धमकाना। तर्जति॥ २३६ [कर्ज] व्यथने। कर्जति, चकर्ज॥ २३७ [खर्ज] पूजने = सत्कार। खर्जति, चखर्ज॥ २३८ [अज] गतिक्षेपणयोः = गति और फेंकना। अजति, अजतः, अजन्ति।

१५५—अजेर्व्यघञपोः॥ २। ४। ५६॥

घञ् और अप् प्रत्ययों को छोड़ कर अन्य आर्धधातुकविषय

में अज धातु को वी आदेश होवे। यहां लिट् में वी होकर—वी+वी+णल्=विवाय (६०)।

१५६—एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ॥ ६ । ४ । ८२ ॥

संयोग जिसके पूर्व न हो ऐसा जो अनेकाच् धातु का अवयव इवर्ण उसको अच् परे हो तो यण् आदेश हो जावे। वी+वी+अतुस्=विव्यतु', विव्युः। यहां यणादेश होने के पश्चात् वकार की उपधा अभ्यास के इकार को (१३१) सूत्र से दीर्घ प्राप्त है, परंतु "प्रतिषेधे स्वरदीर्घयलोपविधिषु लोपाजादेशो न स्थानिवत" (सन्धिवि० ९३) इस वार्तिक से दीर्घविधि के करने में लोपरूप जो अच् के स्थान में आदेश है वही स्थानिवत् न हो अन्य आदेश तो स्थानिवत् हो ही जावें, इससे यणादेश के स्थानिवत् हो जाने से दीर्घ नहीं होता। अब इस वी अनिट् धातु से परे थल् में (१४८) सूत्र के नियम से नित्य इडागम प्राप्त हुआ।

१५७—अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् ॥ ७ । २ । ६१ ॥

तास् प्रत्यय के परे नित्य अनिट् जो अजन्त धातु उन से परे जो थल् वलादि आर्धधातुक उसको इट् का आगम न होवे। फिर (१४९) सूत्र से भारद्वाज आचार्य के मत में ऋकारान्तों के निषेध का नियम होने से भारद्वाज के मत में इस वी धातु से परे थल् को इट् होता है अन्य ऋषियों के मत में नहीं। वि+वी+इट्+थल्=विवयिथ, विवेथ, विव्यथु', विव्य, विवाय, (१४३) विवय, यहां णित् के विकल्प होने से पक्ष में (२१) से गुण हो जाता है। विव्यिव, विव्यिम और वलादि आर्धधातुकविषय में महाभाष्य के "इदमपि सिद्धं भवति प्राजितेति"[1] इत्यादि

[1] महाभाष्य २ । ४ । ५६ ॥

व्याख्यानरूप प्रमाण से विकल्प कर के वी आदेश होता है, इस से थल् में "आजिथ" यह भी प्रयोग होता है[1]। "लुट्:"–वेता, वेतारौ, वेतारः, वेतासि, वेतास्थः, वेतास्थ, वेतास्मि, वेतास्वः, वेतास्मः, अजिता, अजितारौ, अजितारः, वेष्यति, वष्यतः, वेष्यन्ति; अजिष्यति; वैपति, वैपाति, वैपत्, वैपात्, वैपद्, वैपाद्, वेषति, वेषाति, वेषत्, वेषात् वेषद्, वेषाद्, आजिषति, आजिषाति, अजिपति, अजिपाति इत्यादि, अजतु, आजत्, अजेत्, वीयात्।

१५८—सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ॥ ७। २। १॥

परस्मैपद विषय में सिच् प्रत्यय परे हो तो इगन्त अङ्ग को वृद्धि होवे। अट्+वी+सिच्+तिप्=अवैषीत्, अवैष्टाम, अवैषुः, अवैषीः, अवैष्टम्, अवैष्ट, अवैषम्, अवैष्व, अवैष्म, आजीत्, आजिष्टाम्, आजिषुः; अवेष्यत्, आजिष्यत्॥

२३९ [तेज] पालने=पालना। तेजति, तितेज, तेजिता, तेजिष्यति, तेजिषति, तेजिषाति, तेजतु, अतेजत्, तेजेत्, तेज्यात्, अतेजीत्, अतेजिष्यत्॥ २४० [खज] मन्थे=विलोडना। खजति, चखाज, चखज, अखाजीत्, अखजीत्॥

२४१ [खजि] गतिवैकल्ये=बुरे प्रकार चलना[2]। खञ्जति, चखञ्ज॥ २४१ [एजृ] कम्पने=कांपना। एजति, एजाञ्चकार, एजाम्बभूव, एजामास, एजिता, एजिष्यति, एजिषति, एजिषाति, एजतु, ऐजत्, एजेत्, एज्यात्, ऐजीत्, ऐजिष्यत्॥

---

१. धातुवृत्तिकार के मत में 'वस् मस्' में भी "आजिव, आजिम" प्रयोग बनते हैं। अन्य वैयाकरणों के मत में वस् मस् में क्रयादिनियम से इट् की नित्यप्राप्ति होने से वलादि आर्धधातुक नहीं रहता अतः वे नित्य 'वी' आदेश मानते हैं।

२. लंगड़ा कर चलना।

२४३ [टुओस्फूर्जा] वज्रनिर्घोषे=भयकर शब्द होना[1]। टु की इत्संज्ञा (१५०) और ओकार की "उपदेशे" (आ० २५) सूत्र से इत्संज्ञा होकर—स्फूर्जति, पुस्फूर्जे, स्फूर्जिता, स्फूर्जिष्यति, स्फूर्जिषति, स्फूर्जिषाति ॥ २४४ [क्षि[2]] क्षये=नाश । यह धातु अकर्मक और अनिट् है। क्षयति, [२१] क्षयतः, क्षयन्ति, क्षयसि, क्षयथः, क्षयथ, क्षयामि, क्षयावः, क्षयामः; चिक्षाय (६०)।

१५९—अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ॥ ६ । ४ । ७७ ॥

श्नु प्रत्यय, धातु और भ्रू शब्द इन के इवर्ण उवर्ण को इयङ् उवङ् आदेश यथासंख्य करके [illegible] अच् परे हो तो। क्षि+क्षि+अतुस्=चिक्षियतुः, चिक्षियुः, चिक्षयिथ, (१५८) (१४९) चिक्षेथ, चिक्षियथुः, चिक्षिय, चिक्षाय, चिक्षय, चिक्षियिव, चिक्षियिम, क्षेता, क्षेतारौ, क्षेतारः, क्षेष्यति, क्षैषति, क्षैषाति, क्षेषति, क्षेषाति, क्षयतु, अक्षयत्, क्षयेत्।

१६०—अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ॥ ७ । ४ । २५ ॥

कृत्संज्ञक प्रत्यय और सार्वधातुक विषय को छोड़कर यकारादि कित् ङित् प्रत्यय परे हों तो अजन्त अङ्ग को दीर्घ आदेश हो। क्षि+यासुट्+तिप्=क्षीयात्, क्षीयास्ताम्, क्षीयासुः, क्षीयाः, अक्षैषीत्, अक्षैष्टाम्, अक्षैषुः अक्षैषीः, अक्षैष्टम्, अक्षैष्ट, अक्षैषम्, अक्षैष्व, अक्षैष्म, अक्षेष्यत ॥ २४५ [क्षीज] अव्यक्ते

1. बिजली की कड़क=शब्द होना।

2. धातुवृत्तिकार का मत है— उत्तर धातु की साम्यता से अजन्त 'क्षि' धातु भी यहां पढ़ा है। अन्य लोग 'अजन्त प्रकरण में ही इस का पाठ होना चाहिये' ऐसा मानते हैं।

शब्दे[1] । क्षीजति, चिक्षीज, अक्षीजीत्, अक्षीजिष्यत् ॥ २४६, २४७ [लज, लाजि] भर्जने = भूंजना । लजति, ललाज, ललज, लाजिपति, लाजिपाति, अलाजीत्, अलजीत्, लञ्जति, ललञ्ज ॥ २४८, २४९ [लाज, लाजि] भर्त्सने च = धमकाना । लाजति, ललाज, ललाजतुः, लाञ्जति ॥ २५०, २५१ [जज, जजि] युद्धे = लड़ाई । जजति, जजाज, जजज, जाजिपति, जाजिपाति, अजाजीत्, अजजीत्; जञ्जति, जजञ्ज ॥ २५२ [तुज] हिंसायाम् । तोजति, तुतोज, तुतुजतुः, तोजिता ॥ २५३ [तुजि] पालने च । चकार से हिंसा अर्थ भी जानो । तुञ्जति, तुतुञ्ज ॥ २५४—२५९ [गज, गाजि, गृज, गृजि, मुज, मुजि] शब्दार्थाः = शब्द होना । गजति, गञ्जति, गर्जति, गृञ्जति, मोजति, मुञ्जति; जगाज, जगञ्ज, जगर्ज, जगृञ्ज, मुमोज, मुमुञ्ज; अगाजीत्, अगजीत् ॥ [गज] मदे च = अहंकार । चकार से शब्दार्थ भी है ॥ २६०, २६१ [वज, व्रज] गतौ । वजति, ववाज, ववजतुः (१२८), ववजुः, ववाज, ववज, वाजिपति, वाजिपाति, वजतु, अवजत्, वजेत्, वज्यात्, अवाजीत्, अवजीत्, अवजिष्यत्;

१. इस धातु को 'कूज' (धातु संख्या २१०) के साथ पढ़ना चाहिये यह नवीन वैयाकरणों का मत है। अप्रसिद्ध होने से 'कूज' के साथ नहीं पढ़ा, यह सायण का मत है। धातुप्रदीपकार मैत्रेयरक्षित लिखता है—क्षीज और कूज में अर्थ का भेद होने से पृथक्-पृथक् पढ़ा है। 'कूजन्ति कपोताः' यहां 'कपोत शब्द करते हैं' अर्थ है। 'क्षीजति दासी' यहां 'दुखी होकर शब्द करती है' यह अर्थ प्रतीत होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। हमारा विचार है क्षीज धातु का अर्थ 'खीजना' (क्रोध में बड़बड़ाना) है।

व्रजति, वव्राज, अव्राजीत् (१३५) से नित्य वृद्धि होती है।

१६१—तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य ॥ ६ । १ । ७ ॥

तुज आदि जिन धातुओं के अभ्यास को वेद में दीर्घादेश आवे, उसकी सिद्धि इस सूत्र से समझनी चाहिये। तूतुजानः, जागाज, मूमोज, वावाज, वाव्राज, दाधार, मामहानः इत्यादि। यह सूत्र सामान्य करके प्रवृत्त होता है॥ इति शुचादय उदात्ता उदात्तेतः क्षिवर्जं परस्मैपदिनः समाप्ताः॥

अथ टवर्गीयान्ता अष्टाधिकं शतम् [तत्राट्टादयः षट्त्रिंशदात्मनेपदिनः]। अब टवर्गान्त १०८ एकसौ आठ धातुओं का व्याख्यान है, उनमें से प्रथम [अट्टादि] ३६ धातु आत्मनेपदी हैं। २६२ [अट्ट[1]] अतिक्रमणहिंसनयोः = उल्लंघना, मारना। अट्टते, आनट्टे, अट्टिता, अट्टिष्यते, अट्टिषते, अट्टिषातै, अट्टताम्, आट्टत, अट्टेत, अट्टिषीष्ट, आट्टिष्ट, आट्टिष्यत॥ २६३ [वेष्ट] वेष्टने = लपेटना। वेष्टते, विवेष्टे। अवेष्टिष्ट॥ २६४ [चेष्ट] चेष्टायाम् = क्रिया करना। चेष्टते, चिचेष्टे, अचेष्टिष्ट॥ २६५, २६६ [गोष्ट,

---

१. यह धातु दोपध है। इसलिये सन् में 'नन्द्राः संयोगादयः' (आ० ३२६) से दकार का द्विर्वचन नहीं होता, अतः 'अड्डिडिषति' रूप होगा। कई वैयाकरण इसे तोपध मानते हैं। इस पक्ष में भी दो मत हैं। अनेक वैयाकरण "पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने" (परि० १०४) इस नियम से ष्टुत्व को सिद्ध मानकर 'अटिट्टिषति' प्रयोग मानते हैं। अन्य 'उभौ साभ्यासस्य' (आ० ८९२) सूत्र से अभ्यास को णत्व विधान करने से "पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने" इस नियम को अनित्य मानते हैं, क्योंकि पूर्व नियम से धातु को विधान किया हुआ णत्व अभ्यास में हो ही जाता। अतः वे 'अतिट्टिषति' प्रयोग स्वीकार करते हैं। इस प्रकार सन् में मत भेद से तीन प्रयोग बनते हैं।

लोष्ट] सङ्घाते=समुदाय । गोष्टते, जुगोष्टे, गोष्टिता, गोष्टिष्यते, गोष्टिषतै, गोष्टिपातै, गोष्टताम् अगोष्टत, गोष्टेत, गोष्टिषीष्ट, अगोष्टिष्ट, अगोष्टिष्यत, लोष्टते, लुलोष्टे ॥ २६७ [घट्ट] चलने । घट्टते, जघट्टे, घट्टिता ॥ २६८ [स्फुट] विकसने=फैलना । स्फोटते, पुस्फुटे, स्फोटिता, स्फोटिष्यते, स्फोटिषतै, स्फोटिपातै, स्फोटताम्, अस्फोटत, स्फोटेत, स्फोटिषीष्ट, अस्फोटिष्ट, अस्फोटिष्यत ॥ २६९ (अठि) गतौ । अण्ठते, आनण्ठे ॥ २७० [वठि] एकचर्यायाम्=एक का सेवन[1]। वण्ठते, ववण्ठे ॥ २७१, २७२ [मठि, कठि] शोके=शोचना । मण्ठते, ममण्ठे, कण्ठते, चकण्ठे, कण्ठिता, कण्ठिष्यते, कण्ठिषतै, कण्ठिपातै, कण्ठताम्, अकण्ठत, कण्ठेत, कण्ठिषीष्ट, अकण्ठिष्ट, अकण्ठिष्यत ॥ २७३ [मुठि] पालने=रक्षा । मुण्ठते, मुमुण्ठे ॥ २७४ [हेठ] विबाधायाम्=मूर्खता । हेठते, जिहेठे ॥ २७५ [पठ] च[2] । एठते, एठाञ्चक्रे, एठाम्बभूव, एठामास ॥ २७६ [हिडि] गत्यनादरयोः=चलना, तिरस्कार । हिण्डते, जिहिण्डे, हिण्डिता, हिण्डिष्यते, हिण्डिषतै, हिण्डिपातै, हिण्डताम्, अहिण्डत, हिण्डेत, हिण्डिषीष्ट, अहिण्डिष्ट, अहिण्डिष्यत ॥ २७७ [हुडि] सङ्घाते । हुण्डते, जुहुण्डे ॥ २७८ [कुडि] दाहे=जलना । कुण्डते, चुकुण्डे, ॥ २७९ [वडि] विभाजने=विभाग करना । वण्डते, ववण्डे ॥ २८० [मडि] च । मण्डते ॥ २८१ [भडि] परिभाषणे=बहुत बोलना[3] । भण्डते, बभण्डे, भण्डिता, भण्डिष्यते, भण्डिषतै, भण्डिपातै, भण्डताम्, अभण्डत, भण्डेत, भण्डिषीष्ट, अभण्डिष्ट, अभण्डिष्यत ॥ २८२ [पिडि] सङ्घाते । पिण्डत

१. एकचर्या=अकेला जाना—सायण । २. मूर्खता करना अर्थात् एठना । ३. क्षीरस्वामी आदि परिभाषण का 'सब विषय में बोलना' अर्थ करते हैं । इसलिये दूत को 'भण्डिल' कहते हैं ।

पिपिण्डे ॥ २८३ [मुडि] मार्जने=शोधना । मुण्डते, मुमुण्डे ॥ २८४ [तुडि] तोडने=तोडना । तुण्डते ॥ २८५ [हुडि] वरणे=ग्रहण करना । हरण इत्येके । किन्हीं आचार्यों के मत में यह धातु हरने अर्थ में है । हुण्डते, जुहुण्डे ॥ २८६ [चडि] कोपे=क्रोध । चण्डते, चचण्डे, चण्डिता, चण्डिष्यते, चण्डिषते, चण्डिषाते, चण्डताम्, अचण्डत, चण्डेत, चण्डिषीष्ट, अचण्डिष्ट, अचण्डिष्यत ॥ २८७ [शडि] रुजायां सङ्घाते च=रोग, समुदाय । शण्डते, शशण्डे ॥ २८८ [तडि] ताडने=ताड़ना । तण्डते, ततण्डे ॥ २८९ [पडि] गतौ । पण्डते, पपण्डे ॥ २९० [कडि] मदे=अहंकार, कण्डते, चकण्डे ॥ २९१ [खडि] मन्थे । खण्डते, चखण्डे ॥ २९२, २९३ [हेडृ, होडृ] अनादरे=तिरस्कार । हेडते । होडते, जिहेडे, जुहोडे ॥ २९४ [वाडृ] आप्लाव्ये=सब प्रकार चलना । वाडते, ववाडे ॥ २९५, २९६ [द्राडृ ध्राडृ] विशरणे=मारना । द्राडते, दद्राडे । ध्राडते, दध्राडे ॥ २९७ [शाडृ] श्लाघायाम्=प्रशंसा । शाडते ।शशाडे । इत्यट्टादय उदात्ता अनुदात्तेतः षट्त्रिंशत् समाप्ताः । य अट्ट आदि ३६ धातु समाप्त हुए ॥

अथ [शौटादयः] परस्मैपदिनः द्वासप्ततिः । अब ७२ बहत्तर धातु परस्मैपदी कहते हैं ॥ २९८ [शौटृ] गर्वे=अभिमान । शौटति, शुशौट, शौटिता, शौटिष्यति, शौटिषति, शौटिषाति, शौटतु, अशौटत, शौटेत्, शौट्यात्, अशौटीत्, अशौटिष्यत् ॥ २९९ [यौटृ] बन्धने=बान्धना । यौटति ॥ ३००, ३०१ [म्लेटृ म्रेडृ] उन्मादे=उन्मत्त होना । म्लेटति, मिम्लेट, म्रेडति, मिम्रेड ॥ ३०२ [कटे] वर्षावरणयोः=वर्षना, ढाकना । इस धातु का एकार इत्संज्ञक होता है, प्रयोजन आगे लिखा है । कटति, चकाट, चकटतुः, चकटुः, कटिता, कटिष्यति, काटिषति, काटिषाति, कटिषति, कटिषाति,

कटति, कटाति, कटतु, अकटत्, कटेत्, कट्यात्, विकल्प करके वृद्धि (१४४) से प्राप्त है इसलिये—

१६२—ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम् ॥ ७ । २ । ५ ॥

हकारान्त, मकारान्त, यकारान्त, क्षण, श्वस, जागृ ण्यन्त, श्वि और एकार जिनका इत् गया हो उन धातुओं को वृद्धि न हो इडादि सिच् परे हो तो । अकटीत्, अकटिष्यत् ॥ [चटे] इत्यके । किन्हीं आचार्यों के मत में कटे धातु के अर्थ में चटे भी है चटति, अचटीत्॥ ३०३, ३०४ [अट, पट] गतौ । अटति, आट, आटतु आटु आटीत्, आटिष्यत्, पटति, पपाट, पेटतु, पेटु, पेटिथ, पेटथु, पेट, पपाट, पपट, पेटिव, पेटिम, पटिता, पटिष्यति, पाटि पति, पाटिपाति, पटतु, अपटत्, पटेत्, पट्यात्, अपाटीत् अपटीत्, अपटिष्यत्॥ ३०५ [रट]परिभाषणे = बहुत बोलना। रटति, रराट, रेटतु, रटु, अराटीत्, अरटीत्, अरटिष्यत् ॥ ३०६ [लट] बाल्ये = बालकपन । लटति, ललाट, लेटतु, लाटिपति, लाटिपाति, लटतु, अलटत्, लटेत्, लट्यात्, अलाटीत् अलटीत्, अलटिष्यत् ॥ ३०७ [शट] रुजाविशरणगत्यवसादनेषु = रोग, हिंसा, गति, पीडा । शटति, शशाट, शटिता, शटिष्यति, अशाटीत् अशटीत्, अशटिष्यत् ॥ ३०८ [वट] वेष्टने = लपेटना । वटति, ववाट, ववटतु, अवाटीत् (१२९) अवटीत् ॥ ३०९,३१० [किट, खिट] त्रासे = भय । केटति, खेटति, चिकेट, चिकिटतु, चिकिटु, अकेटीत्, अखेटीत् ॥ ३११, ३१२ [शिट, पिट] अनादरे = तिरस्कार । शेटति, सेटति, सिषेट ॥ ३१३, ३१४ [जट, झट] सङ्घाते = समुदाय । जटति, जजाट, जेटतु, अजाटीत्, अजटीत्, झटति, जझाट, जझटतु ॥ ३१५ [भट]

मृतौ=सेवा। भटति, बभाट॥ ३१६ [तट] उच्छ्राये=ऊंचाई। तटति॥ ३१७ [खट] काङ्क्षायाम्=इच्छा। खटति, चखाट, अखाटीत्, अखटीत्॥ ३१८ [णट] नृतौ[1]=नाचना। नटति, ननाट, नेटतुः। ३१९ [पिट] शब्दसङ्घातयोः=शब्द, समूह। पेटति, पिपेट, अपेटीत्। ३२० [हट] दीप्तौ च=प्रकाश। हटति, जहाट, अहाटीत्, अहटीत्॥ ३२१ [षट] अवयवे=विभाग करना॥ सटति, ससाट, सेटतुः, असाटीत्, असटीत्॥ ३२२ [लुट] विलोडने=बिलोना। लोटति, लुलोट॥ ३२३ [चिट] परप्रैष्ये=दूसरे की सेवा करना। चेटति, चिचेट, चेटिता, चेटिष्यति, चेटिषति, चेटिपाति, चेटतु, अचेटत्, चेटेत्, चिट्यात्, अचेटीत्, अचेटिष्यत्॥ ३२४ [विट] शब्दे। वेटति। विवेट॥ -३२५ [बिट] आक्रोशे=कोसना। बेटति, बिबेट॥ [हिट] इत्येके। किन्हीं आचार्यों के मत में बिट के स्थान में हिट धातु आक्रोश अर्थ में है। हेटति, जिहेट॥ ३२६—३२७ [इट, किट, कटी] गतौ। एटति, केटति, कटति; इयेट (१५३), चिकेट, चकाट; कटिता, कटिष्यति, काटिषति, काटिपाति, कटतु, अकटत्, कटेत्, कट्यात्, अकाटीत्, अकटीत्, अकटिष्यत्॥ ३२८ [मडि] भूषायाम्=शोभा। मण्डति, ममण्ड॥ ३३० [कुडि] वैकल्ये=व्याकुलता। कुण्डति, चुकुण्ड॥ ३३१, ३३२

---

१. नृति के तीन भेद हैं—नाटक, नृत्य और नृत्त। जिस में परस्पर वार्तालापपूर्वक अभिनय हो वह नाटक, जिस में पदार्थमात्र का अभिनय हो वह नृत्य और जिस में गात्रविक्षेप मात्र हो वह नृत्त कहाता है। सायण, धातुवृत्ति पृष्ठ ७८।

[मुट, पुट [1]] मर्दने = मलना । मोटति, पोटति, मुमोट, पुपोट, मोटिता, मोटिष्यति मोटिषति, मोटिषाति, मोटतु, अमोटत्, मोटेत्, मुट्यात्, अमोटीत्, अमोटिष्यत् ॥ ३३३ [चुडि] अल्पीभावे = थोड़ा होना । चुण्डति, चुचुण्ड ॥ ३३४ [मुडि] खण्डने = काटना । मुण्डति, मुमुण्ड, मुण्डिता, मुण्डिष्यति, मुण्डिषति, मुण्डिषाति, मुण्डतु, अमुण्डत्, मुण्डेत्, मुण्ड्यात्, अमुण्डीत्, अमुण्डिष्यत् ॥ [पुडि] चत्येके। किन्हीं ऋषियों के मत में पुडि धातु भी मुडि के समान खण्डन अर्थ में है॥ ३३५, ३३६ [रुटि, लुटि] स्तेये = चोरी । रुण्टति, लुण्टति, रुरुण्ट, लुलुण्ट, लुण्टिता, लुण्टिष्यति, लुण्टिषति, लुण्टिषाति, लुण्टतु, अलुण्टत्, लुण्टेत्, लुण्ट्यात्, अलुण्टात्, अलुण्टिष्यत् ॥ [रुठि, लुठि] इत्येके । किन्हीं आचार्यों के मत में रुठि लुठि धातु भी चोरी अर्थ में हैं। रुण्ठति, लुण्ठति, रुरुण्ठ, लुलुण्ठ ॥ ३३७ [स्फुटिर्] विशरणे = मारना । स्फोटति, पुस्फोट, स्फोटिता, स्फोटिष्यति, स्फोटिषति, स्फोटिषाति, स्फोटतु, अस्फोटत्, स्फोटेत्, स्फुट्यात्, अस्फुटत्, अस्फोटीत् (१३८), अस्फोटिष्यत् ॥ ३३८ [पठ] व्यक्तायां वाचि = स्पष्ट बोलना । पठति, पपाठ, पेठतु, पेठु, पेठिथ, पठिता, पठिष्यति, पाठिषति, पाठिषाति, पठिषति, पठिषाति, पठतु, अपठत्, पठेत्, पठ्यात्, अपाठात्, अपठीत्, अपठिष्यत् ॥ ३३९ [वठ] स्थौल्ये = मोटा होना । वठति, ववाठ । ववठतु, ववठु, वठिता, वठिष्यति, वाठिषति, वाठिषाति,

---

[1] कुछ वृत्तिकार 'मुट', और अन्य 'मुड' पाठ मानते हैं। कई वैयाकरण 'मुड मुड' पाठ मानते हैं। डान्त प्रकरण के अनुरोध से यहाँ ठीक प्रतीत होता है।

वठतु, अवठत्, वठेत्, वठ्यात्, अवाठीत्, अवठीत्, अवठिष्यत् ॥ ३५० [मठ] मदनिवासयोः = अभिमान करना, बसना। मठति, ममाठ, मेठतुः, अमाठीत्, अमठीत् ॥ ३५१ [कठ] कृच्छ्रजीवने = दुःख से जीना। कठति, चकाठ, चकठतुः, अकाठीत्, अकठीत् ॥ ३५२ [रठ] परिभाषणे = बहुत बोलना। रठति, रराठ, रेठतुः, अराठीत्, अरठीत् ॥ ३५३ [हठ] प्लुतिशठत्वयोः = कूदना, मूर्खपन। हठति, जहाठ, जहठतुः, अहाठीत्, अहठीत्, अहठिष्यत् ॥ बलात्कार इत्येके। किन्हीं आचार्यों के मत में हठ धातु बलात्कार करने अर्थ में है ॥ ३५४—३५६ [रुठ, लुठ, उठ] उपघाते = समीप से मारना। रोठति, लोठति, रुरोठ, लुलोठ, रोठिता, रोठिष्यति, रोठयति, रोठिपाति, रोठतु, अरोठत्, रोठेत्, रुठ्यात्, अरोठीत्, अरोठिष्यत्; ओठति, उवोठ (१५३), ऊठतुः, ऊठुः, उवोठिथ, औठीत्, औठिष्यत् ॥ [ऊठ] इत्येके। किन्हीं आचार्यों के मत में यह ऊठ दीर्घ ऊकारयुक्त धातु है ह्रस्व नहीं। ऊठति, ऊठाञ्चकार, ऊठाम्बभूव, ऊठामास ॥ ३५७ [पिठ] हिंसासंक्लेशनयोः = हिंसा, अतिदुःख। पेठति, पिपेठ, पेठिता, पेठिष्यति, पेठिपति, पेठिपाति, पेठतु। अपेठत्, पेठेत्, पिठ्यात्, अपेठीत्, अपेठिष्यत् ॥ ३५८ [शठ] कैतवे च = चुगली, चकार से हिंसा और संक्लेशन अर्थ भी जानो। शठति, शशाठ, शेठतुः, शठिता, शठिष्यति, शाठिपति, शाठिपाति, शठतु, अशठत्, शठेत्, शठ्यात्, अशाठीत्, अशठीत्, अशठिष्यत् ॥ ३५९ [शुठ] प्रतिघाते = मारते हुए को मारना। शोठति, शुशोठ ॥ [शुठि] इत्येके। किन्हीं लोगों के मत में शुठि 'इदित्' धातु भी प्रतिघात अर्थ में है। शुण्ठति, शशुण्ठ ॥ ३६० [कुठि] च।

यहां चकार से प्रतिघात अर्थ का सम्बन्ध होता है। कुण्ठति, चुकुण्ठ ॥ ३५१ [लुठि] आलस्ये प्रतिघाते च। यहां पूर्वोक्त प्रतिघात अर्थ का समुच्चय, चकार से क्रिया और अतिस्पष्ट होने के लिये प्रतिघात शब्द पढ़ भी दिया है। लुण्ठति, लुलुण्ठ ॥ ३५२ [शुठि] शोषणे = सोखना। शुण्ठति ॥ ३५३, ३५४ [रुठि, लुठि] गतौ। रुण्ठति, लुण्ठति ॥ ३५५ [चुड्ड[1]] भावकरणे = अभिप्राय जताना। चुड्डति, चुचुड्ड ॥ ३५६ [अड्ड] अभियोगे = सर्वथा योग होना। अड्डति, आनड्ड ॥ ३५७ [कड्ड] कार्कश्ये = कठोरपन। कड्डति, चकड्ड, अकड्डीत् ॥ ३५८ [क्रीडृ] विहारे = खेलना। क्रीडति, चिक्रीड, क्रीडिता, क्रीडिष्यति, क्रीडिषति, क्रीडिषाति, क्रीडतु, अक्रीडत्, क्रीडेत्, क्रीड्यात्, अक्रीडीत्, अक्रीडिष्यत् ॥ ३५९ [तुडृ] तोडने = तोड़ना। तोडति, तुतोड ॥ [तूडृ] इत्येके। तूडति, तुतूड, तूडिता, तूडिष्यति, तूडिषति, तूडिषाति, तूडतु, अतूडत्, तूडेत्, तूड्यात्, अतूडीत्, अतूडिष्यत् ॥ ३६०—३६२ [हुडृ, हूडृ, होडृ] गतौ। होडति, जुहोड, जुहुडतुः, होडिता, होडिष्यति, होडिषति, होडिषाति, होडतु, अहोडत, होडेत्, हुड्यात्, अहोडीत्, अहोडिष्यत्; हूडति, जुहूड; होडति, जुहोड, जुहोडतुः, जुहोडुः ॥ ३६३ [रोडृ] अनादरे = तिरस्कार। रोडति, रुरोड ॥ ३६३, ३६५ [रौडृ, लोडृ] उन्मादे = उन्मत्तपन। रौडति,

---

१. चुड्ड, अड्ड, कड्ड ये तीन धातुएं दोपध हैं अतः क्विप् प्रत्यय में इन के रूप क्रमशः 'चुत्, अत्, कत्' होते हैं। सनादि परे रहने पर "नन्द्राः संयोगादयः" (आ० ३२६) से दकार को द्विर्वचन नहीं होता। इसलिये 'अड्ड' का सन् में 'अड्डिडिषति' प्रयोग बनता है।

हरौढ, लोडति, लुलोड ॥ २६६ [अड] उद्यमने = उद्यम । अडति, आड, आडतु, आडुः ॥ २६७ [लड] विलासे । लडति, ललाड, लेडतु, लडिता, लडिष्यति, लाडियति, लाडियाति, लडतु, अलडत्, लडेत्, लड्यात्, अलाडीत्, अलडीत्, अलडिष्यत् ॥ २६८ [कड] मदे = अहङ्कार । कडति, चकाड, चकडतु ॥ [कडि] इत्येके । कण्डति, चकण्ड ॥

२६९ [गडि] वदनैकदेशे = मुख के अवयव से क्रिया करना। गण्डति, जगण्ड, गण्डिता, गण्डिष्यति, गण्डियति, गण्डियाति, गण्डतु, अगण्डत्, गण्डेत्, गण्ड्यात्, अगण्डीत्, अगण्डिष्यत् ॥ इति शौटादय उदात्ता उदात्तेतो द्वासप्ततः परस्मैपदिनः समाप्ताः । ये ७२ [बहत्तर] परस्मैपदी धातु समाप्त हुए ॥

अथ पवर्गीयान्ता द्वासप्ततिः । तत्रानुदात्तेत स्तोभत्यन्ताः स्त्रयस्त्रिंशद् [आत्मनेपदिनः] । अब पवर्गान्त ७२ [बहत्तर] धातुओं का व्याख्यान है, उनमें पहिले ३३ [तैंतीस] धातु आत्मनेपदी हैं । २७०—२७३ [तिपृ, तेपृ, ष्टिपृ, ष्टेपृ] क्षरणार्थाः = झरना । इनमें प्रथम तिप् धातु अनिट् है, सो भूमिका में सेट् अनिट् व्यवस्था को देखो। तेपते, तेपेते, तेपन्ते, तितिपे, तितिपाते, तितिपिरे । और लिट् वलादि आर्धधातुक में (१४८) सूत्र के नियम से इडागम होजाता है । तितिपिषे, तितिपाथे, तितिपिध्वे, तितिपे, तितिपिवहे, तितिपिमहे । 'तिप्+तास्+लुट्' (११०) सूत्र से इडागम का निषेध होकर—तेप्ता, तेप्तारौ तेप्तार, तेप्तासे, तेप्तासाथे, तेप्ताध्वे, तेप्ताहे, तेप्तास्वहे, तेप्तास्महे, तप्स्यते, तेप्स्येते, तेप्स्यन्ते, तेप्सते, तेप्साते, तेप्सते, तेप्साते, तेपते, तेपाते, तेपत, तपाते, तेपताम्, अतेपत, तेपेत ।

१६३—लिङ्सिचावात्मनेपदेषु ॥ १ । २ । ११ ॥

· इग्वान् हलन्त धातु से परे जो झलादि लिङ् और सिच् सो कित्वत् हो आत्मनेपदविषय में। यहां कित्संज्ञा होने से (३४) से गुण नहीं होता। तिप्सीष्ट, तिप्सीयास्ताम्, तिप्सीरन्। लुङ् में—अट्+तिप्+सिच्+त (१४२)—अतिप्त, अतिप्साताम्, अतिप्सत, अतिप्थाः, अतिप्साथाम्, अतिप्ध्वम्, (११२), अतिप्सि, अतिप्स्वहि, अतिप्स्महि, अतेप्स्यत, अतेप्स्येताम्, अतेप्स्यन्त; तितिपे। तिपृ और तेपृ धातु में लिट् [और वलादि आर्धधातुक] में ही रूपभेद होता है। तेपिता, तेपिष्यते, तेपिषते, तेपिषातै, तेपताम्, अतेपत, तेपेत, तेपिपीष्ट, अतेपिष्ट, अतेपिष्यत; स्तेपते, तिष्टिपे, तिष्टिपाते, तिष्टिपिरे, स्तेपिता, स्तेपिष्यते, स्तेपिषते, स्तेपिषातै, स्तेपताम्, अस्तेपत, स्तेपेत, स्तेपिषीष्ट, अस्तेपिष्ट, अस्तेपिष्यत; तिष्टिपे, तिष्टेपाते, तिष्टेपिरे। [ष्टिपृ ष्टेपृ धातु के लिट् में ही रूपभेद होता है।] [थिपृ, थेपृ] इत्यन्ये। थेपते, तिथिपे, तिथेपे॥ [तेपृ] कम्पने च=कांपना॥ ३७४ [ग्लेपृ] दैन्ये—दीनता। ग्लेपते, जिग्लेपे॥ ३७५ [टुवेपृ] कम्पने। टु की इत्संज्ञा। वेपते, विवेपे, वेपिता, वेपिष्यते, वेपिषते, वेपिषातै, वेपताम्, अवेपत, वेपेत, वेपिषीष्ट, अवेपिष्ट, अवेपिष्यत॥ ३७६, ३७७ [केपृ, गेपृ, ग्लेपृ [1]] च। यहां चकार से कम्पन अर्थ का समुच्चय होता है। केपते, गेपते, ग्लेपते॥ ३७८—७९ [मेपृ, रेपृ, लेपृ] गतौ। मेपते, रेपते, लेपते॥ ३८१, ३८२ [हेपृ, घेपृ] च। गति अर्थ में हैं। हेपते, जिहेपे, घेपते, दिघेपे, घेपिता, घेपिष्यते, घेपिषते, घेपिषातै, घेपताम्, अघेपत, घेपेत, घेपिषीष्ट, अघेपिष्ट,

१. यह पूर्वपठित (३७५) 'ग्लेपृ' धातु अर्थान्तर दर्शन के लिये पुनः पढ़ी गई है। अत एव इस का क्रमाङ्क नहीं दिया।

अघेपिष्यत ॥ ३८३ [त्रपूष्] लज्जायाम् । त्रपते, त्रपेते, त्रपन्ते ।

१६४—तॄफलभजत्रपश्च ॥ ६ । ४ । १२२ ॥

तृ, फल, भज और त्रप धातुओं के अकार को एकारादेश और अभ्यास का लोप होवे । त्रप्+त्रप्+एश्=त्रेपे, त्रेपाते त्रेपिरे, त्रेपिषे, त्रेपाथे, त्रेपिध्वे, त्रेपे, त्रेपिवहे, त्रेपिमहे। इस धातु का षकार इत् जाता है, उसका तो प्रयोजन कृदन्त में आवेगा और ऊकार इत् जाने से ऊदित होकर (१४०) सूत्र से वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इडागम होता है । त्रपिता, त्रप्ता, त्रप्तारौ, त्रप्तारः, त्रपिष्यते, त्रप्स्यते, त्रापिषतै, त्रापिषातै, त्रपिषतै, त्रपिषातै, त्रापिषते, त्रापिषाते, त्रपिषते, त्रपिषाते, त्राप्सतै, त्राप्सातै, त्राप्सते, त्राप्साते, त्रप्सतै, त्रप्सातै, त्रप्सते, त्रप्साते, त्रपतै, त्रपातै, त्रपते, त्रपाते। इसी प्रकार प्रयोग 'आताम्' आदि सब प्रत्ययों में जानो । त्रपताम्, अत्रपत, त्रपेत, त्रपिषीष्ट, त्रप्सीष्ट, अत्रपिष्ट, अत्रप्त (१४२)। अत्रप्साताम्, अत्रप्सत, अत्रपिष्यत, अत्रप्स्यत ॥ ३८४ [कपि] चलने=चलना । कम्पते, चकम्पे, कम्पिता, कम्पिष्यते, कम्पिषतै कम्पिषातै, कम्पिषते कम्पिषाते, कम्पताम्, अकम्पत, कम्पेत, कम्पिषीष्ट, अकम्पिष्ट, अकम्पिष्यत ॥ ३८५-३८७ [रबि, लबि, अबि] शब्दे । रम्बते, ररम्बे, लम्बते, ललम्बे, अम्बते, आनम्बे ॥ [लबि] अवस्रंसने च=लटकना । चकार से शब्द ॥ ३८८ [कबृ] वर्णे=रङ्ग[2]। कबते,

१. पित् धातुओं से "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" (अ० ३।३।१०४) से अङ् प्रत्यय होता है । यथा—त्रपा, जरा ।

२. यहां 'वर्ण' का अर्थ 'रङ्ग' और 'शब्द' दोनों हैं । चित्रकबरा रङ्ग का वाचक 'कबर' शब्द इसी धातु से निष्पन्न होता है । आख्यात-

चकवे, कविता, कविष्यते, काविषतै, काविपातै, कवताम्, अकवत, कवेत, कविषीष्ट, अकविष्ट, अकविष्यत ॥
३८९ [क्लीबृ] अधार्ष्ट्ये = भोलापन । क्लीबते, चिक्लीबे ॥
३९० [क्षीबृ] मदे = अहङ्कार । क्षीबते, चिक्षीबे ॥
३९१ [शीभृ] कत्थने = कहना[1] । शीभते, शिशीभे ॥
३९२ [चीभृ] च । यहां चकार से कत्थन अर्थ का समुच्चय होता है । [चीभते, चिचीभे] ॥ ३९३ [रेभृ] शब्दे । रेभते, रिरेभे ॥ [अभि, रभि] इत्येके । अम्भते, आनम्भे, रम्भते, ररम्भे ॥ ३९४, ३९५ [ष्टभि, स्कभि] प्रतिबन्धे = बाधना । स्तम्भते[2], तस्तम्भे, स्तम्भिता, स्तम्भिष्यते, स्तम्भिषतै, स्तम्भिषातै, स्तम्भताम्, अस्तम्भत, स्तम्भेत, स्तम्भिषीष्ट, अस्तम्भिष्ट, अस्तम्भिष्यत, स्कम्भते, चस्कम्भे ॥

चन्द्रिका १ । ४ । २० में 'कवत' का अर्थ कविता करना किया है— कवते, वर्णयति च कवित्वे कवयत्यपि ।

१ कत्थन का अर्थ प्रशंसा करना है । ऊपर 'कहना' सामान्य अर्थ का निर्देश किया है ।

२ 'वितस्तम्भत' इस प्रयोग में 'स्तम्भे' (आ० ८१७) से मूर्धन्यादेश नहीं होता, क्योंकि यहां 'उत्स्तम्भुग्रुचु (आ० १५४) सूत्र में प्रतिपदोक्त पढ़ा हुई 'स्तम्भु' का ग्रहण होता है । इस 'ष्टभि' धातु का 'स्तम्भ' रूप लाक्षणिक है । "लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव" (पारि० ९१) इस नियम से प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है, लाक्षणिक का नहीं । कई लोग दोनों सूत्रों में नकारोपध 'स्तम्भ' धातु पढ़ते हैं उन के मत में इसको षत्व की प्राप्ति ही नहीं होती । "उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य" (सन्धि० २३६) में दोनों का ग्रहण होता है ।

स्तम्भ धातु में इतना विशेष है कि जो उद् उपसर्ग इसके पूर्व हो तो उसके सकार को पूर्वसवर्ण " उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य"[1] सूत्र से तकार हो जाता है। उत्तम्भते, उत्तम्भेते इत्यादि॥ ३९६, ३९७ [जभी, जृभि] गात्रविनामे = शरीर का मरोरना। जभी धातु का दीर्घ ईकार इत् जाता है।

१९५—रधिजभोरचि ॥ ७। १। ६१॥

अजादि प्रत्यय परे हो तो रध और जभ धातु को नुम् का आगम हो। जम्भते, जजम्भे, जम्भिता, जम्भिष्यते, जम्भिपते, जम्भिपातै, जम्भताम्, अजम्भत, जम्भेत, जम्भिषीष्ट, अजम्भिष्ट, अजम्भिष्यत; जृम्भते, जजृम्भे॥ ३९८ [शल्भ] कत्थने। शल्भते, शशल्भे॥ ३९९ [वल्भ] भोजने। वल्भते, ववल्भे॥ ४०० [गल्भ] धाष्टर्ये = ढीठता। गल्भते, जगल्भे॥ ४०१ [श्रम्भु] प्रमादे = प्रमत्तपन। स्रम्भते, सस्रम्भे। यह धातु तालव्यादि भी है। श्रम्भते॥ ४०२ [ष्टुभु] स्तम्भने = रोकना। स्तोभते, तुष्टुभे, स्तोभिता, स्तोभिष्यते, स्तोभिपते, स्तोभिपातै, स्तोभताम्, अस्तोभत, स्तोभेत, स्तोभिषीष्ट, अस्तोभिष्ट, अस्तोभिष्यत। इति तिपाद्य उदात्ता अनुदात्तेतस्तिपिवर्जमात्मनेभाषास्त्रयस्त्रिंशत् समाप्ताः। ये पवगोन्तों में तिप् आदि ३३ धातु समाप्त हुए॥

अथ [गुपाद्य] एकोनचत्वारिंशत् परस्मैपदिनः। अब उनचालीस (३९) धातु परस्मैपदी कहते हैं॥ ४०३ [गुपू] रक्षणे = रक्षा करना।

१९६—गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः॥ ३।१।२८॥

१, सन्धि० २३६।

गुपू, धूप, विच्छ, पण और पन धातुओं से स्वार्थ में आय प्रत्यय हो। यहां उदित् गुपू धातु से आय प्रत्यय होकर—गुपू+आय। यहां आय प्रत्यय की (४०) से आर्धधातुक संज्ञा और (५२) से गुण होकर—गोपाय।

१६७—सनाद्यन्ता धातवः ॥ ३ । १ । ३२ ॥

सन् आदि प्रत्यय जिनके अन्त में हों ऐसे प्रकृति प्रत्यय समुदायों की धातु संज्ञा हो। सन्, क्यच्, काम्यच्, क्यङ्, क्यष्, आचार अर्थ का क्विप्, णिच्, यङ्, यक्, आय, ईयङ्, णिङ् ये सब सनादि प्रत्यय कहाते हैं। यहां 'गोपाय' की धातुसंज्ञा होकर इससे लट् आदि लकारों की उत्पत्ति और भू आदि धातुओं के समान इसको भी धातु संज्ञा के सब कार्य होते हैं। गोपाय+शप्+तिप्+गोपायति, गोपायतः, गोपायन्ति, गोपायसि, गोपायथः, गोपायथ, गोपायामि, गोपायावः, गोपायामः। यहां शप् के अकार के साथ गोपाय के अकार को पररूप एकादेश हो जाता है।

१६८—आयादय आर्धधातुके वा ॥३।१।३१॥

आर्धधातुक प्रत्ययों की विवक्षा में गोपाय आदि धातुओं से आय आदि प्रत्यय विकल्प करके हों। 'गोपाय—लिट्' यहां—

१६९—कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि ॥ ३ । १ । ३५ ॥

लिट् लकार परे हो तो कास् धातु और प्रत्ययान्त धातुओं से आम् प्रत्यय हो, वेदविषय में न हो।

१७०—वा०—कास्यनेकाज्ग्रहणं कर्तव्यम् ॥ ३ । १ । ३५ ॥

"कास्प्र०" इस सूत्र में वार्त्तिककार प्रत्यय ग्रहण के स्थान में[1] अनेकाच् ग्रहण करते हैं अर्थात् "कासनेकाच आममन्त्रे लिटि" ऐसा सूत्र करना चाहिये, इसका प्रयोजन आगे आवेगा। अनेकाच कहने से प्रत्ययान्त धातुओं का भी ग्रहण हो जाता है[2]। यहां गोपाय प्रत्ययान्त धातु से आम् प्रत्यय होकर—'गोपाय-आम्-लिट्' यहां—

---

१ कैयट, हरदत्त आदि वैयाकरणों का भी यही मत है कि प्रत्यय ग्रहण को हटाकर अनेकाच् ग्रहण करना चाहिये। परन्तु यह मत अयुक्त है। हमारा विचार है कि वार्त्तिककार सूत्र में 'अनेकाच्' शब्द का ग्रहण और करना चाहते हैं। इस में ये हेतु हैं— कास्यनेकाच् ग्रहणम्' यह न्यासान्तर का रूप नहीं है, यदि न्यासान्तर करना होता तो 'कासनेकाच' ऐसा निर्देश करते। वार्त्तिककार ने सूत्र के एकदेश 'कास्' शब्द में सप्तमी का निर्देश करके सूत्र का निर्देश किया है। महाभाष्यकार ने भी 'प्रत्यय को हटाकर' ऐसा व्याख्यान नहीं किया। भाष्यकार ने ३।२।११ में 'अवगल्भाञ्चक्रे, विहाढाञ्चक्रे, विक्लीबाञ्चक्रे' में आम् प्रत्यय का निर्देश किया है, और आत्मनेपद के लिये गल्भ, क्लीब, होड को अनुदात्तेत् माना है। अनुदात्तेत् होने पर ये धातुएं एकाच् ही होती हैं। यदि सूत्र में से प्रत्यय ग्रहण हटा दिया जावे तो इन से आम् की प्राप्ति कैसे होगी। उत्तरकालीन जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता आचार्य देवनन्दी ने भी भाष्य का यही अभिप्राय समझा था, अत एव उसने 'कास्यनेकाच्त्याल्लिट्यन्त्याम्' सूत्र की रचना की है। जैनेन्द्र व्याकरण में 'त्य' प्रत्यय की संज्ञा है।

२ यह सर्वांश में ठीक नहीं। आचार अर्थ में एकाक्षर से क्विप् होने पर उनका ग्रहण कैसे होगा। हां, जो प्रत्ययान्त अनेकाच् हैं उनका ग्रहण हो जायगा।

१७१—आर्धधातुके ॥ ६ । ४ । ४६ ॥

यह अधिकारसूत्र है।

१७२—अतो लोपः ॥ ६ । ४ । ४८ ॥

आर्धधातुक प्रत्यय परे हो तो अदन्त अङ्ग का लोप हो। यहां गोपाय के अन्त्य अकार का लोप होकर। गोपाय्+आम्+कृ+णल् = गोपायाञ्चकार (१०४) इत्यादि सूत्र लगते हैं। गोपायाञ्चक्रतुः, गोपायाञ्चक्रुः, गोपायाम्बभूव, गोपायामास। और जिस पक्ष में (१६८) सूत्र से आय प्रत्यय नहीं होता वहां। जुगोप, जुगुपतुः, जुगुपुः। यह धातु ऊदित् है, इस कारण वलादि आर्धधातुक में (१४०) सूत्र से विकल्प करके इडागम होता है। जुगोपिथ, जुगोप्थ[1], जुगुपथुः, जुगुप, जुगोप, जुगुपिव, जुगुप्व, जुगुपिम, जुगुप्म। "लुट्"—गोपायिता, गोपायितारौ, गोपायितारः। आय प्रत्यय के अभावपक्ष में—गोपिता, गोपितारौ, गोपितारः। अनिट् पक्ष में—गोप्ता, गोप्तारौ, गोप्तारः। गोपायिष्यति, गोपिष्यति, गोप्स्यति, गोपायिषति, गोपायिषाति, गोपिषति, गोपिषाति, गोप्सति, गोप्साति, गोपायति, गोपायाति, गोपायतु, अगोपायत्, गोपायेत्, गोपाय्यात् (१७२), गोपाय्यास्ताम्, गोपाय्यासुः, गुप्यात्, अगोपायीत्, अगोपीत्, अगौप्सीत्, अगौप्ताम् (१४२), अगौप्सुः, अगौप्सीः, अगौप्तम्, अगौप्त, अगौप्सम्, अगौप्स्व, अगौप्स्म, अगोपायिष्यत्, अगोपिष्यत्, अगोप्स्यत् ॥ ४०४ [धूप] सन्तापे = दुःख होना। धूपायति, धूपायत, धूपायाञ्चकार, धूपायाम्बभूव, धूपायामास (१६९) इत्यादि सूत्र लगते हैं। दुधूप (१६८), दुधूपतुः, धूपायिता, धूपिता, धूपायिष्यति, धूपिष्यति, धूपायिषति, धूपायिषाति, धूपिषति, धूपिषाति, धूपायतु, अधूपायत्, धूपायेत्, धूपाय्यात्,

---

1. यहां पृष्ठ ४८ की टि० १ देखो।

धूप्यात्, अधूपायीत्, अधूपीत्, अधूपायिष्यत्, अधूपिष्यत् ॥ ४०५, ४०६ [जप, जल्प] व्यक्तायां वाचि = स्पष्ट बोलना। जपति, जल्पति, जजाप, जेपतुः, जेपुः, जपिता, जपिष्यति, जापियति, जापियाति, जपतु, अजपत्, जपेत्, जप्यात्, अजापीत्, अजपीत्, अजपिष्यत् ॥ [जप] मानसे च = विचार-पूर्वक मन में जपना। ४०७ [चप] सान्त्वने = शान्त होना। चपति ॥ ४०८ [षप] समवाये = सम्बन्ध होना। सपति ॥ ४०९, ४१० [रप, लप] व्यक्तायां वाचि। रपति, लपति, प्रलपति ॥ ४११ [चुप] मन्दायां गतौ = धीरे-धीरे चलना। चोपति, चुचोप, चोपिता, चोपिष्यति, चोपियति, चोपियाति चोपतु, अचोपत्, चोपेत्, चुप्यात्, अचोपीत्, अचोपिष्यत् ॥ ४१२—४१९ [तुप, तुम्प, त्रुप, त्रुम्प, तुफ, तुम्फ, त्रुफ, त्रुम्फ] हिंसार्थाः। तोपति, तुतोप, तोपिता, तोपिष्यति, तोपियति, तोपियाति, तोपतु, अतोपत्, तोपेत्, तुप्यात्, अतोपीत्, अतोपिष्यत्। तुम्पति, तुतुम्प, तुतुम्पतुः। यहां संयोगान्त तुम्प धातु से परे लिट् (४६) से किन्-वत् नहीं होता इससे नलोप भी नहीं हुआ, और प्र उपसर्ग से परे "प्रात्तुम्पतौ गवि कर्त्तरि" यह पारस्करप्रभृतिगण[1] का सूत्र है। गौ कर्त्ता हो तो प्र उपसर्ग से परे तुम्प धातु को सुट् का आगम हो जाता है "प्रस्तुम्पति"। और गणसूत्र में श्तिप्[2] का निर्देश करने से "प्रतोतुम्पीति" यहां यङ्लुक् में सुट् नहीं होता[3]। तु-

---

१. गणसूत्र। अष्टा० ६। १। १५३ ॥ सन्धि० ३२५।

२. इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे (अ० ३४०६) से धातुनिर्देश में श्तिप् प्रत्यय होता है।

३. प्राचीन वैयाकरणों का श्लोक है—श्तिपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च। यत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि ॥ अर्थात् श्तिप,

प्यात्, ग्रुप्यात्, तुफ्यात्, ग्रुफ्यात् (१३९), अतुम्पीत्, अतुम्पिष्यत् ॥ ४२०—४३३ [पर्व, रफ, रफि, अर्व, पर्व, लर्व, वर्व, मर्व, कर्व, खर्व, गर्व, शर्व, षर्व, चर्व] गतौ, [चर्व] अदने च । चर्व धातु (खाने) और (गति) दोनों अर्थ में है । पर्पति, पपर्प, रफति, रम्फति, अर्वति, आनर्व, अर्विता, अर्विष्यति, अर्विषति, अर्विषाति, अर्वतु, आर्वत्, अर्वेत्, अर्व्यात्, आर्वीत्, आर्विष्यत्, पर्वति, लर्वति, वर्वति, मर्वति, कर्वति खर्वति, गर्वति, शर्वति, सर्वति, चर्वति, चचर्व, चर्विता, चर्विष्यति, चर्विषति, चर्विषाति, चर्वतु, अचर्वत्, चर्वेत्, चर्व्यात्, अचर्वीत्, अचर्विष्यत्, ॥ ४३४ [कुवि] आच्छादने = (ढाकना) कुम्बति, चुकुम्ब ॥ ४३५, ४३६ [लुबि, तुबि] अर्दने = गति और मागना । लुम्बति, तुम्बति, लुलुम्ब, तुतुम्ब ॥ ४३७ [चुबि] वक्त्रसंयोगे = चु-

शप्, अनुबन्ध, गण से निर्देश और जहां एकाच् ग्रहण किया है वे विधियां यङ्लुगन्त से नहीं होतीं। यथा—श्तिप् से—" क्षुभ्नादिषु" (आ० ८८९) से 'प्रणिध्यति' में णत्व होता है, 'प्रनिसासेति' में नहीं होता । शप् से—" भरज्ञपिसनाम्" (आ० ५१५) से 'बिभरिषति, बुभूर्षति' में इट् विकल्प होता है, 'बर्भरिषति' में विकल्प नहीं होता, नित्य होता है । अनुबन्ध से—अनुबन्ध से निर्देश दो प्रकार से होता है, स्वरूप से या इत्संज्ञक से । स्वरूप से —"शीङ सार्वधातुके गुण " (आ० ३२०) से 'शयते' में गुण होता है, 'शेशीत ' में नहीं होता । इत्संज्ञक से—"अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (आ० ९७) से 'शयते' में आत्मनेपद होता है, 'शशीत ' में नहीं होता । गण से—"दिवादिभ्य श्यन्" (आ० ३९६) से 'दीव्यति' में श्यन् होता है, 'देदेवीति' में नहीं होता । एकाच् से— 'एकाच उपदेशे अनुदात्तात्" (आ० ११०) से 'भेत्ता' में इट् का निषेध होता है, 'बेभेदिता' में नहीं होता । यहाँ सर्वत्र "प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणं भवति" इस नियम से प्राप्त होता था ।

म्बति, चुचुम्ब, ॥ ४३८, ४३९ [षृभु, षृम्भु] हिंसार्थौ । सर्भति, ससर्भ, सर्भिता, सर्भिष्यति, सर्भिषति, सर्भिषाति, सर्भतु, असर्भत्, सर्भेत् सृभ्यात्, असर्भीत्, असर्भिष्यत्, सृम्भति, ससृम्भ, सृभ्यात्, ॥ [षिभु षिम्भु] इत्येके । किन्हीं लोगों के मत में ये दोनों धातु इकारवान् हैं । सेभति, सिम्भति, सिभ्यात् ॥ ४४०, ४४१ [शुभ शुम्भ] भाषणे=बोलना, भासने इत्येके=प्रकाश, हिंसायामित्यन्ये * । शोभति, शुशोभ, शोभिता, शोभिष्यति, शोभिषति, शोभिषाति, शोभतु, अशोभत्, शोभेत्, शुभ्यात्, अशोभीत्, अशोभिष्यत्; शुम्भति शुशुम्भ, शुभ्यात्, ॥ इति गुपादय उदात्ता उदात्तेत एकोनचत्वारिंशत्समाप्ताः । ये गुप आदि ३९ (उनतालीस) धातु समाप्त हुए ॥

अथानुनासिकान्ता द्विचत्वारिंशत् । तत्र [घिण्याद्योऽ] नुदात्तेतो दश [आत्मनेपदिनः] । अब अनुनासिकान्त ४२ (बयालीस) धातु कहते हैं, उनमें प्रथम घिणि आदि दश आत्मनेपदी हैं ॥ ४४२-४४४ [घिणि, घुणि, घृणि] ग्रहणे= ग्रहण करना । घिण्णते । यहां नुम् का आगम होकर "ष्टुना ष्टुः" सूत्र से नुम् के तवर्ग=नकार को टवर्ग=णकार हो जाता है । घिण्णेते, घिण्णन्ते, जिघिण्णे, घिण्णिता, घिण्णिष्यते, घिण्णिषतै, घिण्णिषातै, घिण्णताम्, अघिण्णत, घिण्णेत, घिण्णिषीष्ट, अघिण्णिष्ट, अघिण्णिष्यत; घुण्णते, घृण्णते ॥ ४४५, ४४६ [घुण, घूर्ण] भ्रमणे=विचरना । घोणते, जुघुणे, घोणिता, घोणिष्यते, घोणिषतै, घोणिषातै, घोणताम्, अघोणत, घोणेत, घोणिषीष्ट, अघोणिष्ट, अघोणिष्यत; घूर्णते,

* "इत्येके" और "इत्यन्ये" इत्यादि-शब्द धातुपाठ में बहुधा आया करते हैं । उनका अर्थ एकवार लिख दिया है, अब आगे वार-वार नहीं लिखेंगे ।

जुघूर्ण ॥ ४४७ [पण] व्यवहारे स्तुतौ च = लेना देना और प्रशंसा ॥ ४४८ [पन] च । यहां चकार से स्तुति अर्थ का ही सम्बन्ध होता है व्यवहार का नहीं । इसीलिये पन धातु पृथक् पढ़ा है, नहीं तो इकट्ठा ही पढ़ते । पण तथा पन धातु अनुदात्तेत् हैं, स्तुत्यर्थक पन धातु के साहचर्य से पण धातु से भी आय प्रत्यय स्तुति अर्थ में ही होता है[1] । आर्धधातुक लकारों में आय प्रत्यय के अभाव पक्ष में इनको आत्मनेपद होने का अवकाश मिलने से आयप्रत्ययान्त पण [और पन] धातु से आत्मनेपद नहीं होता । पण + आय + शप् + तिप् = पणायति, पणायतः, पणायन्ति; पणायाञ्चकार, पणायाम्बभूव, पणायामास; (१६८) पेणे, पेणाते, पेणिरे; पणायितासि, पणितासे; पणायिष्यति, पणिष्यते; पणायतु; अपणायत्; पणायेत्, पणाय्यात्; पणिषीष्ट; अपणायीत्, अपणिष्ट; अपणायिष्यत्, अपणिष्यत् । व्यवहार अर्थ में—पणते, पणेते, पणन्ते । पन धातु स्तुति अर्थ में ही है ।

---

१. 'सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्' (परि० ९०) नियम से पण धातु से व्यवहार अर्थ में आय प्रत्यय नहीं होता । भट्टिकारने 'न चोपलेभे वणिजां पणायाः' इत्यादि में व्यवहार अर्थ में भी आय प्रत्यय माना है, वह ठीक नहीं है । पाणिनि ने वणिक् शब्द साधक 'पणेरिज्यादेश्च व' (उ० २ । ७०) में आयप्रत्ययान्त का निर्देश नहीं किया । पाणि शब्द साधक 'अशिपणाय्यो रुडायलुकौ च' (उ० ४ । १३३) में आय प्रत्ययान्त का निर्देश तथा उसके लुक् का विधान किया है । पाणिशब्द स्तुत्यर्थक पण धातु से ही निष्पन्न होता है । अत एव निरुक्त २ । २६ में 'पाणिः पणायतेः पूजाकर्मणः, प्रगृह्य पाणी देवान् पूजयतीति' अर्थात् 'पाणि शब्द पूजार्थक पण धातु से निष्पन्न होता है क्योंकि दोनों हाथ जोड़कर देवों को पूजते हैं' लिखा है ।

पनायति, पनायाञ्चकार, पनायाम्बभूव, पनायामास, पेने, पेनाते, पेनिरे, पनायितासि, पनितासे; पनायिष्यति, पनिष्यते; पनायिषति, पनायिषाति पानिषतै, पानिषातै; पनायतु; अपनायत् ; पनायेत् ; पनाय्यात्, पनिषीष्ट; अपनायीत्, अपनिष्ट; अपनायिष्यत्, अपनिष्यत। ४४९ [भाम] क्रोधे। भामते, बभामे, भामितासे, भामिष्यते, भामिषतै, भामिषातै, भामताम्, अभामत, भामेत, भामिषीष्ट, अभामिष्ट, अभामिष्यत ॥ ४५० [क्षमूष्] सहने = सहना। क्षमते। यह भी धातु ऊदित् है। चक्षमे, चक्षमाते, चक्षमिरे, चक्षमिषे, चक्षंसे[1] (१४०) से इट् का आगम विकल्प करके होता है। चक्षमाथे, चक्षमिध्वे, चक्षन्ध्वे, चक्षमे।

१७३—म्वोश्च ॥ ८ । २ । ६५ ॥

म और व परे हों तो मकारान्त धातु के मकार को नकारादेश होवे। यहां व, म के परे क्षम धातु के मकार को न होकर मूर्धन्य षकार से परे णत्व हो जाता है। चक्षण्वहे, चक्षमिवहे, चक्षण्महे, चक्षमिमहे; क्षमिता, क्षन्ता, क्षन्तारौ, क्षन्तारः, क्षन्तासे; क्षमिष्यते, क्षंस्यते, क्षामिषतै, क्षामिषातै, क्षमिषतै, क्षमिषातै, क्षामिषते, क्षामिषाते, क्षमिषते, क्षमिषाते, क्षांसतै क्षांसातै, क्षांसते क्षांसाते क्षंसतै, क्षंसातै, क्षंसते, क्षंसाते, क्षमतै, क्षमातै, क्षमते, क्षमाते। इसी प्रकार प्रयोग "आताम्" आदि सब प्रत्ययों में जानो। क्षमताम्, अक्षमत, क्षमेत, क्षमिषीष्ट, क्षंसीष्ट, अक्षमिष्ट, अक्षंस्त, अक्षमिष्यत, अक्षंस्यत, यहां सर्वत्र अनिट् पक्ष में क्षम धातु के मकार को अनुस्वार हो जाता है[2] ॥ ४५१ [कमु] कान्तौ = इच्छा।

१७४—कमेर्णिङ् ॥ ३ । १ । ३० ॥

---

१. यहां पृष्ठ ४८ की टि० १ देखो।

२. नश्चापदान्तस्य झलि (सन्धि० १९२) सूत्र से।

कम धातु से णिङ् प्रत्यय हो स्वार्थ में। पश्चात् (१६७) से धातुसंज्ञा और णिङ् प्रत्यय के परे (१२७) से 'कम' के अकार को वृद्धि होके 'कामि' धातु से णिङ् प्रत्यय के ङित् होने से आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं। कम्+णिङ्+शप्+त=कामयते, कामयेते, कामयन्ते। कामि+आम्+लिट्—

१७५—अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु ॥६।४।५५॥

आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु और इष्णु प्रत्यय परे हों तो णि के स्थान में अय् आदेश हो। (११७) सूत्र से लोप पाया था सो न हो अर्थात् लोप का अपवाद यह सूत्र है। कामयाञ्चक्रे (१६९), कामयाञ्चक्राते, कामयाञ्चक्रिरे, कामयाम्बभूव, कामयामास। (१६८) सूत्र से णिङ् प्रत्यय के अभाव पक्ष में—चकमे, चकमाते, चकमिरे, कामयिता, कामयितारौ, कामयितारः, कामयितासे, [कमिता, कमितारौ, कमितारः,] कमितासे, कामयिष्यते, कमिष्यते, कामयिषतै कामयिषातै, कामिषतै, कामिषातै, [कमिषतै, कमिषातै,] कामयताम्, अकामयत, कामयेत, कामयिषीष्ट, कमिषीष्ट। 'कामि+च्लि+लुङ्' यहां च्लि प्रत्यय के स्थान में सिच् प्रत्यय प्राप्त है उस का अपवाद—

१७६—णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् ॥३।१।४८॥

ण्यन्त, श्रि, द्रु और स्रु धातुओं से परे च्लि प्रत्यय के स्थान में चङ् आदेश हो कर्ता मे लुङ् परे हो तो। 'अट्+काम्+इ+चङ्+त' इस अवस्था में—

१७७—णेरनिटि ॥ ६ । ४ । ५१ ॥

अनिडादि आर्धधातुक प्रत्यय परे हो तो णि का लोप होजावे। इसी विषय में (१५६) सूत्र से यण् आदेश परत्व से प्राप्त है [उसका अपवाद]—

१७८-वा०-णयल्लोपावियङ्यण्गुणवृद्धिदीर्घेभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेन भवतः ॥ ६ । ४ । ४८ ॥

णिलोप और (१७२) सूत्र से अकार का लोप ये दोनों कार्य इयङ्, यण्, गुण, वृद्धि और दीर्घ से पूर्वविप्रतिषेध करके हो जाते हैं। णिलोप को "कार्यते" यहां अवकाश है, क्योंकि कारि धातु से यक् प्रत्यय के परे भावकर्मप्रक्रिया में णि का लोप होजाता है, और "श्रियौ" यहा इयङ् आदेश को, "निन्यतुः, निन्युः" यहां यण् आदेश को, "चेता, स्तोता" यहां गुण को, "सखायौ" यहां वृद्धि को और "चीयते, स्तूयते" यहा दीर्घादेश को अवकाश है, और "णेरनिटि" सूत्र से ये सब इयङ् आदि कार्य परे हैं। इन सब कार्यों का और णिलोप का जहां एक प्रयोग में आकर झगड़ा पड़ता है वहां परविप्रतिषेध मानने से इयङ् आदि कार्य प्राप्त हैं [परन्तु] वार्तिककार के प्रमाण से पूर्वविप्रतिषेध मानकर णिलोप हो जाता है इयङ् आदि नहीं होते। जैसे—अट्+तन्त्रि+चङ्+तिप्=अततन्त्। यहां (१५९) सूत्र से इयङ् आदेश प्राप्त है उसको बाध के णिलोप होता है। 'आट्+आटि+चङ्+तिप्=आटिटत्' यहां (१५६) से यणादेश प्राप्त है उससे पूर्ववि॰प्रतिषेध करके णिलोप हो जाता है। 'कारि+युच्+टाप्=कारणा' यहा (२१) सूत्र से परत्व से गुण पाता है उसका अपवाद होकर णिलोप होता है। 'कारि+ण्वुल्+सु=कारकः, यहां (६०) सूत्र से वृद्धि प्राप्त है उससे पूर्वविप्रतिषेध करके णिलोप होजाता है, और 'कारी+यक्+त=कार्यते' यहां (१६०) सूत्र से, परत्व से दीर्घ प्राप्त है उससे भी पूर्वविप्रतिषेध करके णिलोप होजाते इसलिये "णयल्लोपावि॰" यह वार्तिक है। और 'अट्+कामि+चङ्+त' यहां तो (१५६) सूत्र से यणादेश परत्व से प्राप्त है उससे पूर्वविप्र-

तिषेध करके (१७७) सूत्र से णिलोप हो जाता है। फिर 'अट्+काम्+चङ्+त' इस अवस्था में—

१७६—णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः ॥ ७ । ४ । १ ॥

चङ्परक णि के परे जिसकी अङ्ग संज्ञा है उसकी उपधा को ह्रस्वादेश होजावे। यहाँ 'काम्' को ह्रस्व होकर—'अट्+कम्+चङ्+त' इस अवस्था में—

१८०—चङि ॥ ६ । १ । ११ ॥

चङ् प्रत्यय परे हो तो अनभ्यास धातु के प्रथम एकाच् अवयव को और अजादि धातु के द्वितीय एकाच् अवयव को द्वित्व होजावे। 'अट्+कम+कम्+चङ्+त'—यहाँ 'कम्' भाग को द्वित्व और (१०९) से ककार को चकार तथा (४०) से अभ्यास के हल् मकार का लोप हुआ।

१८१—सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे ॥ ७ । ४ । ६३ ॥

धातु का लघु अक्षर जिससे परे हो ऐसा जो अभ्यास उसको जिस के परे अक् प्रत्याहार में किसी वर्ण का लोप न हुआ हो ऐसे चङ्परक णि परे हो तो सन्वत् कार्य हों अर्थात् सन् प्रत्यय के परे जो कार्य होता है सो अभ्यास को भी होजावे। चङ् प्रत्यय के परे जो णि का लोप होता है वह भी अक्-लोप है, परन्तु इसी सूत्र में चङ् जिससे परे हो ऐसे णि की अपेक्षा होने से णिलोप से अन्य अग्लोप समझा जाता है, और णिलोप को स्थानिवत् मान के इस सूत्र के अर्थ की प्रवृत्ति होती है।

१८२—सन्यतः ॥ ७ । ४ । ७९ ॥

सन् प्रत्यय परे हो तो अभ्यास के अकार को इकार आदेश हो। 'अट्+कि+कम्+चङ्+त' इस अवस्था में—

१८३—दीर्घो लघोः ॥ ७ । ४ । ६४ ॥

धातु के लघु अभ्यास को दीर्घ आदेश हो अनग्लोपी चङ्पर-क णि परे हो तो। यहां "कि" को दीर्घ और चङ् में 'च् ङ्' का लोप होकर—अट्+ची+कम्+अ+त=अचीकमत, अचीकमेताम्, अचीकमन्त, अचीकमथाः, अचीकमेथाम् अचीकमध्वम्, अचीकमे अचीकमावहि, अचीकमामहि। और जिस पक्ष में आयादि णिङ् प्रत्यय (१६८) से नहीं होता, वहां—

१८४—वा०—कमेरुपसङ्ख्यानम्॥ ३ । १ । ४८॥

केवल कम धातु से परे जो च्लि उसके स्थान में चङ् आदेश होवे। अट्+कम्+चङ्+त=अचकमत (१८०), अचकमेताम् अचकमन्त, अचकमथाः, अचकमेथाम्, अचकमध्वम्, अचकमे, अचकमावहि, अचकमामहि। इति घिण्यादय उदात्ता अनुदात्तेत आत्मनेभाषा दश समाप्ताः। ये घिणि आदि दश धातु समाप्त हुए॥

अथ [अणादयस्] त्रिंशत् परस्मैपदिनः। अब [अण आदि] ३० अनुनासिकान्त परस्मैपदी धातु कहते हैं। ४५२-४६१ [अण, रण, वण, भण, मण, कण, क्वण, व्रण, भ्रण, ध्वण] शब्दार्थाः। अणति, रणति, वणति, आण, आणतुः, आणुः, अणिता, अणिष्यति, आणिषति, आणिषाति, अणतु, आणत्, अणेत्, अण्यात्, आणीत्, आणिष्यत्; ववाण, ववणतुः (१२८), ववणुः, वणिता, वणिष्यति, वाणिषति, वाणिषाति, वणतु, अवणत्, वणेत्, वण्यात्, अवाणीत्, अवणीत्, अवणिष्यत्; भणति, बभाण, बभणतुः अभाणीत्, अभणीत्; मणति, कणति, क्वणति, व्रणति, भ्रणति, ध्वणति॥ [धण] इत्येके। धणति, दधाण, दधणतुः, धणिता, धणिष्यति, धाणिषति, धाणिषाति, धणतु,

अधणत्, धणेत्, धण्यात्, अधाणीत्, अधणीत्, अधणिष्यत् ॥ ४६२ [ओणृ] अपनयने = हटाना । ओणति, ओणाञ्चकार, ओणाम्बभूव, ओणामास, ओणिता, ओणिष्यति, ओणिषति, ओणिषाति, औणत्, ओणेत्, ओण्यात्, औणीत्, औणिष्यत् ॥ ४६३ [शोणृ] वर्णगत्योः = रंग और गति । शोणति, शुशोण ॥ ४६४ [श्रोणृ] सङ्घाते । = समुदाय । श्रोणति, शुश्रोण ॥ ४६५ [श्लोणृ] च = सङ्घात अर्थ में । श्लोणति, शुश्लोण ॥ ४६६ [पैणृ] गतिप्रेरणश्लेषणेषु = गति, प्रेरणा और गोला करना । पैणति, पिपैण, पिपैणतु, पिपैणु, पैणिता, पैणिष्यति, पैणिषति, पैणिषाति, पैणतु, अपैणत्, पैणेत्, पैण्यात्, अपैणीत्, अपैणिष्यत् ॥ ४६७, ४६८ [ध्रण, बण] शब्दे । यहां ध्रण धातु उपदेश में नान्त है पीछे रेफ से परे णत्व हो जाता है[1] । ध्रणति, बणति, बबाण, बेणतु ॥ ४६९ [कनी] दीप्तिकान्तिगतिषु = प्रकाश, इच्छा और गति । कनति, चकान, चकनतु कनिता, कनिष्यति, कानिषति, कानिषाति, कनतु अकनत्, कनेत्, कन्यात्, अकानीत्, अकनीत्, अकनिष्यत् ॥ ४७०, ४७१ [ष्टन वन] शब्दे । स्तनति, तस्तान, तस्तनतु, स्तनिता, स्तनिष्यति,

---

१ नकारोपदेश का फल—यङ्लुक के 'दन्ध्रन्ति' आदि प्रयोग में अभ्यास उत्तर भाग 'ध्रण' के णकार को असिद्ध होकर नकार मानकर 'नश्चापदान्तस्य झलि' (सन्धि० १९२) से अनुस्वार होके 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (सन्धि० १९७) से परसवर्ण होकर नकार का श्रवण होता है । इस नकार को रफ के संयोग में णकार नहीं होता, क्योंकि णत्वविधायक 'रषाभ्यां नो ण ०' (अ० ८७०) सूत्र के प्रति परसवर्ण नकारविधायक सूत्र असिद्ध है अर्थात् 'रषाभ्यां' सूत्र की दृष्टि में यहां नकार नहीं है, अनुस्वार है ।

स्तानिषति, स्तानिषाति, स्तनतु, अस्तनत्, स्तनेत्, स्तन्यात्, अस्तानीत्, अस्तनीत्, अस्तनिष्यत्; वनति ॥ [वन, ४७२ षण] सम्भक्तौ=भक्ति। वन धातु का दूसरा अर्थ होने से फिर पढ़ा है। सनति, ससान, सेनतुः, सेनुः। यह बात सब धातुओं में समझना चाहिये कि जहां लिट् लकार को मान कर अभ्यास को कुछ आदेश होता है वहीं (१२५) सूत्र से 'अनादेशादि' निषेध लगता है कि जैसे—बभणतुः, बभणुः। और जहां धातु के आदि षकार को स और णकार को न हो जाता है वहां निषेध नहीं लगता, इसीसे 'सेनतुः, सेनुः' यहाँ एत्वाभ्यासलोप (१२५) से होता है। सनिता, सनिष्यति, सानिषति, सानिषाति, सनतु, असनत्, सनेत्।

१८५—ये विभाषा ॥ ६ । ४ । ४३ ॥

यकारादि कित् ङित् प्रत्यय परे हों तो जन, सन और खन धातुओं को आकार आदेश विकल्प करके हो। अलोन्त्य परिभाषा के आश्रय से अन्त्य अल् नकार के स्थान में होता है। (८५) से यासुट् होता है। सन्+यासुट्+सुट्+तिप्=सायात्, सन्यात्, असानीत्, असनीत्, असनिष्यत् ॥ ४७३ [अम] गत्यादिषु। गति आदि (गति, शब्द और सम्भक्ति) अर्थों में अम धातु है। अमति, आम, आमतु, आमु, अमिता, अमिष्यति, आमिषति, आमिषाति, अमतु, आमत्, अमेत्, अम्यात्, आमीत्, आमिष्यत् ॥ ४७४—४७६ [द्रम हम्म, मीमृ] गतौ। द्रमति, दद्राम; हम्मति, जहम्म; मीमति, मिमीम। द्रम धातु मकारान्त अकारोपध है। इस में विकल्प से वृद्धि (१४४) से प्राप्त है सो (१६२) सूत्र से नहीं होती। अद्रमीत्, अद्रमिष्यत् ॥ [मीमृ] शब्दे च। यहां चकार, गति और शब्द दोनों अर्थ का बोध होने के लिये है ॥ ४७७—४८० [चमु, छमु, जमु, झमु] अदने=खाना।

१८६—ष्ठिवुक्लमुचमां शिति ॥ ७ । ३ । ७५ ॥

ष्ठिवु, क्लमु और चमु धातुओं के अच् को दीर्घ आदेश हो शित् प्रत्यय परे हो तो। इस सूत्र से इन धातुओं को सामान्य कर के दीर्घ प्राप्त है।

१८७—वा०—दीर्घत्वमाङि चम इति वक्तव्यम् ॥ ७ । ३ । ७५ ॥

आङ्पूर्वक ही चम धातु का दीर्घ हो, सर्वत्र नहीं। आचामति, आचामतः आचामन्ति। आङ् का नियम इसलिये किया है कि—'चमति, विचमति' यहां दीर्घ न हो। चचाम, चेमतु, चेमुः, आचचाम, आचेमतुः, आचेमुः, चमिता, चमिष्यति, चामिषति, चामिषाति, चमतु, आचामतु, अचमत्, आचामत्, चमेत्, आचामेत्, चम्यात्, आचमीत् (१६२), आचमिष्यत्, क्लमति, चक्लाम, चक्लमतु, अक्लमीत्, जमति, जजाम, जेमतुः, जेमुः, जमिता, जमिष्यति, जामिषति, जामिषाति, जमतु, अजमत्, जमेत्, जम्यात्, अजमीत्; झमति, जझाम, जझमतु। [जिमु] इत्येके। जेमति जिजेम,। ४८१ [क्रमु] पादविक्षेपे = पग फेंकना।

१८८—वा—भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः ॥ ३ । १ । ७० ॥

भ्राश, भ्लाश, भ्रमु, क्रमु, क्लमु, त्रसि, त्रुटि और लष धातुओं से विकल्प करके श्यन् प्रत्यय हो कर्तावाची सार्वधातुक परे हो तो, और पक्ष में शप् हो जाता है। इस सूत्र में प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। क्योंकि इन में जो धातु दिवादिगण के हैं उनसे तो श्यन् प्रत्यय नित्य हो प्राप्त है और अन्य गणों के धातुओं से अप्राप्त है और श्यन् प्रत्यय तथा अन्य सब विकरण प्रत्यय (स्य, तास्, सिप्) आदि शप् प्रत्यय के अपवाद हैं।

१८९—क्रमः परस्मैपदेषु ॥ ७ । ३ । ७६ ॥

परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय परे हों [जिस शित् प्रत्यय के, उसके परे रहने पर] क्रम धातु के अच् को दीर्घ होवे । क्रम्+श्यन्+तिप्= क्राम्यति, क्रम+शप्+तिप्=क्रामति । और परस्मैपद का ग्रहण इसलिये है कि 'आक्रमत आदित्यः' यहां आत्मनेपद में दीर्घ न होवे । चक्राम, चक्रमतुः, चक्रमुः, क्रमिता, क्रमिष्यति क्रामिपति, क्रामिपाति, क्राम्यतु, क्रामतु, अक्राम्यत्, अक्रामत्, क्रामत्, क्राम्येत्, क्रम्यात्, अक्रमीत्, अक्रमिष्यत् ॥ इत्यणादय उदात्ता उदात्तेतस्त्रिंशत् परस्मैभाषाः समाप्ता । ये ३० (तीस) धातु परस्मैपदी समाप्त हुए ॥

अथ यवर्गीयान्ता द्वात्रिंशदधिकं शतम् । [तत्रायादयः षट्त्रिंशदात्मनेपदिन ।] अब एकसौ बत्तीस (१३२) धातु यवर्गीयान्त कहते हैं [इनमें अय आदि ३६ छत्तीस आत्मनेपदी हैं] । ४८२—४८८ [अय, वय, पय, मय, चय, तय, णय,] गतौ । अय्+शप्+त=अयते ।

१९०—दयायासश्च ॥ ३ । १ । ३७ ॥

दय, अय और आस धातुओं से आम् प्रत्यय ■ लिट् लकार परे हो तो । अय्+आम्+कृ+कृ+एश्=अयाञ्चक्रे, अयाञ्चक्राते, अयाञ्चक्रिरे, अयितासे, अयिष्यते, आयिपते, आयिपाते, अयताम्, आयत, अयेत, अयिपीष्ट, अयिपीयास्ताम्, अयिपीरन्, अयिपीष्ठाः, अयिपीयास्थाम् । अय्+इट्+सीध्वम्—

१९१—विभाषेटः ॥ ८ । ३ । ७९ ॥

इण् से परे जो इट् उससे परे जो सीध्वं, लुङ् और लिट् का धकार उसको मूर्धन्य आदेश विकल्प करके होजावे । धकार

के स्थान में अन्तरतम आदेश ढकार हो जाता है। अयिपीढ्वम्, अयिपीध्वम्, अयिपीय, अयिपीवहि, अयिपीमहि, आयिष्ट, आयिषाताम् आयिषत, आयिष्ठाः, आयिषाथाम्, आयिढ्वम्, आयिध्वम्, आयिषि, आयिष्वहि, आयिष्महि, आयिष्यत।

१६२—उपसर्गस्यायतौ ॥ ८। २। १६ ॥

अय धातु के परे पूर्व जो उपसर्ग उसके रेफ को लकार आदेश हो। जैसे—प्र+अयते=प्लायते, पलायते, पलायाञ्चक्रे। निस् और दुस् उपसर्गों के सकार को रुत्व त्रिपादी में होता है उसको असिद्ध मानने से 'निरयते, दुरयते' प्रयोग होते हैं [अर्थात् लत्व नहीं होता]। और जहां निर्, दुर् उपसर्ग हों वहां 'निलयते, दुलयते' रूप बनते हैं। वयते, ववये, (१२९), वयिता, वयिष्यते, वायिषतै, वायिषातै, वयताम्, अवयत, वयेत, वयिषीष्ट, वयिषीढ्वम्, वयिषीध्वम्, अवयिढ्वम्, अवयिध्वम्, अवयिष्यत। पयते, पेये, पेयाते, पेयिरे, पयिषीढ्वम्, पयिषीध्वम्, अपयिढ्वम्, अपयिध्वम्। इसी प्रकार मय आदि के जानो। [णय] रक्षणे च। णय धातु के गति और रक्षा दोनों अर्थ हैं। नयते, नेये, नयिता, नायिषतै, नायिषातै, नयताम्, अनयत, नयेत, नयिषीष्ट, नयिषीढ्वम्, नयिषीध्वम्, अनयिढ्वम्, अनयिध्वम्, अनयिष्यत॥ ४८९ [दय] दानगतिरक्षणहिंसादानेषु=देना, गति, रक्षा, मारना और लेना। दयते, दयाञ्चक्रे (१९०), दयिता, दयिष्यते ॥ ४९० [रय] गतौ। रयते, रेये॥ ४९१ [ऊयी] तन्तुसन्ताने=सूत का फैलाना। ऊयते, ऊयाञ्चक्रे॥ ४९२ [पूयी] विशरणे दुर्गन्धे च=मारना और दुर्गन्ध करना। पूयते, पुपूये, पूयिता॥ ४९३ [क्नूयी] शब्दे उन्दे च=शब्द और गीलापन। क्नूयते, चुक्नूये॥ ४९४ [क्ष्मायी] विधूनने=कम्पाना। क्ष्मायते।

चक्माये ॥ ४६५, ४९६ [स्फायी, ओप्यायी] वृद्धौ = बढ़ना। स्फायते, पस्फाये। ऊयी आदि धातुओं में दीर्घ ईकार इत् जाता है और प्यायी धातु में ओकार और ईकार दोनों की इत्संज्ञा होती है। प्यायते।

१९३—लिड्यङोश्च ॥ ६ । १ । २९ ॥

लिट् लकार और यङ् प्रत्यय परे हो तो प्यायी धातु को पी आदेश हो। "प्याय + लिट्" इस अवस्था में प्रथम द्विर्वचन प्राप्त है, उसको बाधकर पी आदेश हो जाता है। पीछे इस[1] की प्राप्ति बनी रहने से[2] द्वित्व होता है। पी + पी + एश् = पिप्ये (१५६) से यणादेश होता है। पिप्याते, पिप्यिरे, पिप्यिषे, प्यायिता, प्यायिष्यते, प्यायिषते, प्यायिषातै, प्यायताम्, अप्यायत, प्यायेत, प्यायिषीष्ट, प्यायिषीढ्वम्, प्यायिषीध्वम् (१९१)।

१९४—दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् ॥ ३ । १ । ६१ ॥

दीपी, जनी, बुध, ताय् और प्यायी धातुओं से परे जो च्लि प्रत्यय उस के स्थान में विकल्प कर के चिण् आदेश होवे, त शब्द परे हो तो। यहां प्यायी धातु से परे होता है, अन्य धातु आगे आवेंगे। अट् + प्याय् + चिण् + त, इस अवस्था में—

१९५—चिणो लुक् ॥ ६ । ४ । १०४ ॥

चिण् से परे जो प्रत्यय उसका लुक् हो। यहां चिण् से परे 'त' का लुक् होता है। अट् + प्याय + चिण् = अप्यायि।

---

१. अर्थात् द्विर्वचन की।

२. पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम् (परि० ३९) इस परिभाषा के नियम से।

यहां (च् ण्) की इत्संज्ञा और लोप होजाता है। और जिस पक्ष में च्लि के स्थान में चिण् नहीं होता वहां—अप्यायिष्ट, अप्यायिषाताम्, अप्यायिषत, अप्यायिष्ठाः, अप्यायिषाथाम्, अप्यायिढ्वम्, अप्यायिध्वम् (१९१), अप्यायिषि, अप्यायिष्वहि, अप्यायिष्महि, अप्यायिष्यत॥ ४९७ [तायृ] सन्तानपालनयोः = अपत्य और रक्षा। तायते, तायेते, तायन्ते, तताये, ततायिध्वे, ततायिढ्वे, तताये, ततायावहे, ततायामहे, तायितासे, तायिष्यते, तायिषते, तायिषातै, तायताम्, अतायत, तायेत, तायिषीष्ट, अतायिष्ट, अतायिष्यत॥ ४९८ [शल] चलनसंवरणयोः = चलना और ढाकना। शलते, शेले, शेलाते, शेलिरे, शलितासे, शलिष्यते, शालिषतै, शालिषातै, शलताम्, अशलत, शलेत, शलिषीष्ट, शलिषीढ्वम्, शलिषीध्वम्, अशलिष्ट, अशलिढ्वम्, अशलिध्वम्, अशलिष्यत॥ ४९९, ५०० [वल, वल्ल] संचरणे, संचरणे च = संवरण और सम्यक् विचरना। वलते, वल्लते, ववले (१२९), ववल्ले, वलिता वलिष्यते, वालिषतै, वालिषातै, वलताम्, अवलत, वलेत, वलिषीष्ट, अवलिष्ट, अवलिष्यत॥ ५०१, ५०२ [मल, मल्ल] धारणे = पदार्थों का धारण करना। मलते, मल्लते, मेले, मेलाते, मेलिरे, ममल्ले, मलिता, मलिष्यते, मालिषतै, मालिषातै, मलताम्, अमलत, मलेत, मलिषीष्ट, अमलिष्यत॥ ५०३, ५०४ [भल, भल्ल] परिभाषणहिंसादानेषु = बहुत बोलना, मारना और देना। भलते, भल्लते, बभले, बभल्ले, भलितासे, भलिष्यते, भालिषतै, भालिषातै, भलताम्, अभलत, भलेत, भलिषीष्ट, अभलिष्ट, अभलिष्यत॥ ५०५ [कल] शब्दसंख्यानयोः = शब्द और गणना। कलते, चकले, चकलिढ्वे, चकलिध्वे, कलितासे, कलिष्यते, कालिषतै, कालिषातै, कल-

त्ताम्, अकलत, कलेत, कलिषीष्ट, कलिषीढ्वम्, कलिषीध्वम्, अकलिष्ट, अकलिढ्वम्, अकलिध्वम्, अकलिष्यत ॥ ५०६ [कल्ल] अव्यक्ते शब्दे = अप्रकट बोलना । कल्लते, चकल्ले ॥ ५०७, ५०८ [तेवृ, देवृ] देवने = खेलना । तेवते, देवते, तितेवे, दिदेवे, तितेविढ्वे (१९१) तितेविध्वे, तेविता से, तेविष्यते, तेविषते, तेविषाते, तेवताम्, अतेवत, तेवेत, तेविषीष्ट, तेविषीढ्वम्, तेविषीध्वम्, अतेविष्ट, अतेविढ्वम्, अतेविध्वम् ॥ ५०९—५१४ [षेवृ, गेवृ, ग्लेवृ, पेवृ, मेवृ, म्लेवृ] सेवने = सेवन । सेवते, सिषेवे, गेवते, जिगेवे, ग्लेवते, जिग्लेवे, पेवते, पिपेवे, मेवते, मिमेवे, म्लेवते, मिम्लेवे ॥ ५१५—५१७ [शेवृ, खेवृ, केवृ] इत्यप्येके । शेवते, शिशेवे, खेवते, चिखेवे, केवते, चिकेवे ॥ ५१८ [रेवृ] प्लवगतौ = शीघ्र चलना[1] । रेवते, रिरेवे, रेविता से, रेविष्यते, रेविषते, रेविषाते, रेवताम्, अरेवत, रेवेत, रेविषीष्ट, अरेविष्ट, अरेविष्यत ॥ इत्ययादय उदात्ता अनुदात्तेत आत्मनेभाषाः सतत्रिंशद् समाप्ताः । ये अय आदि ३६ धातु समाप्त हुए ॥

अथ [मव्यादयः] परस्मैपदिनः पञ्चनवतिः । अब यवर्गान्तों में [मव्यादि] ९५ (पिच्यानवे) धातु परस्मैपदी कहते हैं । ५१९ [मव्य] बन्धने = बांधना । मव्यति, ममव्य, ममव्यतुः, मव्यिता, मव्यिष्यति, मव्यिषति, मव्यिषाति, मव्यतु, अमव्यत्, मव्येत्, मव्यात्, अमव्यीत्, अमव्यिष्यत् ॥ ५२०—५२२ [सूर्क्ष्य, ईर्क्ष्य, ईर्ष्य] ईर्ष्यार्थाः = ईर्षा । सूर्क्ष्यति, ईर्क्ष्यति, ईर्ष्यति, ईर्क्ष्याञ्चकार, ईर्ष्याञ्चकार, ईर्ष्याम्बभूव, ईर्ष्यामास, ईर्ष्यिता, ईर्ष्यिष्यति, ईर्ष्यिषति, ईर्ष्यिषाति, ईर्ष्यतु, ऐर्ष्यत्, ईर्ष्येत्, ईर्ष्यात्, ऐर्ष्यीत्,

---

[1] इस का अर्थ कूदना भी होता है ।

जाता है। फलिता, फलिष्यति, फालिषति, फालिषाति, फलतु, अफलत्, फलेत्, फल्यात्, अफालीत् (१९६), अफलिष्यत्॥ ५२९—५३२ [मील, श्मील, स्मील, क्ष्मील] निमेषणे = नेत्रों को शीघ्र खोलना मींचना। मीलति, मिमील, मीलिता, मीलिष्यति, मीलिषति, मीलिषाति, मीलतु, अमीलत्, मीलेत्, मील्यात्, अमीलीत्, अमीलिष्यत्; श्मीलति, शिश्मील, स्मीलति, सिस्मील, क्ष्मीलति, चिक्ष्मील॥ ५३३ [पील] प्रतिष्टम्भे = रोकना। पीलति, पिपील॥ ५३४ [नील] वर्णे = नीला रंग। नीलति, निनील॥ ५३५ [शील] समाधौ = निरन्तर योगाभ्यास करना। शीलति, शिशील॥ ५३६ [कील] बन्धने = बांधना। कीलति, चिकील॥ ५३७ [कूल] आवरणे = ढाकना। कूलति, चुकूल, कूलिता, कूलिष्यति, कूलिषति, कूलिषाति, कूलतु, अकूलत्, कूलेत्, कूल्यात्, अकूलीत्, अकूलिष्यत्॥ ५३८ [शूल] रुजायां सङ्घाते च = पीड़ा और समूह। शूलति॥ ५३९ [तूल] निष्कर्षे = बाहर निकालना। तूलति, तुतूल॥ ५४० [पूल] सङ्घाते = पूलति, पुपूल॥ ५४१ [मूल] प्रतिष्ठायाम्। मूलति॥ ५४२ [फल] निष्पत्तौ = सिद्ध होना। फलति, पफाल, फेलतु, फेलु: (१६४), अफालीत् (१९६)॥ ५४३ [चुल्ल] भावकरणे = अभिप्राय जानना। चुल्लति, चुचुल्ल॥ ५४४ [फुल्ल] विकसने = फूलना। फुल्लति, पुफुल्ल॥ ५४५ [चिल्ल] शैथिल्ये भावकरणे च = शिथिलता और अभिप्राय जानना। चिल्लति, चिचिल्ल, चिल्लिता, चिल्लिष्यति, चिल्लिषति, चिल्लिषाति, चिल्लतु, अचिल्लत्, चिल्लेत्, चिल्ल्यात्, अचिल्लीत्, अचिल्लिष्यत्॥ ५४६ [तिल] गतौ। तेलति, तितेल, तितिलतु, तेलिता, तेलिष्यति, तेलिषति, तेलिषाति, तेलतु, अतेलत्, तेलेत्, तिल्यात्, अतेलीत्, अतेलिष्यत्॥ [तिल्ल] इत्यन्ये। तिल्लति॥ ५४७—५५२ [वेलृ, चेलृ, केलृ, खेलृ,

दवेलृ, वेल्ल] चलने = चलना। वेलति, विवेल, विवेलतु', वेलिता, वेलिष्यति, वेलिषति, वेलिषाति, वेलतु, अवेलत्, वेलेत्, वेल्यात्, अवेलीत्, अवेलिष्यत्; चेलति, चिचेल; केलति, चिकेल; खेलति, चिखेल; क्ष्वेलति; चिक्ष्वेल; वेल्लति, विवेल्ल॥ ५५३—५५६ [पेलृ, फेलृ, खलृ, शेलृ, पलृ,] गतौ। खेलृ धातु दूसरी बार अर्थ भिन्न होने से पढ़ा है। पेलति, पिपेल; फेलति, पिफेल; शेलति, शिशेल; सेलति, सिपेल॥ ५५७ [स्खल] सञ्चलने = चलायमान होना। स्खलति, चस्खाल, (१२५), स्खलिता, स्खलिष्यति, स्खालिषति, स्खालिषाति, स्खलतु अस्खलत्, स्खलेत्, स्खल्यात्, अस्खालीत् (१९६), अस्खलिष्यत्॥ ५५८ [खल] सञ्चये। खलति, चखाल, अखालीत्॥ ५५९ [गल] अदने = खाना। गलति, जगाल, अगालीत्॥ ५६० [षल] गतौ। सलति, ससाल, सेलतुः, सेलु', असालीत्॥ ५६१ [दल] विशरणे = मारना। दलति, ददाल देलतु', दलिता, दलिष्यति दालिषति, दालिषाति, दलतु, अदलत्, दलेत्, दल्यात्, अदालीत्, अदलिष्यत्॥ ५६२, ५६३ [श्वल, श्वल्ल] आशुगमने = शीघ्र चलना। श्वलति, शश्वाल, अश्वालीत्; श्वल्लति, शश्वल्ल॥ ५६४, ५६५ [खोलृ, खोर्ऋ] गतिप्रतिघाते = चलने से रुक जाना। खोलति, चुखोल; खोरति, चुखोर; अखोलीत्, अखोरीत्॥ ५६६ [धोर्ऋ] गतिचातुर्ये = चतुराई से चलना। धोरति, दुधोर, अधोरीत्॥ ५६७ [त्सर] छद्मगतौ = टेढ़ा चलना। त्सरति, तत्सार, तत्सरतु', त्सरिता, त्सरिष्यति, त्सारिषति, त्सारिषाति, त्सरतु, अत्सरत्, त्सरेत्, त्सर्यात्, अत्सारीत् (१९६), अत्सरिष्यत्॥ ५६८ [क्मर] हूर्च्छने = कुटिलता। क्मरति, चक्मार, चक्मरतु', अक्मारीत्॥ ५६९–५७२ [अभ्र, वभ्र, मभ्र, चर,] गत्यर्थाः। अभ्रति, वभ्रति, मभ्रति, चरति, आचरति,

प्रचरति, विचरति; आनध, यहां अभ्यास को दीर्घ (११२) और उस से परे द्विहल् धातु को नुट् का आगम (१४७) इत्यादि सूत्रों से होता है। ववध, आश्नीत्, अवश्नीत्, अमश्नीत्, यहां अकार के समीप रेफ के न होने से (११६) सूत्र से वृद्धि नहीं होती। चचार, चेरतुः, चरिता, चरिष्यति, चारयति, चारयाति, चरतु, अचरत्, चरेत्, चर्यात्, अचारीत् (१९६), अचरिष्यत् ॥ [चर] भक्षणे च। चर धातु का यह दूसरा अर्थ होने से पुनः पढ़ा है ॥ ५७३ [ष्ठिवु] निरसने = थूकना। इस धातु के आदि षकार को (१५२) वार्तिक से सकार नहीं होता, और (१८६) सूत्र से इकार को दीर्घ होकर—ष्ठीवति, तिष्ठेव, तिष्ठिवतुः, तिष्ठिवुः। और इस धातु का दूसरा वर्ण किन्हीं आचार्यों के मत में ठकार ही है अर्थात् जब ठकार है तो षोपदेश नहीं और जब थकार है तब षोपदेश है। ठकार पक्ष में—टिष्ठेव, टिष्ठिवतुः, टिष्ठिवुः, टिष्ठेविथ, टिष्ठिवथुः, टिष्ठिव, टिष्ठेव, टिष्ठिविव, टिष्ठिविम इत्यादि प्रयोग अभ्यास ही में विशेष होंगे। ष्ठेविता, ष्ठेविष्यति, ष्ठेवियति, ष्ठेवियाति, ष्ठीवति, ष्ठीवाति, ष्ठीवतु, अष्ठीवत्, ष्ठीवेत्।

१९७—हलि च ॥ ८। २। ७७ ॥

हल् प्रत्याहार में कोई वर्ण परे हो तो रेफान्त और वकारान्त धातु की उपधा का जो इक् उस को दीर्घ आदेश होवे। ष्ठिव्+यासुट्+सुट्+तिप् = ष्ठीव्यात्। यहां यासुट् का यकार हल् प्रत्याहार में है। अष्ठेवीत्, अष्ठेविष्टाम्, अष्ठेविष्यत् ॥ ५७४ [जि] जये[1] = उत्कर्ष को प्राप्त होना। यह धातु अनिट् और

1 ठकार धातु की समानता के कारण अजन्त को भी इसी प्रकरण में पढ़ा है यह मैत्रेय का मत है। अन्य वैयाकरणों का कहना है कि इसे अजन्त प्रकरण में ही पढ़ना चाहिये।

अकर्मक है. क्योंकि इवर्णान्तों में जो सेट् पढ़े हैं उनमें इसका पाठ नहीं, और इस धातु का स्वार्थ कता से भिन्न अन्य किसी में नहीं घटता, इस कारण अकर्मक है। जि+शप्+तिप्=जयति, (२१) सूत्र से गुण और (२२) से अय् आदेश होता है। जयतः, जयन्ति।

१६८—सन्लिटोर्जेः ॥ ७ । ३ । ५७ ॥

सन् और लिट् प्रत्यय परे हों तो जि धातु के अभ्यास से परे उत्तर भाग को कवर्गादेश हो। जि-णल्। इस अवस्था में प्रथम (६१) सूत्र से वृद्धि होकर द्वित्व होता है। जै+जै+णल्=जिगाय, यहां परभाग के जकार को गकार हो जाता है। जिग्यतु', जिग्युः (१५६) सूत्र से यणादेश होता है। जिगेथ, (१५७) सूत्र से थल् में इट् का निषेध और—जिगयिथ (१४९) सूत्र से भारद्वाज के मत में ऋकारान्तों के निषेध का नियम होने से इडागम हो जाता है। जिग्यथु', जिग्य, जिगाय (१४३) जिगय, जिग्यिव, जिग्यिम। 'लुट्'—जेता, जेतारौ, जेतारः, जेतासि, जेतास्थ', जेतास्थ, जेतास्मि, जेतास्वः, जेतास्मः। 'लृट्'—जेष्यति, जेष्यतः; जेष्यन्ति, जेष्यसि जेष्यथ', जेष्यथ, जेष्यामि, जेष्यावः, जेष्यामः। 'लेट्'—जैषति, जैषाति, जैषत्, जैषात्, जैषद्, जैषाद्, जेषति, जेषाति, जेषत्, जेषात्, जेषद्, जेषाद्, जयति, जयाति, जयत्, जयात्, जयद्, जयाद्, इत्यादि। इसी प्रकार तस् आदि में जानो। ['लोट्'—] जयतु, जयतात्, जयताम्, जयन्तु, जय, जयतात्, जयतम्, जयत, जयानि जयाव, जयाम। ['लङ्'—] अजयत्, अजयताम्, अजयन्, अजय', अजयतम् अजयत, अजयम्, अजयाव, अजयाम। ['लिङ्'—] जयेत्, जयेताम्, जयेयुः, जये', जयेतम्, जयेत्, जयेयम्,

जयेव, जयेम। ['आशीर्लिङ्'—] (१६०) सूत्र से दीर्घ होकर—जीयात्, जीयास्ताम्, जीयासुः, जीयाः, जीयास्तम्, जीयास्त, जीयासम्, जीयास्व, जीयास्म। ['लुङ्'—] अट्+जि+सिच्+तिप् = अजैषीत् (१५८) सूत्र से इकार को वृद्धि हो जाती है, अजैष्टाम्, अजैषुः, अजैषीः, अजैष्टम्, अजैष्ट, अजैषम्, अजैष्व, अजैष्म। ['लृङ्'—] अजेष्यत्, अजेष्यताम्, अजेष्यन्।

५७५ [जीव] प्राणधारणे = प्राणों का धारण करना। जीवति, जिजीव, जीविता, जीविष्यति, जीवेयति, जीविषाति, जीवतु, अजीवत्, जीवेत्, जीव्यात्, अजीवीत्, अजीविष्यत्। जीव धातु के गुरूपध होने से (५२) सूत्र से गुण नहीं होता॥

५७६—५७९ [पीव, मीव, तीव, णीव] स्थौल्ये = मोटापन। पीवति, मीवति, तीवति, नीवति॥ ५८०, ५८१ [क्षिवु,[1] क्षेवु] निरसने = फेंकना। क्षेवति, चिक्षेव, चिक्षिवतुः, चिक्षिवुः, क्षेविता, क्षेविष्यति, क्षेविषति, क्षेविषाति, क्षेवतु, अक्षेवत्, क्षेवेत्, क्षीव्यात्, (१९७) सूत्र से वकार की उपधा को दीर्घ होता है। अक्षेवीत्, अक्षेविष्यत्॥ ५८२—५८६ [उर्वी, तुर्वी, थुर्वी, दुर्वी, धुर्वी] हिंसार्थाः। (१३१) सूत्र से रेफ की उपधा उकारों को दीर्घ आदेश हो जाता है। ऊर्वति, ऊर्वाञ्चकार, ऊर्वाञ्चक्रतुः, ऊर्वाञ्चक्रुः, ऊर्वाञ्चकर्थ, ऊर्वाम्बभूव, ऊर्वामास, ऊर्विता, ऊर्विष्यति, ऊर्विषति, ऊर्विषाति, ऊर्वतु, और्वत्, ऊर्वेत्, ऊर्व्यात्, और्वीत्, और्विष्यत्; तूर्वति, तुतूर्व; थूर्वति, तुथूर्व; दूर्वति, दुदूर्व; धूर्वति, दुधूर्व॥ ५८७ [गुर्वी] उद्यमने = उद्यम। गूर्वति,

[1] सायण, क्षीरस्वामी और भट्टोजि दीर्घोपध 'क्षीवु' धातु मानते हैं, केवल मैत्रेय ह्रस्वोपध मानता है। दीर्घोपध पक्ष में—"क्षीवति, चिक्षीव, क्षीविता क्षीविष्यति, क्षीविषति, क्षीविषाति, क्षीवतु, अक्षीवत्, क्षीवेत्, क्षीव्यात्, अक्षीवीत्, अक्षीविष्यत्" प्रयोग बनते हैं।

जुगूर्वे ॥ ५८८ [मुर्वी] बन्धने=बांधना । मूर्वति, मुमूर्व, ॥ ५८९—५९१ [पुर्व, पर्व, मर्व] पूरणे=पूरा करना । पूर्वति, पुपूर्व; पर्वति, पपर्व, पर्विता, पर्विष्यति, पर्विषति, पर्विषाति, पर्वतु, अपर्वत्, पर्वेत्, अपर्वीत्, अपर्विष्यत्; [मर्वति, ममर्व] ॥ ५९२ [चर्व] अदने=खाना । चर्वति, चचर्व ॥ ५९३ [भर्व] हिंसायाम् । भर्वति, बभर्व ॥ ५९४—५९६ [कर्व, खर्व, गर्व] दर्पे=अहंकार करना । कर्वति, चकर्व; खर्वति, चखर्व; गर्वति, जगर्व ॥ ५९७—५९९ [अर्व, शर्व, षर्व] हिंसायाम् । अर्वति, आनर्व, आनर्वतुः; शर्वति, सर्वति ॥ ६०० [इवि] व्याप्तौ= व्याप्त होना । इन्वति । इस धातु में नुम् के नकार को परसवर्ण की प्राप्ति न होने से वकार में मिल जाता है । इन्वाञ्चकार, इन्वाम्बभूव, इन्वामास, इन्विता, इन्विष्यति, इन्विषति, इन्विषाति, इन्वतु, ऐन्वत्, इन्वेत्, इन्व्यात्, ऐन्वीत्, ऐन्विष्यत् ॥ ६०१—६०३ [पिवि, मिवि, णिवि] सेचने सेवने च=सेवन करना और सींचना । पिन्वति, पिपिन्व; मिन्वति, मिमिन्व; निन्वति, निनिन्व ॥ ६०४,६०७ [हिवि, दिवि, धिवि, जिवि] प्रीणनार्थाः=तृप्ति होना । हिन्वति, जिहिन्व; दिन्वति, दिदिन्व, दिन्विता, दिन्विष्यति, दिन्विषति, दिन्विषाति, दिन्वतु, अदिन्वत्, दिन्वेत्, दिन्व्यात्, अदिन्वीत्, अदिन्विष्यत् ।

१६६–धिन्विकृण्व्योर च[1] ॥ ३ । १ । ८० ॥

कर्त्तावाची सार्वधातुक प्रत्यय परे हों तो धिन्वि और कृण्वि धातु से उ प्रत्यय और इन धातुओं को अकार आदेश हो जावे ।

---

१. इस सूत्र पर अर्वाचीन वैयाकरण कहते हैं कि इस सूत्र में वकार का लोपमात्र करदेने से कार्य चल सकता था, क्योंकि वकारलोप करने पर गुण का निषेध 'न धातुलोप आर्धधातुके' (अ० ५५१)

अकार आदेश सामान्य विधान होने से अलोन्त्यपरिभाषा के बल से अन्त्य अल् वकार के स्थान में होता है, और यह उप्रत्यय शप्

सूत्र से हो ही जाता, पुन अकार का विधान करके उसका लोप और स्थानिवद्भाव के द्वारा गुणनिषेध करना इस बात का ज्ञापक है कि वार्तिककार द्वारा भावी में होने वाला 'न धातुलोप०' का प्रत्याख्यान सूत्रकार पाणिनि को भी ज्ञात और अभीष्ट था, अत एव इसी ज्ञापक के आधार पर अर्वाचीन वैयाकरण 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' (पाणिनि की अपेक्षा कात्यायन और उसकी अपेक्षा पतञ्जलि अधिक प्रामाणिक है) ऐसा स्वकल्पित परिभाषारूप वचन पढ़ते हैं । परन्तु यह सब प्रलापमात्र है । 'न धातुलोप' सूत्र से गुण का निषेध वहीं होता है जहां आर्धधातुक को मानकर धातु का लोप हुआ हो, परन्तु यहां आर्ध-धातुक प्रत्यय 'उ' की उत्पत्तिकाल में ही वलोप का विधान होगा । एक काल में उत्पन्न हुए दो साधियों में निमित्तनिमित्ती भाव की कल्पना नहीं होती । यदि कहा जाय कि उप्रत्यय की उत्पत्ति के अनन्तर वलोप का विधान करेंगे, तो ऐसा करने पर पुनः 'छ्विविकृण्व्योः' का ग्रहण करना होगा और वह बहुत गौरवास्पद होगा ।

इस विषय में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि महाभाष्यकार पतञ्जलि पाणिनि के जिन सूत्रों वा सूत्रांशों का प्रत्याख्यान करते हैं वहां पाणिनि का खण्डन अर्थात् दोषदर्शन कराना इष्ट नहीं है अपितु प्रकारान्तर से प्रयोगसिद्धि दर्शाना ही अभीष्ट है । अन्यथा—"सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन्, पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात् ।" महा० १ । १ । [illegible] ॥ अर्थात्—सूत्रों के पारस्परिक सम्बन्ध रूपी सामर्थ्य से मैं इस शास्त्र में कुछ भी अनर्थक नहीं देखता इत्यादि महाभाष्यकार का वचन असङ्गत प्रयुक्त होगा । महाभाष्यकारप्रदर्शित प्रकारान्तर से दर्शाई शब्दसिद्धि से उत्तरकालीन चन्द्रादि वैयाकरणों ने अत्यन्त लाभ उठाया है । यह उनके ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है ।

का अपवाद है। उ प्रत्यय की तिङ् और शित् से भिन्न होने के कारण (५०) सूत्र से आर्धधातुक संज्ञा होती है। 'धि-न्-अ-उ' (१७२) सूत्र से अकार का लोप होकर–'धिन्+उ+तिप्' इस अवस्था में 'उ' आर्धधातुक प्रत्यय को मानकर धि के इकार को (५२) सूत्र से गुण प्राप्त है, सो 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ'[1] इस परिभाषा सूत्र से अकारलोप के स्थानिवत् होने से गुण नहीं होता। फिर उ प्रत्यय को (२१) सूत्र से गुण होकर—धिन्+उ+तिप्=धिनोति, धिन्+उ+तस्=धिनुतः। यहां (९९) सूत्र से तस् की ङित् संज्ञा होकर (३४) से गुण का निषेध होता है। धिन्वन्ति, धिनोषि, धिनुथः, धिनुथ, धिनोमि।

२००–लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः ॥ ६।४।१०७॥

संयोग जिसके पूर्व न हो ऐसा जो प्रत्यय का उकार उसका विकल्प करके लोप हो व और म परे हों तो। धिनु+वस्=धिन्वः, धिन्मः, धिनुवः, धिनुमः, दिधिन्व, दिधिन्वतुः, धिन्विता, धिन्विष्यति, धिन्वियति, धिन्विपाति, धिनवति, धिनवाति, । यहां (२१) सूत्र से गुण होकर ओकार को अट् आट् निमित्त अव् आदेश होता है। धिनोतु, धिनुतात्, धिनुताम्, धिन्वन्तु।

२०१–उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ॥ ६।४।१०६।

सयुक्त अक्षर जिसके पूर्व न हो ऐसा जो प्रत्यय का उकार तदन्त अङ्ग से परे जो हि उसका लुक् होवे। धिनु+हि=धिनु, धिनुतात्, धिनुतम्, धिनुत, धिनु+मिप्=धिनवानि। यहां (७३) सूत्र से (नि) आदेश, और (७४) सूत्र से आट् का आगम पित् होकर वस् मस् में भी गुण होजाता है—धिनवाव, धिनवाम;

---

१ सन्धि॰ ९१।

अधिनोत्, अधिनुताम् अधिन्वन्, अधिनोः, अधिनुतम्, अधिनुत, अधिनवम्, अधिन्व, अधिनुव, अधिन्म, अधिनुम। 'विधिलिङ्' में अदन्त अङ्ग से परे यासुट् के न होने से (८३) सूत्र से इय् आदेश नहीं होता। धिनुयात्, धिनुयाताम्, धिनुयुः, धिनुयाः, धिनुयातम्, धिनुयात, धिनुयाम्, धिनुयाव, धिनुयाम। और यहां (८०) से यासुट् के ङित् होने से (३४) सूत्र से गुण का निषेध होता है, और आशिष् लिङ् को (८६) सूत्र से आर्धधातुक संज्ञा होने से उ प्रत्यय नहीं होता। धिन्व्यात्, धिन्व्यास्ताम्, धिन्व्यासुः, अधिन्वीत्, अधिन्विष्टाम्, अधिन्विषुः, अधिन्विष्यत्; जिन्वति, जिजिन्व, जिन्विता, जिन्विष्यति, जिन्विषति, जिन्विषाति, जिन्वतु, अजिन्वत्, जिन्वेत्, जिन्व्यात्, अजिन्वीत्, अजिन्विष्यत् ॥ ६०८—६१० [रिवि, रवि, धवि] गत्यर्थाः। रिण्वति, रिरिण्व, रण्वति, ररण्व। यहां नुम् के नकार को णत्व होता है। धन्वति, दधन्व ॥ ६११ [कृवि] हिंसाकरणयोश्च = हिंसा और करना। चकार से यह धातु गत्यर्थ भी है। और धिवि धातु में जो सूत्र लगते हैं वे सब इस में भी जानो, परन्तु—

२०२—वा०—ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम् ॥

महा० ८। ४। १ ॥

ऋवर्ण से परे जो नकार उस को णकार आदेश हो। इस वार्तिक से नुम् के नकार को सर्वत्र ऋकार से परे णत्व होता है। कृ+नुम्+व+उ+तिप् = कृणोति, कृणुतः, कृण्वन्ति, कृणोषि, कृणुथः, कृणुथ, कृणोमि, कृण्वः, कृणुव, कृण्मः, कृणुमः, चकृण्व, चकृण्वतुः, कृण्विता, कृण्विष्यति, कृण्विषति, कृण्विषाति, कृण्वति, कृण्वाति, कृणोतु, अकृणोत्, अकृण्व, अकृणुव, अकृण्म,

अऋणुम, कृणुयात्, कृण्व्यात्, अकृणवीत्, अकृणिष्यत् ॥ ६१२ [मव] बन्धने = बांधना । मवति, ममाव, मेवतुः, मेवुः, मविता, मविष्यति, माविषति, माविषाति, मवतु, अमवत्, मवेत्, मव्यात्, अमावीत्, अमवीत्, अमविष्यत् ॥ ६१३ [अव] रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादानभागवृद्धिषु = गति, रक्षा, शोभा, प्रीति, तृप्ति, बोध होना, प्रवेश करना, सुनना, अध्यक्ष का कार्य साधना, मांगना, चेष्टा, इच्छा, प्रकाश, प्राप्ति, लिपटना, हिंसा, देना, विभाग करना और बढ़ाना । अवति, आव, आवतुः, आवुः, अविष्यति, अविषति, अविषाति, अवतु, आवत्, अवेत्, अव्यात्, आवीत्, आविष्यत् ॥ इति मव्यादय उदात्ता उदात्तेतो जयति वर्जं परस्मैभाषाः पञ्चनवतिः । ९५ मव्य आदि धातु समाप्त हुए ॥

[अथैको धकारान्त उभयतोभाषः ।] अब एक धकारान्त उभयपदी धातु कहते हैं। ६१४[धावु] गतिशुद्ध्योः = गति और शुद्धि । यह धातु स्वरितेत् है, अर्थात् इसका अन्त्य वर्ण स्वरित इत्संज्ञक होता है, (१०५) सूत्र से क्रिया का फल कर्त्ता के लिये हो तो आत्मनेपद, अन्यत्र परस्मैपद होता है, इसलिये उभयपद के प्रयोग होते हैं। धावते, धावेते, धावन्ते, धावति, धावतः, धावन्ति, दधावे, दधाव, धावितासे, धावितासि, धाविष्यते, धाविष्यति, धाविषतै, धाविषातै, धाविषति, धाविषाति, धावताम्, धावतु, अधावत, अधावत्, धावेत, धावेत्, धाविषीष्ट, धाव्यात्, अधाविष्ट, अधावीत्, अधाविष्यत, अधाविष्यत् ॥

अथोष्मान्ता [एकोनचत्वारिंशदधिकं शतम् । तत्र धुक्षादय] आत्मनेपदिन एकपञ्चाशत् । अब ऊष्मान्त अर्थात् श, ष, स, ह, ये वर्ण जिनके अन्त में हैं ऐसे [१३९ एक सौ उनतालीस धातुएं कहते हैं उनमें धुक्ष आदि] ५१ (इक्यावन) धातु कहते

है। ६१५, ६१६ [धुक्ष, धिक्ष] सन्दीपनक्लेशनजीवनेषु =प्रकाश, दुःख और जीवन। धुक्षते, दुधुक्षे, धिक्षते, दिधिक्षे, धुक्षितासे, धुक्षिष्यते, धुक्षिषतै, धुक्षिषातै, धुक्षताम्, अधुक्षत, धुक्षेत, धुक्षिषीष्ट, अधुक्षिष्ट, अधुक्षिष्यत॥ ६१७ [वृक्ष] वरणे = ग्रहण करना। वृक्षते, ववृक्षे॥ ६१८ [शिक्ष] विद्योपादाने = विद्या का ग्रहण करना। शिक्षते, शिशिक्षे॥ ६१९ [भिक्ष] भिक्षायामलाभे लाभे च = भीख मांगना मिले या न मिले। भिक्षते, बिभिक्षे॥ ६२० [क्लेश] अव्यक्तायां वाचि = अस्पष्ट बोलना, बाधन इत्यन्ये = और किसी किसी के मत में दुःख देने अर्थ में भी है। क्लेशते, चिक्लेशे, क्लेशितासे, क्लेशिष्यते, क्लेशिषतै, क्लेशिषातै, क्लेशताम्, अक्लेशत, क्लेशेत, क्लेशिषीष्ट, अक्लेशिष्ट, अक्लेशिष्यत॥ ६२१ [दक्ष] वृद्धौ शीघ्रार्थे च = बढ़ना और शीघ्रता करना। दक्षते, ददक्षे॥ ६२२ [दीक्ष] मौण्ड्येज्योपनयननियमव्रतादेशेषु = मुण्डन, यज्ञ, यज्ञोपवीतधारण, नियम, सत्यभाषण आदि वा चान्द्रायण तथा ब्रह्मचर्यादि का उपदेश। दीक्षते, दिदीक्षे॥ ६२३ [ईक्ष] दर्शने = विचारपूर्वक देखना। ईक्षते, ईक्षाञ्चक्रे, ईक्षाम्बभूव, ईक्षामास॥ ६२४ [ईष] गतिहिंसादर्शनेषु = गति, हिंसा और देखना। ईषते, ईषाञ्चक्रे, ईषाम्बभूव, ईषामास, ईषितासे, ईषिष्यते, ईषिषतै, ईषिषातै, ईषताम्, ऐषत, ईषेत, ईषिषीष्ट, ऐषिष्ट, ऐषिष्यत॥ ६२५ [भाष] व्यक्तायां वाचि = स्पष्ट बोलना। भाषते, बभाषे, भाषिता, भाषिष्यते, भाषिषतै, भाषिषातै, भाषताम्, अभाषत, भाषेत, भाषिषीष्ट, अभाषिष्ट, अभाषिष्यत॥ ६२६ [वर्ष] स्नेहने = चिकनाई। वर्षते, ववर्षे॥ ६२७ [गेषृ] अन्विच्छायाम् = खोजना। गेषते, जिगेषे॥ [ग्लेषृ] इत्येके। ग्लेषते, जिग्लेषे॥ ६२८ [पेषृ] प्रयत्ने। पेषते,

पिपेपे, पेपिता, पेपिष्यते, पेपिषतै, पेपिषातै, पेपताम्, अपेपत, पेपेत, पेपिषीष्ट, अपेपिष्ट, अपेपिष्यत ॥ ६२९—६३२ [जेपृ, णेपृ, एपृ प्रेपृ] गतौ । जेपते, नेपते, एपते, एपाञ्चक्रे, एपाम्बभूव, एपामास, प्रेपते ॥ ६३३—६३५ [रेपृ, हेपृ, हेपृ] अव्यक्ते शब्दे[1] = गड़बड़ शब्द होना । रेपते, रिरपे, हेपते, जिहेपे, हेपते, जिहेपे ॥ ६३६ [कासृ] शब्दकुत्सायाम् = निन्दित शब्द करना । कासते, कासाञ्चक्रे, कासाम्बभूव, कासामास (१६९) सूत्र से यहां आम् प्रत्यय होता है । कासितासे, कासिष्यते, कासिषतै, कासिषातै, कासताम्, अकासत, कासेत, कासिषीष्ट, अकासिष्ट, अकासिष्यत ॥ ६३७ [भासृ] दीप्तौ । भासते, बभासे ॥ ६३८, ६३९ [णासृ, रासृ] शब्दे । नासते, रासते, ररासे, रासितासे, रासिष्यते, रासिषतै, रासिषातै, रासताम्, अरासत, रासेत, रासिषीष्ट, अरासिष्ट, अरासिष्यत ॥ ६४० [णसृ] कौटिल्ये =कुटिलता । नसते, नेसे, नेसाते ॥ ६४१ [भ्यसृ] भये =डरना । भ्यसते, बभ्यसे ॥ ६४२ [आङ्ः शसि] इच्छायाम् । इस धातु के पूर्व आङ् उपसर्ग इसलिये पढ़ा है कि इसी आङ् उपसर्ग का नियम रहे अन्य उपसर्ग इसके पूर्व न लगे । आशंसते, आशशंसे, आशंसिता, आशंसिष्ट ॥ ६४३, ६४४ [ग्रसु, ग्लसु] अदने = खाना । ग्रसते, ग्लसते, जग्रसे, जग्लसे, ग्रसिता, ग्रसिष्यते, ग्रासिषतै, ग्रासिषातै, ग्रसताम्, अग्रसत्, ग्रसेत, ग्रसिषीष्ट, अग्रसिष्ट, अग्रसिष्यत ॥ ६४५ [ईह] चेष्टायाम् = क्रिया । ईहते, ईहाञ्चक्रे, ईहाम्बभूव, ईहामास, ईहितासे, ईहिष्यते, ईहिषतै, ईहिषातै, ईहताम्, ऐहत, ईहेत, ईहिषीष्ट, ऐहिष्ट, ऐहिष्यत ॥

---

१. प्रथम धातु भेंडिये के शब्द में और द्वितीय तृतीय अश्व के शब्द (हिनहिनाने) में प्रयुक्त होता है ।

६४६, ६४७ [बहि, महि] वृद्धौ = बढ़ना । बंहते, मंहते, बबंहे, बंहिता, बंहिष्यते, बंहिषतै, बंहिषातै, बंहताम्, अबंहत, बंहेत, बंहिषीष्ट, अबंहिष्यत ॥ ६४८ [अहि] गतौ । अंहते, आनंहे, आनंहाते, अंहिता, अंहिष्यते, अंहिषतै, अंहिषातै, अंहताम्, आंहत, अंहेत, अंहिषीष्ट, आंहिष्ट, आंहिष्यत ॥ ६४९, ६५० [गर्ह, गल्ह] कुत्सायाम् = निन्दा । गर्हते, गल्हते, जगर्हे, जगल्हे ॥ [बर्ह बल्ह] प्राधान्ये = श्रेष्ठता । बर्हते, बबर्हे, बल्हते, बबल्हे ॥ ६५३, ६५४ [वर्ह, वल्ह] परिभाषणहिंसाच्छादनेषु = बहुत बोलना, हिंसा और दबाना । वर्हते, वल्हते, पूर्व दोनों धातुओं और इन दोनों में इतना ही भेद है कि पहिले दोनों में पवर्गीय बकार और इन दोनों में यवर्गीय वकार है ॥ ६५५ [प्लिह] गतौ = चलना । प्लेहते, पिप्लिहे, प्लेहिता, प्लेहिष्यते, प्लेहिषतै प्लेहिषातै, प्लेहताम्, अप्लेहत, प्लेहेत, प्लेहिषीष्ट, अप्लेहिष्ट, अप्लेहिष्यत ॥ ६५६–६५८ [वेह्र जेह्र बाह्र] प्रयत्ने = पुरुषार्थ । वेहते, विवेहे, विवेहिढ्वे, विवेहिध्वे, वेहिता, वेहिष्यते, वेहिषतै, वेहिषातै, वेहताम्, अवेहत, वेहेत, वेहिषीष्ट, वेहिषीढ्वम्, वेहिषीध्वम्, अवेहिष्ट, अवेहिढ्वम्, अवेहिध्वम्, अवेहिष्यत; जेहते, जिजेहे, अजेहिष्ट; बाहते, बबाहे ॥ ६५९ [द्राह्ट] निद्राक्षये = जागना । द्राहते, दद्राहे, दद्राहिढ्वे, दद्राहिध्वे, द्राहितासे, द्राहिषतै, द्राहिषातै, द्राहताम्, अद्राहत, द्राहेत, द्राहिषीष्ट, अद्राहिष्ट, अद्राहिढ्वम्, अद्राहिध्वम्, अद्राहिष्यत ॥ निक्षेप इत्यन्ये । किन्हीं लोगों के मत में यह धातु धन रखने अर्थ में है ॥ ६६० [काशृ] दीप्तौ = प्रकाश होना । काशते, चकाशे, काशितासे, काशिष्यते, काशिषतै, काशिषातै, काशताम्, अकाशत, काशेत, काशिषीष्ट, अकाशिष्ट, अकाशिष्यत ॥ ६६१ [ऊह] वितर्के = अनेक प्रकार के तर्क उठाना । ऊहते, ऊहाञ्चक्रे, ऊहाम्बभूव, ऊहामास,

ऊहिता, ऊहिष्यते, ऊहिषते, ऊहिषातै, ऊहताम्, औहत, ऊहेत, ऊहिषीष्ट औहिष्ट, औहिढ्वम्, औहिष्वम्, औहिष्यत ॥ ६६२

[गाहू] विलोडने = बिलोना। यह भी धातु ऊदित् है। गाहते, गाहेते, गाहन्ते, गाहसे, गाहेथे, गाहध्वे, गाहे, गाहावहे, गाहामहे, जगाहे, जगाहाते, जगाहिरे, जगाहिषे, और जिस पक्ष में (१४०) से इट् नहीं होता वहां 'जगाह्+से' इस अवस्था में—

२०३—हो ढः ॥ ८ । २ । ३१ ॥

झल् जिससे परे हो वा पदान्त में जो हकार उस को ढकार आदेश हो। यहां गाह् धातु के हकार को ढकार होकर—

२०४—एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ॥

८ । २ । ३७ ॥

झलादि स और ध्व परे हों वा पदान्त में धातु का अवयव जो झषन्त एकाच् [उसका अवयव] बश् प्रत्याहार में कोई वर्ण हो उस को भष् आदेश हो। यहां गाह् धातु के 'बश्' गकार को 'भष्' घकार हो जाता है। बश् प्रत्याहार में 'ब, ग, ड, द' चार वर्ण हैं और भष् प्रत्याहार में भी 'भ, घ, ढ, ध' चार वर्ण हैं इनका यथासंख्य क्रम[1] से लगता है परन्तु 'ड' स्थानी के न होने से 'ढ' आदेश कहीं नहीं आता। अब 'जघाढ्+से' इस अवस्था में+

२०५—षढोः कः सि ॥ ८ । २ । ४१ ॥

सकारादि प्रत्यय परे हों तो षकार और ढकार को ककार आदेश हो जावे। यहां ककार होकर—जघाक्+से = जघाक्षे, (५७) में षत्व होजाता है और इसी ककार षकार के संयोग को 'क्ष' बोलते हैं, परन्तु यह लिखने और बोलने की परिपाटी यथार्थ

१. यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (सन्धि ११२) सूत्रोक्त। स्थानेऽन्तरतमः (सन्धि० ८४) से भी यह कार्य हो सकता है।

नहीं,[1] ठीक तो यही है कि लिखने और बोलने में 'क्+ष' के स्वरूप स्पष्ट विदित हों। जगाहाथे, जगाहिढ्वे (१९१), जगाहिध्वे। और जिस पक्ष में (१४०) से इट् का आगम नहीं होता वहां 'जघाढ+ध्वे' इस अवस्था में तवर्ग 'ध्वे' के धकार को ढकार हो जाता है,[2] पीछे—

२०६—ढो ढे लोपः ॥ ८ । ३ । १३ ॥

ढकार का लोप हो ढकार परे हो तो। इस से गाह धातु के ढकार का लोप हो कर—जघाढ्वे, जगाहे, जगाहिवहे, जगाह्वहे, जगाहिमहे, जगाह्महे। 'लुट्'—गाहिता, गाहितारौ, गाहितारः, गाहितासे। अनिट् पक्ष में—गाह्+तास्+डा = गाढा, यहां (१४१) से तास् के तकार को धकार और (२०३) से ढत्व "ष्टुना ष्टुः"[2] से धकार को ढकार और प्रथम ढकार का (२०६) से लोप होता है। गाढारौ, गाढारः, गाढासे, गाढासाथे; गाढाध्वे, गाढाहे, गाढास्वहे, गाढास्महे, गाहिष्यते, गाहिष्येते, गाहिष्यन्ते। अनिट् पक्ष में —गाह्+स्य+ते = घाक्ष्यते, घाक्ष्येते, घाक्ष्यन्ते। गाहिषतै, गाहिषातै, गाह्+स्+अट्+त = घाक्षतै, घाक्षातै, गाहतै, गाहातै, गाहते, गाहाते, गाहवाम्, अगाहत, गाहेत गाहिषीष्ट, घाक्षीष्ट, गाहिषीढ्वम्, गाहिषीध्वम्, घाक्षीध्वम्, अगाहिष्ट, अगाहिषाताम्, अगाहिषत, [अगाहिष्ठाः, अगाहिषाथाम्,] अगाहिढ्वम्, अगाहिध्वम्। अनिट् पक्ष में—अट्+गाह्+सिच्+त = अगाढ। यहां (१४२) से सिच्

१. हमारे विचार में 'क्ष' के लिखने और उच्चारण में जो दोष दर्शाया है वह ठीक नहीं है, 'क्ष' के उच्चारण में स्पष्टतया 'क् ष्' वर्ण सुने जाते हैं, लिपि सारी सांकेतिक है अतः उसमें दोष दर्शाना भी उचित नहीं है।

२. ष्टुना ष्टुः (सन्धि० २१४) सूत्र से।

घे सकार का लोप (१४१) से तकार को धकार और पूर्वोक्त रीति से सब काम जानो। अगाह्+सिच्+आताम् = अघाक्षाताम्, अघाक्षत, अगाह्+सिच्+थास् = अगाढाः, अघाक्षाथाम्, अघाढ्वम्, अघाक्षि, अघाक्ष्वहि, अघाक्ष्महि, अगाहिष्यत, अघाक्ष्यत, अघाक्ष्येताम्, अघाक्ष्यन्त ॥ ६६३ [गृहू] ग्रहणे = ग्रहण। गर्हते, जगृहे, जगृहाते, जगृहिरे। यह भी ऊदित् है; और गाहू के समान सब काम हकारान्त के होंगे। जगृहिषे, जघृक्षे, जगृहाथे, जगृहिढ्वे, जगृहिध्वे, जघृढ्वे, जगृहे, जगृहिवहे, जगृहिमहे, जगृह्महे, गर्हिता, गर्ढा, गर्ढारौ, गर्ढारः, गर्ढासे, गर्हिष्यते, घर्क्ष्यते, घर्क्ष्येते, घर्क्ष्यन्ते, गर्हिषते, गर्हिषाते, घर्क्षते, घर्क्षाते, गर्हतै, गर्हातै, गर्हताम्, अगर्हत, गर्हेत, गर्हिषीष्ट, घृक्षीष्ट (१६३) से किल्वत् हो जाने से गुण नहीं होता। गर्हिषीढ्वम्, गर्हिषीध्वम्, घृक्षीध्वम्, अगर्हिष्ट, अगर्हिषाताम्, अगर्हिषत, [अगर्हिष्ठाः, अगर्हिषाथाम्,] अगर्हिढ्वम्, अगर्हिध्वम्। अनिट् पक्ष में— 'अट्+गृह्+च्लि+त' इस अवस्था में—

२०७—शल इगुपधादनिटः क्सः ॥ ३ । १ । ४५ ॥

इक् जिसकी उपधा में हो ऐसा जो शलन्त धातु उससे परे जो च्लि, प्रत्यय उसके स्थान में क्स आदेश हो। यह सूत्र (९०) का अपवाद है। क्स में से ककार की इत्संज्ञा होकर—अट्+गृह्+स+त = अघृक्षत, अट्+गृह्+स+आताम्, इस अवस्था में—

२०८—क्सस्याचि ॥ ७ । ३ । ७२ ॥

क्स प्रत्यय का लोप हो अजादि प्रत्यय परे हो तो। यहां लोपरूप आदेश अन्त्य अल् के स्थान में होता है। अट्+गृह्+स्+आताम् = अघृक्षाताम्, अघृक्षन्त, अघृक्षथाः, अघृक्षाथाम्, अघृक्षध्वम्, अट्+गृह्+क्स+इट् = अघृक्षि। यहां भी अजादि इट्

प्रत्यय के परे रूस के अकार का लोप होजाता है। अघृत्तावहि, अघृत्तामहि; अगर्हिष्यत, अघर्ह्यंत ॥ ६६४ [ग्लह] च। यह धातु भी ग्रहण अर्थ में ही है। ग्लहते, जग्लहे, ग्लहिता, ग्लहिष्यते, ग्लाहिषते, ग्लाहिषाते, ग्लहताम्, अग्लहत, ग्लहेत, ग्लहिषीष्ट, अग्लहिष्ट, अग्लहिष्यत ॥ ६६५ [घुषि] कान्तिकरणे = इच्छा करना। घुंषते, जुघुंषे, घुंषिता, घुंषिष्यते, घुंषिषते, घुंषिषाते, घुंषताम्, अघुंषत, घुंषेत, घुंषिषीष्ट, अघुंषिष्यत ॥ इति घुषन्ता ऋथ उदात्ता अनुदात्तेत आत्मनेभाषा एकपञ्चाशत् समाप्ताः ये घुषु आदि आत्मनेपदी ५१ (इक्यावन) धातु समाप्त हुए॥

' अथ [घुषिरादयः] परस्मैपदिनोऽष्टाशीतिः। अथ ८८ (अट्ठासी) धातु परस्मैपदी कहते हैं। ६६६ [घुषिर्] अविशब्दने। इस शब्द का तीन प्रकार का अर्थ होता है। एक तो विशब्दन = प्रतिज्ञा, उसका निषेध, दूसरा अवि = भेड का शब्द होना और तीसरा वि = पक्षी के शब्द का निषेध अर्थात् अन्य प्राणी का शब्द होना। घोषति, जुघोष, घोषितासि, घोषिष्यति, घोषिषति, घोषिषाति, घोषतु, अघोषत्, घोषेत्, घुष्यात्, और इस धातु में इर् भाग की इत्संज्ञा होती है इस कारण (१३८) से च्लि के स्थान में अङ् विकल्प करके होता है—अघुष् + अङ् + तिप् = अघुषत्, अघुषताम्, अघुषन्, अघुषः, अघुषतम्, अघुषत, अघुषम्, अघुषाव, अघुषाम। सिच् पक्ष में—अघोषीत्, अघोषिष्टाम्, अघोषिषुः, अघोषिष्यत् ॥ ६६७ [अक्षू] व्याप्तौ = व्यापकता।

२०६—अक्षोऽन्यतरस्याम् ॥ ३। १। ७५ ॥

कर्तावाची सार्वधातुक परे हो तो अक्षू धातु से श्नु प्रत्यय विकल्प करके होवे। यह सूत्र (१९) का अपवाद है, इस कारण पक्ष

में शप् ही होता है। श्नु प्रत्यय के शकार की इत्संज्ञा होकर—अक्ष्+नु+तिप्=अक्ष्णोति। यहां नु के उकार को (२१) से गुण होता है। अक्ष्णुतः, अक्ष्णुवन्ति। यहां (१५९) से श्नु प्रत्यय को उवङ् आदेश होता है। अक्ष्णोषि, अक्ष्णुथः, अक्ष्णुथ, अक्ष्णोमि, अक्ष्णुवः, अक्ष्णुमः, (२००) संयोग पूर्व होने से उकार का लोप विकल्प से नहीं होता। जिस पक्ष में श्नु प्रत्यय नहीं होता वहां शप्—अक्षति, अक्षतः, अक्षन्ति; आनक्ष, आनक्षतुः, आनक्षुः। यह भी धातु ऊदित् है इस कारण इट् का विकल्प होता है। आनक्षिथ। अनिट् पक्ष में—'आनक्ष्-थल्' इस अवस्था में—

२१०—स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ॥ ८ । २ । २९ ॥

पदान्त में वा झल् जिस से परे हो ऐसा जो संयोग उसके आदि के जो स् और क् हैं उनका लोप होवे। यहां संयोग का आदि ककार है और झल् थकार परे है, उस 'क्' का लोप होकर थल् के थकार को "ष्टुना ष्टुः"[1] सूत्र से ठकार हो जाता है—आनष्ठ, आनक्षथुः, आनक्ष, आनक्ष, आनक्षिव, आनक्ष्व, आनक्षिम, आनक्ष्म, अक्षिता, अक्षितारौ। अनिट् पक्ष में—अक्ष्+तास्+डा = अष्टा, अष्टारौ, अष्टारः; अक्षिष्यति, 'अक्ष्+स्य+तिप्' यहां (२१०) संयोगादि ककार का लोप मूर्धन्य ष् को (२०५) क और षत्व होकर—अक्ष्यति, अक्ष्यतः, अक्ष्यन्ति, अक्षिषति, अक्षिषाति, अक्षति अक्षाति, अक्ष्णवति, अक्ष्णवाति इत्यादि, अक्ष्णोतु, अक्ष्णुतात्, अक्ष्णुताम्, अक्ष्णुवन्तु (१५९), अक्ष्णुहि, यहां संयोगपूर्वक उकार के होने से हि का लुक् (२०१) से नहीं होता। अक्ष्णुतात्, अक्ष्णुतम्, अक्ष्णुत, अक्ष्णवानि, अक्ष्णवाव, अक्ष्णवाम। यहां आट् आगम के पित् (७४) होने से श्नु को

१. सन्धि० २१४ ॥

गुण होजाता है। अक्षत्; आक्ष्णोत्, आक्ष्णुताम्, आक्ष्णुवन्, आक्ष्णोः, आक्ष्णुतम्, आक्ष्णुत, आक्ष्णवम्, आक्ष्णुव, आक्ष्णुम; आक्षत्; अक्ष्णुयात्, अक्ष्णुयाताम्, अक्ष्णु+यासुट्+जस = अक्ष्णुयुः, यहां (८३) से इय् आदेश की प्राप्ति न होने से (८५) सूत्र [illegible] पररूप एकादेश होजाता है। अक्ष्णुयाः, अक्ष्णुयातम्, अक्ष्णुयात, अक्ष्णुयाम्, अक्ष्णुयाव, अक्ष्णुयाम; अक्षेत्, अक्षेताम्, अक्षेयुः, अक्ष्यात्, अक्ष्यास्ताम्, अक्ष्यासुः, मामवानक्षीत्, आक्षिष्टाम्, आक्षिषुः। (१२३) से वृद्धि नहीं होती, और अनिट् पक्ष में तो वृद्धि (१२२) से हो जाती है—[1] आक्ष्+सिच्+ईट+तिप् = आक्षीत्, आक्ष्+सिच्+तस = आष्टाम्, यहां संयोगादि ककार का लोप (२१०) और सिच् के सकार का लोप (१४२) से होता है। [आक्षत्,] आक्ष्+सिच्+ईट्+सिप् = आक्षीः, आष्टम्, आष्ट, आक्षम्, आक्ष्व, आक्ष्म; आक्षिष्यत्, आक्ष्यत्, आक्ष्य-

1. वदव्रजहलन्तस्याचः (आ० १२२) सूत्र में योगविभाग करने से 'हलन्त' ग्रहण के बिना भी कार्य चल सकता है। कैसे ? 'वदिव्रज्योः' सूत्र में पूर्व सूत्र से 'अत' की अनुवृत्ति आती है, अर्थ होगा—वद, व्रज धातु के अकार को सिच् परे वृद्धि हो। दूसरा सूत्र होगा—'अचः', यहां अच् का विशेषण अङ्ग होगा। अर्थ होगा—अङ्ग के अच् को सिच् परे रहने पर वृद्धि होती है। इस प्रकार 'हलन्त' ग्रहण के बिना भी कार्य चल सकता था, पुन हलन्त ग्रहण यहां हल् समुदाय की प्रतिपत्ति के लिये है। अन्यथा 'येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि वचनप्रामाण्यात्' नियम से अच् और सिच् के बीच में जहां एक हल् का व्यवधान होता वहीं 'वृद्धि' हो सकती थी। अब हल्समुदाय का ग्रहण होने से "अराक्षीत्, अमांक्षीत्" के सदृश 'मामवान् आक्षीत्, आष्टाम्, आक्षुः' [illegible] भी वृद्धि हो जाती है।

ताम्। आक्ष्यन्॥ ६६८, ६६९ [तक्षू, त्वक्षू] तनूकरणे = सूक्ष्म करना।

२११—तनूकरणे तक्षः॥ ३। १। ७६॥

कर्तावाची सार्वधातुक परे हो तो तनूकरण अर्थ में वर्तमान तक्ष धातु से श्नु प्रत्यय विकल्प करके हो। यह सूत्र भी शप् का ही अपवाद है, और यह भी ऊदित् है, इसलिये सब लकारों में इसका साधुत्व अक्षू धातु के समान जानना चाहिये। तक्ष्णोति, तक्ष्णुतः, तक्ष्णुवन्ति, तक्षति; ततक्ष, ततक्षतुः, ततक्षुः, ततक्षिथ, ततष्ठ; तक्षिता, तष्टा, तष्टारौ, तष्टारः, तक्षिष्यति, तक्ष्यति, तक्षिषति; तक्षिषाति, तक्षति, तक्षाति, तक्ष्णवति, तक्ष्णवाति, तक्ष्णोतु, तक्षतु, अतक्ष्णोत्, अतक्षत्, तक्ष्णुयात्, तक्षेत्, तक्ष्यात्, अतक्षीत्, अतक्षिष्टाम्, अतक्षिषुः, अताक्षीत्,[1] अताष्टाम्, अताक्षुः, अतक्षिष्यत, अतक्ष्यत। "त्वक्षू" धातु के प्रयोग आर्धधातुक विषय में ऊदित् के होने से तक्षू के तुल्य होते हैं, और सार्वधातुक में कुछ विशेष नहीं। त्वक्षति, तत्वक्ष, तत्वक्षिथ, तत्वष्ट, त्वक्षिता, त्वष्टा, त्वक्षिष्यति, त्वक्ष्यति, त्वक्षिषति, त्वक्षिषाति, त्वक्षति, त्वक्षाति, त्वक्षतु, अत्वक्षत्, त्वक्षेत्, त्वक्ष्यात्, अत्वक्षीत्, अत्वाक्षीत्, अत्वाष्टाम्, अत्वाक्षुः, अत्वक्षिष्यत्, अत्वक्ष्यत्॥ ६७० [उक्ष] सेचने = सींचना। उक्षति, उक्षाञ्चकार, उक्षाम्बभूव, उक्षामास, उक्षिता, उक्षिष्यति, उक्षिषति, उक्षिषाति, उक्षतु, औक्षत्, उक्षेत्, उक्ष्यात्, औक्षीत्, औक्षिष्यत्॥ ६७१ [रक्ष] पालने। रक्षति, ररक्ष, रक्षिता, रक्षिष्यति, रक्षिषति, रक्षिषाति, रक्षतु, अरक्षत्, रक्षेत्, रक्ष्यात्, अरक्षीत्, अरक्षिष्यत्॥ ६७२ [णिक्ष] चुम्बने = चूमना। निक्षति, निनिक्ष॥ ६७३-६७५ [तृक्ष, स्तृक्ष, णक्ष]

१. देखो, पृष्ठ १२१ की टिप्पणी।

गतौ। स्तृक्षति, तस्तृक्ष, स्तृक्षति, तस्तृक्ष, नक्षति, ननक्ष ॥ ६७६ [वक्ष] रोषे=रिसाना। वक्षति, ववक्ष, वक्षिता, वक्षिष्यति, वक्षिषति, वक्षिषाति, वक्षतु; अवक्षत्, वक्षेत्, वक्ष्यात्, अवक्षीत्, अवक्षिष्यत्। सङ्घात इत्यन्ये। किन्हीं लोगों के मत में यह धातु संघात अर्थ में है॥ ६७७ [मृक्ष] सङ्घाते। मृक्षति, ममृक्ष॥ [म्रक्ष] इत्येके। किन्हीं के मत में यह धातु रेफवान् है, ऋकारवान् नहीं ६७८ [तक्ष] त्वचने=ढांपना। तक्षति॥ [पक्ष] परिग्रह इत्येके=हठ करना। किन्हीं का मत है। पक्षति, पपक्ष॥ ६७९ [सूर्क्ष्य] आदरे=मान्य करना। सूर्क्ष्यति, सुसूर्क्ष्य॥ ६८०–६८२ [काक्षि, वाक्षि, माक्षि] काङ्क्षायाम्=अभिलाषा। काङ्क्षति, वाङ्क्षति, माङ्क्षति॥ ६८३–६८५ [द्राक्षि, ध्राक्षि, ध्वाक्षि] घोरवासिते च=पाप में बसना,

धातुक उसको इट् का आगम विकल्प करके हो। इस सूत्र में प्राप्तविभाषा इसलिये है कि सर्वत्र नित्य इट् प्राप्त है उसका विकल्प विशेष विषय में किया है। रोषिता, रोष्टा, रोष्टारौ, रोष्टार, रेषिता, रेष्टा, रेषिष्यति, रेषिषति, रेषिषाति, रेषतु, अरेषत्, रेषेत, रिष्यात्, अरेषीत्, अरेषिष्यत्॥ ७०८ [भष] भर्त्सने=धमकाना भषति, बभाष॥ ७०९ [उष] दाहे=जलन। ओषति, ओषत, ओषन्ति।

२१३—उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्॥ ३। १। ३८॥

उष, विद और जागृ धातुओं से आम् प्रत्यय विकल्प करके हो लिट् लकार परे हो तो वेदविषय को छोड़कर। यह बात सर्वत्र के लिये ध्यान में रखनी चाहिये कि जिन जिन एध आदि धातुओं से आम् प्रत्यय किया है वहां वहां सर्वत्र वेद में आम् प्रत्यय का निषेध है, जैसे—एध्+एध्+एश=इयेधे (१५३) इत्यादि प्रयोगों की योजना वैदिक प्रयोगों में समझ लेना चाहिये। आपाञ्चकार, उवोष, ऊषतु, और वेद में भी "उवोष" ही होगा। ओषिता, ओषिष्यति, ओषिषति ओषिषाति, ओषतु औषत्, ओषेत्, उष्यात्, औषीत्, औषिष्यत्। ७१०—७१२ [जिषु, विषु, मिषु] सेचने=सींचना। जेषति, जिजेष। विष धातु अनिट् है[1]। वेषति, विवेष, विवेपिथ, विवेषिव, विवेषिम, वेष्टा, वेक्ष्यति, वेक्षति, वक्षाति, वेषति, वेषाति, वेषतु, अवेषत्, वेषेत्, विष्यात्, अविष्+क्स+तिप्=अविक्षत्, अविक्षताम्, अविक्षन्, अवेक्ष्यत्॥ ७१३

---

1. यह धातु भी शिष के सदृश षान्त प्रकरण के अनुरोध से यहां पढ़ी है।

धातुक उसको इट् का आगम विकल्प करके हो। इस सूत्र में प्राप्तविभाषा इसलिये है कि सर्वत्र नित्य इट् प्राप्त है उसका विकल्प विशेष विषय में किया है। रोषिता, रोष्टा, रोष्टारौ, रोष्टार', रेषिता, रेष्टा, रेषिष्यति, रेषिषति, रेषिषाति, रेषतु, अरेषत्, रेषेत, रिष्यात्, अरेषीत्, अरेषिष्यत्॥ ७०८ [भष] भर्त्सने=धमकाना भषति, बभाष॥ ७०९ [उष] दाहे=जलन। ओषति, ओषथ', ओषन्ति।"

२१३—उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्॥ ३। १। ३८॥

उष, विद और जागृ धातुओं से आम् प्रत्यय विकल्प करके हो लिट् लकार परे हो तो वेदविषय को छोड़कर। यह बात सर्वत्र के लिये ध्यान में रखनी चाहिये कि जिन-जिन उष आदि धातुओं से आम् प्रत्यय किया है वहा वहां सर्वत्र वेद में आम् प्रत्यय का निषेध है, जैसे—एध्+एध्+एश=इयेधे (१५३) इत्यादि प्रयोगों की योजना वैदिक प्रयोगों में समझ लेना चाहिये। ओषाञ्चकार, उवोष, ऊषतु', और वेद में भी "उवोष" ही होगा'। ओषिता, ओषिष्यति, ओषिषति ओषिषाति, ओषतु, औषत्, ओषेत्, उष्यात्, औषीत्, औषिष्यत्। ७१०—७१२ [जिषु, विषु, मिषु] सेचने=सींचना। जेषति, जिजेष। विष धातु अनिट् है'। वेषति, विवेष, विवेषिथ, विवेषिव, विवेषिम, वेष्टा, वेक्ष्यति, वेक्षति, वेक्षाति, वेषति, वेषाति, वेषतु, अवेषत्, वेषेत्, विष्यात्, अविष्+क्स+तिप्=अविक्षत्, अविक्षताम्, अविक्षन्, अवेक्ष्यत्॥ ७१३

१. यह धातु भी त्विष के सदृश षान्त प्रकरण के अनुरोध से यहा पढ़ी है।

बुभूष, भूषिता, भूषिष्यति, भूषिषति, भूषिषाति, भूषतु, अभूषत्, भूषेत्, भूष्यात्, अभूषीत्, अभूषिष्यत् ॥ ६६६ [ऊष] रुजायाम् = रोग । ऊषति, ऊषाञ्चकार; ऊषाम्बभूव, ऊषामास ॥ ६९७ [ईष] उञ्छे = उंछना । ईषति, ईषाञ्चकार, ईषाम्बभूव, ईषामास ॥ ६९८—७०७ [कष, खष, शिष, जष, झष, शष, वष, मष, रुष, रिष] हिंसार्थाः । इन सब में शिष धातु अनिट् है[१] । कषति, चकाष, चकषतु, कषिता, कषिष्यति, काषिषति, काषिषाति, कषतु, अकषत्, कषेत्, कष्यात्, अकाषीत्, अकषीत्, अकषिष्यत्; खषति, चखाष; शेषति, शिशेष, शिशिषतु, शिशेषिथ, यहां (१४८) सूत्र के नियम से इट् हो जाता है, नहीं तो प्राप्ति नहीं थी। शेष्टा, शेष्टारौ, शेष्टारः, शेक्ष्यति, शेक्षति, शेक्षाति, शेषति, शेषाति, शेषतु, अशेषत्, शेषेत्, शिष्यात्। अट्+शिष्+क्स+तिप्=अशिक्षत्, अशिक्षताम्, अशिक्षन्, अशिक्षः, अशिक्षम्, अशिक्षत, अशिक्षम्, अशिक्षाव, अशिक्षाम, । यहां च्लि के स्थान में क्स आदेश (२०७) से हो जाता है । अशिक्ष्यत् । जषति, जजाष, जेषतुः, जेषुः, जषिता, जषिष्यति, जाषिषति, जाषिषाति, जषतु, अजषत्, जषेत्, जष्यात्, अजाषीत्, अजषीत्। झषति, जझाष; शषति, शशाष, शेषतुः, वषति, ववाष, ववषतुः, (१२८) से एत्वाभ्यासलोप का निषेध होता है । मषति, ममाष, मेषतुः; रोषति, रुरोष; रेषति, रिरेष। ये दोनों धातु सेट् ही हैं, परन्तु तकारादि आर्धधातुक में विशेष है।

२१२—तीषसहलुभरुषरिषः ॥ ७ । २ । ४८ ॥

इषु, सह, लुभ, रुष और रिष धातुओं से परे जो तादि आर्ध-

---

[१] सेट् धातुओं में अनिट् शिष धातु का पाठ षान्त और परस्मैपद प्रकरण के अनुरोध से किया है ।

धातुक उसको इट् का आगम विकल्प करके हो। इस सूत्र में प्राप्तविभाषा इसलिये है कि सर्वत्र नित्य इट् प्राप्त है उसका विकल्प विशेष विषय में किया है। रोषिता, रोष्टा, रोषारौ, रोष्टारः, रेषिता, रेष्टा, रेषिष्यति, रेषिषति, रेषिषाति, रेषतु, अरेषत्, रेषेत, रिष्यात्, अरेषीत्, अरेषिष्यत् ॥ ७०८ [भष] भर्त्सने=धमकाना भषति, बभाष ॥ ७०९ [उष] दाहे=जलन । ओषति, ओषतः, ओषन्ति ।

२१३—उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् ॥ ३ । १ । ३८॥

उष, विद और जागृ धातुओं से आम् प्रत्यय विकल्प करके हो लिट् लकार परे हो तो वेदविषय को छोड़कर। यह बात सर्वत्र के लिये ध्यान में रखनी चाहिये कि जिन जिन एध आदि धातुओं से आम् प्रत्यय किया है वहा वहां सर्वत्र वेद में आम् प्रत्यय का निषेध है, जैसे—एध्+एध+एश=इयेधे (१५३) इत्यादि प्रयोगों की योजना वैदिक प्रयोगों में समझ लेना चाहिये । ओषाञ्चकार, उवोष, ऊषतु, और वेद में भी "उवोष" ही होगा। ओषिता, ओषिष्यति, ओषिषति, ओषिषाति, ओषतु, औषत्, ओषेत्, उष्यात्, औषीत्, औषिष्यत्। ७१०—७१२ [जिषु, विषु, मिषु] सेचने=सींचना। जेषति, जिजेष । विष धातु अनिट् है[1] । वेषति, विवेष, विविषथ, विवेषिव, विवेषिम, वेष्टा, वेक्ष्यति, वेक्षति, वेक्षाति, वेषति, वेषाति, वेषतु, अवेषत्, वेषेत्, विष्यात्, अविष्+क्स+विष्=अविक्षत्, अविक्षताम्, अविक्षन्, अवेक्ष्यत् ॥ ७१३

---

१. यह धातु भी शिष के सदृश षान्त प्रकरण के अनुरोध से यहां पढ़ी है ।

७१३ [पुष] पुष्टौ। अनिट् कारिका में दिवादिगण¹ के पुष धातु का निर्देश किया है, इस कारण यह सेट है। पोषति, पुपोष, पोषिता, पोषिष्यति, पोषिषति, पोषिषाति, पोषतु अपोषत्, पोषेत्, पुष्यात्, अपोषीत्, अपोषिष्यत्॥ ७१४—७१७ [श्रिषु, श्लिषु, प्रुषु, प्लुषु] दाहे। श्रेषति, श्लेषति, शिश्रेष, शिश्लेष, प्रोषति, पुप्रोष, प्लोषति, पुप्लोष, श्लिष धातु भी अनिट् व्यवस्था में दिवादिगण¹ का ही पढ़ा है॥ ७१८—७२० [पृषु, वृषु, मृषु] सेचने। पर्षति, वर्षति, मर्षति, पपर्ष, पपृषतु, पपृषु, पर्षिता, पर्षिष्यति, पर्षिषति, पर्षिषाति, पर्षति, पर्षाति, पर्षतु, अपर्षत्, पर्षेत्, पर्ष्यात्, अपर्षीत्, अपर्षिष्यत्। मृषु सहने च, इतरौ हिंसासंक्लेशन-योश्च। मृषु धातु के सहना और सींचना तथा पृषु, वृषु धातुओं के सींचना, हिंसा और सक्लेशन तीनों अर्थ हैं॥ ७२१ [घृषु] सघर्षे=घिसना। घर्षति, जघर्ष॥ ७२२ [हृषु] अलीके=झूठ। हर्षति, जहर्ष॥ ७२३-७२६ [तुस, ह्रस, ह्लस, रस] शब्दे। तोसति, तुतोस, तोसिता, तोसिष्यति, तोसिषति, तासिषाति, तोसतु, अतोसत्, तोसेत्, तुस्यात्, अतोसीत्, अतोसिष्यत्, ह्रसति, जह्रास, ह्लसति, जह्लास, रसति, ररास, रेसतु, रेसु, रसिता, रसिष्यति, रासिषति, रासिषाति, रसतु, अरसत्, रसेत्, रस्यात्, अरसीत्, अरासीत्, अरसिष्यत्,॥ ७२७ [लस] श्लेषणक्रीडनयो=मिलना और खेलना। लसति, ललास,

१ 'शिषि पिषि शुष्यति पुष्यति' में श्यन् से निर्देश होने से। देखो भूमिका

लेसतुः ॥ ७२८ ॥ [घस्लृ] अदन = खाना। घसति,[3] जघास। जघस्—अतुस्, इस अवस्था में—

१. काशिका ७।२।६१ के "यो हि तासावसन्, असत्वाच्च नित्यानिट्" इत्यादि वचन से ज्ञात होता है कि घस् धातु का पाठ भ्वादि में नहीं था। क्षीरस्वामी ने 'घस्लृ अदने इति केचित्' लिखा है इससे उसके मत में भी घस् का पाठ यहां नहीं है। भट्टभास्कर ने भी घास शब्द की सिद्धि में 'बहुलं छन्दसि' से घस्लादेशका विधान किया है। अत जहां घस् धातु का प्रतिपदपाठ है वहीं इसका प्रयोग होता है। सायण के मतानुसार लिट् और आशिर्लिङ् में-इस के प्रयोग नहीं होते। वह लिखता है—"इस धातु के सब प्रत्ययों में प्रयोग नहीं होते। अन्यथा 'लिट्यन्यतरस्याम्' (भा० २९९) से अद् को विकल्प से घस्लृ आदेश का विधान करना व्यर्थ हो जावे, क्योंकि 'आद आदतुः आदुः' और 'जघास, जक्षतुः जक्षुः' दो रूप बनाने इष्ट हैं। ये दोनों स्वतन्त्र धातुओं के बन ही जावेंगे फिर विकल्प विधान व्यर्थ है। अत जिस विषय में कोई ज्ञापक है या प्रतिपद विधान है वहीं इसका प्रयोग होता है। भ्वादिगण में पाठ शप् अर्थात् लट्, लोट्, लङ्, विधि-लिङ् में, ऌदित् करण अङ् में और 'घसिश्च साम्तेषु' इत्यादि अनिट् कारिका में पाठ वलादि आर्धधातुक अर्थात् लुट्, लृट्, लृङ् में ज्ञापक है।" परन्तु सायण का यह लिखना अयुक्त है। ऌदित् करण 'लुङ् सनोर्घस्लृ' (भा० ५०२) से विहित आदेश में और अनिट् कारिका में पाठ 'क्मरच्' प्रत्यय में चरितार्थ है। अतः ये दोनों 'लुङ्, लुट्, लृट्, लृङ्' के प्रयोगों में ज्ञापक नहीं हो सकते। भ्वादि में पाठ पूर्वाचार्यों के मत में नहीं है, इसलिये शप् में भी इसके प्रयोग नहीं होते। वस्तुतः वैयाकरण सिद्धान्त के अनुसार भाषा में लिट्, लुङ्, सन्, घञ्, अप्, अच् और क्मरच् प्रत्ययों में ही घस्लृ के प्रयोग होते हैं।

२१४—गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि ॥ ६ । ४ । ९८ ॥

गम, हन, जन, खन और घस् धातुओं के उपधा अकार का लोप हो अङ्भिन्न अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे हों तो। यहां घकारस्थ अकार का लोप होकर (एकाच् न होने से द्विवचन की प्राप्ति नहीं होती, इसलिये "द्विर्वचनेऽचि" (२४५) से स्थानीरूप मानकर द्विर्वचन होता है तत्पश्चात्) "खरि च"[1] सूत्र से 'घ्' को 'क्' करते समय "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ"[2] सूत्र से अकार को स्थानिवत् होने से चर् आदेश न हो सके, सो "न पदान्त०"[3] सूत्र से चर्विधि में स्थानिवत् का निषेध होकर चर् होता है। पीछे षत्व[4] होकर—जक्षतुः, जक्षुः। जघस्—थल्, इस अवस्था में—

२१५—उपदेशेऽत्वतः ॥ ७ । २ । ६२ ॥

तास् प्रत्यय के परे नित्य अनिट् उपदेश में जो अकारवान् धातु है उस से परे जो थल् उसको इट् का आगम न हो। (१४८) सूत्र के नियम से लिट् मात्र में इट् प्राप्त है उसका विशेष विषय में यह अपवाद है। जघस्थ। और भारद्वाज के मत में ऋकारान्तों को तास्वत्कार्य के नियम (१४९) से उपदेश में अकारवान् और अजन्तों को इडागम हो जाता है। जघसिथ, जक्षथुः, जक्ष, जघास, जघस, जक्षिव, जक्षिम, घस्ता, घस्तारौ, घस्तारः। घस्+स्य+तिप्, इस अवस्था में—

२१६—सः स्यार्धधातुके ॥ ७ । ४ । ४९ ॥

सकारादि आर्धधातुक प्रत्यय परे हो तो सकार को तकार आदेश हो। यहां घस के सकार का तकार होकर—घत्स्यति,

---

१ सन्धि० २३५। २ सन्धि० ९१। ३ सन्धि० ९२।
४ यहां "शासिवसिघसीनां च" (आ० २८४) से षत्व होता है।

घत्स्यतः, घत्स्यन्ति, घत्स्यसि, घात्सति, घात्साति, घत्सति, घत्साति, घसति, घसाति, घसतु, अघसत्, घसेत्, घस्यात् ।

२१७–पुषादिद्युताद्य्लृदितः परस्मैपदेषु* ॥३।१।५५॥

दिवादिगण के पुष आदि, द्युतादि और लृ जिनका इत् गया हो उन धातुओं से परे जो च्लि प्रत्यय उसके स्थान में अङ् आदेश हो परस्मैपद विषय में कर्ता विषय में लुङ् लकार परे हो तो। यहां लृदित् घस् धातु से अङ् होकर—अट्+घस्+अङ्+तिप्= अघसत्, अघसताम्, अघसन्, अघसः, अघसतम्, अघसत, अघसम्, अघसाव, अघसाम; अघत्स्यत्, अघत्स्यताम्, अघत्स्यन्।

७२९—७३१ [जर्जे, चर्चे, झर्झ][1] परिभाषणहिंसातर्जनेषु=

* इस सूत्र में इस भ्वादिगण के पुषादि धातुओं का ग्रहण इस कारण नहीं होता कि पुषादि के अन्तगर्त द्युतादि धातु भी आजाते फिर द्युतादि ग्रहण ज्ञापक से दिवादिगण के पुषादिकों का ग्रहण होता है।

१. ऊष्मान्त प्रकरण में इन रवर्गीयान्तों का पाठ अयुक्त है। सायण लिखता है—'ऊष्मान्तों में पाठ अर्थ के अनुरोध से है यह मैत्रेय का मत है।' अर्थानुरोध हेतु तभी उपपन्न हो सकता है जब इन्हीं अर्थों में ऊष्मान्त के साथ अन्य धातुएं पढ़ी जावें। यहां इस अर्थ वाली ऊष्मान्त धातु कोई नहीं। क्षीरस्वामी ने यहां पर अनेक पाठान्तर लिखे हैं उनमें चान्द्र और दुर्ग के मत में 'जर्से' पाठ लिखा है। यदि 'जर्जे' के स्थान पर 'जर्से' पाठ ठीक मान लिया जाय तो ऊष्मान्त प्रकरण की संगति और अर्थानुरोध से अन्य दो धातुओं का पाठ यहां पर उपपन्न हो सकता है। क्षीरस्वामी पाठान्तरों का निर्देश करके लिखता है—"किमत्र सत्यम्? देवा ज्ञास्यन्ति"। यहां अर्थनिर्देश भी भिन्न-भिन्न उपलब्ध होता है। क्षीरस्वामी केवल 'परिभाषण' अर्थ लिखता है, मैत्रेय 'परिभाषण, संतर्जन' दो अर्थ मानता है और सायणादि अर्वाचीन 'परिभाषण, हिंसा, तर्जन' तीन अर्थ लिखते हैं।

अधिक बोलना, हिंसा और धमकाना। जर्जति, जजर्ज, जर्जिता जर्जिष्यति, जर्जिषति, जर्जिषाति, जर्जतु, अजर्जत्, जर्जेत्, जर्ज्यात्; अजर्जीत्; अजर्जिष्यत्; चर्चति, झर्झति, जझर्झ॥ ७३२, ७३३ [पिसृ, पेसृ] गतौ। पेसति, पिपेस, पिपिसतुः, पिपेसतुः, पेसिता, पेसिष्यति, पेसिषति, पेसिषाति, पेसतु, अपेसत्, पेसेत्, पिस्यात्, अपेसीत्, अपेसिष्यत् ॥ ७३४ [हसे] हसने = हँसना। इस धातु का एकार इत् जाता है। हसति, जहास, जहसतुः, हसिता, हसिष्यति, हासिषति, हासिषाति, हसतु, अहसत्, हसेत्, हस्यात्, अहसीत् (१६२), अहसिष्यत्॥ ७३५ [णिश] समाधौ = समाहित होना। नेशति, निनेश, नेशिता, नेशिष्यति, नेशिषति, नेशिषाति, नेशतु, अनेशत्, नेशेत्, निश्यात्, अनेशीत्, अनेशिष्यत् ॥ ७३६, ७३७ [मिश, मश] शब्दे रोषकृते च = शब्द और रिस करना। मेशति, मशति, ममाश, मेशतुः, मशिता, मशिष्यति, माशिषति, माशिषाति, मशतु, अमशत्, मशेत्, मश्यात्, अमाशीत्, अमशीत्, अमशिष्यत् ॥ ७३८ [शव][1] गतौ। शवति[2], शशाव, शेवतुः, अशावीत्, अशवीत्, अशविष्यत्॥ ७३९ [शश] प्लुतगतौ = कूद कूद कर चलना। शशति, शशाश, शेशतुः, अशाशीत्, अशशीत् ॥ ७४० [शसु] हिंसायाम्। शसति, शशास,

१. शकारवान् धातुओं का प्रकरण होने से ऊष्मान्तों में शव धातु पढ़ी है ऐसा मैत्रेय का मत है।

२. शव धातु के तिङन्त प्रयोग आर्य नहीं करते, कम्बोज में इन का प्रयोग होता है। देखो महाभाष्य अ० १, पाद १, आ० १—शवति गति कर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते। विकार एवेनमार्या भाषन्ते शव इति। ऐसा ही निरुक्त २। २ में भी लिखा है।

शशसतु, (१२८) पत्वाभ्यास लोप का प्रतिषेध हो जाता है। शशासु, शशसिथ, अशासीत्, अशसीत्॥ ७४१ [शसु] स्तुतौ = गुणों का वर्णन[1]। शसति, शशास, अशसीत्॥ ७४२ [चह] परिकल्कने = सर्वथा मूर्खपन। चहति, चचाह, चेहतु, चेहु, चहिता, चहिष्यति, चाहयति, चाहयाति, चहतु, अचहत्, चह्यात्, अचहीत् (१६२), अचहिष्यत्॥ ७४३ [मह] पूजायाम् = सत्कार। महति, ममाह, मेहतु, अमहीत्॥ ७४४ [रह] त्यागे = छोड़ना। रहति, रराह, रेहतु, रहिता, रहिष्यति, राहयति, राहयाति, रहतु, अरहत्, रहेत्, रह्यात्, अरहीत् (१६२), अरहिष्यत्॥ ७४५ [रहि] गतौ। रहति, ररह, रह्यात्॥ ७४६—७४९ [दृह, दृहि, बृह, बृहि] वृद्धौ। दर्हति, दृंहति, बर्हति, बृंहति, ददर्ह, ददृहतु, दर्हिता, दर्हिष्यति, दर्हयति, दर्हयाति, दृहतु, अदर्हत्, दर्हेत्, दृह्यात्, अदर्हीत्, अदर्हिष्यत्। [बृहि] शब्दे च। बृंहति॥ [बृहिर्] इत्येके। बर्हति, बबर्ह, अबृहत्। (१३८), अबर्हीत्॥ ७५०—७५२ [तुहिर्, दुहिर्, उहिर्] अर्दने = गति और मांगना। तोहति, तुतोह, तुतुहतु, तोहिता, तोहिष्यति, तोहयति, तोहयाति, तोहतु, अतोहत्, तोहेत्, तुह्यात्, अतुहत्, अतोहीत्, अतोहिष्यत्, दोहति, दुदोह, अदुहत्, अदोहीत्। अनिट्व्यवस्था में जो दुह धातु पढा है वह दिह धातु के साहचर्य से अदादि का समझना चाहिये। ओहति, उवोह, ऊहतु, ओहिता, मा भवानुहत्, औहीत्, औहिष्यत्॥ ७५३ [अर्ह] पूजायाम् = सत्कार।

[1] सत्यार्थप्रकाश में स्तुति का लक्षण 'गुणेषु गुणारोपण, दोषेषु दोषारोपण च स्तुति' किया है। समु० ७, पृ० ६१। आर्योद्देश्यरत्नमाला सं० २१ और स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश सं० ४८ में भी स्तुति का लक्षण देखना चाहिये।

अर्हति, आनर्ह, आनर्हतुः, आनर्हुः, अर्हिता, अर्हिष्यति, अर्हिषति, अर्हिषाति, अर्हतु, आर्हत्, अर्हेत्, अर्ह्यात्, आर्हीत्, आर्हिष्यत् ॥
इति घुषिरादय उदात्ता उदात्तेतः परस्मैभाषाः समाप्ताः । ये घुषिर् आदि ८८ धातु समाप्त हुए ॥

अथ [द्युतादयः] कृपू पर्यन्ताः पञ्चविंशत्यात्मनेपदिनः । अब २५ धातु आत्मनेपदी कहते हैं ॥ ७५४ [द्युत] दीप्तौ = प्रकाश होना । द्योतते । द्युत्—द्युत्—एश् । इस अवस्था में—

२१८—द्युतिस्वाप्योः संप्रसारणम् ॥

७ । ४ ।६७ ॥

द्युति और स्वापि धातु के अभ्यास को संप्रसारण हो । इस सूत्र में णिच् प्रत्ययान्त स्वापि धातु का ग्रहण है । सो णिजन्त-प्रक्रिया में आवेगा । द्यु-द्युत-एश्, यहां प्रथम द्यु के यकार के स्थान में 'इ' संप्रसारण होकर—'द्+इ+उ+द्युत्+एश्'—

२१९—संप्रसारणाच्च ॥ ६ । १ । १०६ ॥

संप्रसारण से अच् परे हो तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होवे । यहां 'इ' संप्रसारण से परे उकार को पूर्वरूप होकर—दि+द्युत्+एश् = दिद्युते, दिद्युताते, दिद्युतिरे द्योतितासे, द्योतिष्यते, द्योतिषते, द्योतिषातै, द्योतताम्, अद्योतत, द्योतत, द्योतिषीष्ट ।

२२०—द्युद्भ्यो लुङि ॥ १ । ३ । ९१ ॥

द्युत आदि धातुओं से परे जो लुङ् लकार उसके स्थान में परस्मैपद संज्ञक प्रत्यय विकल्प करके हों । ये द्युत आदि धातु सामान्य करके आत्मनेपदी हैं, लुङ् में परस्मैपद किसी से प्राप्त नहीं, इस कारण इस सूत्र में अप्राप्त विभाषा है । फिर परस्मैपद विषय में अङ् होकर—अद्युतत्, अद्युतताम्, अद्युतन्, अद्युतः, अद्युत-

तम्, अद्युतत, अद्युतम्, अद्युताव, अद्युताम। आत्मनेपद पक्ष में—अद्योतिष्ट, अद्योतिषाताम्, अद्योतिषत, अद्योतिष्यत। यहां से लेकर कृपू धातु पर्यन्त सब धातुओं में (२२०) (२१७) ये दोनों सूत्र लुङ् लकार में लगा करेंगे॥ ७५५ [श्विता] वर्णे = श्वेतवर्णे। इस धातु का आकार इत्संज्ञक होता है उसका फल कृदन्त, में आवेगा। श्वेतत, शिश्विते, श्वेतितासे, श्वेतिष्यते, श्वेतिषतै, श्वेतिषातै, श्वेतताम्, अश्वेतत, श्वेतेत, श्वेतिषीष्ट, अश्वितत्, अश्वेतिष्ट, अश्वेतिष्यत॥ ७५६ [ञिमिदा]* स्नेहने = प्रीति। यहां (१५०) सूत्र से ञि की इत्संज्ञा और आकार भी इस धातु का इत् जाता है। मेदत, मिमिदे, मिमिदाते, मिमिदिरे, मेदिता, मेदिष्यते, मेदिषतै, मेदिषातै, मेदताम्, अमेदत, मेदेत, मेदिषीष्ट, अमिदत्, अमेदिष्ट, अमेदिष्यत॥ ७५७ [ञिष्विदा-

---

* इस धातु पर जो भट्टोजिदीक्षित ने "मिदेर्गुणः" सूत्र लगाया है सो सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि यह सूत्र दिवादिगण के मिद धातु से श्यन् प्रत्यय के अपित् होने से (५१) गुण प्राप्त नहीं होता, वहां लगता है। और काशिका कार ने भी दिवादिगण के ही उदाहरण इस सूत्र पर दिये हैं। और लिट् लकार प्रथमपुरुष एकवचन "एश" में शित्करण सर्वादेशार्थ है, गुण होने के लिये नहीं[1]। और यह बात कभी नहीं हो सकती कि जो अन्त में शित् हो उनको शित् कार्य न हो, क्योंकि चानश् आदि की सार्वधातुक संज्ञा होती है। इस कारण एश् में भी गुण की प्राप्ति नहीं हो सकती फिर यह सूत्र इस धातु पर लिखना अत्यन्त विरुद्ध है।

---

1. वस्तुतः 'एश्' में उक्त सूत्र से गुण की प्राप्ति ही नहीं होती, क्योंकि यहां 'शिति' पद की अनुवृत्ति है। यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे (परि० ३३) नियम से शित् जिसके प्रारम्भ में होगा उसी के परे गुण होगा। एश् में शित् आदि में नहीं है, अन्त में है।

दा] स्नेहनमोचनयोः=प्रीति और छोड़ देना। यहां भी पूर्ववत् ञि और आ इत् जाते हैं। स्वेदते, सिष्विदे, अश्विदत्, अश्वेदिष्ट, अश्वेदिष्यत ॥ [ञिक्ष्विदा] इत्येके। क्ष्वेदते, चिक्ष्विदे, अक्ष्विदत्, अक्ष्वेदिष्ट ॥ ७५८ [रुच] ॥ दीप्तावभिप्रीतौ च=प्रकाश और अत्यन्त प्रीति। रोचते, रुरुचे, रुरुचाते, रुरुचिरे, रोचितासे, रोचिष्यते, रोचिषतै, रोचिषातै, रोचताम्, अरोचत, रोचेत, रोचिषीष्ट, अरुचत्, अरोचिष्ट, अरोचिष्यत ॥ ७५९ [घुट] परिवर्त्तने=सब ओर से वर्त्तना। घोटते, जुघुटे, घोटितासे, घोटिष्यते, घोटिषतै, घोटिषातै, घोटताम्, अघोटत, घोटेत, घोटिषीष्ट, अघुटत्, अघोटिष्ट, अघोटिष्यत ॥ ७६०–७६३ [रुट, लुट, लुठ, उठ] उपघाते=मारना रोटते, रुरुटे, लोटते, लुलुटे, लोठते, लुलुठे, ओठत, ऊठे, ऊठाते, ऊठिरे, अरुटत्, अरोटिष्ट, अलुटत्, अलोटिष्ट, अलुठत्, अलोठिष्ट, औठत्, औठिष्ट ॥ ७६४ [शुभ] दीप्तौ। शोभते, शुशुभे, शोभितासे, शोभिष्यते, शोभिषतै, शोभिषातै, शोभताम्, अशोभत, शोभेत, शोभिषीष्ट, अशुभत, अशोभिष्ट, अशोभिष्यत ॥ ७६५ [क्षुभ] संचलने=चलायमान होना। क्षोभते चुक्षुभे, अक्षुभत्, अक्षोभिष्ट ॥ ७६६, ७६७ [णभ, तुभ] हिंसायाम्। नभते, नेभे, नेभाते, नेभिरे, नभितासे, नभिष्यते, नाभिषतै, नाभिषातै, नभताम्, अनभत, नभेत, नभिषीष्ट, अनभत्, अनभिष्ट, अनभिष्यत्, अतुभत्, अतोभिष्ट ॥ ७६८—७७० [स्रंसु, ध्वंसु, भ्रंसु] अवस्रंसने=गिरना। ध्वंसु गतौ च। स्रंसते, सस्रंसे, ध्वंसते, दध्वंसे, भ्रंसते, बभ्रंसे। लुङ् लकार में अङ् प्रत्यय के परे [(१३९) सूत्र से नकार के अनुस्वार का लोप होकर—अस्रसत्, अस्रंसिष्ट, अध्वसत्, अध्वंसिष्ट, अभ्रसत्, अभ्रंसिष्ट ॥ ७७१, ७७२ [भ्रंशु, भ्रंशु] अध पतने=नीचे गिरना। भ्रंशते, भ्रंशते, बभ्रंशे, बभ्रंशे, भ्रंशितासे, भ्रंशिष्यते, भ्रंशिषतै, भ्रंशिषातै, भ्रंशताम्,

अभ्रशत, अशेत, अशिषीष्ट, अभ्रशत्, अभ्रशिष्ट, अभ्रशत्, अभ्रं-शिष्ट, अभ्रंशिष्यत ॥ ७७३ [स्रंभु] विश्वासे। स्रम्भते, सस्रम्भे, अस्रमत्, अस्रम्भिष्ट ॥ ७७४ [वृतु] वर्तते = वर्तना। वर्तते, वर्तेते, वर्तन्ते, वर्तसे, वर्तेथे, वर्तध्वे, वर्ते, वर्तावहे, वर्तामहे; ववृते, ववृताते, ववृतिरे, ववृतिषे, ववृताथे, ववृतिध्वे, ववृते, ववृतिवहे, ववृतिमहे; वर्तितासे।

२२१—वृद्भ्यः स्यसनोः ॥ १ । ३ । ९२ ॥

वृतु आदि पांच धातुओं से परे स्य और सन् प्रत्यय के विषय में परस्मैपद संज्ञक प्रत्यय विकल्प करके हों। यहां लृट् लकार में परस्मैपद तिप् आदि होकर—'वृत्+स्य+तिप्' इस अवस्था में इट् का आगम प्राप्त है इसलिये—

२२२—न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः ॥ ७ । २ । ५९ ॥

वृतु आदि चार धातुओं से परे जो सकारादि आर्धधातुक उसको इट् का आगम न हो परस्मैपद विषय में। फिर (५२) से गुण होकर—वर्त्स्यति, वर्त्स्यतः, वर्त्स्यन्ति। जिस पक्ष में परस्मैपद प्रत्यय नहीं होते वहां—वर्तिष्यते, वर्तिष्येते, वर्तिष्यन्ते, वर्तिषते, वर्तिषाते, वर्तताम्, वर्तेताम्, वर्तन्ताम्, अवर्तत, वर्तेत, वर्तिषीष्ट, अवृतत्, अवर्तिष्ट, अवर्त्स्यत्, अवर्तिष्यत ॥ ७७५ [वृधु] वृद्धौ = बढ़ना। ७७६ [शृधु] शब्दकुत्सायाम् = निन्दित शब्द होना। इन दोनों धातुओं में वृतु के समान साधुत्व जानो। वर्धते, वर्धेते, वर्धन्ते, ववृधे, वर्धितासे, वर्त्स्यति। यहां दन्त्योष्ठ्य वकार के होने से भकार (२०४) नहीं होता। वर्धिष्यते, वर्धिषते, वर्धिषाते, वर्धताम्, अवर्धत, वर्धेत, वर्धिषीष्ट, अवृधत्, अवर्धिष्ट, अवर्त्स्यत्, अवर्धिष्यत; शर्धते, शशृधे, शर्त्स्यति, शर्धिष्यते, अशृधत्, अशर्धिष्ट, अशर्त्स्यत्, अशर्धिष्यत ॥ ७७७ [स्यन्दू]

प्रस्रवणे=झरना। यह धातु ऊदित् है इस कारण वलादि आर्ध-धातुक विषय में इट का आगम विकल्प से (१४०) होता है। स्यन्दते, स्यन्देते, सस्यन्दे, सस्यन्दाते, सस्यन्दिरे, सस्यन्दिषे, सस्यन्त्से, सस्यन्दाथे, सस्यन्दिध्वे, सस्यन्ध्वे, सस्यन्द्ध्वे। यहां "झरो झरि सवर्णे[1]" इस सूत्र से 'न्' से परे दकार का लोप विकल्प करके होता है। सस्यन्द, सस्यन्दिवहे, सस्यन्दिमहे, सस्यन्द्वहे, सस्यन्म्महे। यहां दकार को अनुनासिक "यरोऽनुनासिके [प्रत्यये भाषायां नित्यवचनम्"][2] वार्तिक से नित्य करके होता है। स्यन्दिता, स्यन्दितारौ, स्यन्दितारः, स्यन्दितासे, स्यन्ता। यहां भी "झरो झरि०" सूत्र से दकार लोप होता है, और लृट् में स्य प्रत्यय के परे परस्मैपद (२२१) होकर (१४०) सूत्र अन्तरङ्ग भी है तो भी इस के विकल्प का बाधकर (२२२) सूत्र में चतुर्ग्रहण सामर्थ्य से परस्मैपद विषय में निषेध ही होता है। स्यन्त्स्यति, स्यन्दिष्यते, स्यन्त्स्यते, स्यन्दिषते, स्यन्दिषातै, स्यन्त्सतै, स्यन्त्सातै स्यन्दताम्, अस्यन्दत, स्यन्देत, स्यन्दिषीष्ट, स्यन्त्सीष्ट, अट्+स्यन्द+अङ्+तिप्=(२२०) (२१७) (१३६) अस्यदत्, अस्यदताम्, अस्यदन्। आत्मनेपद विषय में—अस्यन्दिष्ट, अस्यन्दिषाताम्, अनिट्पक्ष में—अस्यन्त, अस्यन्त्साताम्, अस्यन्त्सत, अस्यन्त्थाः, अस्यन्त्साथाम्, अस्यन्ध्वम्, अस्यन्त्सि अस्यन्त्स्वहि, अस्यन्त्स्महि, अस्यन्त्स्यत्, अस्यन्दिष्यत, अस्यन्त्स्यत॥ ७७८ [क्ृपू] सामर्थ्ये=समर्थ होना।

२२३—कृपो रो लः ॥ ८। २। १८॥

कृप धातु के गुण हुए और ऋकारान्तर्गत जो रेफ है उन दोनों को लकार आदेश होता है। यहां ऋकार में जितना अंश रेफ का

---

१ सन्धि० २१३। २ सन्धि० २२०।

है उसको ल होकर क्लृप् धातु होता है। फिर गुण (५२) होकर—कल्पते, कल्पेते, कल्पन्ते, चक्लृपे, चक्लृपाते, चक्लृपिरे। यह भी धातु ऊदित् है, इस कारण इडागम भी विकल्प से होता है। चक्लृपिषे, चक्लृप्से, चक्लृपिध्वे, चक्लृब्ध्वे, चक्लृपिवहे, चक्लृप्वहे, चक्लृपिमहे, चक्लृप्महे।

२२४—लुटि च क्लृपः ॥ १ । ३ । ९३ ॥

लुट् लकार स्य और सन् प्रत्यय परे हों तो कृपू धातु से परस्मैपद संज्ञक प्रत्यय विकल्प करके होवें। यहां परस्मैपद पक्ष में—

२२५—तासि च क्लृपः ॥ ७ । २ । ६० ॥

कृपू धातु से परे जो तास् और सकारादि आर्धधातुक प्रत्यय उन का इट् का आगम न होवे परस्मैपद विषय में। कल्प्ता, कल्प्तारौ, कल्प्तारः, कल्प्तासि, [आत्मनेपद इट् पक्ष में—कल्पिता, कल्पितारौ, कल्पितारः,] कल्पितासे। [अनिट् पक्ष में—कल्प्ता, कल्प्तारौ, कल्प्तारः,] कल्प्तासे, कल्प्स्यति, कल्पिष्यते, कल्प्स्यते, कल्पिषते, कल्पिषाते, कल्प्सते, कल्प्साते, कल्पताम्, अकल्पत, कल्पेत, कल्पिषीष्ट, कल्प्सीष्ट, अक्लृपत्, अकल्पिष्ट, अक्लृप्त (१४२) सकार का लोप होता है। अकल्प्स्यत्, अकल्पिष्यत, अकल्प्स्यत। "वृत्" सम्पूर्णो द्युतादिर्वृतादिश्च। ये द्युत आदि और वृतु आदि २५ धातु समाप्त हुए॥

अथ [घटादयस्] त्वरत्यन्ता [त्रयोदश] आत्मनेपदिनः। अब त्वर धातु पर्यन्त १३ धातु आत्मनेपदी कहते हैं॥ ७७९ [घट] चेष्टायाम्। घटते, जघटे, जघटाते, घटितासे, घटिष्यते, घटिषते, घटिषाते, घटताम्, अघटत, घटेत, घटिषीष्ट, अघटिष्ट, अघटिष्यत॥ ७८० [व्यथ] भयसञ्चलनयोः = डरना और चंचल होना। व्यथते, व्यथेते, व्यथन्ते।

२२६—व्यथो लिटि ॥ ७ । ४ । ६८ ॥

व्यथ धातु के अभ्यास को सम्प्रसारण हो लिट् लकार परे हो तो। व्यथ के 'य' को इ सम्प्रसारण होके (२१९) से पूर्वरूप एकादेश होता है। विथ्+व्यथ्+एश्=विव्यथे, विव्यथाते, विव्यथिरे, व्यथितासे, व्यथिष्यते, व्यथिषते, व्यथिषाते, व्यथताम्, अव्यथत, व्यथेत, व्यथिषीष्ट, अव्यथिष्ट, अव्यथिष्यत ॥ ७८१ [प्रथ] प्रख्याने[1]=प्रसिद्धि। प्रथते, पप्रथे, अप्रथिष्ट ॥ ७८२ [प्रस] विस्तारे। प्रसते, पप्रसे ॥ ७८३ [म्रद] मर्दने=मलना। म्रदते, मम्रदे ॥ ७८४ [स्खद] स्खदने=दौड़ना। स्खदते, चस्खदे ॥ ७८५ [क्षजि] गतिदानयोः=गति और[2] देना। क्षञ्जते, चक्षञ्जे ॥ ७८६ [दक्ष] गतिहिंसनयोः=गति और मारना। दक्षते, ददक्षे, दक्षितासे, दक्षिष्यते, दक्षिषते, दक्षिषाते, दक्षताम्, अदक्षत, दक्षेत, दक्षिषीष्ट, अदक्षिष्यत ॥ ७८७ [क्रप] कृपायां गतौ च। क्रपते, क्रपेते, क्रपन्ते, चक्रपे ॥ ७८८—७९० [कदि, क्रदि, क्लदि] वैक्लव्ये। वैकल्य इत्यन्ये=विविध प्रकार की गति और सख्या[2]। ये तीनों धातु सवर्गान्तों में परस्मैपदी आह्वान और रोदन अर्थ में लिख चुके हैं

---

१. सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास में पृथिवी शब्द के निर्वचन और उणादिकोष १। १३७, १५० की वृत्ति में 'प्रथ' धातु का विस्तार अर्थ लिखा है। उणादिकोष के प्रथम संस्करण में सूत्र १। १२८ की वृत्ति में 'प्रथते कीर्तिं वा विस्तारयति विस्तृतः पदार्थो वा' पाठ था, परन्तु द्वितीय संस्करण में किसी मूढ संशोधक ने ' ' प्रख्यापयति; प्रख्यात पदार्थो वा' पाठ बना दिया।

२. 'निर्बलता और घबराहट' अर्थ होना चाहिये।

फिर इन का यहां लिखना मित्संज्ञा, अर्थभेद और आत्मनेपद[1] आदि के लिये है और इस प्रकरण में 'घट धातु से लेकर फण, गतौ पर्यन्त' में बहुत ऐसे धातु लिखे हैं जिन में से किन्हीं को पूर्व लिख चुके, कोई आगे के गणों में आवेंगे और बहुतेरे ऐसे भी हैं जो कहीं नहीं आवेंगे। मित् संज्ञा का गण सूत्र इसी प्रकरण में आगे लिखा है। क्न्दते, क्नन्दते, क्लन्दत, चक्न्दे, चक्रन्दे, चक्लन्दे, कन्दितासे, कन्दिष्यते, कन्दिषतै, कन्दिषातै, कन्दताम्, अकन्दत, कन्देत, कन्दिषीष्ट, अकन्दिष्ट, अकन्दिष्यत ॥ [कद, क्रद, क्लद] इत्यन्ये। कदते, क्रदते, क्लदते, चकदे, चक्रदे, चक्लदे. कदितासे, कदिष्यते, कादिषतै, कादिषातै, कदताम्, अकदत, कदेत, कदिषीष्ट, अकदिष्ट, अकदिष्यत ॥ ७९१ [ञित्वरा] सम्भ्रमे = सम्यक् भ्रान्ति[2]। त्वरते, तत्वरे, त्वरिता, त्वरिष्यते, त्वारिषतै, त्वारिषातै, त्वरताम्, अत्वरत, त्वरेत, त्वरिषीष्ट, अत्वरिष्ट, अत्वरिष्यत ॥ इति घटादयः षित उदात्ता अनुदात्तेत आत्मनेभाषा त्रयोदश। ये घट आदि १३ धातु षित्-संज्ञक समाप्त हुए, षित् का प्रयोजन कृदन्त में आवेगा[3]।

अथ [ज्वरादयः] फणान्ता· [द्वापञ्चाशत्] परस्मैपदिनः। अब [ज्वरादि] फण धातु पर्यन्त ५२ परस्मैपदी कहते हैं॥ ७९२ [ज्वर] रोगे। ज्वरति, जज्वार ॥ ७९३ [गड] सेचने = सींचना। गडति, जगाड, जगडतु, गडितासि, गडिष्यति, गाडिषति, गाडिषाति, गडतु, अगडत्, गडेत्, गड्यात्, अगाडीत्, अगडीत्, अगडिष्यत् ॥ ७९४ [हेड] वेष्टने = लपेटना।

1. 'किन्त्वात्मनेपदिषु पाठसामर्थ्यात् तदर्थमपि' इति सायण.।

2. यहां सम्भ्रम का अर्थ शीघ्रता है।

3. षिद्भिदादिभ्योऽङ् (अ॰ ३।३।१०४) से अङ् प्रत्यय होता है। जैसे घटा, व्यथा।

हेडति, जिहेड। यह धातु अनादर अर्थ में आत्मनेपद विषय में आ चुका[1] है, इस धातु की अनादर अर्थ में मित सञ्ज्ञा नहीं होगी वहा 'हेडयति' और मित्संज्ञा में ह्रस्व होकर, 'हिडयति'॥ ७९५, ७९६ [वट, भट[2]] परिभाषणे। वटति, ववाट, ववटतुः, वटितासि, वटिष्यति, वाटिपति, वाटिपाति, वटतु, अवटत्, वटेत्, वट्यात्, अवटीत्, अवाटीत्, अवटिष्यत्; भटति, बभाट॥ ७९७ [णट] नृतौ[3] = नाचना। नटति, ननाट। यह धातु इसी अर्थ में परस्मैपदी आ चुका है फिर यहा पढने से यही प्रयोजन है कि नृति में भी दो भेद हैं एक नाटक दूसरा नाचना। सो यहा नाचने अर्थ मे मित्सञ्ज्ञा होती है॥ ७९८ [ष्टक] प्रतिघाते = मारना। स्तकति, तस्ताक॥ ७९९ [चक] तृप्तौ[4]। चकति, चचाक, चेकतुः, चेकुः, अचाकीत्, अचकीत्॥ ८००. [कखे] हसने। कखति, अकखीत् (१६२)॥ ८०१ [रगे] शङ्कायाम्। रगति, रराग, रेगतुः, रेगुः, रगिता, रगिष्यति, रागिपति, रागिपाति, रगतु, अरगत्, रगेत्, रग्यात्, अरगीत्, अरगिष्यत्॥ ८०२ [लगे] सङ्गे = मिलना। लगति, अलगत्॥ • ८०३—८०६

---

१. यहा परस्मैपद प्रकरण में पाठसामर्थ्य से परस्मैपद होता है।

२. वट वेष्टने (३०७) भट भृतौ (३१५) इन का मित्सञ्ज्ञा के लिये यहां अनुवाद है।

३. नृति शब्द का अर्थ पूर्व पृष्ठ ७५ की टि० १ में नाटक, नृत्य और नृत्त तीन के लिये हैं। यहां नृत्य और नृत्त को समान्यरूप से 'नाच' के अन्तर्गत माना है, क्योंकि दोनों में अङ्गविक्षेप अर्थ समान है।

४. यह धातु तृप्ति और प्रतिघात अर्थ में आत्मनेपदी पढ़ाए (क्रमाङ्क ९४) गये हैं। इसकी तृप्ति अर्थ में मित्संज्ञा होती है, और परस्मैपद प्रकरण में पाठ होने से हेड धातु के सदृश परस्मैपद होता है।

[ह्रगे, ह्लगे, षगे, ष्टगे] संवरणे=ढांकना। ह्रगति, ह्लगति, सगति, स्तगति, अह्रगीत्, अह्लगीत्, असगीत्, अस्तगीत्॥ ८०७ [कगे] नोच्यते[1]। कग धातु की विशेष अर्थ में मित्संज्ञा नहीं कहते, क्योंकि यह धातु सामान्यार्थवाची है। कगति, चकाग, अकगीत्॥ ८०८, ८०९ [अक, अग] कुटिलायां गतौ=टेढ़ा चलना। अकति, अगति॥ ८१०, ८११ [कण, रण] गतौ। कणति, चकाण, रणति, रराण, रेणतुः, अकाणीत्, अकणीत्, अराणीत्, अरणीत्॥ ८१२—८१४ [चण, शण, श्रण] दाने च, [शण] गतावित्यन्ये। किन्हीं के मत में शण धातु केवल गत्यर्थ ही है दानार्थ नहीं, चण और श्रण धातुओं के दान और गति दोनों अर्थ हैं॥ ८१५—८१८ [श्रथ, श्लथ, क्रथ, क्लथ] हिंसार्थाः। श्रथति, श्लथति, क्रथति, क्लथति॥ ८१९ [चन] च। चकार से हिंसा अर्थ का सम्बन्ध होता है। चनति, चचान, चेनतुः, चनिता, चनिष्यति, चानिपति, चानिपाति, चनतु, अचनत्, चनेत्, चन्यात्, अचानीत्, अचनीत्, अचनिष्यत्॥ ८२० [वनु] च नोच्यते। एक वनु धातु तनादिगण में भी पढ़ा है, परन्तु उसका पाठ यहां मित्संज्ञा के लिये नहीं, इसी कारण इसके अपूर्व होने से इसका विशेष अर्थ यहां मित्संज्ञा प्रकरण में नहीं कहते, और तनादिगण का वनु धातु इसी ग्रन्थ में आगे पढ़ा है। वनति, ववान, अवानीत्, अवनीत्॥ ८२१ [ज्वल] दीप्तौ[2]। ज्वलति,

---

1. कुछ वैयाकरणों का मत है—अनेकार्थ होने से इस धातु का अर्थनिर्देश नहीं किया।

2. यह धातु आगे (क्रमाङ्क ८४५) इसी अर्थ में पढ़ी है, यहां मित्संज्ञा के लिये अनुवाद है।

जज्वाल, जज्वलतुः, जज्वलुः, अज्वालीत् (१९६), अज्वलिष्यत् ॥ ८२२, ८२३ [ह्वल, ह्मल] सञ्चलने । ह्वलति, ह्मलति, जह्वाल, जह्माल, अह्वालीत्, अह्मालीत् ॥ ८२४ [स्मृ] आध्याने = प्राप्ति की इच्छापूर्वक स्मरण करना । यह धातु इसी गण में आगे चिन्ता अर्थ में लिखा है । इस के प्रयोग भी वहीं लिखे हैं । यहां आध्यान अर्थ में मित्संज्ञा होती है ॥ ८२५ [दॄ] भये = डर । ८२६ [नॄ] नये = नम्रता । ये दोनों धातु क्र्यादिगण में आवेंगे ॥ ८२७ [श्रा] पाके = पकाना । यह अदादिगण का है [और 'श्रै पाके' इस कृतात्व भौवादिक का भी ग्रहण होता है[1]] ॥ ८२८ [ज्ञा] मारणतोषणनिशामनेषु[2] = मारना, सन्तोष और प्रत्यक्ष ज्ञान । इन अर्थों में ज्ञा धातु की मित्संज्ञा है, अन्यत्र नहीं । और यह धातु भी क्र्यादिगण का है ॥ ८२९ [चलिः] कम्पने[3] = कांपना । यह धातु आगे आयगा ॥ ८३० [छदि] ऊर्जने = बल वा प्राणपोषण । यह चुरादिगण में आवेगा ८३१ [लडिः] जिह्वोन्मथने[4] = जीभ चलाना । यह पीछे आ चुका है ॥ ८३२ [मदी] हर्षग्लेपनयोः = आनन्द और दीनता । यह दिवादिगण का है ॥ ८३३ [ध्वन] शब्दे । यह इसी गण में

---

१. लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव (परि० ९१) से आदादिक का, लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव (परि० ७९) से भौवादिक का ग्रहण होता है ।

२. यह गणसूत्र है इस का पाठ 'मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा' ऐसा है । अन्य धातुओं के सादृश्य से यहां धातु का पूर्व निर्देश कर दिया है ।

३. गणसूत्र का पाठ 'कम्पने चलिः' है ।

४. गणसूत्र का पाठ 'जिह्वोन्मथने लडिः' है ।

आगे लिखा है ॥ ८३४-८४० [दलि-वलि-स्खलि-रणि-ध्वनि-त्रपि-क्षपयश्चेत्यन्ये] इन में ध्वन और रण दोनों धातु आ चुके, और दल धातु विशरण, वल संवरण, स्खल संचलन और त्रपूष् लज्जा अर्थ में आ चुके हैं, और क्षै धातु आगे इसी गण में आवेगा। उसका पुगन्त रूप निर्देश किया है ॥ ८४१ [स्वन] अवतंसने। यह धातु शब्द अर्थ में आगे लिखा है। घटादयो मितः। 'घट चेष्टायाम्' धातु से लेकर जितने धातु लिख चुके हैं उन सब की मित्संज्ञा होवे। इस मित् संज्ञा का प्रयोजन णिजन्त[1] तथा कर्मकर्तृप्रक्रिया[2] और णमुल् प्रत्यय[3] में आवेगा ॥ [जनी-जृष्-क्नसु-रञ्जोऽमन्ताश्च] जनी-जृष् और क्नसु ये तीनों दिवादिगण के हैं, और रञ्ज धातु भ्वादि और दिवादिगण का है। अम् जिस के अन्त में हो ऐसे क्षम्, जम्, गम्, रम्, नम आदि सब गणों के धातु मित्संज्ञक होते हैं। क्नसति, चक्नास, क्नसिता, क्नसिष्यति, क्नासिषति, क्नासिपाति, क्नसतु, अक्नसत्, क्नसेत्, क्नस्यात्, अक्नासीत्, अक्नसीत्, अक्नसिष्यत् ॥ [ज्वल-ह्वल-ह्मल-नमामनुपसर्गाद्वा] इन में ज्वल, ह्वल और ह्मल, धातु तो इसी मित्संज्ञा प्रकरण में लिख चुके हैं, और नम धातु अमन्त है इन सब की नित्य मित्संज्ञा प्राप्त है। उसका विकल्प होने से प्राप्तविभाषा है, परन्तु ये धातु उपसर्ग से परे न हों[4] इतना विशेष है।

---

१. घटयति—यहां 'मितां ह्रस्वः' (आ० २६१) से ह्रस्व हो जाता है।
२. अशमि, अशामि। णिजन्त से कर्मवद्भाव में 'अच कर्मकर्तरि' (आ० ७३३) से चिण्, उसके परे रहने पर 'चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्' (आ० ७२६) से विकल्प से दीर्घत्व। ३. शमंशमम्, शामंशामम्। णिजन्त से णमुल्, 'चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्' (आ० ७२६) से विकल्प से दीर्घत्व। ४. अर्थात् उपसर्ग से परे होने पर नित्य मित्संज्ञा होती है।

[ग्ला-स्ना-वनु-वमाञ्च] अनुपसर्गपूर्वक ग्लै, स्ना, वनु और वम धातु की मित्संज्ञा विकल्प करके होवे। इस सूत्र में प्राप्ताप्राप्त विभाषा यों है कि ग्ला, और स्ना धातु का मित्संज्ञा प्राप्त नहीं और [वन धातु का घटादि में पाठ होने तथा] वम धातु की अमन्त होने से प्राप्त है, उन दोनों का विकल्प किया है ॥ [न कम्यमिचमाम्] कम्, अम् और चम् धातुओं की मित्संज्ञा अमन्त होने से नित्य प्राप्त है, सो न होवे ॥ [शमो दर्शने] शम् धातु की दर्शन अर्थ में मित्सञ्ज्ञा न होवे । निशामयति ॥ [यमोऽपरिवेषणे] यम धातु की अपरिवेषण अर्थात् भोजन से अन्य अर्थ में मित्सञ्ज्ञा न होवे ॥ [स्खदिरवपरिभ्याञ्च] अव और परि उपसर्गों से परे जो स्खद धातु उसकी मित्संज्ञा न होवे ॥ ८४२ [फण] गतौ । फणति, पफाण ।

२२७—फणां च सप्तानाम् ॥ ६ । ४ । १२५ ॥

फण, राज्, भ्राज्, भ्राशृ, भ्लाशृ, स्यमु और स्वन, इन सात धातुओं के अवर्ण को एकारादेश और अभ्यास का लोप विकल्प करके हो, कित्संज्ञक लिट् और सेट् थल् परे हों तो । इन धातुओं को एत्वाभ्यासलोप किसी सूत्र से प्राप्त नहीं, इसलिये यह अप्राप्त विभाषा है । फेणतुः, फेणुः, पफणतुः, पफणुः, फेणिथ, पफणिथ, फणिता, फणिष्यति, फाणिपति, फाणिपयति, फणतु, अफणत्, फणेत्, फण्यात्, अफणीत्, अफाणीत्, अफणिष्यत् ॥ "वृत" ॥ घटादयः समाप्ताः । ये घट आदि मित्संज्ञक धातु समाप्त हुए ॥

८४३ [राजृ] दीप्तौ । उदात्तः स्वरितेत् । यह धातु स्वरितेत् है, अर्थात् क्रिया का फल कर्ता के लिये हो तो आत्मनेपद (१०५) होता [है] और अन्यत्र परस्मैपद, इस प्रकार उभयपद के प्रयोग जानो । राजते, राजेते, राजन्ते, राजति, राजतः,

राजन्ति, रेजे (२२७), रराजे, रराज, रेजतुः, रराजतुः, राजितासे, राजितासि, राजिष्यते, राजिष्यति, राजिषतै, राजिषातै, राजिषति, राजिषाति, राजताम्, राजतु, अराजत, अराजत्, राजेत, राजेत्, राजिषीष्ट, राज्यात्, अराजिष्ट, अराजीत्, अराजिष्यत, अराजिष्यत् ॥

८४४-८४६ [टुभ्राजृ, टुभ्राशृ, टुभ्लाशृ] दीप्तौ। उदात्ता अनुदात्तेत आत्मनेपदिनः। तीनों धातु आत्मनेपदी सेट् हैं। इन धातुओं के टु की इत्संज्ञा (१५०) [से होती है], भ्राजते, भ्रेजे (२२७), बभ्राजे भ्राजितासे, भ्राजिष्यते, भ्राजिषतै, भ्राजिषातै, भ्राजताम्, अभ्राजत, भ्राजेत, भ्राजिषीष्ट, अभ्राजिष्ट, अभ्राजिष्यत। भ्राशृ तथा भ्लाशृ धातु से विकल्प करके श्यन् (१८८) पक्ष में शप् होता है। भ्राश्यते भ्राश्येते, भ्राश्यन्ते, भ्राशते, भ्रेशे, बभ्राशे, भ्राशितासे, भ्राशिष्यते, भ्राशिषतै, भ्राशिषातै, भ्राश्यतै, भ्राश्यातै, भ्राशतै, भ्राशातै, भ्राश्यताम्, भ्राशताम् अभ्राश्यत, अभ्राशत, भ्राश्येत, भ्राशेत, भ्राशिषीष्ट, अभ्राशिष्ट, अभ्राशिष्यत, भ्लाश्यते, भ्लाशते, भ्लेशे, बभ्लाशे।

अथ स्यमादयः परस्मैपदिनः षड्विंशतिः। अब स्यम आदि २६ (छब्बीस) धातु परस्मैपदी कहते हैं। ८४७-८४९ [स्यमु, स्वन, ध्वन] शब्दे। स्यमति, सस्याम, स्येमतुः (२२७), सस्यमतुः, स्यमितासि, स्यमिष्यति, स्यामिषति, स्यामिषाति, स्यमतु अस्यमीत् (१६२), अस्यमिष्यत्; स्वनति, स्वेनतुः, सस्वनतुः, अस्वानीत्, अस्वनीत् (१४४)। यहां तक फणादि सात धातु जो (२२७) सूत्र में कहे हैं समाप्त हुए। ध्वनति, दध्वान, दध्वनतुः, ध्वनितासि, ध्वनिष्यति, ध्वानिषति, ध्वानिषाति, ध्वनतु, अध्वनत्, ध्वनेत्, ध्वन्यात्, अध्वानीत्, अध्वनीत्,

अस्तनिष्यन् ॥ ८५०, ८५१ [षम ष्टम] अवैकल्ये = सुस्थिर, होना। समति, ससाम, सेमतुः, असमीत् (१६२); स्तमति, तस्ताम, तस्तमतुः, अस्तमीत् ॥ ८५२ [ज्वल] दीप्तौ। ज्वलति, जज्वाल, अज्वालीत् (१९६) ॥ ८५३ [चल] कम्पने = कांपना। चलति, चचाल, चेलतुः, चलितासि, चलिष्यति, चालिषति, चालिषाति, चलतु, अचलत्, चलेत्, चल्यात्, अचालीत् (१९६), अचलिष्यत् ॥ ८५४ [जल] घातने = मारना। जलति, जजाल, जेलतुः, अजालीत् (१९६) ॥ ८५५, ८५६ [टल ट्वल] वैक्लव्ये = विरुद्ध चाल। टलति, टटाल, टेलतुः, ट्वलति, टट्वाल, टट्वलतुः, अटालीत्, अट्वालीत् अटलिष्यत् अट्वलिष्यत् ॥ ८५७ [ष्ठल] स्थाने। स्थलति, तस्थाल, अस्थालीत् ॥ ८५८ [हल] विलेखने = खोदना व जोतना। हलति, जहाल, अहालीत् ॥ ८५९ [णल] गन्धे, बन्धन इत्येके। नलति, ननाल, नेलतुः, अनालीत् ॥ ८६० [पल] गतौ। पलति, पेलतुः, अपालीत् ॥ ८६१ [बल] प्राणन धान्यावरोधे,च = जीवन और धानों का रोकना। बलति, बबाल, बेलतुः, बेलुः, अबालीत् ॥

८६२ [पुल] महत्त्वे = बड़ा होना। पोलति, पुपोल, पुपुलतुः, अपोलीत् ॥ ८६३ [कुल] संस्त्याने बन्धुषु च = भाई बन्धुओं का समूह। कोलति, चुकोल, चुकुलतुः, कोलितासि, कोलिष्यति, कोलिषति, कोलिषाति, कोलतु, अकोलत्, कोलेत्, कुल्यात्, अकोलीत्, अकोलिष्यत् ॥ ८६४–८६६ [शल, हुल, पत्लृ] गतौ। शलति, शशाल, शेलतुः, शेलुः, अशालीत् (१९६); होलति, जुहोल, अहोलीत्; पतति, पपात, पेततुः पतितासि, पतिष्यति, पातिषति, पातिषाति, पततु, अपतत्, पतेत्, पत्यात्। इस पत धातु का लृ इत् जाता है, इस से अङ् (२१७) होकर—

२२८—पतः पुम् ॥ ७ । ४ । १६ ॥

अङ् परे हो तो पत धातु को पुम् का आगम होवे । पुम् मित् होने से अन्त्य अच् पकार से परे होता है । अट्+प+पुम्+त्+अङ्+तिप् = अपप्तत् । पुम् में से उम् भाग की इत्संज्ञा होती है । अपप्तताम्, अपप्तन्, अपप्तः, अपप्ततम्, अपप्तत, अपप्तम्, अपप्ताव, अपप्ताम, अपतिष्यत् ॥ ८६७ [क्वथे] निष्पाके—अच्छे प्रकार पकाना । क्वथति,[1] चक्वाथ । एदित् होने से अक्वथीत् (१६२) ॥ ८६८ [पथे] गतौ । पथति, पपाथ, पेथतुः, अपथीत्, अपथिष्यत्, ॥ ८६९ [मथे] विलोडने । मथति, ममाथ, मेथतुः, मथिता, मथिष्यति, माथिषति, माथिषाति, मथतु, अमथत्, मथेत्, मथ्यात्, अमथीत्, अमथिष्यत् ॥ ८७० [टुवम्] उद्गिरणे = उगिलना । टु इत् (१५०), वमति, ववाम, ववमतुः (१२९) एत्वाभ्यास लोप का निषेध । वमिता, वमिष्यति, वामिषति, वामिषाति, वमतु, अवमत्, वमेत्, वम्यात्, अवमीत् (१६२) अवमिष्यत् ॥ ८७१ [भ्रमु] चलने । वह्ना (१८८) से विकल्प करके श्यन् होता है । भ्राम्यति[1], भ्रमति ।

२२९—वा जृभ्रमुत्रसाम् ॥ ६ । ४ । १२४ ॥

कित् लिट् और सेट् थल् परे हों तो जृ, भ्रमु और त्रस धातुओं के अभ्यास का लोप और इनको एकारादेश विकल्प करके होवे । इन धातुओं में एत्वाभ्यासलोप किसी सूत्र से प्राप्त नहीं था, इस कारण यहां अप्राप्तविभाषा है । बभ्राम, भ्रेमतुः, भ्रेमुः, बभ्रमतुः, बभ्रमुः, अभ्रमात् ॥ ८७२ [क्षर] संचलने—अच्छे प्रकार चलना । क्षरति, चक्षार, चक्षरतुः, क्षरितासि क्षरिष्यति, क्षारिषति, क्षारिषाति,

1 शमामष्टानां दीर्घः श्यनि (आ० ४११) से दिवादिगणस्थ शमादि-अन्तर्गत भ्रम को दीर्घ होता है, इस को नहीं ।

चरतु, अचरत्, चरेत्, चयात्, अचारीत् (१९६) अचरिष्यत् ॥
इति स्यमादय उदात्ता उदात्तेतः समाप्ताः ॥

अथ द्वावनुदात्तेतौ । अब दो धातु आत्मनेपदी कहते हैं । उन में सह धातु सेट् और रमु अनिट् है ॥ ८७३ [षह] मर्षणे = सहना । सहते, सहेते, सहन्ते, सेहे, सेहाते, सहिता ।

२३०—सहिवहोरोदवर्णस्य ॥ ६ । ३ । ११२ ॥

सह और वह धातु के अवर्ण को ओकार आदेश होवे ढकार का लोप हुआ हो तो । यहां (२१२) सूत्र से इट् के निषेध पक्ष में तास् प्रत्यय के परे सह के हकार को ढ (२०३) [तास् के तकार को (१४१) से धकार, ष्टुत्व से ढकार] और ढलोप (२०६) से होकर—सह्+तास्+डा = सोढा, सोढारौ सोढारः, सोढासे, सोढासाथे, सोढाध्वे, सोढाहे, सोढास्वहे, सोढास्महे, सहिष्यते, साहिषते, साहिषातै, सहताम्; असहत, सहेत, सहिषीष्ट, असहिष्ट, असहिष्यत ॥ ८७४ [रमु] क्रीडायाम् = खेलना । यह धातु अनिट् है । रमते, रमेते, रमन्त, रेमे, रेमाते, रेमिरे, रेमिषे, रन्तासे, रस्यते रंसतै, रसातै, रमताम्, अरमत, रमेत, रंसीष्ट, अरंस्त, अरंसाताम्, अरस्यत ॥

अथ [पदादयः] कसन्ताः सप्त परस्मैपदिनः । [अब पदादि कसन्त सात परस्मैपदी धातु कहते हैं ।] ८७५ [षद्लृ] विशरणगत्यवसादनेषु = मारना, गति और क्लेश होना ।

२३१—पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः ॥ ७ । ३ । ७८ ॥

पा, घ्रा, ध्मा, स्था, म्ना, दाण्, दृशि, ऋ, सृ, शद और सद धातुओं को पिब, जिघ्र, धम, तिष्ठ, मन, यच्छ, पश्य, ऋच्छ, धौ,

शीय और सीद आदेश यथासंख्य करके होवें शित् प्रत्यय परे हों तो। यहां शप् के परे सद को सीद होकर—सीदति, सीदतः, सीदन्ति, ससाद, सेदतुः, सेदुः। यह [तथा अगली भी] धातु अनिट् है। सेदिथ (१४९), ससत्थ (२१५), सेदथुः, सेद, ससाद, [ससद,] सेदिव, सेदिम; सत्ता, सत्तारौ, सत्तारः, सत्तासि, सत्स्यति, सात्सति, सात्साति, सत्सति, सत्साति, सीदति, सीदाति, सीदतु, असीदत्, सीदेत्, सद्यात्। लृदित् होने से अङ् (२१७) असदत्, असदताम्, असदन्, असदः, असदतम्, असदत, असदम्, असदाव, असदाम, असत्स्यत् ॥ ८७६ [शद्लृ] शातने = तीक्ष्णता होनी[1]।

२३२—शदेः शितः ॥ १ । ३ । ६० ॥

शित् प्रत्ययविषयक शद धातु से आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय हों। जिन लकारों में शप् होता है वहाँ यह सूत्र परस्मैपद का अपवाद है। शीय (२३१) आदेश—शीयते, शीयेते, शीयन्ते, शीयसे, शशाद, शेदतुः, शेदुः, शेदिथ, शशत्थ (१४९, २१५), शत्तासि, शत्स्यति, शात्सति, शात्साति, शत्सति, शत्साति, शीयतै, शीयातै, शीयते, शीयाते, शीयताम्, अशीयत, शीयेत, शद्यात्, लृदित् होने से अङ् (२१७) अशदत्, अशदताम्, अशदन्, अशत्स्यत् ॥ ८७७ [क्रुश] आह्वाने रोदने च = बुलाना और रोना। क्रोशति, चुक्रोश, चुक्रुशतुः, चुक्रुशुः, चुक्रोशिथ (१४८) सूत्र के नियम से इट्। क्रुश् + तास् + डा, यहां—

२३३—व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ॥ ८ । २ । ३६ ॥

व्रश्च, भ्रस्ज, सृज, मृज, यज, राज, भ्राज और छकारान्त

---

१. विशीर्णता इति मैत्रेयः, तनूकरणमिति क्षीरस्वामी।

शकारान्त धातुओं के अन्त्य वर्ण को ष आदेश होवे झल् परे हो वा पदान्त में। इस सूत्र में राज और भ्राज धातु का ग्रहण पदान्त में षत्व होने के लिये है, क्योंकि इन दोनों के सेट् होने से झलादि आर्धधातुक में इट् के व्यवधान में प्राप्ति नहीं होती। यहां प्रकृत में शान्त क्रुश धातु के शकार को मूर्धन्य और "ष्टुना ष्टुः"[1] सूत्र से तास् के तकार को टकार होकर—क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः, क्रुश+स्य+ति=क्रोक्ष्यति (२०५), इसी प्रकार लेट् में जानो+क्रुश्+स्+अट्+तिप्=क्रोक्षति, क्रोक्षाति, क्रोशति, क्रोशाति, क्रोशतु, अक्रोशत्, क्रोशेत्, क्रुश्यात्, अट्+क्रुश्+क्स+तिप्=अक्रुक्षत् (२०७), अक्रुक्षताम्, अक्रुक्षन्, अक्रुक्ष, अक्रोक्ष्यत्। ये षद् आदि तीन धातु अनिट् थे॥ ८७८ [कुच] सम्पर्चनकौटिल्यप्रतिष्टम्भविलेखनेषु=छूना, टेढाई, रोक रखना और खोदना। कोचति, चुकोच, चुकुचतुः, कोचिता, कोचिष्यति, कोचिषति, कोचिषाति, कोचतु, अकोचत्, कोचेत्, कुच्यात्, अकोचीत्, अकोचिष्यत्॥ ८७९ [बुध] अवगमने=ज्ञान होना। बोधति, बुबोध, बुबुधतुः, बुबुधुः, बोधिता, बोधिष्यति, बोधिषति, बोधिषाति, बोधतु, अबोधत्, बोधेत्, बुध्यात्, अबोधीत्, अबोधिष्यत्॥ ८८० [रुह] बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च=बीज की उत्पत्ति और प्रकट होना। रोहति, रुरोह, रुरुहतुः। यह धातु भी अनिट् है। रुह्+तास्+डा=रोढा (२०३) (१४१) और "ष्टुना ष्टुः"[2] (२०६) रोढारौ, रोढारः, रोढासि, रोह्+स्य+ति=रोक्ष्यति (२०३) (२०५), रोक्ष्यतः, रोक्ष्यन्ति, रोक्षति, रोक्षाति, रोहति, रोहाति, रोहतु, अरोहत्, रोहेत्, रुह्यात्, अट्+रुह्+क्स+तिप्=अरुक्षत् (२०७), अरुक्षताम्, अरुक्षन्, अरो-

१. सन्धि० २१४। २. सन्धि० २१४।

ष्यत्, ॥ ८८१ [कस] गतौ । कसति, चकास, चकसतुः, कसितासि, कसिष्यति, कासयति, कासयाति, कसतु, अकसत्, कसेत्, कस्यात्, अकासीत्, अकसीत्, अकसिष्यत् ॥ [वृत्[1]] ज्वलादिगणः समाप्तः । ज्वल दीप्तौ धातु से लेकर यहां तक ज्वलादिगण कहाता है । इस का प्रयोजन कृदन्त में आवेगा और ये पद आदि परस्मैपद सात धातु समाप्त हुए ॥

अथ [हिक्काद्यो] गुहत्यन्ता स्वरितेतोऽष्टात्रिंशत् । अब [हिक्कादि] गुहू पर्यन्त स्वरितेत् (जिन में क्रिया का फल कर्त्ता के लिये हो तो आत्मनेपद, अन्यत्र परस्मैपद होता है वे उभयपदी) ३८ अड़तीस धातु कहते हैं ॥ ८८२ [हिक्क] अव्यक्ते शब्दे । हिक्कते, हिक्कति ॥ ८८३ [अञ्चु] गतौ याचने च = गति और मांगना । अञ्चते, अञ्चति, आनञ्चे, आनञ्च, अच्यात् (१३९) । (अचु) इत्येके । अचते, अचति, आचे, आच, अचितासे, अचितासि, अचिष्यते, अचिष्यति, आचयतै, आचयातै, आचयति, आचयाति, अचताम्, अचतु, आचत, आचत्, अचेत, अचेत्, अचिषीष्ट, अच्यात्, आचिष्ट, आचीत्, आचिष्यत, आचिष्यत् ॥ [अचि] इत्यपरे । इस में इतना ही भेद है कि इदित् होने से "अञ्च्यात्" (१३९) नलोप नहीं होता ॥ ८८४ [टुयाचृ] याच्ञायाम् = मांगना । याचते, याचति, ययाचे, ययाच, याचितासे, याचितासि, याचिष्यते, याचिष्यति, याचयतै, याचयातै, याचयति, याचयाति, याचताम्, याचतु, अयाचत, अयाचत्, याचेत, याचेत्, याचिषीष्ट, याच्यात्, अयाचिष्ट, अया-

---

1. ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः (अ० ९८६) सूत्र में कसन्त ग्रहण से ज्ञापित होता है कि यहां 'वृत्' करण अनार्ष है । वृत् निर्देश होने पर कसन्त ग्रहण करना व्यर्थ है ।

चीत्, अयाचिष्यत, अयाचिष्यत् ॥ ८८५ [रेट्ट] परिभाषणे= बहुत बोलना। रेटते, रेटति, रिरेटे, रिरेट ॥ ८८६, ८८७ [चते, चदे,] याचने। चतते, चदते, चतति, चदति, चेते, चेदे, चचात, चेततुः, अचतीत् (१६२) अचदीत् ॥ ८८८ [प्रोथृ] पर्याप्तौ=सामर्थ्य। प्रोथते, प्रोथति, पुप्रोथे, पुप्रोथ ॥ ८८९, ८९० (मिदृ, मेदृ) मेधाहिंसनयोः=तीक्ष्ण बुद्धि और मारना। मेदते, मेदति, मिमिदे, मिमेदे, मिमेद, मिमिदतुः, मिमेदतुः ॥ [मिथृ, मेथृ] मेधाहिंसनयोरित्येके। मेथत, मेथति ॥ ८९१, ८९२ [मिधृ, मेधृ] सङ्गमे च=मेल करना। और चकार से पूर्वोक्त दोनों अर्थों का समुच्चय जानो। मेधते, मेधति, मिमिधे, मिमेधे, मिमेध, मिमिधतुः, मिमेधतुः ॥ ८९३, ८९४ [णिदृ, णेदृ] कुत्सा-सन्निकर्षयोः=निन्दा और समीप होना। नेदते, नेदति, नेदत, निनिदे, निनेदे, निनिदतुः, निनेदतुः ॥ ८९५, ८९६ [शृधु, मृधु] उन्दने=गीलापन। शर्धते, मर्धते, शर्धति, मर्धति, शशृधे, शशृधतुः ॥ ८९७ [बुधिर्] बोधने=बोध होना। बोधते, बोधति, अबोधिष्ट। आत्मनेपदविषय में (१९४) सूत्र से जन धातु के साह-चर्य से दिवादि के बुध का ग्रहण होता है[1] इसलिये चिण् न हुआ —अबुधत्। इरित् होने से [पक्ष में] अङ् (१३८)–अबोधीत् ॥ ८९८ [उबुन्दिर्] निशामने=सुनाना[2]। इस धातु में उ और इर् भाग की इत् संज्ञा हो जाती है। बुन्दते, बुन्दति, बुबुन्दे, बुबुन्दतुः, अबुन्दिष्ट, अबुदत् (१३८) (१३९) अबुन्दीत् ॥ ८९९ [वेणृ] गतिज्ञानचिन्तानिशामनवादित्रग्रहणेषु=गति, ज्ञान,

---

१. "निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्" इस नियम से भी "दीपजनबुध" (आ० १९४) सूत्र में—इस धातु का ग्रहण नहीं होता। २. अन्य धातुवृत्तिकार 'निशामन' का अर्थ 'चाक्षुषज्ञान' करते हैं। वाचस्पत्य कोश में 'दर्शन' और 'आलोचन' अर्थ किया है।

चिन्ता और बाजों=ढोल आदि का ग्रहण करना। [घेन्] इत्येके। घेणते, घेनते, घेणति, घेनति, जिघेने, जिघेणे, जिघेणतुः, घेणितासे, घेणितासि, घेणिष्यते, घेणिष्यति, घेणिषतै, घेणिषातै, घेणिषति, घेणिषाति, घेणताम्, घेणतु, अघेणत, अघेणत्, घेणेत, घेणेत्, घेणिषीष्ट, घेण्यात्, अघेणिष्ट, अघेणीत्, अघेणिष्यत, अघेणिष्यत् ॥ ९०० [खनु] अवदारणे=खोदना। खनते, खनति, चखने, चखान। [गम् और] अतुस् आदि में उपधालोप (२१४)—चख्नतुः, चख्नुः, खनितासे, खनितासि, खनिष्यते, खनिष्यति, खानिषतै, खानिषातै, खानिषति, खानिषाति, खनताम्, खनतु, अखनत, अखनत्, खनेत, खनेत्, खनिषीष्ट, खन्+यासुट्+सुट्+तिप् (१८५) न को आकार विकल्प[1] से होकर—खायात्, खन्यात्, अखनिष्ट, अखनीत्, (१५४) अखानीत्, अखनिष्यत, अखनिष्यत् ॥ ९०१ [चीवृ] आदानसंवरणयोः=ग्रहण, आच्छादन। चीवते, चीवति, चिचीवे, चिचीव, ॥ ९०२ [चायृ] पूजानिशामनयोः=सत्कार और सुनना[2]। चायते, चायति, चचाये, चचाय, यहां वेद में कुछ विशेष है—

२३४—चायः की ॥ ६। १। ३५ ॥

चाय् धातु को वेद में बहुल करके की आदेश होवे। यहां द्विर्वचन होने से प्रथम ही अनेकाल् होने से चायमात्र के स्थान में की होकर पश्चात् द्विर्वचन होता है। की+की+एश्=चिक्ये,

१. धातुपारायणकार का मत है कि "ये विभाषा" (अ० १८५) सूत्र में अकारयुक्त 'य' का निर्देश होने से 'खन्' और 'जन्' में ही आत्वादेश होता है, यासुट् में नहीं। यदि इस सूत्र में 'य्' व्यञ्जनमात्र का निर्देश अभिप्रेत होता तो "लोपो वि" (अ० १८६) के समान यहां भी 'यि' ऐसा व्यञ्जनमात्र का निर्देश होता। २. देखो टि० १।

[चिकाय,] चिक्यतुः, चिक्युः, चचाय, बहुल ग्रहण से कहीं होता है कहीं नहीं भी होता ॥ ९०३ [व्यय] गतौ । व्ययते, व्ययति, वव्यये, वव्याय । यकारान्त होने से वृद्धि का निषेध (१६२) अव्ययीत्, अव्ययिष्ट ॥ ९०४ [दाशृ] दाने = देना । दाशते, दाशति, ददाशे, ददाश, दाशितासे, दाशितासि, दाशिष्यते, दाशिष्यति, दाशिषदै, दाशिषावै, दाशिषति, दाशिषाति, दाशताम्, दाशतु, अदाशत, अदाशत्, दाशेत, दाशेत्, दाशिषीष्ट, दाश्यात्, अदाशिष्ट, अदाशीत्, अदाशिष्यत् ॥ ९०५ [भेषृ] भये = डर, गतावित्येके । भेषते, भेषति, बिभेषे, बिभेष ॥ ९०६, ९०७ [भ्रेषृ, भ्लेषृ] गतौ । भ्रेषते, भ्रेषति, भ्लेषते, भ्लेषति ॥ ९०८ [अस] गतिदीप्त्यादानेषु = गति प्रकाश और लेना । असते, असति, आसे, आसाते, आसिरे, आस, आसतुः, आसुः । (अष) इत्येके । किन्हीं के मत में पूर्वोक्त दन्त्य सकारान्त धातु नहीं, मूर्धन्य षकारान्त है । अषति, अषते ॥ ९०९ [स्पश] बाधनस्पर्शनयोः = दुःख देना और स्पर्श करना । स्पशते, स्पशति, पस्पशे, पस्पाश (११५), अस्पशिष्ट, अस्पाशीत् अस्पशीत् ॥ ९१० [लष] कान्तौ = इच्छा । लषते, लष्यते, (१८८) श्यन्, लष्यति, लषति, लेषे, लेषाते, लेषिरे, ललाष, लेषतुः, लेषुः, लषितासे, लषितासि लषिष्यते, लषिष्यति, लाषिषदै, लाषिषावै, लाषिषति, लाषिषाति, लषताम्, लषतु, अलषत्, लषेत्, लष्यात्, लषिषीष्ट, अलषिष्ट, अलाषीत्, अलषीत्, अलषिष्यत, अलषिष्यत्, ॥ ९११ [चष] भक्षणे = खाना । चषति, चषते, चचाष, चेषतुः चेषे ॥ ९१२ [छष] हिंसायाम् । छषति, छषते, चच्छाष, चच्छषतुः, चच्छषे ॥ ९१३ [झष] आदानसंवरणयोः = लेना, आच्छादन । झषति, झषते, जझाष, जझषे ॥ ९१४, ९१५ [भ्रक्ष, भ्लक्ष] अदने । भ्रक्षति, भ्रक्षते, भ्लक्षति, भ्लक्षते, बभ्रक्ष, बभ्रक्षे, ॥

[भक्ष] इत्येके। भक्षति, भक्षते ॥ ९१६ [भ्लक्ष] च। भ्लक्षते, भ्लक्षति ॥ ९१७ [दासृ] दाने। दासति, दासते, ददास, ददासे ॥ ९१८ [माहृ] माने=तोलना। माहति, माहते, ममाह, ममाहे, अमाहिष्ट, अमाहीत् ॥ ९१९ [गुहू] संवरणे=आच्छादन करना। गुह्+शप्+तिप्, यहां—

२३५—ऊदुपधाया गोहः ॥ ६ । ४ । ८९ ॥

गुण का निमित्त अजादि प्रत्यय परे हो तो गुह धातु की उपधा को ऊकार आदेश होवे। इस सूत्र में गुण किये गुह का ग्रहण इसलिये किया है कि जहां इस को गुण होता है वहीं ऊकार होवे अन्यत्र नहीं[1]। ऊकार होने के पश्चात् लघूपध के न होने से गुण नहीं होता। गूहति, गूहतः, गूहन्ति, गूहते, गूहेते, गूहन्ते, जुगूह, जुगुहतुः, जुगुहुः, जुगूहिथ, जुगोढ (२०३) (१४१) (२०६) जुगुहथुः, जुगुह, जुगूह, जुगुहिव, जुगुह्व, जुगुहिम, जुगुह्म; जुगुहे, जुगुहाते, जुगुहिरे, जुगुहिषे, जुगुह्+से=जुघुक्षे (२०३) (२०४) (२०५), जुगुहाथे, जुगुहिध्वे, जुगुढ्ढ्वे, जुगुढ्+ढ्वे यहां प्रथम ढकार का लोप (२०६) होकर—

२३६—ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ॥६।३।१११॥

जहां रेफ और ढकार का लोप हुआ हो वहां अण् को दीर्घ होवे। यहां गु के उकार को दीर्घ होकर—जुगूढ्वे, जुगुहे, जुगुहिवहे, जुगुह्वहे, जुगुहिमहे, जुगुह्महे; गूहितासि, गूहितासे, अनिट् पक्ष में—गुह्+तास्+डा=गोढा। यहां अजादि प्रत्यय के न होने से उपधा को ऊकार (२३५) नहीं होता। गोढारौ, गोढारः, गोढासि, गोढासे, गूहिष्यति, गूहिष्यते, घोक्ष्यति, घोक्ष्यतः, घोक्ष्यन्ति, गूहिषति, गूहिषाति, घोक्षति, घोक्षाति, गूहति, गूहाति, गूहिषते,

1. कई वैयाकरण गुण करके ऊकारादेश का विधान करते हैं।

गूहिपातै, घोक्षतै, घोक्षातै, गूहतै, गूहातै, गूहतु, गूहताम्, अगूहत, अगूहत्, गूहेत् गूहेत, गूहिषीष्ट, अनिट् पक्ष में। गुह्+सीयुट्+सुट्+त (२०३, २०४, २०५, २५७, १६३, ३४)=घुक्षीष्ट, घुक्षीयास्ताम्, घुक्षीरन्, गूहिषीढ्वम्, गूहिषीध्वम्, घुक्षीध्वम्, गुह्यात्, अगूहिष्ट, [अगूहिषाताम्,] अगूहीत्, और अनिट्पक्ष में—अट्+गुह्+क्स+त' इस अवस्था में—

२३७—लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये ॥ ७ । ३ । ७३ ॥

आत्मनेपदविषय में दन्त्य अक्षर परे हो तो दुह्, दिह्, लिह् और गुह् धातुओं से परे जो क्स प्रत्यय उसका लुक् विकल्प करके होवे। प्रत्ययमात्र का लुक् और लोप अन्त्य अल् के स्थान में होता है। यहाँ दन्त्य अक्षर त, ध्वम् और थास् के परे क्स का लुक् होता है। अट्+गुह्+क्स+त (२३७, २०३, १४१) ष्टुत्व और (२३६)= अगूढ, अघुक्षत, अघुक्षाताम् (२०८), अघुक्षन्त, अगुह्+क्स+थास् (२३७, २०३, १४१)=अगूढाः, अघुक्षथाः, अघुक्षाथाम्, अगूह्+क्स+ध्वम् (२३७, २०३, २०४, २०६, २३६) अगूढ्वम्,[1] [अघुक्षध्वम्] अघुक्षि, [अगुह्वहि][1] अघुक्षावहि, अघुक्षामहि; अगूहिष्यत, अगूहिष्यत्, अघोक्ष्यत, अघोक्ष्यत् ॥

इति हिक्कादय उदात्ताः स्वरितेत उभयतोभाषाः समाप्ताः। ये हिक्क आदि अट्ठाईस उभयपदी धातु समाप्त हुए ॥

अथाजन्ताः [श्रिञादयः] उभयपदिनः पञ्च। अब श्रिञ् आदि अजन्त उभयपदी पांच धातु कहते हैं॥ १२० [श्रिञ्]

---

1. 'लुग्वा दुहदिह॰' (आ॰ २३७) में दन्त्य शब्द से दन्त्योष्ठ्य वकार का भी ग्रहण होता है। अन्यथा लाघवार्थ 'तो' (त=तवर्ग परे) इतना ही निर्देश करना चाहिये।

सेवायाम्=सेवा करना। यह धातु सेट् है। ञ् की इत्संज्ञा होने से (१०५) उभयपद। इसी प्रकार सर्वत्र ञित् धातुओं में उभयपद जानो। श्रि+शप्+तिप् (२१) गुण=श्रयति, श्रयतः, श्रयन्ति, श्रयसि, श्रयते, श्रयेते, श्रयन्ते, शिश्राय, शिश्रियतुः (१५९) शिश्रिये श्रयितासि, श्रयितासे, श्रयिष्यति, श्रयिष्यते, श्रायिषति, श्रायिषाति, श्रयति, श्रयाति, श्रायिषते, श्रायिषातै, श्रयतु, श्रयताम्, अश्रयत्, अश्रयत, श्रयेत्, श्रयेत, श्रीयात् (१६०) दीर्घ, श्रयिषीष्ट, अशिश्रियत् (१७६) चङ्, (१८०) द्वित्व, (१५९) इयङ्, अशिश्रियताम्, अशिश्रियन्, अशिश्रियः, अशिश्रियत, अशिश्रियेताम्, अशिश्रियन्त, अश्रयिष्यत्, अश्रयिष्यत॥ ६२१ [भृञ्] भरणे=धारण और पोषण। गुण होकर—भरति, भरते, बभार, बभ्रतुः, बभ्रुः। यहां यणादेश होता है। विशेष नियम के होने से सामान्य लिट् में इट् का निषेध (१४८) भारद्वाज के मत में थल् में इट् का निषेध (१४९), और अन्य ऋषियों के मत में थल् में इट् का निषेध (१५७) होकर—बभर्थ, बभ्रथुः, बभ्र, बभार, बभर, बभृव, बभृम; बभ्रे, बभ्राते, बभ्रिरे, बभृषे, [बभ्राथे,] बभृढ्वे, [बभ्रि,] बभृवहे, बभृमहे, भर्तासि, भर्तासे।

२३८—ऋद्धनोः स्ये ॥ ७। २ / ७० ॥

ह्रस्व ऋकारान्त और हन धातु से परे जो स्य वलादि आर्धधातुक उसको इट् का आगम होवे। भरिष्यति, भरिष्यते, भार्षति, भार्षाति, भरति, भराति, भार्षते, भार्षातै, [भरते, भरातै,] भरतु, भरताम्, अभरत्, भरेत्, भरेत।

२३९—रिङ् शयग्लिङ्क्षु ॥ ७। ४। २८ ॥

श, यक् और यकारादि किंत् ङित् आर्धधातुक लिङ् लकार परे हों तो ऋकारान्त अङ्ग को रिङ् आदेश हो। ङित् होने से अन्त्य

अल् ऋकार के स्थान में होता है और यह सूत्र रिङ्विधान का का अपवाद है। भ्रियात्, भ्रियास्ताम्, भ्रियासुः। आत्मनेपद-विषय में—

२४०—उश्च ॥ १ । २ । १२ ॥

ऋवर्णान्त धातु से परे आत्मनेपदविषय में जो झलादि लिङ् और सिच् सो कित्वत् हों। कित् होने से गुण वृद्धि का निषेध (३४) होकर—भृषीष्ट, भृषीयास्ताम, भृषीरन्, भृषीष्ठाः, भृषीयास्थाम्, भृषीढ्वम्, भृषीय, भृषीवहि, भृषीमहि; अभार्षीत् (१५८) वृद्धि, अभार्ष्टाम्, अभार्षुः, अभार्षीः, अभार्ष्टम्, अभार्ष्ट, अभार्षम्, अभार्ष्व, अभार्ष्म। आत्मनेपदविषय में सिच् कित्वत् (२४०) होकर—'अट्+भृ+सिच्+त' इस अवस्था में—

२४१—ह्रस्वादङ्गात् ॥ ८ । २ । २७ ॥

ह्रस्वान्त अङ्ग से परे जो सिच् उस का लोप होवे झल् परे हो तो। अभृत, अभृषाताम्। यहां झलादि प्रत्यय के न होने से सिच् का लोप नहीं होता। अभृषत, अभृथाः, अभृषाथाम्, अभृढ्वम्, अभृषि, अभृष्वहि, अभृष्महि, अभरिष्यत् (३८) इट्, अभरिष्यत॥ ९२२ [हृञ्] हरणे=पहुंचाना, ग्रहण, चोरी और नाश करना[1] आदि॥ ९२३ [धृञ्] धारणे=धारण करना इन दोनों धातुओं का भृञ् धातु के समान साधुत्व जानो। हरति, हरते, जहार, जह्रतुः, जहर्थ, जहार, जहर, जह्रव, जह्रे, जह्राते, जहृषे, जहृढ्वे, जहृवहे, हर्तासि, हर्तासे, हरिष्यति (२३८) इट्, हरिष्यते, हार्षति, हार्षाति, हार्षते, हार्षातै, हरतु, हरताम्, अहरत्, अहरत, हरेत्, हरेत, ह्रियात्—(२३९) रिङ्, हृषीष्ट (२४०)

---

1 इन अर्थों के क्रमशः उदाहरण—भार हरति, भार्या हरति, धनं हरति, पाप हरति।

ऽकिरत्, हृर्षीढ्वम्, अहार्षीत् (१५८) वृद्धि, अहृत (२४१) सिच्लोप, अहृषाताम्, अहृषत, अहरिष्यत्, अहरिष्यत। धरति, दधार। और (१६१) सूत्र में तुजादि धातु सामान्य करके लिये जाते हैं, जिन के वैदिक प्रयोगों में अभ्यास को दीर्घादेश देख पड़े वे सब तुजादिगणस्थ जानो। इस कारण 'दाधार' ऐसा भी प्रयोग वेद में होता है। दध्रतुः, दधर्थ, दध्रे, दधृषे, धर्तासि, धर्तासे, धरिष्यति, धरिष्यते, धार्येते, धार्याते, धार्येते, धार्याने, धरतु, धरताम्, अधरत्, अधरत, धरेत्, धरेत, ध्रियात्, धृषीष्ट, धृषीढ्वम्, अधार्षीत्, अधृत, अधृषाताम्, अधृषत, अधृढ्वम्, अधरिष्यत्, अधरिष्यत॥ ९२४ [णीञ्] प्रापण = ले चलना। नयति, नयते, निनाय, नी + नी + अतुस् = निन्यतुः (१४६) यण्, निन्युः, निनयिथ (१४९), निनेथ (१५७), निन्यथुः, निन्य, निनाय, निनय, निन्यिव, निन्यिम, निन्ये, निन्याते, निन्यिरे, नेतासि, नेतासे, नेष्यति, नेष्यते, नैषति, नैषाति, नयति, नयाति, नैषते, नैष तै, नेषते, नेषाते, नेषते, नेषाते, नयते, नयाते, नयतु, नयताम्, अनयत्, अनयत, नयेत्, नयेत, नीयात्, नीयास्ताम्, नेषीष्ट, अनैषीत्, अनेष्ट, अनेषाताम्, अनेष्यत्, अनेष्यत॥ भरत्याद्यश्चत्वारोऽनुदात्ताः॥

अथाजन्ताः परस्मैपदिनः [षट्चत्वारिंशत्]। अथ अजन्त परस्मैपदी ४६ (छियालीस) धातु कहते हैं॥ ९२५ [पेट्] पाने = पीना। 'ट्' की इत्संज्ञा और एकार को अय् आदेश होकर—प + अय् + तिप = पयति, पयतः, पयन्ति।

२४२—आदेच उपदेशेऽशिति ॥ ६ । १ । ४५ ॥

अशित्[1] अर्थात् आर्धधातुकविषय में उपदेश में जो एजन्त धातु उस को आकार होवे । आकारान्त धातु सब अनिट् हैं । धा+णल्, इस अवस्था में—

२४३—आत औ णलः ॥ ७ । १ । ३४ ॥

आकारान्त धातु से परे जो णल् उस को औकार आदेश होवे । धा+औ, द्वित्व होकर—दधौ । धा+अतुस्, यहां—

२४४—आतो लोप इटि च ॥ ६ । ४ । ६४ ॥

अजादि कित् ङित् आर्धधातुक और इट् परे हों तो आकारान्त अङ्ग का लोप होवे । इस लोप के पहिले द्वित्व की प्राप्ति तो है फिर सब विधियों से लोपविधि के अति बलवान् होने से प्रथम लोप ही होता है, फिर एकाच् के न होने से द्वित्व (३४) प्राप्त नहीं है, इसलिये—

२४५—द्विर्वचनेऽचि ॥ १ । १ । ७३ ॥

द्विर्वचन का निमित्त अजादि प्रत्यय परे हो तो अच् के स्थान में जो आदेश है सो स्थानिरूप हो जावे । यहां रूपातिदेश मानने से आकार का पुनरागमन होकर द्विर्वचन होता है । धा+धा+अतुस्=दधतुः । यहां द्विर्वचन होने के पश्चात् दूसरे धा का आकार हट जाता है । दधुः, दधा+इट्+थल्=(२४४) दधिथ (१४९) भारद्वाज के मत में इट् का विधान, और—'दधाथ' (१५७) इट् का निषेध । दधथुः, दध, दधौ, दधिव, दधिम; धाता, धातारौ,

---

१. यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे (परि० ३३) नियम से शित् जिस के आदि में हो वहीं प्रतिषेध होता है । अत एव 'एश्' में आत्व का निषेध नहीं होता । यथा—मेङ् प्रणिदाने (भ्वा० ९८९) ममे, यहां आत्व हो जाता है ।

धातारः, धातासि, धास्यति, धास्यतः, धास्यन्ति, धासति, धासाति, धयति, धयाति, धयतु, अधयत्, धयेत्।

२४६—दाधा घ्वदाप् ॥ १ । १ । २४ ॥

दा रूप और धा रूप जो धातु तथा इनकी जो प्रकृति हैं उन की घु संज्ञा होवे, दाप् और दैप् धातु को छोड़ के। इस का फल—

२४७—एर्लिङि ॥ ६ । ४ । ६७ ॥

घुसंज्ञक धातु, मा, स्था, गा, पा, ओहाक्, सा इन धातुओं के आकार को एकार आदेश होवे, कित् ङित् लिङ् परे हो तो। धे को आकार (२४२) होता है उसी आकार को ए होकर—धेयात्, धेयास्ताम्, धेयासुः, धेयाः, धेयास्तम्, धेयास्त, धेयासम्, धेयास्व, धेयास्म।

२४८—विभाषा धेट्श्व्योः ॥ ३ । १ । ४९ ॥

धेट् और श्वि धातु से परे जो च्लि प्रत्यय उसके स्थान में चङ् आदेश विकल्प करके होवे। अट्+धा+धा+चङ्+तिप्=अदधत् (१८०) द्वित्व और (२४४) आ का लोप। अदधताम्, अदधन्, अदधः, अदधतम्, अदधत, अदधम्, अदधाव, अदधाम। अब जिस पक्ष में चङ् न हुआ वहां उत्सर्ग सिच् होकर—

२४९—विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः ॥ २ । ४ । ७८ ॥

घ्रा, धेट्, शा, छा और सा इन धातुओं से परे जो सिच् उस का विकल्प करके लुक् हो परस्मैपदविषय में। धेट् धातु की घुसंज्ञा होने से (९१) सूत्र से सिच् लुक् नित्य प्राप्त [है] और अन्य धातुओं से अप्राप्त है इन दोनों का विकल्प होने से प्राप्ताप्राप्तविभाषा इस सूत्र में समझनी चाहिये। सिच् का लुक् होकर—अट्+धा+तिप्=अधात्, अधाताम्, अधा+झि, यहां जुस् आदेश किसी से प्राप्त नहीं है इसलिये—

२५०–आतः ॥ ३ । ४ । ११० ॥

जिससे परे सिच् का लुक् हुआ हो ऐसे आकारान्त धातु से परे जो झि उसको जुस् आदेश होवे। सिच्लुक् होने के पश्चात् प्रत्ययलक्षण कार्य मान के जुस् (१३७) हो जाता है, फिर यह सूत्र नियमार्थ है कि सिज्लुगन्त से परे प्रत्ययलक्षण मान के आकारान्त धातुओं से परे ही जुस् हो अन्य से नहीं, 'अभूवन्' यहां भी सिच्लुक् (९१) हुआ है तो भी प्रत्ययलक्षण मान के जुस् नहीं होता। अट्+धा+जुस्=अधु.(८५) पररूप एकादेश, अधाः, अधातम्, अधात, अधाम्, अधाव, अधाम। सिच्लुक् (२४९) विकल्प से होता है जिस पक्ष में न हुआ वहां—

२५१–यमरमनमातां सक् च ॥ ७ । २ । ७३ ॥

यम, रम, नम और आकारान्त धातुओं से परे जो सिच् उसको इट् का आगम और इन धातुओं को सक् का आगम होवे परस्मैपदविषय में। अट्+धा+सक्+इट्+सिच्+ईट्+तिप्=अधासीत्। सिच् के सकार का लोप (१३५) हो जाता है। अधासिष्टाम्, अधासिषुः, अधासीः, अधासिष्टम्, अधासिष्ट, अधासिषम्, अधासिष्व, अधासिष्म, अधास्यत्, अधास्यताम्, अधास्यन् ॥ ९२६, ९२७ [ग्लै म्लै] हर्षक्षये=आनन्द का नाश। ग्लै+शप्+तिप्=ग्लायति, ग्लायतः, ग्लायन्ति। लिट् आदि आर्धधातुक लकारों में धेट् के समान साधुत्व जानो। जग्लौ, जग्लतुः, मम्लौ, मम्लतुः, जग्लिथ, जग्लाथ, जग्लौ, जग्लिव, जग्लिम, ग्लातासि, ग्लास्यति, ग्लासति, ग्लासाति, ग्लायतु, अग्लायत्, ग्लायेत्। आशिषि लिङ् में एकारादेश (२४७) नित्य प्राप्त है [उसका अपवाद]—

२५२–वाऽन्यस्य संयोगादेः ॥ ६ । ४ । ६८ ॥

(२४७) सूत्र में कहे घु संज्ञक-आदि से अन्य संयोगादि आकारान्त धातुओं के आकार को एकार विकल्प करके हो कित् ङित् लिङ् परे हो तो। ग्लेयात्, ग्लायात्, म्लेयात्, म्लायात्। लुङ् में (२५१) सक् और इट् होकर—अग्लासीत्, अग्लासिष्टाम्, अम्लासीत्, अग्लास्यत्, अम्लास्यत्॥ ९२८ [दै] न्यक्करणे = नीचों का तिरस्कार करना। दायति, ददौ, ददिथ, ददाथ, दाता, दास्यति, दासति, दासाति, दायतु, अदायत्, दायेत्, देयात्, दायात्, अदासीत्, अदासिष्टाम्, अदासिषुः, अदास्यत्॥ ९२९ [द्रै] स्वप्ने = सोना। द्रायति, दद्रौ, द्राता, द्रेयात्, द्रायात्, अद्रासीत्॥ ९३० [ध्रै] तृप्तौ। ध्रायति, दध्रौ, ध्रेयात्, ध्रायात्, अध्रासीत्॥ ९३१ [ध्यै] चिन्तायाम् = विचारना। ध्यायति, दध्यौ, ध्याता, ध्यास्यति, ध्यासति, ध्यासाति, ध्यायतु, अध्यायत्, ध्यायेत्, ध्येयात्, ध्यायात्, अध्यासीत्, अध्यास्यत्॥ ९३२ [रै] शब्दे। रायति, ररौ, रातासि, रायात्, अरासीत्॥ ९३३, ९३४ [स्त्यै, ष्ट्यै] शब्दसङ्घातयोः = शब्द और समुदाय। इन दोनों में एक धातु षोपदेश है उस के भी सत्व होने के पश्चात् एक ही प्रकार के रूप होते हैं षोपदेश का फल णिजन्त और सन्नन्त प्रक्रिया में आवेगा[1] स्त्यायति, तस्त्यौ, स्त्येयात्, स्त्यायात्, अस्त्यासीत्॥ ९३५ [खै] खदने = खाना। खायति, चखौ, चखतुः, चखुः, चखिथ, चखाथ, खातासि, खास्यति, खासति, खासाति, खायतु, अखायत्, खायेत्, खायात्, अखासीत्, अखास्यत्॥ ९३६—९३८ [क्षै, जै, षै] क्षये = नाश। क्षायति, चक्षौ, क्षेयात्, क्षायात्, अक्षासीत्; जायति, जजौ, जायात्, अजासीत्। यहां भी षै धातु को आकार

1. णिजन्त में—अतिष्टापत्। सन्नन्त में—तिष्ट्यासति। यहां मूर्धन्य हो जाता है।

होकर सा हो जाता है, परन्तु (१ ७, २४९) सूत्रों में षा धातु के ग्रहण से दिवादिगण का 'षो' लिया जाता है[1]। सायति, ससौ सायात्, असासीत् ॥ ९३९ ९४० [कै, गै] शब्दे। कायति, चकौ, कायात्, अकासीत्, गायति, जगौ, गायात्, अगासीत् ॥ ९४१, ९४२ [शै, श्रै] पाके=पकाना। शायति, शशौ, शायात्, अशासीत्, श्रायति, शश्रौ, श्रातासि, श्रास्यति, श्रासति, श्रासाति, श्रायति, श्रायाति, श्रायतु, अश्रायत्, श्रायेत्, श्रेयात्, (२५२) श्रायात्, अश्रासीत्, अश्रास्यत् ॥ ९४३, ९४४ [पै, ओवै] शोषणे—सोखना। पायति, पपौ, पपतुः, पपु, पपिथ, पपाथ, पपथु, पप, पपौ, पपिव, पपिम, पातासि, पास्यति, पासति, पासाति, पायति, पायाति, पायतु, अपायत्, पायेत्। और पा धातु से भी उपदेश में आकारान्त पा धातु का ग्रहण (२४७) सूत्र में होता है[2]—'पायात्' इस कारण एत्व न हुआ। अपासीत्। अपासिष्टाम्। अपासिषुः। अपास्यत्। ओवै धातु में ओकार इत् जाता है प्रयोजन कृदन्त में आवेगा। वायति, ववौ, वायात्, अवासीत्। ९४५ [ष्टै] वेष्टने=लपेटना। स्तायति, तस्तौ, स्तेयात्, स्तायात्, अस्तासीत् ॥ ९४६ [ष्णै] वेष्टने, शोभायां चेत्येके। किन्हीं के मत में ष्णै धातु का शोभा अर्थ भी है। स्नायति, सस्नौ, स्नायात्, स्नायात्, अस्नासीत्, अस्नास्यत् ॥ ९४७ [दैप्] शोधने=शोधना। इस में प् की इत्सञ्ज्ञा होती है

१. आ० सूत्र २४७ में न्यासकार की व्याख्या और तन्त्रान्तर के अनुरोध से दिवादि का ग्रहण होता है। सूत्र २४९ में 'दा' और 'छा' इन दो दैवादिक धातुओं के साहचर्य से दैवादिक का ही ग्रहण होता है।

२. गापोर्ग्रहणे इण्पिबत्योर्ग्रहणम् (वा० २। ४। ७७) इस नियम से 'पा पाने' का ही ग्रहण होता है, इसका नहीं।

और घु संज्ञा का निषेध होने से एकार (२४७) का निषेध और सिच्लुक् (९१) नहीं होता । दायति, ददौ, दायात्, अदासीत् ॥ ९४८ [पा] पाने=पीना । यहां पा के स्थान में पिब आदेश (३३१)—पिबति पिबतः, पिबन्ति, पपौ, पपतुः, पपुः, पपिथ, पपाथ, पातासि, पास्यति, पासति, पासाति, पिबति, पिबाति, पिबतु, अपिबत्, पिबेत्, पेयात्, पेयास्ताम्, पेयासुः । अट्+पा+तिप्=अपात् (९१) सिच् का लुक् । अपाताम्, अपुः, अपास्यत् ॥ ९४९ [घ्रा] गन्धोपादाने=गन्ध का ग्रहण वा गन्ध के द्वारा किसी पदार्थ का ग्रहण कराना । घ्रा के स्थान में (३३१) जिघ्र आदेश—जिघ्रति, जिघ्रतः, जिघ्रन्ति, जघ्रौ, जघ्रतुः, घ्राता, घ्रास्यति, घ्रासति, घ्रासाति, जिघ्रति, जिघ्राति, जिघ्रतु, अजिघ्रत्, जिघ्रेत् । संयोगादि होने से एकार का विकल्प (२५२) घ्रेयात्, घ्रायात्, और सिच् लुक् का विकल्प (२४९)—अघ्रात्, अघ्राताम्, अघ्रुः, अघ्राः, अघ्रातम्, अघ्रात, अघ्राम्, अघ्राव, अघ्राम, अघ्रासीत्, अघ्रासिष्टाम्, अघ्रासिषुः, अघ्रास्यत् ॥ ९५० [ध्मा] शब्दाग्निसंयोगयोः=शब्द और अग्नि के साथ वायु का संयोग । ध्मा के स्थान में धम (३३१) आदेश—धमति, धमतः, धमन्ति, दध्मौ, दध्मतुः, दध्मुः, दध्मिथ, दध्माथ, दध्मथुः, दध्म, दध्मौ, दध्मिव, दध्मिम, ध्मातासि, ध्मास्यति, ध्मासति, ध्मासाति, धमति, धमाति, धमतु, अधमत्, धमेत्, ध्मेयात्, ध्मायात्, अध्मासीत्, अध्मास्यत् ॥ ९५१ [ष्ठा] गतिनिवृत्तौ=ठहर जाना । (३३१) से तिष्ठ होकर—तिष्ठति, तिष्ठतः, तिष्ठन्ति, तस्थौ, तस्थतुः, स्थातासि, स्थास्यति, स्थासति, स्थासाति, तिष्ठति, तिष्ठाति, तिष्ठतु, अतिष्ठत्, तिष्ठेत्, स्थेयात् (२४७) एकारादेश होता है । अस्थात् (९१) सिच्लुक् । अस्थाताम्, अस्थुः । अस्थास्यत ॥ ९५२ [म्ना] अभ्यासे=अभ्यास करना ।

मन आदेश (२३१)—मनति, मम्नौ, म्नाता, म्नास्यति, म्नासति, म्नासाति, मनति, मनाति, मनतु, अमनत्, मनत्, म्नेयात्, म्नायात्, अम्नासीत्, अम्नास्यत् ॥ ९५३ [दाण्] दाने—देना। दाण् को यच्छ (२३१)—यच्छति, यच्छत," यच्छन्ति, प्रयच्छति, ददौ, दातासि, दास्यति, दासति, दासाति, यच्छति, यच्छाति, यच्छतु, अयच्छत्, यच्छेत्, इस धातु में णकार अनुबन्ध यच्छ आदेश विधायक सूत्र में विशेष बोधक लिये है। निरनुबन्ध दारूप की घुसंज्ञा (७४६) होकर एकार (२४७) होता है—देयात्, देयास्ताम्। और घुसंज्ञा से ही सिच्लुक—अदात्, अदाताम्, अदुः, अदाः, अदास्यत् ॥ ९५४ [हृ] कौटिल्ये=कुटिलता। ह्वरति, जह्वार।

२५३—ऋतश्च संयोगादेर्गुणः ॥ ७ । ४ । १० ॥

लिट् लकार परे हो तो ऋकारान्त संयोगादि धातु को गुण होवे। लिट् की कित् संज्ञा (४६) होने से गुण (३४) नहीं प्राप्त है इसलिये यह सूत्र है। और णल् प्रत्यय में जहां वृद्धि प्राप्त है वहां इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती, पूर्वविप्रतिषेध मानकर वृद्धि ही होजाती है। जह्वार, जह्वरतुः, जह्वरुः, थल् मे भारद्वाज के मत में इट् निषेध (१४९) और अन्यों क मत में इट् (१५७) नहीं होता—जह्वर्थ, जह्वरथुः, जह्वर, जह्वार, जह्वर, जह्वरिव, जह्वरिम, ह्वर्तासि, लृट् में इट् (२३८) ह्वरिष्यति, ह्वार्षति, ह्वार्षाति, ह्वर्षति ह्वर्षाति, ह्वरति, ह्वराति, ह्वरतु, अह्वरत्, ह्वरेत्।

२५४—गुणोर्तिसंयोगाद्योः ॥ ७ । ४ । २६ ॥

ऋ धातु और संयोगादि ऋकारान्त धातु को गुण होवे यक् और कित् आर्धधातुक लिङ् परे हो तो। ह्वर्यात्, ह्वर्यास्ताम्, ह्वर्यासुः। लुङ् में वृद्धि (१५८) होकर—अह्वार्षीत्, अह्वार्ष्टाम्,

अह्वार्षुः, अह्वार्षीः, अह्वार्ष्टम्, अह्वार्ष्ट, अह्वार्षम्, अह्वार्ष्व, अह्वार्ष्म, अह्वरिष्यत्॥ ९५५ [स्वृ] शब्दोपतापयोः = शब्द और पीड़ा देना। स्वरति, स्वरतः, स्वरन्ति। वलादि लिट् लकार में विकल्प से इट् (१४०) सस्वार। सस्वरतुः (२५३) गुण। सस्वरुः, सस्वरिथ[1], सस्वर्थ, [सस्वरथुः,] सस्वर, सस्वार।

२५५—श्र्युकः किति ॥ ७ । २ । ११ ॥

श्रिञ् और एकाच् उगन्त धातु से परे जो कित् आर्धधातुक उसको इट् का आगम न होवे। (१४०) सूत्र यद्यपि इस सूत्र से परे[2] है तथापि उस विकल्प को बाध के प्रथम निषेध प्रकरण के आरम्भ सामर्थ्य से इट् का निषेध इस सूत्र से प्राप्त है, फिर (१४८) सूत्र के नियमानुसार वस् मस् में नित्य इट् होता है—सस्वरिव, सस्वरिम, स्वरिता, स्वर्ता, स्वरिष्यति, यहां परत्व से नित्य इट् (२३८) होता है। स्वार्षति, स्वार्षाति, स्वरतु, अस्वरत्, स्वरेत्, स्वर्यात् (२५४), अस्वारीत्, अस्वारिष्टाम्, अस्वार्षीत्, अस्वार्ष्टाम्, अस्वरिष्यत्॥ ९५६ [स्मृ] चिन्तायाम् = स्मरण करना। स्मरति, सस्मार, सस्मरतु', सस्मरु', सस्मर्थ, स्मर्ता, स्मरिष्यति, स्मार्षति, स्मार्षाति, स्मरतु, अस्मरत्, स्मरेत्, स्मर्यात्, अस्मार्षीत्, अस्मार्ष्टाम्, अस्मरिष्यत्॥ ९५७ [दृ] संवरणे ढाकना। दरति, दरतः, दरन्ति, ददार, दद्रतुः, दद्रुः, ददर्थ, दर्तासि, दरिष्यति, दार्षति, दार्षाति, दरतु, अदरत्, दरेत्, द्रियात् (२३९) रिङ्, अदार्षीत्, अदरिष्यत्॥ ९५८ [सृ] गतौ (२३१) से सृ को धौ आदेश शीघ्र चलने में होकर—धावति, धावतः, अन्यत्र—सरति, ससार, सस्रतुः, सस्रुः, ससर्थ (१४८) सूत्र के नियम से इट् का निषेध। सस्रुव, सस्रुम, सर्ता,

1. देखो पृष्ठ ७८, टि॰ १। 2. अष्टाध्यायी में सूत्रक्रम से।

सरिष्यति, सार्षेति, सार्षीति, धावति, धावाति, धावतु, सरतु, अधावत्, असरत्, धावेत्, सरेत्, स्रियात्, स्रियास्ताम्।

२५६—सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च ॥ ३ । १ । ५६ ॥

सृ, शासु और ऋ धातु से परे जो च्लि प्रत्यय उसके स्थान में अङ आदेश होवे परस्मैपदविषय में। इससे अङ होकर—'अट्+सृ+अङ+तिप्' इस अवस्था में अङ के ङित् होने से गुण की प्राप्ति नहीं है, इसलिये—

२५७—ऋदृशोऽङि गुणः ॥ ७ । ४ । १६ ॥

ऋवर्णान्त और दृश धातु को गुण होवे अङ परे हो तो। यहां ऋवर्णान्त सृ धातु को अर् गुण होकर—असरत्,[1] असरताम्, असरन्, असर, असरतम्, असरत, असरम्, असराव, असराम, असरिष्यत्, असरिष्यताम्, असरिष्यन् ॥ ९५९ [ऋ] गतिप्रापणयो। यहां प्रापण अर्थ के पृथक् कहने से गमन और प्राप्ति दो ही अर्थ इस धातु के समझे जाते हैं अर्थात् ज्ञान अर्थ नहीं। (२३१) से ऋच्छ आदेश होकर—ऋच्छति, ऋच्छतः, ऋच्छन्ति। 'ऋ+णल्' यहां परत्व से ऋ को 'आर्' वृद्धि होकर अकार को द्वित्व और सवर्ण दीर्घ होकर—आर।

---

१ अन्य वैयाकरण २५६ वें सूत्र में 'शास्ति, के साहचर्य से अदादिगणवाली 'सृ' और 'ऋ' का ग्रहण मानते हैं, भ्वादिगणवाली का नहीं। उनके मत में इन 'सृ' और 'ऋ' के क्रमशः 'असार्षीत्' और 'आर्षीत्' प्रयोग बनते हैं। परन्तु धातुप्रदीपकार मैत्रेयरक्षित साहचर्य परिभाषा (पारि०९०) को अनित्य मानकर इन भ्वादिगणस्थ धातुओं से भी अङ्विधान करता है, तदनुसार 'असरत्' और 'आरत्' रूप बनते हैं।

२५८—ऋच्छत्यॄताम् ॥ ७ । ४ । ११ ॥

तुदादिगण की ऋच्छ, ऋ और ॠकारान्त धातुओं को गुण हो लिट् परे होते। यहां भी कित् लिट् में गुण नहीं प्राप्त है इसलिए यह सूत्र है। अर+अर्+अतुस्=आरतुः, आरुः, (१४८) सूत्र के नियम से लिट् में सर्वत्र नित्य इट् प्राप्त है। भारद्वाज के मत में थल् में इट् का निषेध (१४९) प्राप्त, और अन्य लोगों के मत में थल् में इट् का निषेध (१५७) प्राप्त है इन सब का अपवाद—

२५९—इडत्त्यर्तिव्ययतीनाम् ॥ ७ । २ । ६६ ॥

अद्, ऋ और व्येञ् इन धातुओं से परे थल् को नित्य इडागम होवे। आरिथ, आरथुः, आर, आर, आरिव, आरिम। यहां व, म में (१४८) सूत्र के नियम से ही नित्य इट् होता है। अर्ता, अर्तारौ, अर्तारः, अर्तासि, अरिष्यति (२३८) इट्, आर्पति, आपाति, अर्पेनि, अर्पाति, अर्पेत्, अर्पात्, ऋच्छति, ऋच्छतु, आच्छेत्, ऋच्छेत्, अर्यात् (२५४) गुण। लुङ् में च्लि के स्थान में अङ् (२५६) और अङ् के परे गुण (२५७) होकर—आरत्,[1] आरताम्, आरन्, आरः, आरतम्, आरत, आरम्, आराव, आराम, आरिष्यत्॥ ९६०, ९६१ [गॄ, घृ] सेचने=सींचना। गरति, घरति,[2] जगार, जगरतुः, जगर्थ, जघर्थ, जगरिव, जगरिम,

१. देखो, पृष्ठ १७०, टि० १। २. महाभाष्य ७।१।९५ में 'घरतिरस्मा अविशेषेणोपदिष्ट, स घृत, घृणा, घर्म इत्येतद्विषय एव' लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि इस धातु के तिङन्त प्रयोग नहीं होते। निरुक्त (२।२) के 'अथापि नैगमेभ्यो भाषिका उष्णं घृतमिति' वचन से ज्ञापित होता है कि यास्क के मत में 'घृ' धातु छान्दस है, इसके लोक में प्रयोग नहीं होते। यहां पृष्ठ ५३, टि० २ भी देखो।

गर्तासि, गरिष्यति, गार्पति, गार्पाति, गरतु, अगरत्, गरेत्, म्रियात्, (२३९) रिङ्, म्रियात्, अगार्षीत् (१८८) वृद्धि होकर—अगार्ष्टाम्, अगार्षु, अघार्षीत्, अगरिष्यत्॥ ९६२ [ध्वृ] हूर्छने। ध्वरति, ध्वरत, ध्वरन्ति, दध्वार, दध्वरतु (२५३) गुण, दध्वरु', ध्वर्ता, ध्वरिष्यति, ध्वार्पति, ध्वार्पाति, ध्वरतु, अध्वरत्, ध्वरत्, ध्वर्यात् (२५४) गुण, ध्वर्यास्ताम्, ध्वर्यासु, अध्वार्षीत्, अध्वार्ष्टाम्, अध्वरिष्यत् ॥ ९६३ [स्रु] गतौ । स्रवति, स्रवत, स्रवन्ति, सुस्राव, सुस्रुवतु' (१५६) उवङ्, सुस्रुवु, सुस्रोथ, सुस्रुवथु', सुस्रुव, सुस्राव, सुस्रव सुस्रुव, (१४८) सूत्र के नियम से इट् का निषेध, सुस्रुम, स्रोतासि, स्रोष्यति, स्रोपति, स्रोषाति, स्रोपति, स्रापाति, स्रवति, स्रवाति, स्रवतु, अस्रवत्, स्रवेत्, स्रूयात् (१६०) दीर्घ। लुङ् में (१७६) सूत्र से च्लि के स्थान में चङ् और द्विर्वचन (१८०) होकर—अट्+स्रु+स्रु+चङ्+तिप्= असुस्रुवत्, अस्रोष्यत् ॥ ९६४ [षु] प्रसवैश्वर्ययो = उत्पत्ति और सामर्थ्य का होना। सवति, सुषाव, सुषुवतु, सुषुवु, सुषाथ सुषविथ सुषुविव, [सुषुविम] सोता, सोष्यति, सोषति, सोपाति, सवति, सवाति, सवतु, असवत्, सवेत्, सूयात् (१६०) दीर्घ, असौषीत्,[1] असौष्टाम्, असौषु,

1. स्तुसुधूञ्भ्य परस्मैपदेषु (आ० ३३०) इस इट्विधायक सूत्र में लुग्विकरण सु धातु के साहचर्य से आदादिक का ही ग्रहण होता है। आत्रेय, मैत्रेय, न्यासकारादि 'स्तु' और 'धूञ्' दोनों पूर्वापर की ञित् धातुओं के साहचर्य से स्वादिगणस्थ षुञ् धातु का ही ग्रहण मानते हैं। वर्धमान साहचर्य (परि० ९०) और निरनुबन्धकपरिभाषा को अनित्य मानकर भ्वादि और स्वादि दोनों गणों की धातुओं से इट् का विधान करता है। अन्य वैयाकरण 'स्तु' और 'धूञ्' दोनों के मध्य में 'सु' का पाठ होने से लुग्विकरण 'सु' के साहचर्य से आदादिक और 'धूञ्' ञित् के साहचर्य से सौवादिक दोनों का ग्रहण मानते हैं। इस ग्रन्थ में इसी अन्तिम पक्ष को मानकर आदादिक और सौवादिक दोनों से इट् का विधान किया है।

अश्रोष्यत् ॥ ९६५ [श्रु] श्रवणे=सुनना। शप् विकरण प्राप्त है उसका बाधक।

२६०—श्रुवः शृ च ॥ ३ । १ । ७४ ॥

श्रु धातु से श्नु प्रत्यय और श्रु धातु को शृ आदेश होवे। श्नु प्रत्यय में शकार की इत्संज्ञा होकर शित् होने से सार्वधातुक संज्ञा हो जाती है, फिर ऋकार से णत्व (२०२) होकर। शृ+णु+तिप् (२१) गुण=शृणोति, शृणुतः। झि प्रत्यय में उवङ् (१५६) आदेश प्राप्त है इसलिये—

२६१—हुश्नुवोः सार्वधातुके ॥ ६ । ४ । ८७ ॥

संयोग जिसके पूर्व न हो ऐसे हु और श्नु प्रत्ययान्त अनेकाच् धातु के उवर्ण को यण् आदेश होवे अजादि सार्वधातुक परे हो तो। शृण्वन्ति, शृणोषि, शृणुथः, शृणुथ, शृणोमि, शृणु+वस्= शृण्वः (२००) उकार लोप का विकल्प, शृणुवः, शृण्मः, शृणुमः, शुश्राव, शुश्रुवतुः (१५९) उवङ्, शुश्रुवुः, शुश्रोथ [(१४८) इट् निषेध] शुश्रुवथुः, शुश्रुव, शुश्राव, शुश्रव, शुश्रुव, शुश्रुम; श्रोता, श्रोतारौ, श्रोतासि, श्रोष्यति, श्रोषति, श्रोषाति; शृणवति, शृणवाति, शृणोतु, शृणुतात्, शृणुताम्, शृण्वन्तु, शृणु (२०१) हि लुक्, शृणुतात्, शृणुतम्, शृणुत, शृणवानि, शृणवाव, शृणवाम, अशृणोत्, अशृणुताम्, अशृण्वन्, अशृणोः, अशृणुतम्, अशृणुत, अशृणवम्, अशृण्व, अशृणुव, अशृण्म, अशृणुम; शृणुयात्, शृणुयाताम्, शृणुयुः, शृणुयाः, शृणुयातम्, शृणुयात, शृणुयाम्, शृणुयाव, शृणुयाम; श्रूयात् (१६०) दीर्घ अश्रौषीत् (१५८) वृद्धि, अश्रौष्टाम्, अश्रौषुः; अश्रोष्यत् ॥ ९६६ [ध्रु] स्थैर्ये—स्थिर होना। ध्रवति, दुध्राव, दुध्रुवतुः, दुध्रोथ, दुध्रुवथ, दुध्रविथ, ध्रोता, ध्रोष्यति, ध्रौषति, ध्रोषाति, ध्रवति, ध्रवाति, ध्रवतु, अध्रवत्, ध्रवेत्,

भूयात्, अध्रौषीत्, अध्रोष्यत् ॥ ९६७, ९६८ [द्रु, द्रु] गतौ । द्रवति, द्रवति, दुद्राव, दुद्राव, दुद्रुवतुः, दुद्रुवतुः, दुद्राथ, दुदविथ, दुद्रुविथ, दुद्रोथ, यहां (१४८) नियम से नित्य इट् का निषेध हो जाता है, परन्तु भारद्वाज के मत में ऋकारान्त के निषेध का नियम होने से थल् में इट् प्राप्त है उस का भी क्रयादि नियामक (१४८) सूत्र अपवाद जानो । द्रोता, द्रोतासि, द्रोष्यति, द्रोषति, द्रोषाति, द्रवतु, अद्रवत्, द्रवेत्, द्रयात्, दूयात्, अद्रौषीत् । लुङ् में (१७६) चङ् और (१८०) द्विर्वचन होकर—अदुद्रुवत्, अदुद्रुवताम्, अदुद्रुवन्, अद्रोष्यत् ॥ ९६९, ९७० [जि, जि] अभिभवे = तिरस्कार । जयति, जयत, जयन्ति, लिट् में तुल्य (१९८)—जिगाय, जिग्यतु, जिग्यु, जिगेथ, जिगियथ; जिजाय, जिज्ञियतु, जिजेथ, जिजयिथ, जेतासि, जेतासि, जेष्यति, जेष्यति, जेषति, जेषाति, जयतु, अजयत्, जयेत्, जीयात् (१६०) दीर्घ, अजैषीत्, अजेष्यत्, अजैषीत्, अजेष्यत् । इति घेटादयोऽनुदात्ता उदात्तेतः परस्मैपदिनः षट्चत्वारिंशत् समाप्ताः । ये धेट् आदि ४६ धातु अनिट् परस्मैपदी समाप्त हुए ॥

अथ [ष्मिङादयो] डीङन्ता ङितस्त्रयोविंशति [आत्मनेपदिनः] । अब डीङ् पर्यन्त २३ धातु आत्मनेपदी कहते हैं ॥ ९७१ [ष्मिङ्] ईषद्धसने = थोड़ा हँसना[१] । स्मयते (२१) गुण, स्मयेते, स्मयन्ते, सिष्मिये, सिष्मियिढ्वे, सिष्मियिध्वे, स्मेतासे, स्मेष्यते, स्मैषते, स्मैषाते, स्मयते, स्मयाते, स्मयताम्, अस्मयत, स्मयेत, स्मेषीष्ट, स्मेषीढ्वम्, अस्मेष्ट, अस्मेढ्वम्, अस्मेष्यत ॥ ९७२ [गुङ्] अव्यक्ते शब्दे । गवते, जुगुवे, जुगुविढ्वे, जुगुविध्वे, गोतासे, गोष्यते, गोषते, गोषाते, गवते, गवाते, गवताम्, अगवत, गवेत, गोषीष्ट, गोषीढ्वम्, अगोष्ट,

१. अर्थात् मुस्कराना ।

अगोढ्वम्, अगोप्यत ॥ १७३ [गाङ्] गतौ। इस धातु के अनुबन्ध का लोप होने पश्चात् आकारान्त के रहने से शप् के अकार के साथ सवर्ण दीर्घ एकादेश होता है। गा+शप्+त = गाते, गाते, गाते[1] (१२४) अत, गासे, गाथे, गाध्वे, गे, गावहे, गामहे, 'गा+एश्' यहां आकारलोप (२४४) और द्विर्वचन की व्यवस्था (२४५) होकर—जगे, जगाते, जगिरे, जगिषे, जगाथे, जगिध्वे, जगे, जगिवहे, जगिमहे; गाता, गास्यते; गासतै, गासातै, गासतै, गासातै, गातै; गाताम्, अगात, अगाताम्, अगात; गेत, गेयाताम्, गेरन्; गासीष्ट; अगास्त, अगासाताम्, अगासत, अगास्थाः, अगासाथाम्, अगाध्वम्, अगासि, अगास्वहि, अगास्महि; अगास्यत ॥ १७४—१७९ [उङ्, कुङ्, खुङ्, गुङ्, घुङ्, ङुङ्] शब्दे। अवते, ऊवे, ऊवाते, ऊविरे, ऊविढ्वे, ऊविध्वे, ओतासे, ओष्यते, ओषतै, ओषातै, अवतै, अवातै, अवताम्, अवेताम्, अवन्ताम्, आवत, अवेत, ओषीष्ट, ओषीढ्वम्, औष्ट, औषाताम्, औषत, औढ्वम्, औष्यत;। कवते, चुकुवे, कोतासे, कोष्यते, कोषतै, कोषातै, कवताम्, अकवत, कवेत, कोषीष्ट, अकोष्ट, अकोष्यत। खवते, चुखुवे; गवते, जुगुवे; घवते, जुघुवे, ङवते, ङुङुवे, ङोता, ङोष्यते, ङोषतै, ङोषातै, ङवताम्, अङवत, ङवेत, ङोषीष्ट, अङोष्ट, अङोष्यत ॥ १८०—१८३ [च्युङ्, ज्युङ्, प्रुङ्, प्लुङ्,] गतौ, [क्लुङ्,] इत्येके, १८४ [रुङ्] गतिरेषणयोः = गति और हिंसा। च्यवते; ज्यवते; प्रवते; प्लवते; क्लवते; रवते, रुरुवे, रुरुविढ्वे, रुरुविध्वे। और रु धातु सेट्-अनिट् व्यवस्था में पढ़ा है वहां यु, रु आदि अदादि धातुओं के साहचर्य से अदादि का ही रु धातु भी लिया जाता है। रोतासे, रोष्यते, रोषतै, रोषातै, रवताम्, अरवत, रवेत, रोषीष्ट,

1. प्रथम पुरुष के तीनों वचनों में एक से प्रयोग होते हैं।

रोधिढ्वम्, अरोष्ट, अरोढ्वम्, अरोष्यत ॥ ९८५ [धृङ्] अवध्वंसने = नाश करना । धरते, दध्रे, धर्तासे, धरिष्यते, (२३८) इट्, धार्यते, धार्षीते, धरताम्, अधरत, धरेत, धृषीष्ट (२४०) इस से कित्वत् होकर (४५) गुण का निषेध होता है । अधृत (२४० २४१) अधृषाताम् अधृषत, अधरिष्यत ॥ ९८६ [मेङ्] प्रणिदाने = किसी पदार्थ के बदले में दूसरी वस्तु देना । मयते, मयेते, मयन्ते, ममे, (२४२ २४४ २४५) ममाते ममिरे मातासे, मास्यते, मासते, मासाते, मयताम्, अमयत, मयेत, मासीष्ट अमास्त, अमासाताम्, अमासत, अमास्यत ॥ ९८७ [देङ्] रक्षणे । दयते ।

२६२—दयतेर्दिगि लिटि ॥ ७ । ४ । ९ ॥

दयति धातु को दिगि आदेश होवे लिट् लकार परे हो तो । इस सूत्र में "दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु" इस धातु का ग्रहण इसलिये नहीं होता कि दय धातु से लिट् में आम् प्रत्यय कह चुके हैं और यह सूत्र द्विर्वचन का अपवाद है दिगि + एश् + दिग्ये (२५६) यण्, दिग्याते, दिग्यिरे, दातासे, दास्यते, दासते, दासाते, दयताम्, अदयत, दयेत, दासीष्ट, दा धातु की प्रकृति होने से इस की घु संज्ञा (२४६) होकर—

२६३—स्थाघ्वोरिच्च ॥ १ । २ । १७ ॥

स्था धातु और घुसंज्ञक धातुओं को इकारादेश और इन से परे जो सिच् प्रत्यय हो वह कित्वत् हो आत्मनेपद विषय में । स्थाधातु प्रथम लिख चुके हैं परन्तु वहां आत्मनेपद के न होने से इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हुई, पदव्यवस्थाप्रक्रिया में काम आवेगा । यहां दा धातु के आकार को इकार होकर—अट् + दि + सिच् + त = अदित (२४१) सूत्र से सिच् के सकार का लोप । अदिषाताम् अदिषत

अदियाः, अदियाथाम्, अदिध्वम्, अदिपि, अदिष्वहि, अदिष्महि ॥ ९८८ [श्यैङ्] गतौ । श्यायते, शिश्ये, श्याता, श्यास्यते, श्यासतै, श्यासातै, श्यायताम्, अश्यायत, श्यायेत, श्यासीष्ट, अश्यास्त, अश्यास्यत ॥ ९८९ [प्यैङ्] वृद्धौ = बढ़ना । प्यायते, प्यायेते; पप्ये, प्याता, प्यास्यते, अप्यास्त, अप्यास्यत ॥ ९९० [त्रैङ्] पालने = रक्षा । त्रायते, तत्रे, त्राता, त्रास्यते, त्रासतै, त्रासातै, त्रायताम्, अत्रायत, त्रायेत, त्रासीष्ट, अत्रासत, अत्रास्यत ॥ ष्मिङ्प्रभृतयोऽनुदात्ता आत्मनेपदिनः । ष्मिङ् से यहां तक सब धातु अजन्त अनिट् जानो ॥

[अथ त्रय उदात्ताः । अब तीन धातु उदात्त हैं] ९९१ [पूङ्] पवने = शुद्धि । पवते, पुपुवे पुपुविढ्वे, पुपुविध्वे, पविताासे, पविष्यते, पाविषतै, पविषातै, पविषतै, पविषातै, पवतै, पवातै, पवताम्, अपवत, पवेत, पविषीष्ट अपविष्ट, अपविष्यत ॥ ९९२ [मूङ्] बन्धने = बांधना । मवते ॥ ९९३ [डीङ्] विहायसा गतौ = आकाश में उड़ना । डयते, डिड्ये, डयिता, डयिष्यते, डायिषतै, डायिषातै, डायिषते, डायिषातै, डयताम्, अडयत, डयेत, डयिषीष्ट, अडयिष्ट, अडयिष्यत ॥ ये पूङ् आदि तीन धातु सेट् हैं ॥

९९४ [तृ] प्लवनसंतरणयोः = कूदना और तरना । उदात्तः परस्मैपदी । यह धातु सेट् परस्मैपदी है । तरति, तरतः, तरन्ति, ततार । यहां प्रथम वृद्धि होकर द्वित्व होता है । तृ + अतुस्, यहां अप्राप्त गुण (२५८) और एत्वाभ्यास लोप, (१६४) होकर— तेरतुः, तेरुः, तेरिथ, तेरथुः, तेर, ततार, ततर, तेरिव, तेरिम ।

२६४—वॄतो वा ॥ ७ । २ । ३८ ॥

वृङ्, वृञ् और ॠकारान्त धातुओं से परे जो इट् का आगम उसको विकल्प करके दीर्घ होवे, परन्तु लिट् लकार परे न हो ।

तरीतासि, तरितासि, । इस सूत्र में लिट् का निषेध इसलिये है कि 'तेरिथ' यहां दीर्घ न होवे । तरीष्यति, तरिष्यति, तारीषति, तारीषाति, तारिषति, तारिषात. तरीषति, तरीषाति, तरिषति, तरिषाति, तरति, तराति, तरतु, अतरत्, तरेत् ।

२६५—ॠत इद्धातोः ॥ ७ । १ । १०० ॥

ॠकारान्त धातु अङ्ग को इत् आदेश होवे। इस इत् आदेश के कहने में कुछ विशेष नहीं है, परन्तु जहां गुण वृद्धि की प्राप्ति है वहां तो परविप्रतिषेध मान के गुण वृद्धि ही होते हैं और जहां गुण वृद्धि की प्राप्ति नहीं वहां इत्व होता है। तिर्+या+तिप्= तीर्यात् (१९७) दीर्घ, तीर्यास्ताम्, तीर्यासुः ।

२६६—सिचि च परस्मैपदेषु ॥ ७ । २ । ४० ॥

परस्मैपदविषय में सिच् परे हो तो वृङ्, वृञ् और ॠकारान्त धातुओं से परे इट् को दीर्घ न होवे । (२६३) सूत्र से सर्वत्र दीर्घ प्राप्त है उसका विशेष विषय में बाधक है। अतारीत्, अतारिष्टाम्, अतारिषुः, अतरीष्यत्, [अतरिष्यत्] ।

अथ [गुपादयो दहत्यन्ता] अष्टावनुदात्तेतः[1] । अथ [गुपादि] आठ ८ धातु सेट् आत्मनेपदी कहते हैं ॥ ९६५ [गुप] गोपने । यहां गोपन धातु का स्वार्थ लिया जाता है। सन् के विना इसका प्रयोग स्वतन्त्र कहीं नहीं आता, सन्नन्त का अर्थ निन्दा होता है वहीं इसका स्वार्थ है ॥ ९९६ [तिज] निशाने । इस धातु का स्वार्थ सहन अर्थ है ।

२६७—गुप्तिज्किद्भ्यः सन् ॥ ३ । १ । ५ ॥

गुप्, तिज् और कित् इन तीन धातुओं से स्वार्थ में सन् प्रत्यय

---

१. अर्थात् 'आत्मनेपदिन.' ।

हो। गुप् धातु से निन्दा और तिज् ॥ सहने अर्थ में सन् प्रत्यय जानो। गुप्+सन्+

२६८—सन्यङोः ॥ ६ । १ । ६ ॥

सन् और यङ् प्रत्यय परे हों तो अनभ्यास धातु के प्रथम एकाच् अवयव का और अजादि के द्वितीय एकाच् अवयव को द्वित्व होवे। जुगुप्स (१०९) अभ्यास को चवर्गादेश होकर इसकी धातु संज्ञा (१६७) होकर अनुदात्त अनुबन्ध से केवल गुप् आदि में चरितार्थ न होने से सन्नन्त धातुओं से भी आत्मनेपद होता है। जुगुप्स+शप्+त=जुगुप्सते, जुगुप्सेते, जुगुप्सन्ते, जुगुप्साञ्चक्रे, (१६९, १७०) जुगुप्साम्बभूव, जुगुप्सामास, जुगुप्सितासे, जुगुप्सिष्यते, जुगुप्सिषते, जुगुप्सिषाते, जुगुप्सताम्, अजुगुप्सत, जुगुप्सेत, जुगुप्सिषीष्ट, अजुगुप्सिष्ट, अजुगुप्सिष्यत। 'तिज्+तिज्+सन्' यहां द्वितीय चवर्ग जकार का ["चोः कुः"[1] से गकार, उसको] "खरि च"[2] सूत्र से 'क्' होकर सन् के सकार को 'ष' (५७) होकर—तितिक्ष+शप्+त= तितिक्षते, तितिक्षाञ्चक्रे, तितिक्षामास, तितिक्षाम्बभूव, तितिक्षितासे, इत्यादि॥ ९९७ [मान] पूजायाम्=सत्कार। ९९८ [बध] बन्धन=बांधना।

२६९—मानबधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य ॥ ३ । १ । ६ ॥

मान, बध, दान और शान धातुओं से सन् प्रत्यय होवे, और सन् प्रत्यय के परे इनके अभ्यास का दीर्घ होवे। मान धातु से जानने की इच्छा में और बध धातु से चित्तविकार अर्थ में सन् जानो। मान धातु के अभ्यास को प्रथम ह्रस्व (४१) होकर अभ्यास

1. सन्धि० १८९। 2. सन्धि० २३५।

के अकार को इकार (१८२) होता है, उसी इकार को "मानबध०" सूत्र से दीर्घ जानो। मीमांसते, मीमांसेते, मीमांसन्ते, मीमांसाञ्चक्रे, मीमांसाम्बभूव, मीमांसामास। बध्+बध्+सन्+शप्+त=बीभत्सते (२०४), भष्भाव अभ्यास को दीर्घ और चर्त्व होकर—बीभत्सेते, बीभत्साञ्चक्रे, बीभत्सितासे, बीभत्सिष्यते, बीभत्सिषते, बीभत्सिषातै, बीभत्सताम्, अबीभत्सत, बीभत्सेत, बीभत्सिषीष्ट, अबीभत्सिष्ट, अबीभत्सिष्यत। गुप् आदि धातुओं से परे सन्-प्रत्यय को इट् का आगम (४७) और पूर्व को गुण प्राप्त है सो "धातोः" पद के ग्रहण न करने से सन् की आर्धधातुक संज्ञा नहीं होती[1], जो धात्वधिकार में विहित हैं उन्हीं प्रत्ययों की आर्धधातुक संज्ञा (५०) कही है, और आर्धधातुक संज्ञा न होने से इट् और गुण दोनों ही नहीं होते। गुपादयश्चत्वार उदात्ता अनुदात्तेत आत्मनेभाषाः। ये गुप् आदि ४ (चार) सेट् आत्मनपदी धातु समाप्त हुए॥

[अथ चत्वारोऽनुदात्ताः। अब चार अनुदात्त धातुएं कहते हैं।] ९९९ [रभ] राभस्ये—शीघ्र करना। रभते, रभेते, रेभे, रेभाते, रभ्+तास्+डा—रब्धा (१४१) धत्व और भकार को जश् बकार होता है। रब्धारौ, रब्धासे, रप्स्यते—चर्[2] रप्सतै, रप्सातै, रभताम्, अरभत, रभेत, रप्सीष्ट, अरब्ध (१४२) सलोप, अरप्साताम्, [अरप्सत,] अरब्धाः, अरप्साथाम्, अरब्ध्वम्, अरप्सि, अरप्स्वहि, अरप्स्महि, अरप्स्यत॥ १००० [डुलभष्] प्राप्तौ। डु की इत्संज्ञा (१५०) और ष् की इत् संज्ञा का प्रयोजन कृदन्त में आवेगा[3]। लभते, लभेते, लभन्ते,

---

१. देखो सूत्र (आ० ५०) का अर्थ धात्वधिकार में कहे... ।

२. खरि च (सन्धि० २३५) से। ३. षिद्भिदादिभ्योऽङ् (आ० १५६३) में

लभसे, लेभे, लेभाते, लेभिरे, लेभिषे, लब्धासे, लप्स्यते, लाप्सतै, लाप्सातै, लभताम्, अलभत, लभेत, लप्सीष्ट, अलब्ध, अलप्साताम्, अलप्स्यत ॥ १००१ [ष्वञ्ज] परिष्वङ्गे = लपेटना ॥

२७०–दंशसञ्जस्वञ्जां शपि ॥ ६ । ४ । २५ ॥

दंश, सञ्ज और स्वञ्ज धातुओं के उपधा नकार का लोप होवे शप् प्रत्यय परे हो तो। स्वजते, स्वजेते, स्वजन्ते। यह धातु संयोगान्त है इस कारण इस से परे लिट् की कित्संज्ञा (४६) नहीं प्राप्त है और कित्संज्ञा के न होने से उपधा नकार का लोप भी नहीं पाता, इसलिये—

२७१–वा०–श्रन्थिग्रन्थिदम्भिस्वञ्जीनामिति वक्तव्यम् ॥ [काशिका १ । २ । ६]

श्रन्थ, ग्रन्थ, दम्भ, स्वञ्ज इन धातुओं से परे जो लिट् सो कित्वत् हो। यहां स्वञ्ज धातु से परे कित्व होकर उपधा नकार का लोप (१३९) होकर—सस्वजे। सस्वजाते, सस्वजिरे। इस धातु के अनिट् होने से—स्वञ्ज+तास्+डा = स्वङ्क्ता, कुत्व चत्व और परसवर्ण। स्वङ्क्तासे, स्वङ्क्ष्यते, स्वङ्क्सतै, स्वङ्क्सातै, स्वजताम्, अस्वजत, स्वजेत, स्वङ्क्षीष्ट, अस्वङ्क्त, अस्वङ्क्ष्यत ॥ १००२ [हद] पुरीषोत्सर्गे = हगना। हदते, जहदे, जहदाते, जहदिरे, हत्ता, हत्स्यते, हात्सतै, हात्सातै, हदताम्, अहदत, हदेत, हत्सीष्ट, अहत्त, अहत्साताम्, अहत्सत, अहत्स्यत। रभादयश्चत्वारोऽनुदात्ता अनुदात्तेत आत्मनेभाषाः। ये रभ आदि अनिट् आत्मनेपदी चार धातु समाप्त हुए ॥

अथ [ञिष्विदादयः] परस्मैपदिनः पञ्चदश। अब पन्द्रह (१५) धातु परस्मैपदी कहते हैं ॥ १००३ [ञिष्विदा] अव्यक्ते शब्दे। उदात्तः परस्मैपदी। स्वेदति, सिष्वेद, सिष्वि-

दतु', सिष्वदु', स्वेदिता, स्वेदिष्यति, स्वेदिषति, स्वेदिषाति, स्वेदतु, अस्वेदत्, स्वेदेत्, स्विद्यात्, अस्वेदीत्, अस्वेदिष्यत् ॥ १००४ [स्कन्दिर्] गतिशोषणयोः=गति और सोखना। स्कन्दति, चस्कन्द, चस्कन्दतुः, चस्कन्दिथ।

२७२—झरो झरि सवर्णे ॥ ८। ४। ६४ ॥

हल् से परे जो झर् उसका लोप हो सवर्णी झर् परे हो तो। स्कन्द्+थल्=स्कन्थ। यहां नकार से परे दकार का लोप होता है। स्कन्तासि, स्कन्त्स्यति, स्कन्त्सति, स्कन्त्साति, स्कन्दतु, अस्कन्दत्, स्कन्देत्, स्कद्यात्, (१३९) नकार का लोप। लुङ् में इरित् होने से अङ् (१३८) विकल्प—अस्कदत् (१३९) नलोप, पक्ष में—अस्कान्त्सीत्, अस्कान्ताम, अस्कान्त्सुः (१३२) वृद्धि, अस्कान्त्सीः, अस्कान्तम्, अस्कान्त, अस्कान्त्सम्, अस्कान्त्स्व, अस्कान्त्स्म ॥ १००५ [यभ] मैथुने=स्त्रीसंग करना। यभति, ययभ, येभतुः, येभुः, येभिथ, (२१५), ययब्ध, यब्धासि, यप्स्यति, याप्सति, याप्साति, यभति, यभाति, यभतु, अयभत्, यभेत्, यभ्यात्, अयाप्सीत्, अयाब्धाम्, अयाप्सुः, अयाप्सीः, अयाब्धम्, अयाब्ध, अयाप्सम्, अयाप्स्व, अयाप्स्म, अयप्स्यत् ॥ १००६ [णम] प्रह्वत्वे शब्दे= नम के बोलना। नमति, ननाम, नेमतुः, नेमुः, नमिथ, ननन्थ, नेमथुः, नेम, ननाम, ननम नेमिव, नेमिम, नन्तासि, नंस्यति, नांसति, नासाति, नमति, नमाति, नमतु, अनमत् नमेत्, नम्यात्। यह धातु अनिट् तो है परन्तु लुङ् लकार में इट् और सक् का आगम (२५१) हो जाता है—अनंसीत्, अनंसिष्टाम्, अनंसिषुः, अनंस्यत् ॥ १००७, १००८ [गम्लृ, सृप्लृ] गतौ।

२७३—इषुगमियमां छः ॥ ७। ३। ७७ ॥

इषु, गम, यम धातुओं को छकारादेश होवे शित् प्रत्यय परे हो तो। यहां अन्त्य अल् गम के मकार का छकार होकर—गच्छति, गच्छतः, गच्छन्ति, जगाम, जग्मतुः, जग्मुः (२१४) उपधालोप, जगमिथ, जगन्थ (२१५), गन्ता, गन्तारौ, गन्तारः, गन्तासि।

२७४—गमेरिट् परस्मैपदेषु ॥ ७। २। ५८॥

परस्मैपदविषय में गम धातु से परे सकारादि आर्धधातुक को इट् का आगम होवे। गमिष्यति, गमिष्यतः, गमिष्यन्ति, [गांसति, गांसाति, गंसति, गंसाति] गच्छति, गच्छाति, गच्छतु, गच्छतात्, गच्छन्तु, अगच्छत्, गच्छेत्, गम्यात्। लुङ् लकार में (२१७) सूत्र से अङ् और अङ् के परे उपधालोप का निषेध (२१४) होने से उपधालोप नहीं होता। अगमत्, अगमताम्, अगमन्, अगमः, अगमतम्, अगमत, अगमम्, अगमाव, अगमाम, अगमिष्यत्। सर्पति, सर्पतः, सर्पन्ति, ससर्प, ससृपतुः, ससर्पिथ, ससृपुः।

२७५—अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् ॥ अ० ६। १। ५९॥

झलादि अकित् प्रत्यय परे हो तो ऋकार जिसकी उपधा में हो ऐसा जो उपदेश में अनुदात्त (अनिट्) धातु उसको अम् का आगम होवे विकल्प करके। मित् आगम अन्त्य अच् से परे होता है। सृ+अम्+प्+तासि+डा=स्रप्ता, सर्प्ता, स्रप्तासि, सर्प्तासि। अम् के अकार को मान के यण् होता और पक्ष में गुण (५७) होजाता है। स्रप्स्यति, सर्प्स्यति, स्रप्सति, स्रप्साति, सर्प्सति, सर्प्साति, सर्पति, सर्पाति, सर्पतु, असर्पत्, सर्पेत्, सृप्यात्, असृपत् (२१७) अङ्, असृपताम्, असृपन्, असृपः, असृपतम्, असृपत, असृपम्, असृपाव, असृपाम, अस्रप्स्यत्, असर्प्स्यत्॥ ०८९

[यम] उपरमे=शान्त होना। (२७३) छकारादेश होकर—

यच्छति, यच्छत:, यच्छन्ति। ययाम, येमतुः, येमिथ, ययन्थ, येमिव, यन्तासि, यंस्यति, यासति, यासाति, यच्छतु, अयच्छत्, यच्छेत्, यम्यात्। लुङ् में (२५१) इट् और सक्—अयंसीत्, अयसिष्टाम्, अयंसिषु:, अयस्यत् ॥ १०१० [तप] सन्तापे = दु:ख भोगना। तपति, तताप, तेपतु:, तप्ता, तप्स्यति, ताप्सति, ताप्साति, तपति, तपाति, तपतु, अतपत्, तपेत्, तप्यात्, अताप्सीत्, अताप्ताम्, अताप्सु:, अताप्सी:, अतप्स्यत् ॥ १०११ [त्यज] हानौ = छोडना। त्यजति, त्यजत:, त्यजन्ति, तत्याज, तत्यजिथ, तत्यक्थ, तत्यजिव। वैदिक प्रयोगविषय में त्यज आदि निम्नलिखित धातुओं के प्रयोग कुछ विशेष होते हैं। यद्यपि प्रथम स्पर्ध धातु पर ही इस सूत्र को लिखना था तो भी सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

२७६—अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषेतित्याजश्राताःश्रितमाशीराशीर्ताः ॥ ६ । १ । ३६ ॥

अपस्पृधेथाम्—इस प्रयोग में लङ् लकार उत्तम पुरुष के द्विवचन में "स्पर्ध सङ्घर्षे" धातु को द्विर्वचन, रेफ को सम्प्रसारण और अनभ्यास के अकार का लोप निपातन से किया है। अट्+स्पर्ध स्पर्ध+आथाम्=अपस्पृधेथाम्। और दूसरा प्रकार यह भी है कि अप उपसर्गपूर्वक स्पर्ध धातु के रेफ को सम्प्रसारण और अकार का लोप ही निपातन है वेद में माङ् का योग नहीं तो भी अट् का निषेध है।[1] आनृचु और आनृहु: यहां "अर्च पूजायाम्" और "अर्ह पूजायाम्" इन दोनों धातुओं से लिट् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन "उस्" में रेफ को संप्रसारण, अकार का लोप, तत्पश्चात् द्वित्व निपातन से और (१८६) सूत्र से अभ्यास के अकार को आकार होता है।

---

१. बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि। अष्टा० ६।४।७५॥

चिच्युषे—यहां "च्युङ् गतौ" धातु से लिट् लकार मध्यम पुरुष के एक वचन में अभ्यास का सम्प्रसारण और इट् का अभाव निपातन से किया है ॥ तित्याज—यहां इसी त्यज धातु के अभ्यास को सम्प्रसारण निपातन से किया है। श्राणः—"श्रीञ् पाके" धातु को कृदन्त क्त प्रत्यय के परे श्रीभाव निपातन किया है। और "श्रितम्"—यहां भी उक्त धातु को क्त के परे श्रिभाव है। आशीः, आशीर्भिः—यहां भी आङ्पूर्वक उक्त श्रीञ् धातु को क्विप् और क्त प्रत्यय के परे शीर् आदेश हुआ है।

त्यक्तासि, त्यक्ष्यति, त्यक्षति, त्यक्षाति, त्यजतु, अत्यजत्, त्यजेत्, त्यज्यात्, अत्याक्षीत्, अत्याक्ताम्, अत्याक्षुः, अत्याक्षीः, अत्याक्तम्, अत्याक्त, अत्याक्षम्, अत्याक्ष्व, अत्याक्ष्म, अत्यक्ष्यत् ॥ १०१२ [षञ्ज] सङ्ग=मेल । (२७०) सूत्र से उपधा नकार का लोप होकर—सजति, सजतः, ससञ्ज, ससञ्जतुः, ससञ्जिथ, ससङ्क्थ, सङ्क्तासि, सङ्क्ष्यति, सङ्क्षति, सङ्क्षाति, सजतु, असजत्, सजेत्, सज्यात्, असाङ्क्षीत्, असाङ्क्ताम्, असाङ्क्षुः (१२५) वृद्धि, असङ्क्ष्यत् ॥ १०१३ [दृशिर्] प्रेक्षण=अच्छे प्रकार देखना। पश्य आदेश (२३१) सूत्र से होकर—पश्यति, पश्यतः, पश्यन्ति, ददर्श, ददृशतुः, ददृशुः।

२७७-विभाषा सृजिदृशोः ॥ ७ । २ । ६५ ॥

सृज और दृश धातु से परे जो थल् उस को विकल्प करके इडागम होवे। इट् पक्ष में—ददर्शिथ। अनिट् पक्ष में—ददर्श्+थल्, यहां—

२७८-सृजिदृशोर्झल्यमकिति ॥ ६ । १ । ५८ ॥

कित्भिन्न झलादि प्रत्यय परे हो तो सृज और दृश धातुओं को अम् आगम होवे। यह सूत्र (२७५) सूत्र का अपवाद है,

क्योंकि (२७५) सूत्र में सामान्य ऋदुपध धातुओं को अम् आगम विकल्प से कहा है उस का यह विशेष है। दद+अ+श्+थल्=दद्रष्ठ। ऋकार को यण् और (२३३) सूत्र से शकार को षकार होता है। ददृशथुः, ददृश, ददृशे, ददृशिव, ददृशिम, द्रष्टासि, द्रक्ष्यति, द्राक्षति, द्राक्षाति, पश्यति, पश्याति, पश्यतु, अपश्यत्, पश्येत्, दृश्यात्। (१३८) सूत्र से अङ् का विकल्प होकर अङ्पक्ष में— अदर्शत् (२५७) गुण, और जिस पक्ष में अङ् नहीं होता वहां (२०७) सूत्र से च्लि के स्थान में क्स प्राप्त है, इसलिये—

२७९—न दृशः ॥ ३ । १ । ४७ ॥

दृश धातु से परे च्लि के स्थान में क्स आदेश न होवे। फिर अम् (२७८) और वृद्धि (१२५) होकर—अद्राक्षीत्, अद्राष्टाम्, अद्राक्षुः, अद्राक्षीः, अद्राष्टम्, अद्राष्ट, अद्राक्षम्, अद्राक्ष्व, अद्राक्ष्म, अद्रक्ष्यत्॥ १०१४ [दंश] दशने=काट खाना। नकारलोप (२७०) दशसि, दशतः, दशन्ति, ददंश, ददंशतुः, ददंशिथ, ददंष्ठ (२३३) श को ष, दंष्टासि, दंक्ष्यति, दङ्क्षति, दङ्क्षाति, दशति, दशाति, दशतु, अदशत्, दशेत्, दश्यात् (१२९), अदाङ्क्षीत्, अदांष्टाम्, अदाङ्क्षुः, अदङ्क्ष्यत्॥ १०१५ [कृष] विलेखने=जोतना, खींचना वा खोदना। कर्षति, चकर्ष, चकृषतुः, चकर्षिथ, क्रष्टासि, यहां विकल्प से अम् (२७५) और पक्ष में गुण होता है कर्ष्टासि, क्रक्ष्यति, कर्क्ष्यति, क्रक्षति, क्रक्षाति, कर्क्षति, कर्क्षाति, कर्षति, कर्षाति, कर्षतु, अकर्षत्, कर्षेत्, कृष्यात्। लुङ् में च्लि के स्थान में नित्य क्स (२८७) प्राप्त है, इसलिये—

२८०—वा-स्पृशमृशकृषतृपदृपां च्लेः सिज् वा ॥ ३ । १ । ४४ ॥

स्पृश, मृश, कृष, तृप और दृप धातुओं से परे च्लि के स्थान में सिच् विकल्प करके हो, अर्थात् एक पक्ष में क्स और दूसरे पक्ष में सिच् भी रहे जिस पक्ष में सिच् हुआ वहां अम् और वृद्धि (१३२) होकर—अक्राक्षीत्, अक्राष्टाम्, अकार्क्षीत्, अकार्ष्टाम्, अकार्क्षुः। और जिस पक्ष में क्स होता है वहां—अकृक्षत्, अकृक्षताम्, अकृक्षन्, अकृक्षत्॥ १०१६ [दह] भस्मीकरणे = भस्म कर देना[2]। दहति, ददाह, देहतुः, देहिथ, ददग्ध, दग्धासि, धक्ष्यति, धक्षति, धाक्षति, दहति, दहाति, दहतु, अदहत्, दहेत्, दह्यात्, अधाक्षीत्, अदाग्धाम्, अधाक्षुः, अधाक्षीः, अदाग्धम्, अदाग्ध, अधाक्षम्, अधाक्ष्व, अधाक्ष्म, अधक्ष्यत्॥ १०१७ [मिह] सेचने = सींचना। मेहति, मिमेह, मिमेहिथ, मेढा, मेक्ष्यति, मेक्षति, मेक्षाति, मेहति, मेहाति, मेहतु, अमेहत्, मेहेत्, मिह्यात्, अमिक्षत् (२०७) क्स, अमिक्षताम्, अमिक्षन्, अमेक्ष्यत्। स्कन्दादयोऽनुदात्ताः। [इति णिदादयः पञ्चदश] उदात्तेतः परस्मैभाषाः। ये १५ (पन्द्रह) परस्मैपदी धातु समाप्त हुए॥

१०१८ [कित] निवासे रोगापनयने च = निवास और रोगों को हटाना। (२६७) सूत्र से सन् और द्वित्व (२६८) होकर—चिकित्सति। इस धातु का सन्नन्त में केवल रोगापनयन ही अर्थ घटता है। और विपूर्वक सन्नन्त केवल संशय अर्थ में ही आता है। विचिकित्सति—संदेह करोतीत्यर्थः। और निवास अर्थ में चुरादिगण होने से णिच् होकर "केतयति" प्रयोग बनता है। चिकित्साञ्चकार,

---

१. सिच् के विकल्प में स्पृश मृश, कृष इन तीन में क्स होता है और तृप, दृप से पुषादि होने से अङ् होता है।

२. यह धातु 'जलाना' अर्थ में सकर्मक है और 'जलना' अर्थ में अकर्मक है। यथा—मिथिलायां दह्यमानायां न मे दह्यति किंचन।

चिकित्साम्बभूव, चिकित्सामास, चिकित्सिता, चिकित्सिषति, चिकित्सिषाति, चिकित्सतु, अचिकित्सत्, चिकित्सेत् चिकित्स्यात् अचिकित्सीत्, अचिकित्सिष्यत् । उदात्तः परस्मैपदी । यह धातु सेट् परस्मैपदी है, परन्तु कोई कोई[1] लोग इस को आत्मनेपदी भी कहते हैं । इन के मत में—चिकित्सते, चिकित्साञ्चक्रे आदि रूप होंगे ॥

इतो वहत्यन्ताः स्वरितेतः । अब यहां से वह धातु पर्यन्त स्वरितेत् (उभयपदी) कहते हैं । क्रिया का फल कर्ता के लिये हो तो आत्मनेपद (१०५), अन्यत्र परस्मैपद होता है ॥ १०१९ [दान] खण्डने = काटना, १०२० [शान] तेजने = तीक्ष्ण करना । इन दोनों धातुओं से सन् और अभ्यास को दीर्घ (२६६) और इत्व (२६८) होकर—दीदांसते, दीदांसति, शीशांसते, शीशांसति, दीदांसाञ्चक्रे, दीदांसाञ्चकार, दीदांसितासे, दीदांसितासि, अदीदांसिष्ट, अदीदांसीत् ॥ ये दोनों धातु सेट् हैं ॥ १०२१ [डुपचष्] पाके । इस धातु के डु और ष् इत् जाते हैं । पचते, पचति, पचतः, पचन्ति, पेचे, पेचाते, पपाच, पेचतुः, पेचिथ, पपक्थ, पक्तासे, पक्तासि, पक्ष्यते, पक्ष्यति, पचातै, पचातै, पचते, पचाते, पचति, पचाति, पचति, पचाति, पचताम्, पचतु, अपचत, अपचत्, पचेत, पचेत्, पक्षीष्ट, पच्यात्, अपक्त, अपक्षाताम्, अपाक्षीत्, अपाक्ताम्, अपाक्षुः, अपक्ष्यत, अपक्ष्यत् ॥ १०२२ [षच] समवाये = सम्बन्ध करना । यह धातु सेट् है । सचते, सचति, ससाच, सेचतुः, सेचिथ, सेचे, सचितासे, सचितासि, असचिष्ट, असाचीत्, असचीत् ॥ १०२३ [भज] सेवायाम् = सेवा करना । भजते, भजति, बभाज, भेजतुः, (१६४) एत्वाभ्यासलोप,

१. आभरणकार हरियोगी का यह मत है ।

भेजिथ, बभक्थ, भेजे, भक्तासि, भक्तासे, भक्ष्यते, भक्ष्यति, भक्षीष्ट, भज्यात्, अभक्त, अभाक्षीत्, अभक्षाताम्, अभक्ष्यत ॥ १०२४ [रञ्ज] रागे = रंगना ।

२८१—रञ्जेश्च ॥ ६ । ४ । २६ ॥

रञ्ज धातु के अनुनासिक का लोप हो शप् परे हो तो । रजते, रजति, ररञ्जे, ररञ्ज, रङ्क्तासे, रङ्क्ष्यते, अरङ्क्त, अराङ्क्षीत्, अराङ्क्ताम्, अराङ्क्ष्यत् ॥ १०२५ [शप] आक्रोशे = कोसना । शपते, शपति, शशाप, शेपतुः, शेपिथ, शशप्थ, शप्तासे, शप्तासि, शप्स्यते, शप्स्यति, शप्सतै, शप्सातै, शपतै, शपातै । शाप्सति, शाप्साति, शपति, शपाति, शपताम्, शपतु, अशपत, अशपत्, शपेत, शपेत्, शप्सीष्ट, शप्यात्, अशप्त, अशप्साताम्, अशप्सत, अशाप्सीत्, अशाप्ताम्, अशाप्सुः, अशप्स्यत, अशप्स्यत् ॥ १०२६ [त्विष] दीप्तौ = प्रकाश । त्वेषते, त्वेषति, तित्वेष, तित्विषतुः, तित्वेषिथ, तित्विषे, त्वेष्टासे, त्वेष्टासि, त्वेक्ष्यते, त्वेक्ष्यति, त्वेक्षतै, त्वेक्षातै, त्वेक्षते, त्वेक्षाते, त्वेषतै, त्वेषातै, त्वेक्षति, त्वेक्षाति, त्वेषति, त्वेषाति, त्वेषताम्, त्वेषतु, अत्वेषत, अत्वेषत्, त्वेषेत, त्वेषेत्, त्विक्षीष्ट (१६३) किद्वत् होकर (३४) गुण का निषेध हो जाता है । त्विक्षीयास्ताम्, त्विक्षीरन्, त्विष्यात्, अत्विक्षत (२०७) क्स, अत्विक्षाताम् (२०८) क्सलोप, अत्विक्षत, अत्विक्षन्, अत्विक्षताम्, अत्विक्षन्, अत्वेक्ष्यत, अत्वेक्ष्यत् ॥ १०२७ [यज] देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु = विद्वानों का सत्कार, मेल करना और दान करना । यजते, यजति ।

२८२—लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् ॥ ६ । १ । १७ ॥

लिट् लकार परे हो तो (२८३) सूत्र में पढ़े वचि आदि और (२८६) सूत्र में पढ़े ग्रहि आदि धातुओं के अभ्यास को

संप्रसारण होवे। इस सूत्र में अभ्यास को सम्प्रसारण कहने से द्वित्व होने के पश्चात् सम्प्रसारण होता है। यह सूत्र अकित् विषय में सम्प्रसारण होने के लिये है। यज्+यज्+णल्=इयाज। यहां अभ्यास के यकार का "इ" हुआ है, और कित् विषय में—

२८३–वचस्वपियजादीनां किति ॥

६। १। १७॥

वच, स्वप और यजादि धातुओं को सम्प्रसारण होवे। यज धातु से लेकर भ्वादिगण के अन्तपर्यन्त यजादि समझने चाहियें। यहां द्वित्व होने से प्रथम ही सम्प्रसारण होता है। इ+अज्+अतुस् (२१९) पूर्वरूप एकादेश होकर द्वित्व की पुनः प्राप्ति[1] होने से इज् मात्र को द्वित्व होता है। इज्+इज्+अतुस=ईजतुः। सवर्णदीर्घ एकादेश होता है। ईजुः, इयजिथ, इयष्ट (२३३) ष आदेश, ईजथुः, ईज, इयाज, इयज, ईजिव, ईजिम, ईजे, ईजाते, ईजिरे, यष्टासे, यष्टासि, यक्ष्यते, यक्ष्यति, यासतै, याक्षातै, यजतै, यजातै, याक्षति, याक्षाति, यजति, यजाति, यजताम्, यजतु, अयजत, अयजत्, यजेत, यजेत्, यक्षीष्ट, इज्यात् (२८३) सम्प्रसारण, अयष्ट, अयक्षाताम्, अयक्षत, अयष्ठाः, अयाक्षीत्, अयाष्टाम्, अयाक्षुः, अयक्ष्यत, अयक्ष्यत् ॥ १०२८ [डुवप्] बीजसन्ताने=बीज बोना

१ 'यज्+अतुस्' इस अवस्था में द्वित्व और सम्प्रसारण दोनों प्राप्त होते हैं। सम्प्रसारण सम्प्रसारणाश्रय च कार्यं बलवद् (परि० १०१) नियम से द्वित्व को बाधकर पहिले सम्प्रसारण होता है। तदनन्तर "पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्" (परि० ३९) नियम से पुनः प्राप्ति होने पर द्विर्वचन होजाता है।

खेत में या स्त्री में। 'छेदने च'¹ यह धातु काटने अर्थ में भी है। वपते, वपति। पूर्ववत् लिट् में संप्रसारण (२८२) होकर—उवाप, ऊपतुः (२८३), ऊपुः, उवपिथ, उवप्थ, ऊपे, ऊपाते, ऊपिरे, वप्तासे, वप्तासि, वप्स्यति, वप्स्यते, वाप्सते, वाप्साते, वाप्सति, वाप्साति, वपति, वपाति, वपताम्, वपतु अवपत, अवपत् वपेत, वपेत्, वप्सीष्ट, उप्यात् (२८३) सम्प्रसारण, अवाप्सीत्, अवाप्साम्, अवाप्सुः, अवप्त, अवप्सावाम्, अवप्सत, अवप्स्यत, अवप्स्यत्॥ १०२९ [वह] प्रापणे = पहुंचाना। वहति, वहते, उवाह (२८२), ऊहतुः (२८३), ऊहुः, उवहिथ, उवोढ (२३०) अवर्ण को ओकार, ऊहथुः, ऊह, उवाह, उवह, ऊहिव, ऊहिम, ऊहे, ऊहाते ऊहिरे, वोढासि, वोढासे, वक्ष्यति, वक्ष्यते, वाक्षते, वाक्षाते, वक्षते, वक्षाते, वाक्षते, वाक्षाते, वहते, वहाते, वहतै, वहातै, वाक्षति, वाक्षाति, वक्षति, वक्षाति, वहति, वहाति, वहतु, वहताम्, अवहत, अवहत्, वहेत, वहेत् वक्षीष्ट, उह्यात् (२८३) सम्प्रसारण, अवाक्षीत्, अवोढाम्, अवाक्षुः, अवाक्षीः, अवोढम्, अवोढ, अवाक्षम्, अवाक्ष्व, अवाक्ष्म, अवोढ, अवक्षाताम्, अवक्षत, अवोढाः, अवक्षाथाम्, अवोढ्वम्, अवक्षि, अवक्ष्वहि, अवक्ष्महि, अवक्ष्यत, अवक्ष्यत॥ यजादयोऽनुदात्ताः स्वरितेत उभयपदिनः सर्वानिडर्थम्। सब धातु को छोड़ के यज आदि सेट् उभयपद धातु हैं।

---

१. 'छेदने च' इतना अंश धातुपाठ में प्रक्षिप्त है। महाभाष्य में लिखा है—'वपिः प्रकिरणे दृष्टः, छेदने चापि वर्तते' (१।३।१) अर्थात् वप धातु धातुपाठ में प्रकिरण = बिखरना = बोना अर्थ में देखी गई है, परन्तु धातुओं के बह्वर्थ होने से यह छेदन = काटना अर्थ में भी है।

[अथैकः परस्मैपदी । अब एक परस्मैपदी धातु कहते हैं ।]
१०३० [वस] निवासे = वसना । वसति, वसतः, वसन्ति; उवास ।

२८४–शासिवसिघसीनां च ॥ ८ । ३ । ६० ॥

इण् और कवर्ग से परे शास, वस और घस धातु के सकार को षकार आदेश होवे । घस धातु का "जक्षुः" प्रयोग लिख चुके हैं[1] । वहां आदेश का सकार न होने से (५७) सूत्र की प्राप्ति नहीं है, इसलिये इस का सम्बन्ध वहां भी समझना चाहिये । यहां "ऊषतुः" वस् के सकार को षकार होता है । ऊषुः, उवसिथ, उवस्थ, वस्तासि, वत्स्यति (२१६) 'स' को 'त' होता है । वात्सति, वात्साति, वसति, वसाति, वसतु, अवसत्, वसेत्, उष्यात्, अवात्सीत्, अवात्ताम्, अवात्सुः, अवत्स्यत् ॥

[अथ व्येञादयस्त्रय उभयपदिनः] अब व्येञ् आदि तीन उभयपदी धातु कहते हैं ।] १०३१ [वेञ्] तन्तुसन्ताने = वस्त्र बिनना । वयते, वयति, एकार को अय् आदेश हो जाता है ।

२८५–वेञो वयिः ॥ २ । ४ । ४१ ॥

वेञ् धातु को वयि आदेश विकल्प करके हो, लिट् लकार परे हों तो । वयि आदेश में इकार उच्चारणार्थ है उस की इत्संज्ञा होकर—वय्+वय्+णल् = उवाय (२८२) अभ्यास को संप्रसारण—

२८६–ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चति-पृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च ॥ ६ । १ । १६ ॥

ग्रह, ज्या, वयि, व्यध, वश, व्यच, व्रश्च, प्रच्छ और भ्रस्ज धातुओं को संप्रसारण हो ङित् और ककार से कित्संज्ञक प्रत्यय परे हों तो । वेञ् धातु को वयि आदेश (२८५) होता है, उस में

---

1. देखो पूर्व पृष्ठ १२९ ।

व और य दोनों संप्रसारण के स्थानी हैं। वय्+अतुस्। यहां परत्व से यकार को प्राप्त है इसलिये—

२८७—लिटि वयो यः ॥ ६ । १ । ३७ ॥

लिट् लकार परे हो तो वय धातु के यकार को संप्रसारण न होवे, किन्तु—

२८८—वश्चास्यान्यतरस्यां किति ॥ ६ । १ । ३८ ॥

कित् लिट् परे हो तो इस वय धातु के यकार को वकार आदेश विकल्प करके होवे। जिस पक्ष में वकार हुआ वहां प्रथम अभ्यास के वकार को संप्रसारण होकर—उव्+उव्+अतुस्=ऊवतुः, ऊवुः। थास् प्रत्यय के परे वयि आदेश के न होने से (१५७) और (१४९) सूत्रों से थल् में इट् का विकल्प नहीं होता, किन्तु नित्य इट्—उवयिथ, ऊवथुः। और जिस पक्ष में यकार को वकार (२८८) नहीं हुआ वहां—ऊयतुः, ऊयुः, [उवयिथ,] ऊयथुः, ऊय, उवाय, उवय, ऊयिव, ऊयिम। वयि आदेश को स्थानिवत् होने से ञित् होकर आत्मनेपद (१०९) होते हैं। यकार को वकारपक्ष में—ऊवे, ऊवाते, ऊविरे। अब जिस पक्ष में वेञ् को वयि आदेश (२८५) नहीं होता वहां एकार को आकारादेश (२४२) होकर अकित्‌विषय में (२८२) और कित्‌विषय में (२८३) से संप्रसारण प्राप्त है इसलिये—

२८९—वेञः ॥ ६ । १ । ४० ॥

लिट् लकार परे हो तो वेञ् धातु को संप्रसारण न होवे। फिर धेट् आकारान्त के समान—ववौ, ववतुः, ववुः, वविथ, ववाथ, ववथुः, वव, ववौ, वविव, वविम, ववे, ववाते, वविरे; वातासि, वातासे, वासति, वासाति, वयति, वयाति, वासते, वासातै, वयनु,

वयताम्, अवयत्, अवयत, वयेत्, वयेत, ऊयात्, वासीष्ट, अवासीत् (२५१), अवासिष्टाम्, अवासिषु, अवास्त, अवासाताम्, अवासत, अवास्यत्, अवास्यत ॥ १०३२ [व्येञ्] संवरणे। व्ययति, व्ययते। आर्धधातुक विषय में व्येञ् धातु को भी आकारादेश (२४२) प्राप्त है इसलिये—

२६०—न व्यो लिटि ॥ ६ । १ । ४६ ॥

व्येञ् धातु को आकार आदेश न होवे लिट् लकार परे हो तो। व्ये+व्ये+णल्=विव्याय। यहां अभ्यास के यकार को सम्प्रसारण (२८२) प्राप्त [है] और उसी का लोप परत्व से (४०) सूत्र से प्राप्त है। यद्यपि लोपविधि सब विधियों से बलीय है[१] तथापि "उभयेषाम्" (२८२) ग्रहण का यही प्रयोजन होने से कि (४०) से प्राप्त लोप को भी बाध के सम्प्रसारण ही होवे। अभ्यास के यकार को सम्प्रसारण होता है—[विव्यौ]। कित् विषय में प्रथम सम्प्रसारण होकर—वि+वि+अतुस्=विव्यतु (१५६) यण्, विव्यु', विव्ययिथ (१४९) नित्य इट्, विव्यथु, विव्य, विव्याय, विव्यय, विव्यिव, विव्यिम, विव्ये, विव्याते, विव्यिरे, व्याताsसि (२४२) आकारादेश, व्याताsसे, व्यास्यति, व्यास्यते, व्यासतै, व्यासातै, व्ययतै, व्ययातै, व्यासति, व्यासाति, व्ययति, व्ययाति, व्ययतु, व्ययताम्, अव्ययत्, अव्ययत, व्ययत्, व्ययत, वीयात्, (२८३) सम्प्रसारण होकर दीर्घ (१६०), व्यासीष्ट, अव्यासीत्, अव्यासिष्टाम्, अव्यास्त, अव्यास्यत्, अव्यास्यत ॥ १०३३ [ह्वेञ्] स्पर्धायां शब्दे च=ईर्षा और बुलाना। ह्वयति, ह्वयते।

२६१—अभ्यस्तस्य च ॥ ६ । १ । ३३ ॥

अभ्यस्त होने वाले ह्वा धातु को द्वित्व होने से प्रथम ह्वा

१ सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्बलीयान्। पारि० ९९।

सम्प्रसारण होवे। अकित् विषय में अभ्यास ही को संप्रसारण प्राप्त है इसलिये यह सूत्र है। संप्रसारण होकर द्वित्व होता है। जुहाव, जुहुवतुः, जुहुवुः (१९९) [सूत्र से] संप्रसारण किये वकार को उवङ् होता है। जुहोथ, जुहविथ, जुहुवथुः, जुहुव, जुहाव, जुहव, जुहुविव, जुहुविम, जुहुवे, जुहुवाते, ह्वातासि, ह्वातासे, ह्वास्यति, ह्वास्यते, ह्वासते, ह्वासाते, ह्वयते, ह्वयावे, ह्वासति, ह्वासाति, ह्वयति, ह्वयाति, ह्वयतु, ह्वयताम्, अह्वयत्, अह्वयत, ह्वयेत्, ह्वयेत, हूयात् (२८३) संप्रसारण और दीर्घ (१६०), ह्वासीष्ट।

२९२—लिपिसिचिह्वश्च ॥ ३ । १ । ५३ ॥

लिप, सिच और ह्वा धातु से परे जो च्लि प्रत्यय उसके स्थान में अङ् आदेश होवे। अह्वत (२४८) आकारलोप, अह्वताम्, अह्वन्।

२९३–आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ॥ ३ । १ । ५४ ॥

लिप, सिच और ह्वेञ् धातु से परे च्लि के स्थान में अङ् विकल्प करके हो आत्मनेपद विषय में। अह्वत, अह्वेताम्, अह्वन्त, अह्वथाः, अह्वास्त, अह्वासाताम्, अह्वास्त, अह्वासत॥ येमादयः स्त्रयोऽनुदात्ता उभयपदिनः। ये वेञ् आदि तीन धातु अनिट् उभयपदी हैं॥

अथ द्वौ परस्मैपदिनौ। अब दो धातु सेट् परस्मैपदी कहते हैं॥ १०३४ [वद] व्यक्तायां वाचि = स्पष्ट बोलना। वदति, वदतः, वदन्ति, उवाद (२८२), ऊदतुः, ऊदुः, उवदिथ, वदितासि, वदिष्यति, वादिषति, वादिषाति, वदाति, वदाति, वदतु, अवदत्, वदेत्, उद्यात् (२८३), अवादीत् (१३२) वृद्धि, अवादिष्टाम्, अवादिषुः, अवादिष्यत्॥ १०३५ [टुओश्वि] गतिवृद्ध्योः = गति और बढ़ना। इस में से टु और ओकार की इत्संज्ञा होती है। श्वयति, श्वयतः, श्वयन्ति।

२६४—विभाषा श्वेः ॥ ६ । १ । ३० ॥

लिट् और यङ् परे हों तो श्वि धातु को विकल्प करके संप्रसारण होवे। यङ् के परे संप्रसारण किसी से प्राप्त नहीं है और कित् लिट् में (२८३) से और अकित् विषय में (२८२) से संप्रसारण नित्य प्राप्त है उस का विकल्प करने से "प्राप्ताप्राप्तविभाषा" इस सूत्र में जानो। सो जिस पक्ष में इस सूत्र से संप्रसारण होता है वहां [द्विर्वचन से पूर्व] धातु को ही होता है निषेध पक्ष में अभ्यास को भी नहीं होता। शुशाव, शुशुवतुः (१५९), शुशुवुः, शुशविथ, शुशुवथुः, शुशुव, शुशाव, शुशव, शुशुविव, शुशुविम। सम्प्रसारण के निषेधपक्ष में-शिश्वाय, शिश्वियतुः (१५९) इयङ्, शिश्वियिथ, श्वयितासि। यहां गुण होकर अयादेश होता है। श्वयिष्यति, श्वायिषति, श्वायिषाति, श्वयति, श्वयाति, श्वयतु, अश्वयत्, श्वयेत्, शूयात् (२८३) सम्प्रसारण होकर दीर्घ (१६०)। लुङ् में अङ् का विकल्प (१५४) होकर अङ्पक्ष में—

२६५—श्वयतेरः ॥ ७ । ४ । १८ ॥

श्वि धातु के इकार को अकार आदेश होवे अङ् परे हो तो। अट्+श्वि+अङ्+तिप्=अश्वत्। यहां अङ् के अकार के साथ पररूप होता है। अश्वताम्, अश्वन्, अश्वः, अश्वतम्, अश्वत, अश्वम्, अश्वाव, अश्वाम। जिस पक्ष में अङ् (१५४) न हुआ वहां [विकल्प से] चङ् (२४८) और द्वित्व (१८०) होकर—अशिश्वियत् (१५९) इयङ्, अशिश्वियताम्, अशिश्वियन्। अब जिस पक्ष में चङ् भी (२४८) न हुआ वहां वृद्धि का निषेध (१६२) होकर—अश्वयीत्, अश्वयिष्टाम्, अश्वयिषुः, अश्वयिष्यत्। वृत्। ये यजादि धातु समाप्त हुए, और भ्वादिगण को आकृतिगण

मानते हैं इसी से "चुलुम्पति" आदि प्रयोग समझने चाहियें। इति शप्विकरणा भ्वादयः समाप्ताः। ये शप्विकरणवाले भू आदि धातु समाप्त हुए॥

२९६—ऋतेरीयङ्॥ ३। १। २९॥

ऋत धातु से ईयङ् प्रत्यय हो स्वार्थ में। इस धातु का स्वार्थ निन्दा वा कृपा है और यह सौत्रधातु है अर्थात् किसी गण का नहीं। ऋत्+ईय। इस की धातुसंज्ञा (१६७) होकर शप् होता है। ऋतीयते, ऋतीयेते, ऋतीयन्ते। यहां ईयङ् प्रत्यय के ङित् होने से गुण नहीं होता और ईयङ् प्रत्यय के ङित् होने से ही ऋतीय धातु से आत्मनेपद होता है। ऋतीयाञ्चक्रे, ऋतीयाम्बभूव, ऋतीयामास। आर्धधातुक की विवक्षा में ईयङ् प्रत्यय (१६८) विकल्प करके होता है। जिस पक्ष में ईयङ् न हुआ वहां—ऋत्+ऋत्+णल् = आनर्त (१०८) अकार, (११२) अभ्यास को दीर्घ, (१४७) नुट्, यहां शेष होने से परस्मैपद। आनृततुः, आनृतुः, आनर्तिथ, आनृतथुः, ऋतीयितासे, अर्तितासि, ऋतीयिष्यते, अर्तिष्यति, ऋतीयिषते, ऋतीयिषातै, अर्तिषति, अर्तिषाति, ऋतीयताम्, आर्तीयत, ऋतीयेत, ऋतीयिषीष्ट, ऋत्यात्, आर्तीयिष्ट, आर्तीत्। आर्तिष्टाम्॥

॥ इति भ्वादिगणः समाप्तः॥

अथ अदादिगणारम्भः

१ [अद] भक्षणे=खाना । [अद्+शप्+तिप्, इस अवस्था में—]

२६७—अदिप्रभृतिभ्यः शपः ॥ २ । ४ । ७२॥

अद आदि धातुओं से परे जो शप् उस का लुक् होवे । जहां-जहां लुक् कहते हैं वहां-वहां प्रत्ययमात्र का होता है । अद्+तिप्= अत्ति, अत्तः, अदन्ति, अत्सि, अत्थः, अत्थ, अद्मि, अद्वः, अद्मः ।

२६८—बहुलं छन्दसि ॥ २ । ४ । ७३ ॥

वेदविषय में अद आदि धातुओं से परे शप् का लुक् बहुल करके होवे । बहुल के कहने से जिन से परे कहा है उन से परे नहीं भी होता—अदति, हनति इत्यादि । और जिन से नहीं कहा वहां भी होजाता है—त्राध्वं नो देवाः । यहां 'त्रैङ्' भ्वादिस्थ धातु से शप् का लुक् हुआ है 'त्रायध्वम्' लोक मे होता है ।

२६९—लिट्यन्यतरस्याम् ॥ २ । ४ । ४० ॥

लिट् लकार परे हो तो अद धातु को घस्लृ आदेश विकल्प करके होवे । जघास । घस+अतुस् (२१४) उपधालोप होकर घस उपधालोप को चरविधि के प्रति स्थानिवत् का निषेध होने से घकार को खर् क् होता है उस ककार से परे षत्व (२८४) होकर—जक्षतुः, जक्षुः, जघसिथ, जक्षथुः, जक्ष, जघास, जघस, जक्षिव, जक्षिम, आद, आदतुः, आदुः, थल् में नित्य इट् (२५९) आदिथ, आदथुः, आद, आद, आदिव, आदिम; अत्ता, अत्तासि, अत्स्यति, अत्सति, अत्साति, अदति, अदाति, अत्तु, अत्तात्, अत्ताम्, अदन्तु ।

३००—हुझल्भ्यो हेर्धिः ॥ ६ । ४ । १०१ ॥

हु और झलन्त धातुओं से परे जो हि उस को धि आदेश होवे। यहां झलन्त अद् से परे धि होकर—अद्+हि=अद्धि, अत्तात्, अत्तम्, अत्त, अदानि, अदाव, अदाम।

३०१—अदः सर्वेषाम् ॥ ७।३।१०० ॥

अद धातु से परे जो अपृक्त हलादि सार्वधातुक उस को अट् का आगम हो, सब आचार्यों के मत में। यह अपृक्त हलादि सार्वधातुक लङ् लकार के तिप और सिप् दो ही में मिलता है। आट्+अद्+अट्+तिप्=आदत्, आत्ताम्, आदन्, आदः, आत्तम्, आत्त, आदम्, आद्व, आद्म, स्यात्, अद्यावाम्, अद्या+उस्=अद्यु (८५) पररूप एकादेश, अद्याः, अद्यातम्, अद्यात, अद्याम्, अद्याव, अद्याम, अद्यात्, अद्यास्ताम्, अद्यासु।

३०२—लुङ् सनोर्घस्लृ ॥ २।४।३७ ॥

लुङ् लकार और सन् प्रत्यय परे हों तो अद धातु को घस्लृ आदेश होवे। लृदित् घस्लृ आदेश के पढ़ने से च्लि के स्थान में अङ् (२१७) अघसत्, अघसताम्, अघसन्, आत्स्यत् ॥ २ [हन] हिंसागत्योः =मारना और गति। शप् का लुक् (२९७) हन्ति।

३०३—अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ॥ ६।४।३७ ॥

उपदेश में जो अनुदात्त=अनिट् धातु, वन और तनु से लेकर जो धातु हैं उन सब के अनुनासिक का लोप होवे, झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे हों तो। अनुदात्तोपदेश अनुनासिकान्त यम, रम, नम, गम, हन और दिवादिगण का मन ये छः धातु हैं और तनोत्यादि अनुनासिकान्त तनु, षणु, क्षणु, क्षिणु, ऋणु, तृणु, घृणु, वनु

और मनु ये नौ धातु हैं और वनति धातु भ्वादिगण का लिया है इन सब के अन्त्य अनुनासिक का लोप जहां-जहां झलादि कित् ङित् हो वहां वहां होता है। यहां हन धातु से परे तस् की ङित् सञ्ज्ञा (९९) होने से—हन्+तस्=हतः, यहां अनुनासिकलोप हुआ है। हन्+झि—

३०४—हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ॥ ७ । ३ । ५४ ॥

हन् धातु के हकार को कवर्ग आदेश होवे, ञित् णित् और नकार परे हों तो। यहां झि के झकार को अन्त आदेश होने के पश्चात् उपधा अकार का लोप (२१४) होकर केवल नकार के परे 'ह' को 'घ'—घ्नन्ति, हंसि, हथ, हथ, हन्मि, हन्वः, हन्मः, हन्+हन्+णल्=जघान (३०४) णित् के परे ह को कुत्व, जघ्नतु' (२१४) उपधालोप और न के परे ह को कुत्व (३०४), जघ्नु'।

३०५—अभ्यासाच्च ॥ ७ । ३ । ५५ ॥

अभ्यास से परे हन धातु के हकार को कुत्व होवे। जघनिथ, जघन्थ, यहां कुत्व (३०४) नहीं प्राप्त है। जघ्नथुः, जघ्न, जघान, जघन, जघ्निव, जघ्निम, हन्ता, हन्तारौ, हन्तारः हन्तासि, हनिष्यति, हनिष्यत. (२३८) अप्राप्त इट्, हंसति, हंसाति, हसति, हंसाति, हनति, हनाति, हन्तु, हतात्, हताम्, घ्नन्तु।

३०६—हन्तेर्जः ॥ ६ । ४ । ३६ ॥

हन् धातु को 'ज' आदेश होवे 'हि' परे हो तो। अब हन् धातु के स्थान में 'ज' आदेश होने के पश्चात् 'हि' का लुक् (७९) प्राप्त है उस 'ज' आदेश को असिद्ध (४४) मानकर नहीं होता। जहि, हतात्, हतम्, हत, हनानि, हनाव, हनाम, अहन्। यहां हल

नकार से परे अपृक्त तिप् के तकार का लोप होता है। अहताम्, अघ्नन्, अहन्, अहतम्, अहत, अहनम्, अहन्व, अहन्म; हन्यात्, हन्याताम्, हन्युः, हन्याः।

३०७—आर्धधातुके ॥ २ । ४ । ३५ ॥

यह अधिकारसूत्र है।

३०८—हनो वध लिङि ॥ २ । ४ । ४२ ॥

हन धातु को वध आदेश होवे आर्धधातुकविषय में लिङ् परे हो तो। वध अकारान्त होता है। वध्यात् (१७२) अकारलोप, वध्यास्ताम्, वध्यासुः, वध्याः, वध्यास्तम्।

३०९—लुङि च ॥ २ । ४ । ४३ ॥

आर्धधातुक विषयक लुङ् परे हो तो भी हन धातु को वधादेश होवे। इस सूत्र का पृथक् निर्देश इस से अगले सूत्र में अनुवृत्ति के लिये है। अवधीत्। वध आदेश के अदन्त होने से सिच् के परे अकारलोप (१७२) होकर उसके स्थानिवत् होने से वृद्धि (१३२) नहीं होती। अवधिष्टाम्, अवधिषुः, अवधीः, अहनिष्यत् (२३८), अहनिष्यताम्, अहनिष्यन्। अदिहनी अनुदात्तावुदात्तेतौ परस्मैपदिनौ। अद और हन दोनो धातु अनिट् परस्मैपदी हैं॥

अथ [द्विषादयः] चत्वार स्वरितेतः। अब [द्विष आदि] चार धातु उभयपदी कहते हैं। २ [द्विष] अप्रीतौ = वैर करना। द्वेष्टि, द्विष्टः, द्विषन्ति, द्वेक्षि, द्विष्ठः, द्विष्ठ, द्वेष्मि, द्विष्वः, द्विष्मः; द्विष्टे, द्विषाते, द्विषते, द्विक्षे, [द्विषाथे,] द्विड्ढ्वे, द्विषे, द्विष्वहे, द्विष्महे; दिद्वेष, दिद्विषतुः, दिद्विषे, द्वेष्टासि, द्वेष्टासे, द्वेक्ष्यति, द्वेक्ष्यते, द्वेष्टै, द्वेषावै, द्वेषवै, द्वेषावै, द्वेषति, द्वेषाति, द्वेषति, द्वेषाति; द्वेष्टु, द्विष्टात्, द्विष्टाम्, द्विषन्तु, द्विड्ढि, द्विष्टात्, द्विष्टम्, द्विष्ट, द्वेषाणि,

द्वेषाव, द्वेषाम; द्विष्टाम्, द्विषाताम्, द्विषताम्, द्विड्ढि, द्विषा-थाम, द्विड्ढ्वम्, द्वेषै, द्वेषावहै, द्वेषामहै; अद्वेट्, तिप् के तकार का लोप "हल्ङ्याप्०"[1] होता है। अद्विष्टाम्।

३१०—द्विषश्च ॥ ३ । ४ । ११२ ॥

शाकटायन आचार्य ही के मत में द्विष धातु से परे लङ् लकार के झि को जुस् आदेश होवे। अद्विषुः, अन्य लोगों के मत में—अद्विषन्, अद्वेट्, अद्विष्टम, अद्विष्ट, अद्विषम्, अद्विष्व, अद्विष्म; अद्विष्ट अद्विषाताम्, अद्विषत; द्विष्यात्, द्विष्याताम्, द्विष्युः; द्विषीत, द्विषीयाताम्, द्विषीरन्, द्विषीथाः; द्विष्यात्, द्विष्यास्ताम्, [द्विष्यासुः]; द्विक्षीष्ट, द्विक्षीयास्ताम् द्विक्षीरन् (१६३) किरव; अद्विक्षत् (२०७) क्स, अद्विक्षताम्, अद्विक्षन्, अद्विक्षत, अद्विक्षाताम् (२०८) क्सलोप; अद्वेक्ष्यत्, अद्वेक्ष्यत॥ ४ [दुह] प्रपूरणे = तृप्त करना[2]।

३११—दादेर्धातोर्घः ॥ ८ । २ । ३२ ॥

दकारादि धातुओं के हकार को घकार आदेश हो झल् परे हो वा पदान्त में। दुह् + तिप् = दोघि (१४१) त को ध और घ को जश्त्व। दुग्धः, दुहन्ति, धोक्षि (२०४), दुग्धः, दुग्ध, दोह्मि, दुह्वः, दुह्मः; दुग्धे, दुहाते, दुहते, धुक्षे, दुहाथे, धुग्ध्वे, दुहे, दुह्वहे, दुह्महे; दुदोह, दुदुहतुः, दुदोहिथ, दुदुहे; दोग्धा; धोक्ष्यति; धोक्ष्यते; धोक्षतै, धोक्षातै, दोहतै, दोहातै; धोक्षति, धोक्षाति, दोहति, दोहाति; दोग्धु,

१. नामिक ४८।

२. क्षीरस्वामी के मत में 'खाली करना' अर्थ है; वह लिखता है—प्रपूरणं पूरणाभावः। उपसर्गोऽत्र धात्वर्थं बाधते प्रस्थानवद्। क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ १०२।

दुग्धात्, दुग्धाम् दुहन्तु, दुग्धि, दुग्धात्, दुग्धम्, दुग्ध, दोहानि, दोहाव, दोहाम, दुग्धाम्, दुहाताम्, दुहताम्, धुक्ष्व, दुहाथाम्, धुग्ध्वम्, दोहै, दोहावहै, दोहामहै; अधोक्, यहां पदान्त में संयोगान्त हल् तकार का लोप होकर कुत्व हो जाता है। अदुग्धाम्, अदुहन्, अधोक्, अदोहम्; अदुग्ध, अदुहाताम्, अधुग्ध्वम्; दुह्यात्, दुह्याताम्, दुह्युः; दुहीत, दुहीयाताम्, दुहीरन्; दुह्यात्, दुह्यास्ताम्; धुक्षीष्ट (१६३), धुक्षीयास्ताम्, धुक्षीरन्; अधुक्षत् (२०७) क्स, अधुक्षताम्, अधुक्षन्, अधुक्ष; अधुक्षत, अधुक्षाताम् (२०८), अधुक्षन्त; विकल्प से क्स लुक् (२३७) अदुग्ध, अदुग्धाः, अधुक्षथाः, अधुग्ध्वम्, अधुक्षध्वम्, [अदुह्वहि, अधुक्षावहि]; अधोक्ष्यत्, अधोक्ष्यत ॥ ५ [दिह] उपचये = बढ़ना। सब कार्य और प्रयोग दुह के तुल्य जानो। देग्धि, अधिक्षत्, अदिग्ध, अधिक्षत ॥ ६ [लिह] आस्वादने = स्वाद लेना[1]। लिह+तिप=लेढि (२०३, १४१, २०६), लीढः (२३६), लिहन्ति, लेक्षि (२०५), लीढः, लीढ, लेह्मि, लिह्वः, लिह्मः; लीढे, लिहाते, लिहते, लिक्षे, लिहाथे, लीढ्वे, लिहे, लिह्वहे, लिह्महे; लिलेह, लिलिहतुः, लिलेहिथ, लिलिहे, लिलिहाते, लिलिहिरे, लेढासि, लेढासे; लेक्ष्यति, लेक्ष्यते; लेसवै, लेहातै, लेक्षति, लेक्षाति, लेढु, लीढात्, लीढाम्, लिहन्तु, लीढि, लीढात्, लीढम्, लीढ, लेहानि, लेहाव, लेहाम, अलेट्, अलीढाम्, लिह्यात्, लिक्षीष्ट, अलिक्षत्, अलिक्षत (२३७) अलीढ, अलिक्षाताम्, अलिक्षन्त, अलिक्षथाः, अलीढाः, अलेक्ष्यत्, अलेक्ष्यत। द्विषादयोऽनुदात्ता स्वरितेत उभयपदिनः। ये द्विष आदि अनिट उभयपदी धातु हैं।

---

१. यहां 'चाटना' अर्थ है।

[अथैक आत्मनेपदी । अब एक आत्मनेपदी धातु कहते हैं ।]
७ [चक्षिङ्] व्यक्तायां वाचि, अयं दर्शनेऽपि = स्पष्ट बोलना और देखना । इस धातु में जो अनुदात्त इकार है उस की इत् संज्ञा हो जाती है, फिर अनुदात्तेत् के होने से आत्मनेपद हो ही जाता, फिर इकार पढ़ने से अनुदात्तेत् धातुओं से आत्मनेपदविधान के अनित्यत्व का ज्ञापक होता है । और इस का इकार अन्त में इत् नहीं गया इस कारण नुम् नहीं होता । चक्ष्+ते = चष्टे (२१०) संयोगादि ककार का लोप । चक्षाते, चक्षते, चक्षे, चक्षाथे, चड्ढ्वे, चक्षे, चक्ष्वहे, चक्ष्महे ।

३१२—चक्षिङः ख्याञ् ॥ २ । ४ । ५४ ॥

सामान्य आर्धधातुकविषय में चक्षिङ् [को] ख्याञ् आदेश होवे ।

३१३—वा लिटि ॥ २ । ४ । ५५ ॥

लिट् लकार में चक्षिङ् धातु को ख्याञ् विकल्प करके होवे । पूर्व सूत्र से सर्वत्र नित्य प्राप्त है उस का विकल्प करने से प्राप्त विभाषा है । ख्याञ् होकर आकारान्त के समान प्रयोग और ञित् होने से उभयपद (१०५), चख्यौ (२४३), चख्यतु (२४४, २४५), चख्युः, चख्यिथ, चख्याथ, चख्ये, चख्याते ।

३१४—वा० ख्शादिर्वा ॥ २ । ४ । ५४ ॥

यह ख्याञ् आदेश जो कहा है सो ख्शाञ् आदेश कहना चाहिये । फिर ख्याञ् धातु के प्रयोग किस प्रकार बनने चाहियें—

३१५—वा०—असिद्धे शस्य यवचनं विभाषा ॥
२ । ४ । ५४ ॥

असिद्ध अर्थात् अष्टमाऽध्याय के अन्तके तीन पादों[1] में ख्शाञ् के शकार को विकल्प करके यकार होवे। सो जब यकार होगा तब ख्याञ् के प्रयोग और ख्शाञ् रहेगा वहां ख् को चर्त्व क् होकर— चक्शौ, चक्शतुः, चक्शे, चक्शाते। ख्शाञ् आदेश विधान करके असिद्धप्रकरण में शकार का यकार कहने से जो-जो कार्य सपादसप्ताध्यायी में ख्या धातु को कहे हैं वे इस को नहीं होते, क्योंकि सपादसप्ताऽध्यायी में वह ख्याञ् नहीं किन्तु ख्शाञ् है। इस प्रकार के कई प्रयोजन महाभाष्यकार ने (३१२) सूत्र पर गिनाये हैं। अब जिस पक्ष में ख्शाञ् आदेश (३१३) नहीं हुआ वहां— चचक्षे, चचक्षाते, चचक्षिरे, ख्यातासि, ख्यातासे, क्शातासि, क्शातासे, ख्यास्यति, ख्यास्यते, क्शास्यति, क्शास्यते, ख्यासति, ख्यासाति, क्शासति, क्शासाति, ख्यासतै, ख्यासातै, क्शासतै, क्शासातै, चष्टे, चक्षाते, चक्षते, चक्षातै, चष्टाम्, चक्षाताम्, [चक्षताम्,] चक्ष्व, चक्षाथाम्, चड्ढ्वम्, चक्षै, चक्षावहै, चक्षामहै, अचष्ट, अचक्षाताम्, अचक्षत, अचष्ठाः, अचक्षाथाम्, अचड्ढ्वम्, अचक्षि, अचक्ष्वहि, अचक्ष्महि, चक्षीत, चक्षीयाताम्, चक्षीरन्; ख्यायात्, ख्येयात्, क्शायात्, क्शेयात् (२५२) एत्वविकल्प। ख्यासीष्ट, क्शासीष्ट।

३१६–अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् ॥३।१।५२॥

असु दिवादिगण का, वच और ख्या अदादिगण के धातुओं से परे च्लि के स्थान में अङ् होवे। सो जिस पक्ष में यकार

---

1. कई वैयाकरण यत्वविधान को णत्व प्रकरण (अष्टा० ८।४।३९) के अनन्तर मानते हैं, अन्य 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (अष्टा० ८।४।४५) के बाद मानते हैं।

होता है[1] वहां अङ् जानो। अख्यत्, अख्यताम्, अख्यन्, अख्यत, अख्येताम्, अख्यन्त, ख्शाञ् पक्ष में अक्शासीत्[2] (२५१), अक्शास्त, अख्यास्यत्, अख्यास्यत, [अक्शास्यत्,] अक्शास्यत।

३१७-वा०—वर्जने प्रतिषेधः ॥ २।४।५४॥

वर्जन अर्थ में चक्षिङ् धातु को ख्शाञ् आदेश न होवे। संचक्षितासे, संचक्षिष्यते, संचक्षिषीष्ट, समचक्षिष्ट। सम् उपसर्ग-पूर्वक इस धातु का वर्जन अर्थ होता है।

अथ [ईरादयः] पृच्यन्ता अनुदात्तेतस्त्रयोदश। अब पृची धातु पर्यन्त १३ धातु आत्मनेपदी कहते हैं। ८ [ईर] गतौ कम्पने च = गति और कांपना। ईर्त्ते, ईर्ष्वे, ईराते [ईरत,] ईर्षे, ईराथे, ईर्ध्वे, ईरे, ईर्वहे, ईर्महे, ईराञ्चक्रे ईरितासे, ईरिष्यते, ईरिषते, ईरिषाते, ईर्त्तै, ईरातै, ईर्ताम्, ईराताम्, ईरताम्, ऐर्त, ईरीत, ईरीयाताम्, ईरारन्, ईरिषीष्ट, ऐरिष्ट, ऐरिष्यत। ९ [ईड] स्तुतौ = स्तुति करना॥ १० [ईश] ऐश्वर्ये = मालिक का होना। ईट्टे—चर्च्, ईडाते, ईडत। ईट्टे (२३२) पत्व, ईशाते, ईशते।

३१८—ईशः से ॥ ७।२।७७॥

---

१ भट्टोजिदीक्षित और नागोजीभट्ट आदि का मत है कि स्वतन्त्र 'ख्या प्रकथने' धातु के आर्धधातुक में प्रयोग नहीं होता। देखो सि० कौ० ख्या धातु, महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।४।५४॥ अतः उनके मत में इस अङ् विधायक सूत्र में यत्व आश्रयसामर्थ्य से असिद्ध नहीं होता। अष्टाध्यायी भाष्य २।४।५४॥ ३।१।५२ में यत्व को असिद्ध मान कर इस आदेश वाली ख्या धातु का ग्रहण नहीं माना, स्वतन्त्र ख्या धातु का ग्रहण किया है।

२. वस्तुतः ख्शाञ् पक्ष में भी अङ् होता है। अन्वनिदपसामग्रमक्शत् (मै० स० १।८।९) में अङ् देखा जाता है।

ईश धातु से परे जो सार्वधातुक वस को इट् का आगम होवे। ईशिमे।

३१६–ईड्जनोर्ध्वे च ॥ ७। २। ७८ ॥

ईश, ईड और जन धातुओं से परे जो से और ध्वे वलादि सार्वधातुक उनको इट् आगम हो। पूर्व सूत्र की यहां सब अनुवृत्ति आती है, इन दोनों सूत्रों से बराबर कार्य होता है फिर एक सूत्र पढ़के, पृथक्-पृथक् पढ़ने से आचार्य की विचित्र क्रिया दीख पड़ती है। ईडिषे, ईडाथे, ईडिध्वे, ईडे, [ईड्वहे, ईड्महे; ईशिषे, ईशाथे, ईशिध्वे,] ईशे, [ईश्वहे, ईश्महे,] ईडाञ्चक्रे, ईशाञ्चक्रे, ईडामास, ईडाम्बभूव, ईशामास, ईशाम्बभूव, ईडितासे, ईशितासे, ईट्टाम्, ईडाताम्, ईडताम्, ईडिष्व। (३१९), ईशिष्व, ईडिध्वम्, ईशिध्वम्। यहां एकार को 'व' और 'अम्' आदेश होता है। अतः एकदेश को विकृत मान कर इट् हो जाता है,[1] और से ध्वे, (३१८, ३१९) एकारान्त पढ़ने से ही लङ् लकार में इट् नहीं होता[2]। ऐट्ट, ऐडाताम्, ऐडत, [ऐट्ठाः, ऐडाथाम्,] ऐड्ढ्वम्, ईडीत, ईडीत् ॥ ११ [आस] उपवेशने=बैठना। आस्ते, आसाते, आसते, आसाञ्चक्रे। (१९०) आम्, आसाम्बभूव, आसामास, आसितासे, आसिष्यते, आसिषतै, आसिषातै, आस्ताम्, आस्व, आध्वम्, आस्त, आसीत, आसिषीष्ट, आसिष्ट, आसिष्यत ॥ १२ [आङः शासु] इच्छायाम्। बहुधा आङ्पूर्वक ही इस धातु के प्रयोग आते हैं इसलिये आङ् इसके साथ लगा दिया है। आशास्ते, आशासाते, आशासते, आशशासे, अशाशा-

---

१. एकदेशविकृतमनन्यवद् भवति (परि० १७) नियम से।

२. ' न च विकृतिः प्रकृतिं गृह्णाति ' नियम से।

सात, आशासितासे, आशास्ताम्, आशास्व, आशाध्वम्[1] आशासै, आशासावहै, आशासामहै, आशास्त, आशासीत, आशासिषीष्ट, आशासिष्ट ॥ १३ [वस] आच्छादने = ढाकना । वस्ते, वसाते, वसते, ववसे, ववसाते—(१२९) एत्वाभ्यासलोप निषेध । वसितासे, वसिष्यते, वासिषते, वासिषातै, वसतै, वसातै, वस्ताम्, वसाताम्, वस्स्व, वध्वम्, अवस्त, वसीत, वसिषीष्ट, अवसिष्ट, अवसिष्यत ॥ १४ [कसि] गतिशासनयो = गति और शिक्षा । कंस्ते, कंसाते, कंसते, कंध्वे, चकंसे, कंस्ताम्, कंस्स्व, कंध्वम्, अकंस्त, कंसीत ॥ [कस] इत्यन्ये । कस्ते, कसाते, चकसे, चकसाते, कस्ताम्, कस्स्व, कध्वम्, अकस्त, कसीत, अकसिष्ट ॥ [कश] इत्यके । कष्टे (२३३) षत्व, कशाते, चकशे, चकशाते, कशितासे, कशिष्यसे, काशिषतै, काशिषातै, कष्टाम्, कशाताम्, कशताम्, कड्ढ्व, कड्ढ्वम्, अकष्ट, कशीत, कशिषीष्ट, अकशिष्ट, अकशिष्यत ॥ १५ [णिसि] चुम्बने = चूमना । निंस्ते, निंसाते, निनिंसे, निंसितासे, निंसिष्यते, निंसिषतै, निंसिषातै, निंस्ताम्, निंस्स्व, निंध्वम्, अनिंस्त, निंसीत, निंसिषीष्ट, अनिंस्त, अनिंसिष्यत ॥ [णिजि] शुद्धौ । निङ्क्ते, निञ्जाते, निञ्जे, निनिञ्जे, निञ्जितासे ॥ १७ [शिजि] अव्यक्ते शब्दे । शिङ्क्ते, शिशिञ्जे ॥ १८ [पिजि] वर्णे = श्वेत आदि । पिङ्क्ते । सम्पर्चन इत्येके । यह धातु किसी के मत में स्पर्श[2]

---

[1] जब 'धि च' (आ० ११३) से सकारमात्र का लोप होता है, तब 'आशाध्वम्' प्रयोग बनता है। जब सिच् के सकार का ही लोप माना जाता है तब यहां सकार का लोप नहीं होता। उस को 'झलां जश् झशि' (सन्धि० २३४) से जश्त्व होकर 'आशाद्ध्वम्' प्रयोग होता है। देखो महाभाष्य ८। २। २५॥

[2] औचित्यात मिलाना।

करने अर्थ में है। उभयत्रेत्यन्ये। कोई कहते हैं कि वर्ण और सम्पर्चन दोनों अर्थ हैं। अवयव इत्यपरे, अव्यक्ते शब्द इतीतरे। किन्हीं के मत में अवयव और कोई के मत में अव्यक्त शब्द अर्थ में पिजि धातु है। [पृजि] इत्येके। पूर्वोक्त सब अर्थों में पिजि के स्थान में कोई लोग पृजि धातु कहते हैं। पृङ्क्ते ॥

१९[वृजी] वर्जने=निषेध करना। वृक्ते, वृजाते, वृजते, वृक्षे, वृग्ध्वे, वव्रृजे, वर्जिता, वर्जिष्यते, वर्जिपते, वर्जिपाते, वृजते, वृजाते, वृजाम्, वृक्ष्व, वृग्ध्वम्, अवृक्त, वृजीत, वर्जिपाष्ट, अवर्जिष्ट, अवर्जिष्यत ॥ २० [पृची] सम्पर्चने=सम्बन्ध। पृक्ते, पृचाते। ईरादय उदात्ता अनुदात्तेत आत्मनेभाषाः। ये ईर आदि धातु समाप्त हुए ॥

२१ [षूङ्] प्राणिगर्भविमोचने=गर्भस्थ प्राणियों का जन्म। सूते, सुवाते (१५९) उवङ्, सुवते, सुषुवे, (१४०) सूत्र में सूति करके इसी सू धातु का ग्रहण है, इस कारण इट् का विकल्प होता है—सुषुविषे, सुषूषे, सुषुविढ्वे, सुषुविध्वे, सुषूढ्वे, सविता, सोतासे, सविष्यते, सोष्यते, साविषते, साविषाते, सविषते, सविषाते, सविषते, साविषाते, सविषते, [सविषाते] सौषते, सौषाते, सावते, सोषाते, सौषते, सौषाते, सावते, सोषाते, सुवते, सुवाते, सुवते, सुवात, सूताम्, सुवाताम्, सुवताम्, सुवै (९३) गुणनिषेध, सुवावहै, सुवामहै, असूत, सुवीत, सविषीष्ट। सोषीष्ट, सविषीढ्वम्, सविषीध्वम्, सोषीढ्वम्, असविष्ट, असोष्ट, असविढ्वम्, असविध्वम्, असोढ्वम्, असविष्यत असोष्यत ॥ २२ [शीङ्] स्वप्ने=सोना। क्ङिति च (९७) होने से गुण नहीं प्राप्त है इसलिये—

३२०—शीङः सार्वधातुके गुणः ॥ ७ । ४ । २१ ॥

शीङ् धातु को गुण होवे सामान्य सार्वधातुक परे हो तो।

यह सूत्र (३४) के निषेध का अपवाद है। शेते, शी+आताम्= शयाते, गुण होकर अयादेश होता है।

३२१—शीङो रुट्॥ ७। १। ६॥

शीङ् धातु से परे झकार के स्थान में जो अत् आदेश उस को रुट् का आगम होवे। टित् आगम [होने से] उस की आदि में होकर—शेरते, शेषे, शयाथे, शेध्वे, शये, शेवहे, शेमहे, शिश्ये—(१५६) यण्, शिश्यिढ्वे, शिश्यिध्वे, शयितासे, शयिष्यसे, शायिषते, शायिषातै, शेताम्, शयाताम्, शेरताम्, शेष्व, शयाथाम्, शेध्वम्, शयै, शयावहै शयामहै, अशेत, अशयाताम्, अशेरत, शयीत, शयियाताम्, शयीरन्, शयिषीष्ट, शयिषीढ्वम्, शयिषीध्वम्, अशयिष्ट, अशयिढ्वम्, अशयिध्वम्, अशयिष्यत। आत्मनेभाषावुदात्तौ। पूङ् और शीङ् दोनों धातु सेट् आत्मनेपदी हैं॥

अथ स्नौत्यन्ता परस्मैपदिन पट्। अब स्नु धातु पर्यन्त ६ (छः) धातु परस्मैपदी कहते हैं॥ २३ [यु] मिश्रणे अमिश्रणे च=मिलना वा पृथक् करना।

३२२—उतो वृद्धिर्लुकि हलि॥ ७। ३। ८९॥

हलादि पित् सार्वधातुक परे हो तो लुक् विषय [में] उकारान्त अङ्ग को वृद्धि होवे, परन्तु अभ्यस्तसञ्ज्ञक उकारान्त को पूर्वोक्त लक्षणों में भी वृद्धि न होवे। यु+तिप्=यौति, युत, युवन्ति, (१५९), यौषि, युथ, युथ, यौमि, युव, युम, युयाव, युयुवतु, युयविथ, यवितासि, यविष्यति, याविषति, याविषाति, यविषति, यविषाति, यवति, यवाति, यौतु, युतात्, युहि, यवानि, यवाव, यवाम, अयौत्, अयुताम्, अयुवन्, अयौ, अयुतम, अयुत, अयवम्, युयात्। यहां विशेष विधायक जो यासुट् को ङित्त्व

(८०) है वह पित् का बाधक होने से वृद्धि (३२२) नहीं होती। युयाताम्, युयुः, यूयात् (१६०) दीर्घ, अयावीत् अयाविष्टाम्, अयाविषुः, (१५८), अयविष्यत्॥ २४ [णु] स्तुतौ। नौति, नौषि, नौमि, नवितासि, नविष्यति, नाविष्यति, नौतु, अनौत्, नुयात्, नूयात्, अनावीत्, अनविष्यत्॥ २५ [रु] शब्दे।

३२३—तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके ॥७।३।९५॥

तु, रु, स्तु, शम और अम धातुओं से परे जो हलादि सार्वधातुक उसको विकल्प करके ईट् का आगम होवे। "अम गत्यादिषु" यह धातु भ्वादिगण में लिख चुके हैं[1]। इससे परे वेद में शप् का लुक् (२९८) होने [के] पश्चात् हलादि सार्वधातुक मिलता है। अभ्यमीति, अभ्यमति, प्रयोग होंगे। और शम धातु दिवादिगण का है। रु+ईट्+तिप्=रवीति, रौति, रुवीतः—उवङ् (१५९), रुतः, रुवन्ति। यहां हलादि के न होने से ईट् न हुआ। और इस सूत्र में सार्वधातुक की अनुवृत्ति पूर्व से चली आती थी, फिर सार्वधातुक ग्रहण का यही प्रयोजन है कि अपित् सार्वधातुक में भी हो जावे। रवीषि, रौषि, रुवीथः, रुथः, रुवीथ, रुथ, रवीमि, रौमि, [रुवीवः, रुवः] रुवीमः, रुमः; रवीतु, रौतु, अरवीत्, अरौत्॥ २६ [टुक्षु] शब्दे। क्षौति, क्षुतः, चुक्षाव, [चुक्षुवतुः] क्षौतु, क्षूयात्। शेष यु के समान॥ २७ [क्ष्णु] तेजने=तीक्ष्ण करना। क्ष्णौति, क्ष्णुतः, चुक्ष्णाव, क्ष्णूयात्, अक्ष्णावीत्॥ २८ [ष्णु] प्रस्रवणे=झरना, स्नौति, सुष्णाव, स्नविता[2], स्नौतु, स्नूयात्॥ उदात्ताः परस्मैपदिनः। यु आदि धातु सेट् परस्मैपदी हैं।

---

१. देखो पृष्ठ ९७, पं० १०।

२. स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते (अष्टा० ७।२।३६) से इडागम होता है।

[अथैक उभयतोभाष । अब एक उभयपदी कहते हैं]
२९ [ऊणुञ्] आच्छादने = ढांकना ।

३२४—ऊर्णोतेर्विभाषा ॥ ७ । ३ । ९० ॥

हलादि पित् सार्वधातुक परे हो तो ऊर्णु धातु को विकल्प करके वृद्धि होवे । (३२२) सूत्र से नित्य वृद्धि प्राप्त है इसलिये यह प्राप्तविभाषा जानो । ऊर्णौति, ऊर्णोति, ऊर्णुतः, ऊर्णुवन्ति, यहां हलादि के न होने से वृद्धि नहीं होती । ऊर्णौषि , ऊर्णोषि, ऊर्णुते, ऊर्णुवाते ऊर्णुवते । ऊर्णु धातु के इजादि गुरुमान् होने से लिट् में आम् प्रत्यय (१००) प्राप्त है, इसलिये—

३२५—का०—

वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भावो यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम् ।
आमश्च प्रतिषेधार्थमेकाचश्चेडुपग्रहात् ॥३।१।३६॥

ऊर्णुञ् धातु को णुवद्भाव कहना चाहिये । अर्थात् जैसे एकाच् हलादि "णु स्तुतौ" धातु को कार्य होते हैं वैसे इसको भी होवें । प्रयोजन यह है कि एक तो यङ् प्रत्यय एकाच् हलादि से होता है वह इससे भी होवे और इजादि गुरुमान् के न होने से आम् प्रत्यय (१०२) न होवे । और "श्र्युकः किति"[1] सूत्र में उगन्त एकाच् धातुओं से परे कित् आर्धधातुक को इट् का निषेध कहा है सो इसको भी एकाच् मानकर निषेध हो जावे, ऊर्णुतः, ऊर्णुतवान्, इत्यादि में । अब यहां आम् का निषेध होकर—ऊर्णु + णल् । यहां णु को वृद्धि होकर [स्थानिरूप होकर] अजादि धातु के द्वितीय एकाच् अवयव 'णु' मात्र को द्वित्व (३७, ३८) प्राप्त है इसलिये—

1. आ० २५५ ।

३२६—न न्द्राः संयोगादयः ॥ ६ । १ । ३ ॥

अच् से परे संयोग के आदि जो न्, द्, और र् इनको द्वित्व न होवे। इससे रेफ को द्वित्व का निषेध होकर णु शब्द को द्वित्व होता है। ऊर्णुनाव। रेफ को द्वित्व हो जाता तो अभ्यास का आदि हल् वहां रेफ है उससे परे अन्य हल् णकार की निवृत्ति (४०) हो जाती। ऊर्णुनुवतुः, ऊर्णुनुवुः।

३२७—विभाषोर्णोः ॥ ७ । ३ । ३ ॥

ऊर्णु धातु से परे जो इडादि प्रत्यय सो विकल्प करके ङिद्वत् हो। ऊर्णुनुविथ। ङित् पक्ष में गुण का निषेध (२५), ऊर्णुनविथ, ऊर्णुनुवे, ऊर्णुनुवाते [ऊर्णुनुविरे,] ऊर्णुनुविषे ऊर्णुनविषे, ऊर्णुविताऽसि, ऊर्णविताऽसि, ऊर्णुविताम ऊर्णविताम, ऊर्णुविष्यति ऊर्णविष्यति, ऊर्णुविष्यत, ऊर्णविष्यत, ऊर्णुविषत, ऊर्णुविषति, ऊर्णुविषत्, ऊर्णुविषात्, ऊर्णविषति, ऊर्णाविषाति, ऊर्णविषात, ऊर्णविषाति, ऊर्णवाति ऊर्णवाति, ऊर्णुविषतै, ऊर्णुविषातै, ऊर्णुविषत. ऊर्णुविषात, ऊर्णाविषतै ऊर्णाविषातै, ऊर्णविषतै, ऊर्णविषातै ऊर्णौति, ऊर्णोतु, ऊर्णुतात्, ऊर्णुताम्, ऊर्णुवन्तु, ऊर्णुहि, ऊर्णुतात्, ऊर्णुतम्, ऊर्णुत, ऊर्णवानि, ऊर्णवाव, ऊर्णवाम, ऊर्णुताम्, ऊर्णुवाताम्, ऊर्णुवताम्, ऊर्णुष्व, ऊर्णवै, ऊर्णवावहै, ऊर्णवामहै।

३२८—गुणोऽपृक्ते ॥ ७ । ३ । ६१ ॥

३२६—ऊर्णोतेर्विभाषा ॥ ७ । २ । ६ ॥

परस्मैपदविषय में इडादि सिच् परे हो तो ऊर्णु धातु को विकल्प करके वृद्धि होवे। पक्ष में गुण हो जाता है। और्णावीत्, और्णाविष्टाम्, और्णाविषु, और्णवीत्, और्णुविष्ट, और्णविष्ट, और्णुविष्यत्, और्णविष्यत्, और्णुविष्यत, और्णविष्यत ॥

[अथ त्रय परस्मैपदिनः । अब तीन धातु परस्मैपदी कहते हैं।] ३० [द्यु] अभिगमने = सन्मुख चलना। (३२२) वृद्धि—द्यौति, द्युत, दुद्याव, दुद्युवतु, दुद्यविथ, द्योतासि, द्योष्यति, द्योपति, द्योपाति, द्यापति, द्योपाति, द्यवति, द्यवाति, द्यौतु द्युहि, द्यवानि, अद्यौत्, द्युयात्, द्यूयात्, अद्यौषीत् (१५८) वृद्धि, अद्योष्यत् ॥ ३१ [षु] प्रसवैश्वर्ययो = उत्पत्ति और सम्पत्ति का होना। सौति, सोता, सौतु।

३३०—स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु* ॥७।२।७२॥

स्तु, सु और धूञ् धातु से परे जो सिच् उसको इट् का आगम होवे परस्मैपद विषय में। असावीत्, असाविष्टाम्, असाविषु, असावी (१५८) वृद्धि ॥ ३२ [कु] शब्दे। कौति, चुकाव, कोता, कोष्यति, कौपति, कौपाति, कौतु, अकौत्, कुयात्, कूयात्, अकौपात्, अकोष्यत् ॥ [तु] गतिवृद्धिहिंसासु [यह सौत्र[1] धातु है। इसके गति, वृद्धि और हिंसा अर्थ हैं।] तौति, तवाति

* इस सूत्र का भट्टोजि दीक्षित ने स्वादिगणीय सु धातु पर लिखा है सो स्तु धातु के साहचर्य से लुग्विकरण अदादि के सु धातु का ग्रहण होना चाहिये, इसलिये वहां लिखना ठीक नहीं है। [धूञ् के साहचर्य से स्वादि का भी ग्रहण होता है।]

[1] आख्यातिक सूत्र ३२१ में यह धातु पढ़ी है, धातुपाठ में नहीं है। लुग्विकरण और अनिट् होने से इसकी यहां व्याख्या की है।

आगम अन्त्य अच् से परे[1] होकर—अट्+व+उम्+च्+अङ्+तिप्=अवोचत्, अवोचताम्, अवोचन्, अवोचत, अवोचेताम्, अवोचन्त, अवक्ष्यत्, अवक्ष्यत।

आशिषि लिङ् में वच आदि कई धातुओं के प्रयोग वैदिक विषय में कुछ विशेष होते हैं—

३३६—लिङ्याशिष्यङ् ॥ ३ । १ । ८६ ॥

आशीर्वाद अर्थ में लिङ् परे हो तो वेदविषय में सामान्य धातुओं से अङ् प्रत्यय होवे।

३३७—छन्दस्युभयथा ॥ ३ । ४ । ११७ ॥

वेदविषय में जिन प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा कही है उन की आर्धधातुक और जिन की आर्धधातुक संज्ञा कही है उन की सार्वधातुक संज्ञा भी होवे। प्रकृत में आशीर्वाद अर्थ में लिङ् की आर्धधातुक संज्ञा (८६) कह चुके हैं उसकी सार्वधातुक संज्ञा भी होवे। मा०—स्थागागमिवचिविदिशकिरुहयः प्रयोजनम्। स्था, गा, गम, वच, विद, शक और रुह, इन धातुओं से बहुधा आशिष लिङ् में अङ् होता है। यह नियम नहीं है कि इन्हीं धातुओं से होवे अन्य से नहीं। स्था—उपस्था+अङ्+यासुट्+मिप्=उपस्थेयम्, (२४४) आकारलोप और सार्वधातुक संज्ञा मान के इय् आदेश (८२)। गा—गै धातु भ्वादिगण में लिख चुके हैं[2] उसी को यहां जानो। उपगा+अङ्+यासुट्+मिप्=उपगेयम्, पूर्ववत्। गम—गम्+अङ्+यासुट्+मस्=गमेम। यहां लिङ् का सार्वधातुक संज्ञा होने से इय् और अङ् की आर्धधातुक संज्ञा मान के गम् का छकारादेश (२७२) नहीं होता। वच—व उम् च्+अङ्+यासुट्+मस्=वोचेम। विद—विद्+

1. मिदचोऽन्त्यात्परः। सन्धि० ८१। 2. पृष्ठ १६६, पं० २।

३३२—आहस्थः ॥ ८ । २ । ३५ ॥

आह् धातु के हकार को थकार आदेश होवे झल् परे हो तो। 'आथ्+थ' पुन: थकार को चर्त्व तकार हो जाता है। [आत्थ,]। आहथुः (३३१) सूत्र में आदि के पाच वचनों के कहने से—"ब्रूथ" यहां प्रत्यय और धातु को आदेश नहीं होवे।

३३३—ब्रुव ईट् ॥ ७ । ३ । ९३ ॥

ब्रूञ् धातु से परे जो हलादि पित् सार्वधातुक उसको ईट का आगम होवे। ब्रवीति। "आत्थ" यहां ब्रूञ् को स्थानिवत् मानने से ईट् प्राप्त है, परन्तु (३३२) सूत्र से [झल्परे] हकार को थकार विधान सामर्थ्य स नहीं होता। ब्रूत', ब्रुवन्ति, ब्रवीषि, ब्रूथ, ब्रूथ, ब्रवीमि, ब्रूव, ब्रूम, ब्रूते, ब्रूवाते, ब्रुवते।

३३४—ब्रुवो वचिः ॥ २ । ४ । ५३ ॥

आर्धधातुक विषय मे ब्रूञ् धातु को वचि, आदेश होवे। इकार व्यञ्जन की सहायता के लिय है। वच्+वच्+णल्=उवाच (२८२) सम्प्रसारण, ऊचतु, ऊचु (२८३), उवचिथ, उवक्थ, ऊचे, ऊचाते, ऊचिरे, वक्तास्मि, वक्तासे, वक्ष्यति, वक्ष्यते, वाचाति, वाचाति, वचति, वचाति, ब्रवति ब्रवाति, वाचतै, वाचातै, वचतै, वचातै, वक्षत, वक्षात, ब्रुवतै, ब्रुवातै, ब्रुवते, ब्रवाते, ब्रवीतु, ब्रूतात्, ब्रूताम्, ब्रुवन्तु, ब्रूहि, ब्रूतात्, ब्रूतम्, ब्रूत, ब्रवाणि, ब्रवाव, ब्रवाम्, ब्रूताम्, ब्रुवाताम्, ब्रुवताम्, ब्रवै, ब्रवावहै, ब्रवामहै, अब्रवीत्, अब्रूताम्, अब्रुवन्, अब्रूत, ब्रूयात्, ब्रूयाताम्, ब्रूयु, ब्रुवत, ब्रुवायाताम्, ब्रुवीरन्, उच्यात् (३३४) वच्यादेश, (२८३) सम्प्रसारण, उच्यास्ताम्, वक्षीष्ट। लुङ् में अङ् (३१६) होकर—

३३५—वच उम् ॥ ७ । ४ । २० ॥

अङ् परे हो तो वच् धातु को उम् का आगम होवे मित्

आगम अन्त्य अच् से परे[1] होकर—अट्+व+उम्+च्+अङ्+तिप्=अवोचत्, अवोचताम्, अवोचन्, अवोचत, अवोचेताम्, अवोचन्त, अवक्ष्यत्, अवक्ष्यत।

आशिषि लिङ् में वच आदि कइ धातुओं के प्रयोग वैदिक विषय में कुछ विशेष होते हैं—

३३६—लिङ्याशिष्यङ् ॥ ३।१।८६ ॥

आशीर्वाद अर्थ में लिङ् परे हो तो वेदविषय में सामान्य धातुओं से अङ् प्रत्यय होवे।

३३७—छन्दस्युभयथा ॥ ३।४।११७ ॥

वेदविषय में जिन प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा कहा है उन की आर्धधातुक और जिन की आर्धधातुक संज्ञा कहा है उन की सार्व-धातुक संज्ञा भी होवे। प्रकृत में आशीर्वाद अर्थ में लिङ् की आर्धधातुक संज्ञा (८६) कह चुके हैं उसकी सार्वधातुक संज्ञा भी होवे। भा०—स्थागागमिवचिविदिशकिरुहयः प्रयोजनम्। स्था, गा, गम, वच, विद, शक और रुह, इन धातुओं से बहुधा आशिष् लिङ् में अङ् होता है। यह नियम नहीं है कि इन्हीं धातुओं से होवे अन्य से नहीं। स्था—उपस्था+अङ्+यासुट्+मिप्=उपस्थेयम्, (२४४) आकारलोप और सार्वधातुक संज्ञा मान के इय् आदेश (८३)। गा—गै धातु भ्वादिगण में लिख चुके हैं[2] उसी को यहां जानो। उपगा+अङ्+यासुट्+मिप्=उपगेयम्, पूर्ववत्। गम—गम्+अङ्+यासुट्+मस्=गमेम। यहां लिङ् को सार्वधातुक संज्ञा होने से इय् और अङ् की आर्ध-धातुक संज्ञा मान के गम् का छकारादेश (२७३) नहीं होता। वच—व उम् च्+अङ्+यासुट्+मस्=वोचेम। विद—विद्+

1. मिदचोऽन्त्यात्परः। सन्धि० ८१। 2. पृष्ठ १६६, पं० १।

अक्+यासुट्+मिप्=विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम्[1] । शक्—शक्+अक्+इय्+मिप्=शकेयम् । रुह—रुह्+अक्+इय्+मिप्=रुहेयम् ।

३३८—वा०—दृशेरग्वक्तव्यः ॥ महा०३।१।८३॥

दृश धातु से अक् प्रत्यय कहना चाहिये। दृश्+अक्+यासुट्+मिप्=दृशेयम् । जो यहां (३३६) सूत्र से अङ् होता तो अकित् होने से अम् (२७८) हो जाता, इसलिये अक् पढ़ा है।

अथ शास्त्यन्ताः परस्मैपदिनः, इङ्त्वात्मनेपदी । अब शासु धातुपर्यन्त परस्मैपदी कहते हैं, परन्तु एक इङ् धातु आत्मनेपदी हैं॥ ३५ [इण्] गतौ । एति, इतः ।

३३९—इणो यण् ॥ ६ । ४ ८१ ॥

इण् धातु को यण् आदेश होवे अच् परे हो तो। यन्ति । यह सूत्र इयङ् (१५९) का अपवाद है। इ+णल्—इयाय । यहां इकार को ऐकार वृद्धि और ऐ को द्वित्व [और ह्रस्व (४१)] होकर इयङ् (१५३) होता है।

३४०—दीर्घ इणः किति ॥ ७ । ४ । ६९ ॥

इण् धातु के अभ्यास को दीर्घ आदेश होवे कित् लिट् परे हो तो। इ-अतुस् । इस अवस्था में यण् होकर, यण् को स्थानिरूप (२४५) मानकर द्वित्व होता है। ईयतुः, ईयुः, इययिथ, इयेथ, ईयथुः, ईय, इयाय, इयय, ईयिव, ईयिम; एतासि, एष्यति, ऐष्यत्, ऐषीत्, एयात्, एषाति, अयति, अयाति; एतु, इतात्, इताम्, यन्तु (३३९) यण्, इहि, इतात्, इतम्, इत, अयानि, अयाव, अयाम; ऐत्, ऐताम्, आयन्, ऐः, ऐतम्, ऐत, आयम्,

1. अथर्व० १९ । ३ । २ ॥

ऐव, ऐम; इयात्, इयाताम्, इयुः; ईयात् (१६०) दीर्घ, ईयास्ताम् ।

३४१—एतेर्लिङि ॥ ७ । ४ । २४ ॥

उपसर्ग से परे इण् धातु के अण् को ह्रस्व होवे यकारादि क्ङित् लिङ् परे हो तो । उदियात्, समियात्, अन्वियात् । सम्+आ+इ+यासुट्+तिप्=समेयात्, यहां एकार अण् नहीं है इसलिये ह्रस्व नहीं होता ।

३४२—इणो गा लुङि ॥ २ । ४ । ४५ ॥

इण् धातु को गा आदेश होवे लुङ् लकार के विषय में । गा होकर सिच् का लुक्, (९१) सूत्र में गाति करके यही गा आदेश लिया जाता है[1] । अगात्, अगाताम्, अगुः ।   ३६ [इङ्] अध्ययने = पढ़ना । इस धातु के प्रयोग नित्य अधि उपसर्गपूर्वक ही आते हैं । अधि+इ+त=अधीते । सवर्णदीर्घ एकादेश होता है । अधीयाते, अधीयते इयङ् (१५९), अधीषे, अधीयाथे, अधीध्वे, अधीये, अधीवहे, अधीमहे ।

३४३—गाङ् लिटि ॥ २ । ४ । ४९ ॥

इङ् धातु को गाङ् आदेश होवे लिट् लकार की विवक्षा में । अधि+गा+एश्=अधिजगे । यहां प्रथम आकारलोप (२४४) होकर स्थानिरूप (२४५) मान के द्वित्व होता है । अधिजगाते, अधिजगिरे, अधिजगिषे, अध्येतासे, यहां अधि के इकार को यण् होजाता है[2] । अध्येष्यते, अध्यैयत,, अध्यैयाते, अध्यैयत,

1. 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' (अ० २ । ४ । ७७) इस नियम से ।

2. धातु का पहले साधन (प्रत्यय) के साथ संबन्ध होता है या उपसर्ग के साथ, इसमें दो मत हैं । जब 'पूर्वं धातुः साधनेन

अध्येपातै, अध्यैपते, अध्यैपाते, अध्येपते, अध्यपाते, अधीताम्, अगायाताम्, अधीयत्ताम्, अध्ययै, अध्ययावहै, अध्ययामहै; अध्यैत, अध्यैयाताम्, यहां पत्त में प्रथम इयङ् (१५९) और पीछे आट् होकर उसके साथ वृद्धि होती है। अध्येयत, अध्यैथा', अध्यैयाथाम्, अध्यैध्वम्, अध्यैयि, अध्यैवहि, अध्यैमहि, अधीयीत, अधायीयाताम, अधीयीरन्, अधीयीध्वम्, अधीयीय; अध्यपाष्ट, अध्यपीयास्ताम्, अध्येपीढ्वम्।

३४४—विभाषा लुङ्लृङोः ॥ २ । ४ । ५० ॥

इङ् धातु को गाङ् आदेश विकल्प करके होवे लुङ् और लृङ् लकार का विवक्षा हों तो। गाङ् आदेश पक्ष मे—

३४५—गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् ॥ १ । २ । १ ॥

गाङ् और कुटादि धातुओं से परे जो ञित् णित् भिन्न प्रत्यय वे ङिद्वत् हों। यहां लुङ् में सिच् और लृङ् मे स्य ङिद्वत् होकर—

३४६—घुमास्थागापाजहातिसां हलि ॥ ६ । ४ । ६६ ॥

युज्यते पश्चादुपसर्गेण' मत स्वीकार किया जाता है तब पहले प्रत्यय को को मानकर धातु को गुण होता है पीछे उपसर्ग के इकार को यणादेश होता है। जब 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन' मत माना जाता है तब 'अधि+इ' इस अवस्था मे पहले सवर्णदीर्घ की प्राप्ति होती है। प्रथम सवर्णदीर्घ करने पर 'अध्येता' आदि प्रयोग उपपन्न नहीं होते। इसलिये 'णेरध्ययने वृत्तम्' (अ० १२०५) सूत्र में 'अध्ययन' पद प्रयोग के ज्ञापन से सवर्णदीर्घ को बाधकर गुण होकर यणादेश होता है। उपर्युक्त दोनों पक्षों में प्रथम पक्ष ही प्रामाणिक है।

घुसंज्ञक (२४६) मा, स्था, गा, पा, ओहाक् और पा धातु के आकार का ईकारादेश होवे हलादि कित् ङित् आर्धधातुक परे हो तो। अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम्, अध्यगीषत, अध्यगीष्ठाः, अध्यगीढ्वम्, जिस पक्ष में गाङ् (२४४) न हुआ वहां—अध्यैष्ट, अध्यैषाताम्, अध्यैढ्वम्; अध्यगीष्यत, अध्यगीष्येताम्, अध्यगीष्यन्त, अध्यैष्यत ॥ ३७ [इक्] स्मरणे=स्मरण करना। यह भी धातु अधि उपसर्गपूर्वक ही है इस में कारकविषयक 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि'[1] सूत्र का प्रमाण है। अध्येति, अधीतः, अधीयन्ति, अध्येषि, अधीथः, अधीथ, अध्येमि, अधीवः, अधीमः, अध्येवास, अध्येष्यति, अध्यैष्यति, अध्यैष्यत्, अध्येतु, अधीतात्, अधीताम्, अधीयन्तु, अधीहि, अध्ययानि, अध्ययाव, अध्ययाम; अध्यैत्, [अध्यैताम्,] अध्यायन्, अध्यैः, अध्यायम्, अधीयात्, अधीयाताम्, अधीयुः, अधीयात्, अधीयास्ताम्।

२४७–वा०–इण्वदिक इति वक्तव्यम् * ॥ २ । ४ । ४५ ॥

* इस वार्तिक का भट्टोजिदीक्षित ने लट् लकार में लगा के और "अधियन्ति" प्रयोग इक धातु का यण् (२१२) करके बनाया और पीछे यह भी लिखा है कि कोई लोग इस को आर्धधातुक विषय में कहते हैं, उनके मत में "अधीयन्ति" होगा। सो यह महाभाष्य से विरुद्ध होने के कारण माननीय नहीं। भाष्यकार ने इस वार्तिक को (२४२) सूत्र पर लिखकर लुङ् लकार के उदाहरण दिये हैं और (२४२) सूत्र भी आर्धधातुक अधिकार में होने से लट् लकार में इक् धातु को इण्वत् कार्य कदापि नहीं हो सकता। फिर "अधियन्ति" प्रयोग सर्वथा अशुद्ध है॥

1. अष्टा० २ । ३ । ५२ ॥

आर्धधातुक अधिकार में इक् धातु को इण् के तुल्य कार्य होवें अर्थात् लुङ् लकार में जो इण् धातु को गा आदेश (३४२) कहा है सो इक् को भी होवे। अध्यगात्, अध्यगाताम्, अध्यगुः, अध्येष्यत ॥ ३८ [वी] गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु=गति, व्याप्ति, गर्भ होना, इच्छा, फेंकना और खाना। वेति, वीतः, वियन्ति (१५९) इयङ्, वेषि, विवाय, विव्यतुः,[1] विव्युः, विवयिथ, विवेथ, वेता, वेष्यति, वैषति, वैषाति, वेषति, वेषाति, वयति, वयाति, वेतु, वीतात्, वीहि, वयानि, अवेत्, अवीताम्, अवियन्,[2] अवेः, वीयात्, वीयाताम्, वीयुः; [वीयात्,] वीयास्ताम्,

---

१. 'वि+अतुस्' इस अवस्था में द्विर्वचन और इयङादेश दोनों प्राप्त होते हैं। परत्व से इयङादेश होना चाहिये, परन्तु 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (सन्धि० ११४) में पर शब्द को इष्ट वाची मानकर प्रथम द्विर्वचन होता है तदनन्तर इयङ् को बाधकर परत्व से 'एरनेकाचो०' (आ० १५६) से यणादेश होता है।

धातुवृत्तिकार सायण ने पहले इयङादेश करके 'द्विर्वचनेऽचि' (आ० २४५) से स्थानिवत् मानकर द्विर्वचन किया है, तदनन्तर पुनः इयङ् की प्राप्ति होने पर परत्व से यणादेश होना लिखा है। इस लेख में दो भूलें हैं। प्रथम–'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र से जो स्थानिरूप होता है वह केवल द्विवचन कार्य करने के लिये होता है न कि वस्तुतः वैसा रूप बन जाता है। अतः पुनः इयङ् की प्राप्ति ही नहीं होती तो यणादेश परत्व से किस को बाधेगा। दूसरा–महाभाष्यकारने 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र के जितने प्रयोजनों की गणना की है उनमें इयङ् को स्थानिरूप करना प्रयोजन नहीं लिखा, अतः द्विर्वचन से पूर्व इयङ् करना ठीक नहीं है

२. 'वि+अन्ति' इस अवस्था में अट् और इयङ् दोनों की प्राप्ति होती है। परत्व से प्रथम इयङ् होता है पुनः अडागम। यदि किसी

अवैषीत्, अवैष्टाम्, अवैषुः, अवेष्यत् ॥ इस वी धातु में मिला उन्हीं अर्थों में "ई" धातु भी मानते हैं। एति, ईतः, इयन्ति, इयाय, ईयतुः, एता, एष्यति, ऐयति, ऐषाति ॥ ३९ [या] प्रापणे = प्राप्त होना। याति, यातः, यान्ति, ययौ, ययतुः, ययुः, ययिथ, ययाथ, यातासि, यास्यति, यासति, यासाति, यातु, अयात्, अयाताम्।

३४८—लङः शाकटायनस्यैव ॥ ३।४।१११ ॥

आकारान्त धातु से परे जो लङ् लकार का झि उसको जुस् आदेश होवे शाकटायन आचार्य ही के मत में। अयुः (८५) पररूप एकादेश, अयाः, अयातम्, अयात, अयाम्, अयाव, अयाम; यायात्, यायाताम्, यायासाम्, अयासीत्, अयासिष्टाम्, अयासिषुः, अयास्यत् ॥ ४० [वा] गतिगन्धनयोः = गति और सूंघना[1]। वाति, वातः, वान्ति, वासि, ववौ, वातासि, वास्यति, वासति, वासाति, वातु, वाहि, अवात्, अवासीत्, अवास्यत् ॥ ४१ [भा] दीप्तौ = प्रकाश। भाति, बभौ ॥ ४२ [ष्णा] शौचे। स्नाति, सस्नौ, स्नेयात् (२५२) स्नायात्, अस्नासीत् ॥ ४३ [श्रा] पाके। श्रेयात्, श्रायात् ॥ ४४ [द्रा] कुत्सायां गतौ = निन्दित गति[2]। द्रेयात्, [द्रायात्] ॥

प्रकार अडागम की प्राप्ति पहले भी मानलें तब भी अडागम को असिद्ध मानकर पूर्वादन्त ही होगा न कि पश्चादन्त।

१. गन्धन का अर्थ वृत्तिकार ने 'अपकारप्रयुक्त हिंसात्मक सूचनम्' माना है (काशिका १ । ३ । ३२)। महर्षि दयानन्द ने वेदभाष्य में गन्धन शब्द का अर्थ 'हिंसा' और 'सूचना' किया है। यथा—वायो दुष्टानां हिंसक! (ऋ० भा० १ । १३५ । ४), वायो वाति गन्धयति सूचयति सदसत्पदार्थानिति वायुः, तत्सम्बुद्धौ (यजु० भा० २ । १६)।

२. द्राति गतिकुत्सना। निरुक्त २ । २ ॥

४५ [प्सा] भक्षणे=खाना। प्साति, पप्सौ, प्सेयात्, प्सायात् ॥ ४६ [पा] रक्षण। [पायात्,] पायास्ताम् (२५२) सूत्र में पा धातु से पिबति[1] का ग्रहण होने से इस धातु को एकारादेश (२५२) नहीं होता। अपासात् (९१) सूत्र में भी पिबति का ही ग्रहण होने से सिच्लुक् नहीं होता॥ ४७ [रा] दान। राति॥ ४८ [ला] आदाने। लाति, लायात्॥ ४९ [दाप्] लवन=काटना। दाति, दायास्ताम्। घुसंज्ञा के (२४६) न होने से एकार आदेश और 'अदासीत्' सिच्लुक् (९१) नहीं होता॥ ५० [ख्या] प्रकथने=अच्छे प्रकार कहना। इस धातु के प्रयोग सार्वधातुकविषय में ही समझने चाहियें, क्योंकि आर्धधातुक विषय में चक्षिङ् धातु का ख्याञ् आदेश (३१२) कह चुके हैं उसी के प्रयोग आते हैं[2]। ख्याति, ख्येयात्, ख्यायात्॥ ५१ [प्रा] पूरणे=पूर्ण करना। प्राति, प्रेयात्, प्रायात्, अप्रासीत्॥ ५२ [मा] माने=समा जाना[3]। माति, ममौ, ममिथ, ममाथ, मातासि, मास्यति, मासति, मासाति, मातु, माहि, अमात्, मेयात् (२४७), मेयास्ताम्, अमासीत्, अमास्यत्॥ ५३ [वच] परिभाषण=व्याख्यान करना। वक्ति, वक्तः, वचन्ति[4], वाक्षि, वक्थ, वच्मि, उवाच (२८२) सम्प्रसारण।

१. गापोर्ग्रहणे इण्पिबत्योर्ग्रहणम् (वा० २।४।७७) नियम से।

२. इस विषय में पृष्ठ २०६ की टिप्पणी १, २ देखो।

३. इस अर्थ में 'माति घृत पात्रे' वाक्य में प्रयोग होता है।

४. इस धातु का 'अन्ति' परे रहते प्रयोग नहीं होता, ऐसा किन्हीं वैयाकरणों का मत है। कई एक 'झि' परे सर्वत्र प्रयोगाभाव मानते हैं। कुछ एक तीनों पुरुषों के बहुवचनों में इसका प्रयोग स्वीकार नहीं करते। आत्रेय केवल एकवचन के प्रयोग लिखकर द्विवचन और बहुवचन म

ऊचतुः (२८३), ऊचुः, उवचिथ उवक्थ, वक्तासि, वक्ष्यति, वाचति, वाचाति, वक्तु, वग्धि, वचानि, अवक्, अवक्ताम्, अवचन्, अवक्, वच्यात्, उच्यात् (२८३), उच्यास्ताम्, अवोचत्, अवक् और (३३५) उम् आगम। ये इण् आदि अनिट् परस्मैपदी धातु समाप्त हुए॥ १५४ [विद] ज्ञाने।

३४९—विदो लटो वा ॥ ३ । ४ । ८३ ॥

विद धातु से परे लट् लकार सम्बन्धी परस्मैपदसंज्ञक प्रत्ययों के स्थान में णल् आदि ९ आदेश यथासङ्ख्य और विकल्प करके होवें। वेद, विदतुः, विदुः, वेत्थ, विदथुः, विद, वेद, विद्व, विद्म। पक्ष में—वेत्ति, वित्तः, विदन्ति। आम्प्रत्ययविधायक (२१३) सूत्र में विद् धातु का अकारान्त निपातन भाष्यकार ने माना है, आम् प्रत्यय के परे विद् धातु के अकार का लोप (१७२) होकर स्थानिवत् होने से आम् प्रत्यय को मानकर गुण नहीं होता। विदाञ्चकार, विदाञ्चक्रतुः, विदाञ्चक्रुः। पक्ष में—विवेद, विविदतुः, विविदुः, विवेदिथ। वेदितासि, वेदिष्यति, वेदिषति, वेदिषाति, वेदत्, वेदाति, वेत्तु, विद्यात्, विद्याम्।

३५०—विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्* ॥ ३ । १ । ४१ ॥

ग्रन्थों के मत से अप्रयोग मानता है। वस्तुतः ये सब मत अयुक्त हैं, महाभाष्य आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं मिलता। महाभारतादि में 'ऊचतुः, ऊचुः' प्रयोग बहुधा मिलते हैं। स्कन्द स्वामी ने ऋग्वेदभाष्य में 'प्रयचन्ति' का प्रयोग किया है।

* इस सूत्र में जो इति शब्द पढ़ा है उस से शब्द के स्वरूप का बोध होता है, और इति शब्द को यहां प्रदर्शनार्थ भी माना है। काशिकाकार और भट्टोजिदीक्षित

लोट् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन में "विदाङ्कुर्वन्तु" विकल्प से निपातन किया है। विद् धातु से आम् प्रत्यय कृञ् का अनुप्रयोग और उ प्रत्यय विकरण आदि निपातन से होते हैं। और पक्ष में—'विदन्तु' भी होता है। विद्धि, वित्तात्, वित्तम्, वित्त, वेदानि, वेदाव, वेदाम; अवेत्, अवित्ताम्, अविदुः (१३७) कि॰ जुस्।

३५१—दश्च ॥ ८ । २ । ७५ ॥

धातु के पदान्त दकार को रु आदेश विकल्प करके होवे सिप् परे हो तो। अवेः, रु को विसर्जनीय। पक्ष में—अवेत्, अवित्तम्, अवित्त, अवेदम्, अविद्व, अविद्म; विद्यात्, [विद्याताम्,] विद्युः, [विद्यात्,] विद्यास्ताम्, अवेदीत्, अवेदिष्टाम्, अवेदिषुः, अवेदिष्यत् ॥ ५५ [अस] भुवि। यह धातु भू धातु के अर्थ में है। अस्ति।

३५२—श्नसोरल्लोपः । ६ । ४ । १११ ॥

श्न प्रत्यय और अस् धातु के अकार का लोप होवे कित् ङित् सार्वधातुक परे हो तो। अस्+तस्=स्तः, सन्ति, असि, (५५), स्थः, स्थ, अस्मि, स्वः, स्मः।

३५३—अस्तेर्भूः ॥ २ । ४ । ५२ ॥

आदि ने लिखा है कि इति शब्द पढ़ने से पुरुष और वचन की विवक्षा नहीं कि लोट् के प्रथम पुरुष बहुवचन का ही प्रयोग निपातन किया होवे, किन्तु लोट् लकार के सब प्रयोगों में निपातन किया है 'विदाङ्करोतु' आदि भी प्रयोग होते हैं, सो यह व्याख्यान माननीय नहीं है, क्योंकि मूल और महाभाष्य से विरुद्ध है। इससे अगले "अभ्युत्सादया॰" सूत्र में ऐसे ही आम्प्रत्ययान्त निपातन किये हैं वहां भी इति शब्द पढ़ा है उसका व्याख्यान इन लोगों ने भी स्वरूपबोधक ही रक्खा है। इस से इनका व्याख्यान पूर्वापर विरुद्ध भी है।

अस धातु को भू आदेश होवे सामान्य आर्धधातुक विषय में अर्थात् आर्धधातुक लकारों में भू धातु के ही प्रयोग होते हैं अस के के नहीं। बभूव, बभूवतु, बभूविथ, भविताऽसि, भविष्यति, भाविषति, भाविषाति; असति, असाति, असत्, असात्, अस्तु, स्तात्, स्ताम्, सन्तु (३५२), अस्+हि—यहां—

३५४—ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ॥६।४।११६॥

घुसञ्ज्ञक और अस धातु को एकारादेश और घुसञ्ज्ञक के अभ्यास का लोप होवे हि परे हो तो। अस धातु के अन्त्य अल् सकार के स्थान में एकारादेश होता है। पीछे एकारादेश को असिद्ध (४४) मानकर हि को धि (३००) और अकार का लोप (३५२) होता है। एधि, स्तात्, स्तम्, स्त, असानि, असाव, असाम, लङ् में ईट् (१३४) आसीत्। यहां भी वस् आदि में लोपके के पलाय होने से अकार लोप (३५२) होकर अजादि के न होने से आट् (१२०) नहीं प्राप्त है सो अकार लोप को असिद्ध (४४) मानकर आट् हो जाता है। आस्ताम्, आसन्, आसीः, आस्तम्, आस्त, आसम्, आस्व, आस्म, स्यात्, स्याताम्, स्युः, स्याः, भूयात्, भूयास्ताम्, अभूत्, अभूताम्, अभूवन्, अभविष्यत् ॥ ५६ [मृजूष्[1]] शुद्धौ = पवित्रता। यह धातु ऊदित्[2] है।

१ कई वैयाकरण 'मृजा' शब्द का पाठ भिदादिगण में नहीं मानते। उनके मत में अङ् करने के लिये षित् करण है। अन्य वैयाकरण षकार नहीं पढ़ते।

२. ऊदित् पढ़ने से इट् का विकल्प होता है। कई अनिट् कारिका (५) में 'मृजिमृजि' पढ़ते हैं, यह अशुद्ध है। यह भूमिकान्तर्गत अनिट् कारिका की टिप्पणी में लिख चुके हैं।

३५५—मृजेर्वृद्धिः ॥ ७ । २ । ११४ ॥

मृज धातु के इक् को वृद्धि होवे सामान्य प्रत्ययों के परे। ऋकार को आर् वृद्धि। मार्ष्टि (२३३) षत्व, मृष्ट'।

३५६—वा०—इहान्ये वैयाकरणा मृजेरजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिमारभन्ते ॥ १ । १ । १८ ॥

यह वार्तिक " इको गुणवृद्धी " सूत्र पर है। इस व्याकरण शास्त्र में बहुतेरे वैयाकरण लोग मृज धातु को अजादि कित् ङित् प्रत्ययों के परे विकल्प करके वृद्धि कहते हैं। मार्जन्ति, मृजन्ति, मार्क्षि, मृष्ट, मृष्ठ, मार्ज्मि, मृज्व', मृज्म', ममार्ज, ममार्जतु', ममृजतु, ममार्जु', ममृजुः। ऊदित् होने से इट् का विकल्प (१४०)—ममार्जिथ, ममार्ष्ठ, ममार्जथुः, ममृजथु', ममार्ज, ममृज, ममार्ज, ममर्ज, ममार्जिव, ममृजिव, ममृज्व, ममार्जिम, ममृजिम, ममृज्म; मार्जितासि, मार्ष्टासि; मार्जिष्यति, मार्क्ष्यति, मार्जिषति, मार्जिषाति, मार्क्षति, मार्क्षाति, मार्जति, मार्जाति, मार्ष्टु, मृष्टात्, मृष्टाम्, मार्जन्तु, मृजन्तु, मृड्ढि, यहां षत्व (२३३) होने के पश्चात् जश्त्व ष्टुत्व होते हैं। मार्जानि, मार्जाव, मार्जाम, अमार्ट्, अमृष्टाम्, अमार्जन्, अमृजन्, अमार्जम्; मृज्यात्, मृज्याताम्, [मृज्यात्,] मृज्यास्ताम्, अमार्जीत्, अमार्जिष्टाम्, अमार्क्षीत्, अमार्ष्टाम्, अमार्क्षु', अमार्जिष्यत्, अमार्क्ष्यत् ॥ ५७ [रुदिर्] अश्रुविमोचने = रोना।

३५७–रुदादिभ्यः सार्वधातुके ॥ ७ । २ । ७६ ॥

रुद्, स्वप्, श्वस्, अन और जक्ष, इन पांच धातुओं से परे वलादि सार्वधातुक को इट् का आगम होवे। रोदिति, रुदित', रुदन्ति, रोदिषि, रुदिथ, रुदिथ, रोदिमि, रुदिवः, रुदिम, रुरोद, रुरुदतु', रुरुदु, रुरोदिथ, रोदितासि, रोदिष्यति, रोदिषति,

रोदिषाति, रोदति, रोदाति, रोदितु, रुदिहि, रोदानि, रोदाव, रोदाम।

३५८—रुदश्च पञ्चभ्यः ॥ ७ । ३ । ९८ ॥

रुद आदि उक्त पांच धातुओं से परे हलादि पित् अपृक्त सार्वधातुक को ईट् का आगम होवे। अरोदीत्, अरोदीः।

३५९—अड् गार्ग्यगालवयोः ॥ ७ । ३ । ९९ ॥

गार्ग्य और गालव आचार्यों के मत में रुद आदि पांच धातुओं से परे उक्त सार्वधातुक को अट् का आगम होवे। यह ईट् और अट्, इट् के आगम का निषेधक है। अरोदत्, अरुदिताम्, अरुदन्, अरोदः, अरुदितम्, अरुदित, अरोदम्, अरुदिव, अरुदिम। प्रकृति और प्रत्यय की विशेष अपेक्षा रखने वाले अट् और ईट् आगमों से अन्तरङ्ग होने के कारण यासुट् प्रथम हो जाता है, फिर ईट् और अट् की प्राप्ति नहीं है। रुद्यात्, रुद्याताम्, [रुद्यात्,] रुद्यास्ताम्। इरित् होने से अङ् विकल्प (१३८) अरुदत्, अरुदताम्, अरुदन्, अरोदीत्, अरोदिष्टाम्, अरोदिषुः ॥ ५८ [ञिष्वप्] शये = सोना। स्वपिति (३५७) इट्, स्वपितः, स्वपन्ति, सुष्वाप (२८२) संप्रसारण, सुषुपतुः (२८३), सुषुपुः, सुष्वपिथ, सुष्वप्थ, स्वप्तासि, स्वप्स्यति, स्वाप्सति, स्वाप्साति, स्वप्सति, स्वप्साति, स्वपति, स्वपाति, स्वपितु, स्वपितात्, स्वपिहि, अस्वपीत् (३५८), अस्वपत् (३५९), अस्वपिताम्, अस्वपन्, अस्वपीः, अस्वपः, अस्वपम्, सुप्यात्, सुप्यास्ताम्, सुप्यासुः, (२८३) सुप्यास्ताम्, अस्वाप्सीत्, अस्वाप्ताम्, अस्वाप्सुः, अस्वाप्सीः, अस्वाप्तम्, अस्वाप्त, अस्वाप्सम्, अस्वाप्स्व, अस्वाप्स्म, अस्वप्स्यत् ॥ ५९ [श्वस] प्राणने = ऊपर का श्वास। श्वसिति, श्वसितः, श्वसन्ति, शश्वास, शश्वसतुः,

शश्वसुः, शश्वसिथ, श्वसितासि, श्वसिष्यति, श्वासिषति, श्वासिषाति, श्वसितु, श्वसिहि, अश्वसीत्, अश्वसत्, अश्वसीः, अश्वस, श्वस्यात्, अश्वसीत् (१६२) वृद्धि का का निषेध, अश्वसिष्यत् ॥ ६० [अन] च। यह धातु भी प्राणन अर्थ में है। अनिति, आन, आनतु, अनितु, आनीत्, आनत्, आनीः, आनः, अन्यात्, आनीत्, आनिष्टाम्, आनिष्यत् ॥ ६१ [जक्ष] भक्षहसनयो.=खाना और हसना। जक्षिति, जक्षितः।

३६०—जक्षित्यादयः षट् ॥ ६ । १ । ६ ॥

जक्ष धातु से लेकर वेवीङ् पर्यन्त सात धातुओं की अभ्यस्त संज्ञा होवे। इस सूत्र में अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है। अर्थात् जक्ष धातु जिन के आदि में हो ऐसे अन्य छः धातु और जक्ष सातवां हुआ। अभ्यस्त का फल—

३६१—अदभ्यस्तात् ॥ ७ । १ । ४ ॥

अभ्यस्तसंज्ञक धातुओं से परे जो प्रत्यय का आदि झकार उस को अत् आदेश होवे। यह अन्त आदेश का बाधक है। जक्षति, जक्षिषि, जजक्ष, जजक्षिथ, जक्षितासि, जक्षिष्यति, जक्षिषति, जक्षिषाति, जक्षति, जक्षाति, जक्षितु, जक्षतु, जक्षिहि, अजक्षीत्, अजक्षत्, अजक्षिताम्, अजक्षुः (१३७) अभ्यस्त होने से जुस्। अजक्षीः, अजक्ष, जक्ष्यात्, जक्ष्यास्ताम्, [जक्ष्यात्,] जक्ष्यास्ताम्, अजक्षीत्, अजक्षिष्यत्। ये रुदादि पांच धातु समाप्त हुए।

६२ [जागृ] निद्राक्षये=जागना। इस धातु के अन्त्य ऋकार का लोप नहीं होता, क्योंकि वह उपदेश में अनुनासिक नहीं पढ़ा है। जागर्त्ति, जागृत जाग्रति, अभ्यस्त संज्ञा (३६०) होने से प्रत्ययादि झकार को अत्। जागर्षि, जागृथ, जागृथ, जागर्मि,

जागृवः, जागृमः। लिट् में विकल्प से आम् (२१३)—जागरा-ञ्चकार, जागराम्बभूव, जागरामास। पक्ष में यह धातु दो स्वर-वाला है इसलिये प्रथम एकाच् अवयव 'जा' मात्र को द्वित्व होता है—जजागार।

३६२—जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु॥७।३।८५॥

जागृ धातु को गुण होवे वृद्धि विषय और निषेध विषय में, परन्तु वि, चिण्, णल् और ङित् प्रत्ययों के परे न होवे। वि करके उणादि का क्विन्[1] प्रत्यय लिया है। इस सूत्र से तीन प्रकार का नियम निकलता है। १—एक तो कित् ङित् प्रत्ययों में गुण नहीं प्राप्त है वहां कित् में होना ङित् में नहीं, २—क्विन् प्रत्यय में गुण प्राप्त है वहां न होना—जागृविः, ३—चिण् और णल् को छोड़ के अन्यत्र वृद्धि विषय में गुण होना, वृद्धि नहीं। फिर चिण् और णल में वृद्धि ही होती है। जजागरतुः, जजागरुः, जजागरिथ, जागरि-ताऽसि, जागरिष्यति, जागरिषति, जागरिषाति, जागर्तु, जागृतात्, जागृताम्, जाग्रतु, जागृहि, जागराणि, जागराव, जागराम; अजागः, अजागृताम्। अभ्यस्त होने से जुस् (१२४)—

३६३—जुसि च॥७।३।८३॥

अजादि जुस् परे हो तो इगन्त अङ्ग को गुण होवे। अजा-गरुः। यहां ङित् होने से गुण नहीं प्राप्त है इसलिये यह सूत्र है। अजागर, अजागरम्, जागृयात्, जागृयाताम्, जागृयुः। अजादि[2] के कहने से यहां जुस् में गुण नहीं होता—जागर्यात्, जागर्यां-

---

1. जॄशॄस्तृजागृभ्यः क्विन्। उणादि० ४।५४॥

2. काशिकाकार आदि अजादि की अनुवृत्ति नहीं मानते। महा-भाष्यकार ने मानी है—अथवा अचीति वर्त्तते (७।३।७२), 'तेन जुषं विशेषयिष्यामः, अजादौ जुसीति। महा० ७।३।८३॥

स्ताम्, जागर्यासुः। लुङ् में—'अट्+जागृ+इस्+ईट्+तिप्' इस अवस्था में जागृ धातु के ऋकार को १ यणादेश प्राप्त है उसका बाधक २ गुण (२१) प्राप्त और गुण का अपवाद ३ वृद्धि (१५८) प्राप्त है उसका भी अपवाद ४ गुण (३६२) होता है फिर अर् गुण होकर हलन्त होने से ५ वृद्धि (१३२) प्राप्त है उसका ६ निषेध (१३३) होकर ७ विकल्प से वृद्धि (१४४) प्राप्त है उसका बाधक ८ नित्य वृद्धि (१९६) प्राप्त है उसका भी ९ निषेध (१६२) हो जाता है[1]। अजागरीत्, अजागरिष्टाम्, अजागरिषुः॥ ६३ [दरिद्रा] दुर्गतौ=बुरा हाल। दरिद्राति।

३६४—इद्दरिद्रस्य ॥ ६ । ४ । ११४ ॥

हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे हो तो दरिद्रा धातु को इकारादेश हो। अन्त्य अल् आकार को होता है। दरिद्रितः।

३६५—श्नाभ्यस्तयोरातः ॥ ६ । ४ । ११२ ॥

श्ना प्रत्यय और अभ्यस्तसंज्ञक धातुओं के आकार का लोप हो कित् ङित् सार्वधातुक परे हों तो। दरिद्रति, दरिद्रासि, दरिद्रिथः, दरिद्रिथ, दरिद्रामि, दरिद्रिवः, दरिद्रिमः। (१६९, १७०) सूत्रों[2] से दरिद्रा धातु को अनेकाच् होने से आम् प्रत्यय होता है—दरिद्रा-

१. 'अजागरीत्' में ऋकार को उपर्युक्त ९ कार्य क्रमशः प्राप्त होते हैं। कैयट लिखता है— "गुणो वृद्धिर्गुणो वृद्धिः प्रतिषेधो विकल्पनम्। पुनर्वृद्धिर्निषेधोऽतो यण्पूर्वाः प्राप्तयो नव॥" महाभाष्यप्रदीप ७। २। ५॥

२. सख्या १७० वार्तिक है। वार्तिक के लिये भी सूत्र शब्द का व्यवहार होता है। यथा—महाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति। महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० १।

ञ्चकार, दरिद्राम्बभूव, दरिद्रामास। वेद में आम् प्रत्यय नहीं होता[1] वहां—

३६६—वा०-दरिद्रातेरार्धधातुके लोपो वक्तव्यः ॥ ६ । ४ । ११४ ॥

आर्धधातुक प्रत्ययों की विवक्षा में दरिद्रा धातु के आकार का लोप होवे। प्रयोजन यह है कि इट् और अजादि कित् ङित् आर्धधातुक में आकारलोप (२४८) [से] होता है इस वार्तिक से हलादि [तथा] कित् ङित् [रहित अजादि] आर्धधातुक में भी होजाता है। ददरिद्रौ, ददरिद्रतुः, ददरिद्रुः, ददरिद्रिथ; दरिद्रितासि, दरिद्रिष्यति, दरिद्रियात्; दरिद्रातु, दरिद्रितात्, दरिद्रिताम्, दरिद्रतु, दरिद्रिहि, दरिद्राणि; अदरिद्रात्, अदरिद्रिताम्, अदरिद्रुः;

---

१. कैयट आदि वैयाकरण ‘धस्येकाजाद्युपसाम्’ (भा० १२५०) के महाभाष्य से दरिद्रा धातु से आम् के अनित्यत्व का ज्ञापन करते हैं अर्थात् भाषा में भी आम् रहित के प्रयोग मानते हैं। ज्ञापक इस प्रकार है—‘आत औ णलः’ (भा० २४३) में औकार का विधान करने से ‘ययौ’ आदि में वृद्धि होकर औत्व हो ही जायगा पुनः औकार विधान करना अनर्थक होकर ज्ञापन करता है कि दरिद्रा से आम् नहीं होता। जब आम् नहीं हुआ तब उस पक्षमें (३६६) सूत्र से आर्धधातुक विषय में आकार का लोप होकर ‘ददरिद्रौ’ प्रयोग की सिद्धि के लिये सूत्रकार ने औत्व विधान किया है।

हमारी मति में कैयट आदि का ऐसा लिखना अशुद्ध है, क्योंकि महाभाष्य से भाषा में आम् का अभाव सूचित नहीं होता। वेद में आम् नहीं होता अतः वेद में आम् का अभाव होने पर औत्व विधान सार्थक है। सार्थक होने पर ज्ञापक नहीं हो सकता। इसलिये आख्यातिक का लेख ठीक है।

दरिद्रियात्, दरिद्रियाताम्, दरिद्रियुः; दरिद्र्यात्, दरिद्र्यास्ताम् यहां हलादि कित् आर्धधातुक में लोप (३६६) होता है।

३६७—वा०—अद्यतन्यां वेति वक्तव्यम् ॥६।४।११४॥

लुङ् लकार में दरिद्रा धातु के आकार का लोप विकल्प करके होवे। पूर्व आचार्यों के मत में अद्यतनी संज्ञा लुङ् लकार की है। अदरिद्रीत्, अदरिद्रिष्टाम्, अदरिद्रासीत् (२५१), अदरिद्रिष्यत्।

३६८—का०—न दरिद्रायके लोपो दरिद्राणे च नेष्यते। दिदरिद्रासतीत्येके दिदरिद्रिषतीति वा ॥६।४।११४॥

आर्धधातुक में सामान्य करके जो लोप (३६६) कहा है सो 'दरिद्रायक' यहां कृदन्त ण्वुल् प्रत्यय में तथा 'दरिद्राणम्' यहां ल्युट् प्रत्यय में आकारलोप न होवे, और सन् प्रत्यय के परे विकल्प करके होवे—दिदरिद्रासति, दिदरिद्रिषति ॥ ६४ [चकासृ] दीप्तौ = प्रकाश। चकास्ति, चकास्तः, चकासति, चकासाञ्चकार, (१७०) आम्, चकासाम्बभूव, चकासामास, चकासितासि, चकासिष्यति, चकासिषति, चकासिषाति, चकास्तु, चकास्तु, "चकास्+हि"—यहां प्रथम हि को धि आदेश (३००) होकर धकार के परे सलोप (११३) हो जाता है—चकाधि[1], चकासानि। अचकास्+त् यहां "हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्[2]" से तकार का लोप होकर—

---

1. महाभाष्यकार के मत में 'धि च' (आ० ११३) से सकार मात्र का लोप होकर 'चकाधि' प्रयोग बनता है। जो लोग सिच् के सकार का ही लोप मानते हैं उनके मत में 'चकाद्धि' प्रयोग होता है।

२. ना० ४८।

३६९—तिप्यनस्तेः ॥ ८ । २ । ७३ ॥

अस धातु को छोड़ के अन्य धातु के पदान्त सकार को दकार आदेश होवे तिप् परे हो तो । अचकात्, अचकाद्, अचकास्ताम्, अचकासुः ।

३७०—सिपि धातो रुर्वा ॥ ८ । २ । ७४ ॥

सिप् परे हो तो धातु के पदान्त सकार को विकल्प करके रु हो, पक्ष में दकार हो। अचकाः, अचकात्, चकास्यात्, चकास्यास्ताम्, अचकासीत्, अचकासिष्टाम्, अचकासिष्यत् ॥ ६५ [शासु] अनुशिष्टौ = शिक्षा देना । शास्ति ।

३७१—शास इदङ्हलोः ॥ ६ । ४ । ३४ ॥

शास धातु की उपधा को इकार आदेश होवे अङ् और हलादि किन् ङित्, आर्धधातुक परे हो तो । शिष्टः (२८४) पक्ष, शासति, शास्सि, शिष्ठः, शिष्ठ, शास्मि, शिष्वः, शिष्मः; शशास, शशासतुः, शशासुः, शासितासि, शासिष्यति, शासिषति, शासिषाति, शास्तु, शिष्टात्, शिष्टाम्, शासतु ।

३७२—शा हौ ॥ ६ । ४ । ३४ ॥

शास धातु को शा आदेश होवे हि परे हो तो । शा आदेश अनेकाल् होने से सम्पूर्ण के स्थान में होता है । शा आदेश को असिद्ध (४४) मानकर हि को धि आदेश (३००) हो जाता है । शाधि, शिष्टात्, शिष्टम्, शिष्ट, शासानि, अशात्, (३६९) अशिष्टाम्, अशासुः, अशाः, (३७०), अशात्, शिष्यात्, शिष्यात्ताम्, [शिष्यात्,] शिष्यास्ताम् । लुङ् में (२५६) सूत्र से अङ् होकर इकार (३७१)—अशिषत्, अशिषताम्, अशिषन्, अशासिष्यत् ।

इति विदादय उदात्ताः परस्मैपदिनः, [स्वपिस्त्वनुदात्तः]। ये विद आदि सेट् परस्मैपदी धातु हैं परन्तु स्वप धातु अनिट् है ।

अब आगे पांच धातु वेद विषयक कहते हैं, उनके प्रयोग लोक में नहीं आते। ६६ [दीधीङ्] दीप्तिदेवनयोः = प्रकाश और क्रीड़ा आदि। ६७ [वेवीङ्] वेतिना तुल्ये। 'वी गति-व्याप्ति०'[1] इस लिखित धातु के अर्थों में वेवीङ् धातु भी है। दीधीते, दीध्याते (१५६) यण, दीध्यते, दीधीषे, दीध्याथे, दीधीध्वे, दीध्ये, दीधीवहे, दीधीमहे; वेवीते, वेव्याते; दिदीध्ये, । वेद में निषेध होने के कारण आम् प्रत्यय (१६९) लिट् में नहीं होता। दिदी-ध्याते, दिदीध्यिरे।

३७३—यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः ॥ ७ । ४ । ५३ ॥

दीधी और वेवी धातु के अन्त्य वर्ण का लोप होवे यकारादि और इवर्ण परे हो तो। दिदीधिषे, विवीव्ये, विवीविषे, दिदीधिवहे, विवीविवहे, दीधितासे, (५३) गुणनिषेध, वोवितासे, दीधिष्यते, दीधिषतै, दीधिषातै, दीध्यतै, दीध्यातै, दीधीताम्, दीध्यै, अदीधीत, दीधीत, दीधिषीष्ट, अदीधिष्ट, अदीधिष्यत। उदात्तावात्मनेपदिनौ। ये दोनों धातु सेट् आत्मनेपदी हैं।

अथ त्रयः परस्मैपदिनः। [अब तीन परस्मैपदी कहते हैं।] ६८, ६९ [षस, षस्ति] स्वप्ने = सोना। सस्ति, सस्तः, ससन्ति, सस्सि, ससास, सेसतुः; ससितासि, ससिष्यति, सासिषति, सासिषाति, सस्तु, असत् (३६९), असस्ताम्, अससन्, असः; (३७०), असत्, अससम्, सस्यात्, सस्याताम्, सस्युः, [सस्यात्,] सस्यास्ताम्, असासीत्, अससीत्, असिष्यत्। सस्ति धातु में इदित् होने से नुम्, 'संस्त्+ति' इस अवस्था में संयोगादि सकार का लोप (२१०) होकर हल् से परे तकारलोप

1. भा० पृष्ठ २२२, पंक्ति ४।

(२७२) होता है। सस्ति[1], सस्तः, संस्वन्ति, सन्सि, सस्थः, सस्थ, सस्मि, सस्व, सस्म; ससास, ससस्तिथ, सस्तिताखि, सस्तिष्यति, संस्तिपति, संस्तिपाति, सस्तु, संस्तात्, सस्ताम्, संस्तन्तु, असन्, असस्ताम्, असंस्तन्, असन्, संस्यात्, संस्यावाम्, [संस्यात्,] संस्यास्ताम्, असस्तीत्, असंस्तिष्टाम्, असंस्तिष्यत् ॥ ७० [वश] कान्तौ=इच्छा वा शोभा। वष्टि (२३३) षत्व, उष्टः (२८६) सम्प्रसारण, उशन्ति, वक्षि, उष्ठः उष्ठ, वश्मि, उश्व, उश्मः उवाश (२८२), ऊशतुः, (२८३), ऊशुः। उवशिथ, वशिता, वशिष्यति, वाशिपति, वाशिपाति, वष्टु, उष्टात्, उष्टाम्, उशन्तु, उड्ढि, वशानि, अवट्, औष्टाम्, औशन्, अवशम्, उश्यात्, उश्यावाम्, [उश्यात्,] उश्यास्ताम्, अवाशीत्, अवशीत्, अवशिष्यत्। ये पस आदि तीन धातु परस्मैपदी समाप्त हुए ॥

चर्करीतञ्च इस गणसूत्र से यङ्लुगन्त धातुओं से परस्मैपद[2] और शप् का लुक् होता है। सो यङ्लुगन्त, प्रक्रिया का विषय है ॥

---

१. जहां अनेक हलों का समूह हो वहां दो हलों की संयोग संज्ञा नहीं होती, संयोग संज्ञा न होने से सकार का लोप (२१०) नहीं होता, अतः उस पक्ष में 'सस्ति, संस्तः, सस्त, सस्तात्' आदि प्रयोग बनते।

२. महाभाष्य ७।१।६५ से ज्ञापन होता है कि इस गण सूत्र से केवल अदादित्व धर्म का विधान किया जाता है। अत एव भाष्यकार ने ७।१।६५ में 'शेतिक्ते' पद से नियम किया है कि यङ्लुगन्त से आत्मनेपद हो तो 'शेतिक्ते' में ही हो। यदि इस गणसूत्र से परस्मैपद का भी विधान मानें तो 'शेतिते' पद नियमार्थ नहीं होगा, आत्मनेपद की विधि के लिये होगा।

७१ [ह्नुङ्] अपनयने=दूर करना। ह्नुते ह्नुवाते, ह्नुषे, जुह्नुवे, जुह्नुविषे, जुह्नुविढ्वे, जुह्नुविध्वे, ह्नोतासे ह्नोष्यते, ह्नोषतै, ह्नोषातै, ह्नुताम्, ह्नवै, अह्नुत, ह्नुवीत, ह्नोषीष्ट, अह्नोष्ट, अह्नोष्यत। अनुदात्त आत्मनेपदी। यह धातु अनिट् आत्मनेपदी है।

॥ इति लुग्विकरणा अदादयः समाप्ताः ॥

॥ यह लुग् विकरणवाला अदादिगण समाप्त हुआ ॥

अथ जुहोत्यादिगणः

[हु] दानादनयो , आदाने चेत्येके = देना, खाना और ग्रहण करना । यहां दान अर्थ से अग्नि में हवन करना भी लिया जाता है और इस धातु को भाष्यकार ने तृप्ति अर्थ में माना है[1] ॥

३७४—जुहोत्यादिभ्यः श्लुः ॥ २ । ४ । ७५ ॥

हु आदि धातुओं से शप् के स्थान में श्लु होवे । श्लु संज्ञा भी प्रत्यय के अदर्शन की ही होती है, इस कारण शप् का लोप हो जाता है । हु + तिप् , यहां—

३७५—श्लौ ॥ ६ । १ । १० ॥

अनभ्यास धातु के प्रथम एकाच् अवयव और आजादि धातु के द्वितीय एकाच् अवयव को द्वित्व हो श्लु परे हो तो । जुहोति, जुहुतः, । अभ्यस्त होने से प्रत्ययादि झ को अत् (३६१) और यण (२६१) होकर + जुह्वति, जुहोषि, जुहुथः, जुहुथ, जुहोमि, जुहुवः, जुहुमः ।

३७६—बहुलं छन्दसि ॥ २ । ४ । ७६ ॥

वेद विषय में शप् के स्थान में श्लु आदेश बहुल करके होवे । प्रयोजन यह है कि [जब श्लु न हो तब] 'हवति, भरति' आदि भी प्रयोग हो जावें ।

३७७—भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च ॥ ३ । १ ३९ ॥

भी, ह्री, भृ और हु धातुओं से आम् प्रत्यय विकल्प करके होवे लोक विषय में, लिट् लकार परे हो तो और आम् के परे श्लुवत् कार्य द्विर्वचन भी होवे । जुहवाञ्चकार, जुहवाञ्चक्रतुः, जुहवाम्ब-

---

१. जुहोतिरयमास्त्येव प्रक्षेपणे वर्तते, अस्ति प्रीणात्यर्थे वर्तते । तद्यथा यवागवाऽग्निहोत्र जुहोति, अग्निं प्रीणाति । महाभाष्य २ । ३ । ३ ॥

भूव, जुह्वामास, होतासि, होष्यति, हौपति, हौपाति, जुह्वति, जुह्वाति, हवति, हवाति, जुहोतु जुहुतात्, जुह्वतु, जुहुधि (३००) हि को धि, जुह्वानि, अजुहोत्, अजुहुताम्, अजुहवुः (१३७) जुस् होकर गुण (२६३), जुहुयात्, जुहुयाताम्, जुहुयु:, हूयात्, (१६०) दीर्घ, अहौषीत् (१४८) वृद्धि, अहौष्टाम्, अहौषुः, अहोष्यत्॥ २ [ञिभी] भये = डरना। ञि की इत् सञ्ज्ञा (१५०)—बिभेति।

३७८--भियोऽन्यतरस्याम् ॥ ६ । ४ । ११५ ॥

भी धातु को इकार आदेश विकल्प करके होवे हलादि किन् ङित् सार्वधातुक परे हो तो। दीर्घ ईकार को एक पक्ष में ह्रस्व हो जाता है। बिभितः बिभीतः, बिभ्यति (३६१), बिभेषि, बिभिथः, बिभीथ; बिभयाञ्चकार, बिभयामास, बिभयाम्बभूव; पक्ष में—बिभाय, बिभ्यतुः, बिभ्युः, बिभेथ, बिभयिथ; भेतासि, भेष्यति, भैषति, भैषाति, बिभयति, बिभयाति, भयति, भयाति, बिभेतु, बिभितात्, बिभीतात्, बिभिताम्, बिभीताम्, बिभ्यतु, अबिभेत्, अबिभिताम्, अबिभीताम्, अबिभयुः, बिभियात्, बिभियाताम्, बिभीयाताम्, भीयात्, अभैषीत्, अभेष्यत्॥ ३ [ह्री] लज्जायाम् = लज्जा। जिह्रेति, जिह्रीतः, जिह्रियति, जिह्रयाञ्चकार, जिह्रयाम्बभूव, जिह्रयामास, जिह्राय, जिह्रियतुः, जिह्रेथ, जिह्रयिथ, ह्रेतासि, ह्रेष्यति, ह्रैषति, ह्रैषाति, जिह्रेतु, जिह्रीतात्, [जिह्रीताम्,] जिह्रियतु, जिह्रीहि; अजिह्रेत्, जिह्रीयात्, ह्रीयात्, अह्रैषीत्, अह्रेष्यत्॥ जुहोत्यादयोऽनुदात्ताः परस्मैपदिन। हु आदि धातु अनिट् परस्मैपदी हैं।

४ [पृ] पालनपूरणयोः = पालन और समाप्ति, उदात्त परस्मैभाषः। यह धातु सेट् परस्मैपदी है। श्लु के परे द्वित्व (३७५) होकर—

३७६—अर्तिपिपर्त्योश्च ॥ ७ । ४ । ७७ ॥

ऋ और पृ धातु के अभ्यास को इकार आदेश होवे श्लु परे हो तो । पिपर्ति । यहां अभ्यास के ऋकार को उकार आदेश (३८०) प्राप्त है उसका बाधक गुण (२१) होता है ।

३८०—उदोष्ठ्यपूर्वस्य ॥ ७ । १ । १०२ ॥

ओष्ठस्थानी वर्ण जिस के पूर्व हो ऐसा जो ऋकार तदन्त अङ्ग को उकार आदेश होवे । ऋ के स्थान में रपर उकार होकर—पिपुर्व (१९७) दीर्घ, पिपुरति, पिपर्षि, पिपूर्थ, पिपूर्थ, पिपर्मि, पिपूर्व, पिपूर्म, पपार । कित् लिट् अतुस् आदि में गुण (२५८) प्राप्त है उसका बाधक—

३८१—शृदॄप्रां ह्रस्वो वा ॥ ७ । ४ । १२ ॥

शॄ, दॄ और पॄ धातुओं को विकल्प करके ह्रस्व होवे कित् लिट् परे हो तो । पक्ष में गुण (२५८) होता है, ह्रस्व पक्ष में गुण नहीं । पप्रतु, यण, पप्रु, यण, पपरतु, पपरु, पपरिथ, पप्रथु, [पपरथु] पप्र, पपर, पपार, पपर, पप्रिव, पपरिव, पप्रिम, पपरिम, परीतासि, परितासि (२६४) इट् को दीर्घ विकल्प । परीष्यति, परिष्यति, पारापति, पारापाति, पारिपति, पारिपाति, परीपति, परीपाति, परिपति, परिपाति, पिपरति, पिपराति, पिपर्तु, पिपूर्तात्, पिपूर्ताम्, पिपुरतु, पिपूर्धि, पिपराणि, पिपराव, पिपराम, अपिप, अपिपूर्ताम्, अपिपरु, यहां अभ्यस्त संज्ञा होने से जुस् (१३७) होकर गुण (३६३) होता है । अपिप, अपिपूर्तम्, अपिपूर्त अपिपरम्, अपिपूर्व, अपिपूर्म, पिपूर्यात्, पिपूर्यास्ताम्, पूर्यात्, पूर्यास्ताम्, यहां भी (३८०) सूत्र होकर दीर्घ (१९७) होता है । अपारीत्, अपारिष्टाम्, अपरीष्यत्, अपरिष्यत् । ह्रस्वान्ताऽयमित्येके । किन्हीं लोगों के मत में यह पृ धातु ह्रस्व ऋकारान्त है । पिपर्ति,

पिपूतः, यहां दीर्घ ऋकार के न होने से उत्व नहीं होता। पिप्रति, पपार, पप्रतुः, पप्रुः, [पपरतुः,] पपरुः, पर्त्ता। ह्रस्वान्त पक्ष में अनिट् है। परिष्यति (२३८) इट्, पिपूयात्, प्रियात् (२३९), प्रियास्ताम्, अपार्पीत्, अपार्ष्टाम्, अपरिष्यत्॥ ५ [डुभृञ्] धारणपोषणयोः। डु की इत् संज्ञा (१५०)—

३८२—भृञामित्॥ ७। ४। ७६॥

भृञ्, माङ् और ओहाङ् इन तीनों धातुओं के अभ्यास को इकार आदेश होवे श्लु परे हो तो। बिभर्ति, बिभृतः, बिभ्रति, बिभृते, बिभ्राते, बिभ्रते, बिभृष्वे, बिभराञ्चकार (३७७) आम् प्रत्यय और आम् के परे श्लुवत् होने से द्वित्व होता है। पक्ष में—बभार, बभ्रतुः, बभर्थ (१४८) इट् का निषेध, बभृव, बभृम, [बिभराञ्चक्रे, बिभराम्बभूव, बिभरामास, बभ्रे, बभ्राते, बभ्रिरे,] भर्तासि, भरिष्यति, [भरिष्यत,] भार्पति, भार्षाति, बिभरति, बिभराति, [भार्पते, भार्षाते, बिभ्रते, बिभ्राते,] बिभर्तु, बिभृहि, बिभराणि, [बिभृताम्,] अबिभः, अबिभृताम्, अबिभरुः [अबिभृत, अबिभ्राताम्,] बिभृयात्, बिभृयाताम्, [बिभ्रीत, बिभ्रीयाताम्] भ्रियात्, भ्रियास्ताम्, भृषीष्ट (२४०), अभार्षीत्, अभृत, अभरिष्यत्, अभरिष्यत।

६ [माङ्] माने शब्दे च = तोल और शब्द।

३८३—ई हल्यघोः॥ ६। ४। ११३॥

घुसंज्ञक धातुओं को छोड़ कर श्ना और अभ्यस्त संज्ञक धातुओं के आकार को ईकारादेश होवे हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे हो तो। मिमीते, मिमाते, मिमते। यहां अजादि सार्वधातुक में आकारलोप हो जाता है और अभ्यास को इकारादेश (३८२) होता है। मिमीषे, मिमाथे, ममे, ममाते, ममिरे, मातासे, मास्यते,

मासते, मासाते, मिमीताम्, मिमाताम्, मिमताम्, मिमै, अमिमीत, मिमीत, मिमीयाताम्, मासीष्ट, अमास्त, अमास्यत॥ ७ [ओहाङ्] गतौ। माङ् के समान इसके भी प्रयोग होते हैं। जिहीते, जिहाते, जिहते, जहे, जहाते, जहिरे, हातासे, हास्यते, हासतै, हासातै, जिहीताम्, अजिहीत, जिहीत, हासीष्ट, अहास्त, अहास्यत॥ अनुदात्तावात्मनेपदिनौ। ये दोनों धातु अनिट् आत्मनेपदी हैं॥ ८ [ओहाक्] त्यागे। यह परस्मैपदी है। (३८२) सूत्र यहां नहीं लगता क्योंकि यहां से पूर्व ही भृञ् आदि तीन धातु पूरे हो गये। जहाति।

३८४—जहातेश्च ॥ ६। ४। ११६॥

हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे हो तो जहाति धातु के आकार को इकार आदेश विकल्प करके होवे। और पक्ष में ईकार (३८३) होता है। यह सूत्र (३८३) सूत्र का अपवाद है। जहितः, जहीतः, जहति; जहासि, जहिथः, जहीथः, जहिथ, जहीथ, जहामि, जहिवः, जहीवः, जहिमः, जहीमः; जहौ, जहतुः, जहिथ, जहाथ; हातासि, हास्यति, हासति, हासाति, जहाति; जहातु, जहिताम्, जहीताम्, जहिताम्, जहीताम्, जहतु।

३८५—आ च हौ ॥ ६। ४। ११७॥

जहाति धातु को आकारादेश हो हि परे हो तो और चकार[1]

---

१. चकार से 'इत्' और 'अन्यतरस्याम्' इन दो पदों का अनुकर्षण होता है। पक्ष में (३८३) सूत्र से ईकार होता है, यह भाव उपर्युक्त वाक्य का है। बालमनोरमाकार ने चकार से 'ईत्' और 'इत्' का अनुकर्षण माना है, वह अयुक्त है क्योंकि 'ईत्' विधायक सूत्र में तीन सूत्रों का व्यवधान है। अनुकर्षण मानने पर मध्य के सूत्रों में भी 'ईत्' का संबंध मानना होगा जो कि अनिष्ट है।

से इत् और इत् भी होवे । जहाहि, जहिहि, जहीहि, जहानि, अजहात्, अजहिताम्, अजहीताम्, अजहुः ।

३८६–लोपो यि ॥ ६ । ४ । ११८ ॥

यकारादि कित् ङित् सार्वधातुक परे हो तो जहाति धातु के आकार का लोप होवे । जह्यात्, जह्याताम्, जह्युः; हेयात् (२४७), हेयास्ताम्, अहासीत् (२५१), अहासिष्टाम्, अहास्यत् ॥ ९ [डुदाञ्] दाने = देना । ददाति, दत्तः, यहां (३८३) सूत्र में घुसंज्ञक धातुओं को ईकारादेश का निषेध होने से आकारलोप (३६५) होता है । ददति, ददासि, दत्थः, दत्थ, ददामि, दद्वः, दद्मः; दत्ते, ददाते, ददते, दद्ध्वे, दद्वे; ददौ, ददतुः, ददे, ददाते, दातासि, दातासे, दास्यति, दास्यते, दासति, दासाति, दासतै, दासातै ।

३८७–घोर्लोपो लेटि वा ॥ ७ । ३ । ७० ॥

घुसंज्ञक धातुओं के आकार का लोप विकल्प करके होवे लेट् लकार परे हो तो । ददति, ददाति, ददत्, ददात्, यहां आट् के आगम पक्ष में लोप होने पर भी "ददाति" होता है जो लोप न कहते तो अट् आट् दोनों पक्ष में "ददाति" प्रयोग बनता और विकल्प कहने से यह प्रयोजन है कि किसी को ऐसी शंका न हो कि ददाति प्रयोग नित्य प्राप्त है उस का लोप कहने से बाधक होगा । ददातु, दत्तात्, दत्ताम्, ददतु, देहि (३५४) एत्वाभ्यासलोप, ददानि, [अददात्] अदत्ताम्, अददुः, दद्यात्, दद्याताम्, दद्युः; देयात् घुसंज्ञा (२४६) होने से एत्व (२४७), देयास्ताम्, अदात् (८९) सिच्लुक्, अदाताम्, अदुः, दत्ताम् ददाताम्, ददताम्, दत्स्व, ददै, अदत्त, ददीत, दासीष्ट, अदित (२६३) इत्व और कित्व, अदिषाताम्, अदिषत, अदास्यत्, अदास्यत ॥ १० [डुधाञ्

धारणपोषणयोः[1]। इस के प्रयोग डुदाञ् के तुल्य जानो। दधाति।

३८८—दधस्तथोश्च ॥ ८। २। ३८॥

द्वित्व किये झषन्त धा धातु के बश को भष् आदेश होवे त, थ, स् और ध्व परे हों तो। यहां अनभ्यास के आकार का लोप (३६५) किये पश्चात् अभ्यास के दकार को धकार हो जाता है। धत्तः, दधति, दधासि, धत्थः, धत्थ, दधामि, दध्वः, दध्मः; धत्ते, दधाते, दधते, धत्से, धद्ध्वे; दधौ, दधतुः, धातासि, धातासे, धास्यति, धास्यते, धासतै, धासातै, धासति, धासाति, दधति (३८७) दधाति, दधत्, दधात्, दधातु, धत्तात्, धत्ताम्, दधतु, धेहि (२५४) दधानि, धत्ताम्, दधाताम्, धत्स्व, धद्ध्वम्; अदधात्, अधत्ताम्, अदधुः, अधत्त, अदधाताम्, अदधत, अधत्थाः, अधद्ध्वम्, दध्यात्, दधीत, धेयात् (२४७), अधात्, अधाताम्, अधुः (८९), अधित (२६३), अधिषाताम्, अधिषत, अधास्यत्, अधास्यत। अनुदात्तावुभयतोभाषौ। ये दोनों धातु अनिट् उभयपदी हैं।

अथ त्रयः स्वरितेतः। अब तीन धातु स्वरितेत् (उभयपदी) कहते हैं॥ ११ [णिजिर्] शौचपोषणयोः = शुद्धि और पुष्टि।

३८९—निजां त्रयाणां गुणः श्लौ ॥ ७। ४। ७५॥

निज आदि (निज्, विज्, विष्) तीन धातुओं के अभ्यास को गुण होवे श्लु परे हो तो। नेनेक्ति। यहां विप् के आश्रय से अनभ्यास को भी गुण होता है। नेनिक्तः, नेनिजति, नेनेक्षि,

---

1. प्राचीन आचार्य 'डुधाञ् दानधारणयोः' पढ़ते हैं। दशपादी उणादिवृत्ति में सर्वत्र 'दानधारणयोः' पाठ है, निरुक्तकार यास्कमुनि- 'रत्नधातमम्' का अर्थ 'रमणीयानां दातृतमम्' (निरुक्त ७। १५) किया है।

नेनिक्थः, नेनिक्थ, नेनेज्मि, नेनिज्व, नेनिज्म, नेनिक्ते, नेनिजाते, नेनिजत; निनेज, निनिजतुः, निनिजे, निनिजाते, नेक्तासि, नक्तासे, नेक्ष्यति, नेक्ष्यते, नेक्ति, नेजाति, नेक्ते, नेजातै।

३६०–नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके ॥७।३।८७॥

अभ्यस्तसंज्ञक लघूपध धातु को गुण न होवे अजादि पित् सार्वधातुक परे हो तो। यह सूत्र (५२) सूत्र का अपवाद है अर्थात् लघूपध गुण का निषेधक है। नेनिजति, नेनिजाति, नेनिजत्, नेनिजात्, नेनिजतै, नेनिजातै, नेनेक्तु, नेनिग्धि, नेनिजानि, नेनिक्ताम्, नेनिजाताम्, नेनिजै, नेनिजावहै, अनेनेक्, अनेनिक्ताम्, अनेनिजुः, अनेनेक्, अनेनिजम् (३९०), अनेनिक्त, अनेनिजाताम्, अनेनिजत, नेनिज्यात्, नेनिजीत, निज्यात्, निज्यास्ताम्, निक्षीष्ट (१६३), अनिजत् (१३८), अनैक्षीत्, अनैक्ताम्, अनिक्त, अनिक्षाताम्, अनेक्ष्यत्, अनेक्ष्यत॥ १२ [विजिर्] पृथग्भावे = अलग होना। णिजिर् धातु के समान सिद्धि। वेवेक्ति, वेविक्त, वेविक्ते, वेविजात, विवेज, विविजतुः, विवेजिथ, विविजे, वेक्तासि, वेक्तासे, वेविजति, वेविजाति, वेविजतै, वेविजातै, वेवेक्तु, वेविग्धि, वेविजानि, वेविक्ताम्, वेविजै, अवेवेक्, अवेविक्ताम्, अवेविजुः, अवेविजम्, वेविज्यात्, वेविजीत, विज्यात्, विक्षीष्ट (१६३), अविजत्, अवैक्षीत्, अविक्त, अवेक्ष्यत्, अवेक्ष्यत॥ १३ [विष्लृ] व्याप्तौ = व्यापक होना। पूर्ववत्। वेवेष्टि, वेविष्टः, वेविषति, वेवेक्षि, वेविष्ट, वेविषाते, वेविषते, विवेष, विविषे, वेष्टासि, वेष्टासे, वेक्ष्यति, वेक्ष्यते, वेक्षति, वेक्षाति, वेक्षतै, वेक्षातै, वेविषति, वेविषाति (३९०) गुणनिषेध, वेवेष्टु, वेविष्टात्, वेविष्टाम्, वेविषतु, वेविड्ढि, वेविषाणि, वेविष्टाम्, वेविषाताम्, वेविषताम्, वेविड्ढ्वम्, अवेवेट्, अवेविष्टाम्, अवेविषुः, अवेवि-

पर्म्, अवेविट्, अवेविषाताम्, अवेविषत, वेविष्यात्, वेविषीत, विष्यात्, विष्यास्ताम्, विक्षीष्ट (१६३), विक्षीयास्ताम्, अविषत् (२१७), अविक्षत (२०७), अविक्षाताम् (२०८), अविक्षन्त, अवेक्ष्यत्, अवेक्ष्यत। ये णिज् आदि अनिट् उभयपदी तीन धातु समाप्त हुए॥

अथाऽऽगणान्तात् परस्मैपदिनश्छान्दसास्त्वैकादश। अब इस गण के अन्त तक परस्मैपदी वेदविषयक ११ (ग्यारह) धातु कहते हैं॥

१४ [घृ] क्षरणदीप्त्योः = अच्छे प्रकार चलना और प्रकाश।

३६१—बहुलं छन्दसि ॥ ७। ४। ७८॥

वेदविषय में श्लु परे हों तो अभ्यास को इकारादेश बहुल करके होवे। जिघर्त्ति[1], जघर्त्ति, जिघृतः, जघृतः, जिघ्रति, जिघर्मि, जघार, जघ्रतुः, घर्तासि, घरिष्यति (२३८)। यह नियम नहीं है कि केवल वैदिक प्रयोगों में लोक वेद के सामान्य सूत्र न लगें किन्तु केवल एक विषय के सामान्य विषय में नहीं लगते। घापेति, घार्पोति, जिघ्रति, जिघ्राति, जघ्रति, जघ्राति, जिघर्त्तु, जघर्त्तु, अजिघः, अजघः, अजिघृतः, जिघृयात्, घ्रियात् (२३९), अघार्षीत्, अघरिष्यत्॥ १५ [हृ] प्रसह्यकरणे = हठ करना।

३६२—वा०—हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य भत्वम्॥ ८। २। ३२॥

हृ और ग्रह धातु के हकार को भकारादेश होवे वेद विषय में। जिभर्ति[2], जभर्ति, जभार, जहार, भर्ता, भरिष्यति, भार्पेति, भार्पाति, जिभर्त्तु, जभर्त्तु, जभ्रतु, जभृहि, अजभः, अजभृताम्, अजभ्रुः,

१. जिघर्म्यग्निं हविषा घृतेन। ऋ० २। १०। ४॥

२. जब भकार नहीं होता तब 'जिहर्ति' आदि प्रयोग भी होते हैं। यथा—मयं स्रुवोऽभिजिहर्त्ति। आपस्तम्ब श्रौत ४। ७। २॥

जभृयात्, भ्रियात्, अभार्षीत्, अभरिष्यत् । सर्वत्र वैदिक प्रयोगों में यह बात समझ लेनी चाहिये कि वेद में जिस प्रकार का प्रयोग जिस धातु का आजाता है उसके अनुकूल सूत्र वार्तिकों से सिद्धि समझ ली जाती है सूत्रों वा वार्त्तिकों के अनुकूल सब वैदिक प्रयोग नहीं लिखने चाहियें, इसलिये यहां इन धातुओं के प्रयोग सूक्ष्म ही लिखते हैं ॥ १६, १७ [ऋ, सृ] गतौ । ऋ धातु का द्वित्व होने पश्चात् अभ्यास के ऋकार को अकार (१०८) होकर (३९१) सूत्र से अभ्यास को इकार हो जाता फिर (३७९) सूत्र में अर्त्ति ग्रहण सामर्थ्य से यह धातु लोक में भी समझा जाता है । सो इकारादेश भी नित्य होता है । फिर इ+ऋ+तिप्=इयर्त्ति (१५३), अभ्यास को इयङ् और अनभ्यास को गुण हो जाता है । इयृतः, इय्रति, आर, आरतुः, आरिथ (२५९), अर्तासि, अरिष्यति, आर्पति, आर्पाति, इयरति, इयराति, इयर्तु, इयृतात्, इयृताम्, इय्रतु, इयृहि, इयराणि, इयराव, इयराम; ऐयः, ऐयृताम्, ऐयरु, ऐयः, ऐयृतम्, ऐयृत, ऐयरम्, ऐयृव, ऐयृम, इयृयात्, अर्यात् (२५४), आरत्, आरताम् (२५६, २५७), आरिष्यत्; ससर्त्ति, सिसर्त्ति, इत्यादि । घावयश्चत्वारो ऽनुदात्ताः । ये घृ आदि चार धातु अनिट् हैं ॥ १८ [भस] भर्त्सनदीप्त्योः[1] =धमकाना और प्रकाश । बिभस्ति, बभस्ति[2] ।

१. यहां 'भर्त्सन' अर्थ अशुद्ध है । 'भर्त्सन' के स्थान में 'भक्षण' पाठ होना चाहिये । ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदभाष्य १ । २८ । ७ में लिखा है—"भसधातोः भर्त्सन इत्यर्थो नवीनः, भक्षण इति तु प्राचीनोऽर्थः ।" सायण (ऋग्भाष्य १ । २८ । ७) तथा दशपादी उणादिवृत्तिकार (८ । ८४) दोनों "भस भक्षणदीप्त्योः" पढ़ते हैं । निरुक्तकार ने भी "बप्सतः" का अर्थ "भुञ्जाने" किया है । देखो निरुक्त ९ । [illegible] ॥

२. कपिर्बभस्ति तेजनम् । अथर्व ६ । ४९ । १ ॥

३६३—घसिभसोर्हलि च ॥ ६ । ४ । १०० ॥

घस और भस धातु के उपधा अकार का लोप होवे हलादि और अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे हों तो वेद विषय में । ब+भस्+तस्=बब्धः[1] (१४२), बप्सति, बभास, बभस्तु, बबधाम्, बभसानि, अबभः, अबब्धाम्, अबभसुः, बप्स्यात्, बप्स्याताम्, भस्यात्, भस्यास्ताम्, अभासीत्, अभसीत्, अभसिष्यत् ॥ १९ [कि] ज्ञाने । चिकेति, चिकितः, चिकयति, चिकयाति; चिकेतु, चिकिहि, चिकयानि, अचिकेत्, अचिकयुः, चिकियात्, कीयात्, अकैषीत् । यह धातु अनिट् है ॥ २० [तुर] त्वरणे=शीघ्रता । तुतोर्ति, तुतूर्तः, तुतुरति, तुतुराति, (३९०), तुतोर्तु, तुतुराणि, अतुतोः, अतुतुरुः, तुतुर्यात्, तूर्यात्, अतोरीत् ॥ २१ [धिष] शब्दे । दिधेष्टि, दिधिष्टः, दिधिषति, अदिधेट् ॥ २२ [धन] धान्ये । दधन्ति, दधन्ति, दधनति, दधान, दधनतुः, धनिताऽसि, धनिष्यति, दधनति, दधनाति, धानिषति, धानिषाति, दिधन्तु, दिधनानि, अदिधन्, अदिधनुः, दधन्यात्, धन्यात्, अधानीत्, अधनीत्, अधनिष्यत् ॥ २३ [जन] जनने । जजन्ति ।

३६४—जनसनखनां सञ्झलोः ॥

६ । ४ ।४२ ॥

जन, सन और खन धातुओं के अन्त को आकारादेश होवे झलादि सन् और झलादि क्ङित् परे हों तो । जजातः, जज्ञति (२१४), पश्चात् न् को ञ् श्चुत्व होता है । जजंसि,

1. घसिभसोर्हलि च (अ० १११) से भ होता है । जिस पक्ष में "झलो झलि" (अ० १४२) से सिच् के सकार का ही लोप होता है उस पक्ष में "बब्ध" इत्यादि में सकार लोप समझना चाहिये ॥

जजाथ', जजन्मि, जजान, जज्ञतु (२१४), जानिषति, जानिष्यति, जजनति, जजनाति, जजन्तु, जजातात्, जजाहि।

३९५—वा छन्दसि ॥ ३ । ४ । ८८ ॥

वेद विषय में सिप् के स्थान में हि आदेश विकल्प करके पित् होवे। जिस पक्ष में पित् होता है वहां "जजन्हि" आकार नहीं होता। जजनानि, अजजत्, अजजाताम्, अजज्ञुः, अजजनम्, जजायात्, जजन्यात् (१८५), अजानीत्, अजनीत् ॥ ये तुद आदि धातु सेट् परस्मैपदी हैं ॥ २४ [गा] स्तुतौ=प्रशंसा। जिगाति', जिगीत, जिगति (३६५) जगौ, गातासि, गास्यति, गासति, गासाति, जिगातु, जिगीहि, जिगाहि, अजिगात्, अजिगीताम्, अजिगुः, जिगीयाम्, गायात्, अगासीत्, अगास्यत्। यह धातु अनिट् परस्मैपदी है ॥

॥ इति श्लुविकरणो जुहोत्यादिगण समाप्त ॥

---

१. देयान् जिगाति सुम्नयु। ऋ० ३। २०। १॥

अथ दिवादिगणः

[अथ दिवादयः षड्विंशतिः परस्मैपदिनः । अब दिवादि] भृष् धातु पर्यन्त २६ (छब्बीस) सेट् परस्मैपदी धातु कहते हैं ॥ १ [दिवु] क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु = खेलना, जीतने की इच्छा, लेना, देना, प्रकाश, प्रशंसा, आनन्द, अहंकार, निद्रा, शोभा और गति अर्थात् ज्ञान गमन प्राप्ति ।

३६६ दिवादिभ्यः श्यन् ॥ ३ । १ । ६६ ॥

दिव आदि धातुओं से शप् (१९) का बाधक श्यन् प्रत्यय होवे कर्त्ता में सार्वधातुक परे हों तो । दीव्यति (१९७) दीर्घ, दीव्यतः, दीव्यन्ति, दिदेव, दिदिवतुः, दिदेविथ, देवितासि, देविष्यति, देवितासि, देविष्यति, दीव्यति, दीव्यावि, दीव्यतु, अदीव्यत्, दीव्येत्, दीव्यात्, अदेवीत्, अदेविष्यत् ॥ २ [षिवु] तन्तुसन्ताने = सीना । सीव्यति, सिषेव, असेवीत् ॥ ३ [स्रिवु] गतिशोषणयोः = गति और सूखना । स्रीव्यति ॥ ४ [ष्ठिवु] निरसने = थूकना । ष्ठीव्यति (१५२), सत्व निषेध, टिष्ठेव, टिष्ठेव[1], टिष्ठिवतु ॥ ५ [ष्णुसु] अदन, आदान इत्येके, अदर्शन इत्यपरे । स्नुस्यति, सुष्णोस ॥ ६ [ष्णसु] निरसने । स्नस्यति, सस्नास, सस्नसतुः ॥ ७ [क्नसु] ह्वरणदीप्त्योः = कुटिलता और प्रकाश । क्नस्यति, चक्नास ॥ ८ [व्युष] दाहे = जलना । व्युष्यति, वुव्योष ॥ ९ [प्लुष] च । प्लुष्यति, पुप्लोष ॥ १० [नृती] गात्रविक्षेपे = नाचना । नृत्यति, ननर्त, ननृततुः, ननृतुः, ननर्तिथ, नर्तितासि ।

---

1. देखो ' ष्ठिवु निरसने ' धातु, भ्वादि० ५०१, पृष्ठ १०० ।

२६७—सेऽसिचि कृतचृतछृदतृदनृतः ॥७।२।५७॥

कृत, चृत, छृद, तृद और नृत धातुओं से परे जो सिच् भिन्न सकारादि आर्धधातुक उसको विकल्प करके इट् का आगम होवे। नर्तिष्यति, नर्त्स्यति, नर्तिषति, नर्तिषाति, नर्त्सति, नर्त्साति, नृत्यति, नृत्याति, नृत्यतु, नृत्य, नृत्यानि, अनृत्यत्, नृत्येत्, नृत्यात्, अनर्तीत्, अनर्तिष्यत्, अनर्त्स्यत् ॥ ११ [त्रसी] उद्वेगे = भय होना। (१८८) सूत्र से श्यन् विकल्प, पक्ष में शप्। त्रस्यति, त्रसति, तत्रास, विकल्प से एत्वाभ्यास लोप (२२९) होकर—त्रेसतुः, तत्रसतुः, त्रेसुः, तत्रसुः, त्रसितासि, त्रसिष्यति, त्रासिषति, त्रासिषाति, त्रस्यति, त्रस्याति, त्रसति, त्रसाति, त्रस्यतु, त्रसतु, अत्रस्यत्, अत्रसत्, त्रस्येत्, त्रसेत्, त्रस्यात्, अत्रासीत्, अत्रसीत्, अत्रसिष्यत् ॥ १२ [कुथ] पूतीभावे = दुर्गन्ध। कुथ्यति, चुकोथ ॥ १३ [पुथ] हिंसायाम्। पुथ्यति, पुपोथ ॥ १४ [गुध] परिवेष्टने = लपटेना। गुध्यति, जुगोध, जुगुधतुः, गोधितासि, गोधिष्यति, गोधिषति, गोधिषाति, गुध्यतु, अगुध्यत्, गुध्येत्, गुध्यात्, अगोधीत्, अगोधिष्यत् ॥ १५ [क्षिप] प्रेरणे = फेंकना। यह धातु अनिट् है। क्षिप्यति, चिक्षेप, चिक्षेपिथ, चिक्षेप्थ, क्षेप्तासि, क्षेप्स्यति, क्षेप्सति, क्षेप्साति, क्षिप्यतु, अक्षिप्यत्, क्षिप्येत्, क्षिप्यात्, अक्षेप्सीत्, अक्षैप्ताम्, अक्षैप्सुः, अक्षेप्स्यत् ॥ १६ [पुष्प] विकसने = विकाश होना। पुष्प्यति, पुपुष्प ॥ १७—२० [तिम, तीम, ष्टिम, ष्टीम] आर्द्राभावे = गीला होना। तिम्यति, तीम्यति, स्तिम्यति, स्तीम्यति, तितेम, तितिमतुः, तितीम, तिस्तेम, तिस्तीम ॥ २१ [व्रीड] चोदने लज्जायां च = प्रेरणा और लज्जा। व्रीड्यति, विव्रीड ॥ २२ [इष] गतौ। इष्यति, इयेष (१५३) इयक्, ईषतुः, ईषुः, इयेषिथ, एषितासि, एषिष्यति, एषिषति, एषिषाति, इष्यति,

इष्याति, इष्यतु, ऐष्यत्, इष्येत्, इष्यात्, ऐषीत्, ऐषिष्यत्॥ २३, २४ [षह षुह] चक्यर्थे = तृप्त होना वा मारना। सह्यति, सुह्यति, ससाह, सेहतुः, सेहुः, सेहिथ, सुषोह, सहिता, सोढा (२१२, २३०), सहिष्यति, साहिषति, साहिषाति, सह्यति, सह्याति, सह्यतु, असह्यत्, सह्येत्, सह्यात्, असहीत् (१६२) वृद्धि का निषेध, असहिष्यत्॥ २५, २६ [जृष् झृष्] वयोहानौ = अवस्था की हानि। इन दोनों धातुओं के अन्त्य षकार की इत्संज्ञा होती है। जीर्यति (२६५, १९७) जजार, जृ + अतुस् = जेरतुः (२२९) एत्वाभ्यासलोप का विकल्प, और जजरतुः (२५८) अप्राप्त गुण, जेरुः, जजरुः, जेरिथ, जजरिथ, जेरथुः, जजरथुः, जरीतासि, जरितासि (२६४), जरीष्यति, जरिष्यति, जारीषति, जारीषाति, जारिषति, जारिषाति, जरीषति, जरीषाति, जरिषति, जरिषाति, जीर्यति, जीर्याति, जीर्यतु, अजीर्यत्, जीर्येत्, जीर्यात्। लुङ् में विकल्प से अङ् (१५४) और ऋवर्णान्त को अङ् के परे गुण (१५७) होकर—अजरत्, अजरताम्, अजरन्। अङ् के निषेधपक्ष में—अजारीत्, अजारिष्टाम् (२६६), अजरीष्यत्, अजरिष्यत्; झीर्यति, जझार, जझरतुः, अझारीत्, अझारिष्टाम्॥ दिवादय उदात्ता उदात्तेतः क्षिपिवर्जं परस्मैपदिनः। ये दिव आदि धातु क्षिप को छोड़ के सेट् परस्मैपदी हैं।

२७ [षूङ्] प्राणिप्रसवे = प्राणियों की उत्पत्ति। सूयते, सूयेते, सूयन्ते, सुषुवे। वलादि लिट् में विकल्प से इट् (१४०) प्राप्त है उसका बाधक = निषेधक "श्र्युकः क्किति"[1] है उसका भी अपवाद नियामक (१४८) होने से नित्य इट् होता है। सुषुविषे, सुषुविवहे, सुषुविमहे, सोतासे, सवितासे, (१४०), सविष्यते, सोष्यते, सावि-

1. अष्टा० ७। २। ११॥

षतै, साविपातै, सौपतै. सौपातै, सूयतै, सूयातै, सूयताम्, असूयत, सूयेत, सविषीष्ट, सोषीष्ट, असविष्ट, असोष्ट, असविष्यत, असोष्यत ॥ २८ [दूङ्] परितापे = दुःख होना। दूयते, दुदुवे, दविताखे। आत्मनेभाषावुदात्तौ। ये दोनों धातु सेट् आत्मनेपदी हैं॥ २९ [दीङ्] क्षये = नाश होना वा वसना। दीयते।

३६८–दीङो युडचि क्ङिति ॥ ६ । ४ । ६३ ॥

दीङ् धातु से परे जो अजादि कित् ङित् आर्धधातुक उस को युट् का आगम होवे। दिदीये, (४५) वार्तिक से युट् के आगम को सिद्ध मान कर यण् (१५६) नहीं होता। दिदीयिषे, दिदीयिढ्वे, दिदीयिध्वे, दिदीयिवहे।

३६९–मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च ॥६।१।५०॥

एच् का निमित्त अशित् वा ल्यप् का विषय[1] हो तो मीनाति, मिनोति और दीङ् धातुओं को आकारादेश होवे। दाताखे, दास्यते, दासतै, दासातै, दीयताम्, अदीयत, दीयेत, दासीष्ट, अदास्त; अदास्थाः, इस दीङ् धातु की घुसंज्ञा (२४६) नहीं होती, क्योंकि यह न दा धा और न उनकी प्रकृति है। अदास्यत ॥ ३० [डीङ्] विहायसा गतौ = आकाश में उड़ना। डीयते, डीयेते, डिड्ये (१५६) यण्, डयिताखे, डयिष्यते, डायिपतै, डायिपातै, डीयताम्, अडीयत, डीयेत, डयिषीष्ट, अडयिष्ट, अडयिष्यत ॥ ३१ [धीङ्] आधारे। धीयते, दिध्ये ॥ ३२ [मीङ्] हिंसायाम्। मीयते ॥ ३३ [रीङ्] श्रवणे = सुनना। रीयते, रिर्ये, रेताखे, रेष्यते, रैषतै, रैषातै, रीयतै, रीयातै, रीयताम्, अरीयत, रीयेत, रेषीष्ट, अरेष्ट, अरेष्यत ॥ ३४ [लीङ्] श्लेषणे = मिलना। लीयते।

[1] विषय सप्तमी मानने से प्रत्ययोत्पत्ति से पूर्व [illegible] आत्व हो जाता है।

४००—विभाषा लीयतेः ॥ ६ । १ । ५१ ॥

एच् निमित्तक शित्भिन्न[1] प्रत्यय और ल्यप् के विषय में लीयति धातु को आकारादेश विकल्प करके होवे । लाता, लेता, लास्यते, लेष्यते । एच् विषय के कहने से—"लिल्ये, लिल्याते" आदि में आकारादेश नहीं होता । लासते, लासातै, लैपते, लैपातै, लीयताम्, अलीयत, लीयेत, लासीष्ट, लेषीष्ट, अलास्त, अलेष्ट, अलास्यत, अलेष्यत ॥ ३५ [व्रीङ्] वृणोत्यर्थे=स्वीकार । व्रीयते, विव्रिये, यहां संयोगपूर्वक के होने से यण् (१५६) से नहीं होता । वृत् । स्वादय ओदितः । पूङ् धातु से लेकर यहां तक ओदित् धातु हैं, ओदित् होने का फल कृदन्त में आवेगा[2] ॥ ३६ [पीङ्] पाने=पीना । पीयते, पिप्ये, पेता, पेष्यते, पैपते, पैपातै, पीयताम्, अपीयत, पीयेत, पेषीष्ट, अपेष्ट, अपेष्यत ॥ ३७ [माङ्] माने=बोलना । मायते, ममे ॥ ३८ [ईङ्] गतौ । ईयते, अयाञ्चक्रे, अयाम्बभूव, अयामास, एता, एष्यते, ऐपते, ऐपातै, ईयताम्, ऐयत, ईयेत, एषीष्ट, ऐष्ट, ऐष्यत ॥ ३९ [प्रीङ्] प्रीणने=तृप्ति । प्रीयते, पिप्रिये । डीङादय आत्मनेपदिनो डीङ्वर्जमनुदात्ताः । डीङ् आदि धातु आत्मनेपदी डीङ् को छोड़कर अनिट् हैं ॥

अथ परस्मैपदिनश्चत्वारः । अब चार परस्मैपदी कहते हैं । ४० [शो] तनूकरणे=महीन करना ।

४०१—ओतः श्यनि ॥ ७ । ३ । ७१ ॥

श्यन् प्रत्यय परे हो तो धातु के अन्त्य ओकार का लोप होवे । श्यति, श्यतः, श्यन्ति, शशौ, शशतुः, शशिथ, शशाथ, शाता,

1. द्रष्टव्य पृष्ठ १६२, टि० १ । 2. ओदितश्च (अ० ८।२।४५) से निष्ठा के तकार को नकार होता है । यथा—दान, दीनवान् ।

[शास्यति, स्यतु, श्य, अश्यत्, श्येत्, शायात्। लुङ्विषय में विकल्प से सिच्लुक् (२४९)—अशात्, अशाताम्, अशुः; पक्ष में—अशासीत् (२५१), अशास्यत् ॥ ४१ [छो] छेदने=छेदना। ओकारलोप (४०१)—छ्यति, चच्छौ, छातासि, अन्य पूर्ववत्॥ ४२ [षो] अन्तकर्मणि=कर्म की समाप्ति। स्यति, ससौ, सातासि, सास्यति, सासति, सासाति, स्यतु, अस्यत्, स्येत्, सेयात् (२४७), असात् (२४९), असासीत् (२५१), असास्यत् ॥ ४३ [दो] अवखण्डने=काटना। द्यति, (४०१), ददौ, दातासि, दास्यति, दासति, दासाति, द्यतु, अद्यत्, द्येत्, देयात्, घुसंज्ञा के होने से (२४७) से एकार। अदात्, (९१) सिच्लुक्, अदाताम्, अदुः, अदास्यत्। श्यतिप्रभृतयोऽनुदात्ताः। शो आदि चार धातु अनिट् हैं ॥

अथ [जन्यादयः] आत्मनेपदिनः पञ्चदश। अब पन्द्रह धातु आत्मनेपदी कहते हैं। ४४ [जनी] प्रादुर्भावे=उत्पत्ति वा अवस्थान्तर में प्रकट होना।

४०२—ज्ञाजनोर्जा ॥ ७ । ३ । ७९ ॥

शित् प्रत्यय परे हो तो ज्ञा और जन धातु को जा आदेश होवे। होवे। अनेकाल् होने से सब के स्थान में होता है। जायते, जन्+एश्=जज्ञे (२१४) उपधा अकार का लोप होकर जन् के संयोग में तवर्ग नकार को चवर्ग ञकार हो जाता है। जज्ञाते, जज्ञिरे, जनितासे, जनिष्यते, जानिषतै, जानिषातै, जायतै, जायावै, जायते, जायावै, जायताम्, अजायत, जायेत, जनिषीष्ट। लुङ् में च्लि के स्थान में चिण् (१६४) और चिण् से परे प्रत्यय का लुक् (१९५) होकर—"जन्-चिण्"—यहां वृद्धि प्राप्त है इसलिये—

४०३—जनिवध्योश्च ॥ ७ । ३ । ३५ ॥

जन और वध धातु की उपधा को वृद्धि न होवे चित् णित् कृत् और चिण् परे हों तो। अजनि। और जिस पक्ष में चिण् (१९४) से न हुआ वहां—अजनिष्ट, अजनिषाताम्, अजनिषत॥ ४५ [दीपी] दीप्तौ। दीप्यते, दिदीपे, दिदीपाते, दीपिताहे, दीपिष्यते, दीपिषवै, दीपिषावै, दीप्यताम्, अदीप्यत, दीप्येत, दीपिषीष्ट, अदीपि (१९४, १९५) अदीपिष्ट, अदीपिष्यत॥ ४६ [पूरी] आप्यायने=बढ़ना। पूर्यते, पुपूरे, अपूरि (१९४, १९५) अपूरिष्ट॥ ४७ [तूरी] गतित्वरणहिंसनयोः=शीघ्र चलना और मारना। तूर्यते, तुतूरे, अतूरिष्ट॥ ४८, ४९ [धूरी, गूरी] हिंसागत्योः। धूर्यते, दुधूरे, गूर्यते, जुगूरे॥ ५०, ५१ [घूरी, जूरी] हिंसावयोहान्योः=हिंसा और अवस्था की हानि। घूर्यते, जुघूरे, जूर्यते, जुजूरे॥ ५२ [शूरी] हिंसास्तम्भनयोः=मारना और रोकना। शूर्यते, शुशूरे॥ ५३ [चूरी] दाहे। चूर्यते, चुचूरे, चूरिताहे, चूरिष्यते, चूरिषवै, चूरिषावै, चूर्यताम्, अचूर्यत, चूर्येत, चूरिषीष्ट, अचूरिष्ट, अचूरिष्यत॥ ५४ [तप] ऐश्वर्ये=सम्पत् का होना। यह धातु अनिट् है। तप्यते, तेपे, तेपाते, तेपिरे, तेपिषे, तप्ताहे, तप्स्यते, तप्सवै, तप्सावै, तप्यताम्, अतप्यत, तप्येत, तप्सीष्ट, अतप्त, अतप्साताम्, अतप्सत, अतप्स्यत॥ ५५ [वावृतु[1]] वरणे=स्वीकार। यह धातु अनेकाच् है। वावृत्यते, अनेकाच् होने से लिट् में आम् (१७०) वावर्ताञ्चक्रे, वावर्ताम्बभूव, वावर्तामास, यद

१. कई वैयाकरण पाठ्यादि 'वा' को पूर्व धातु के साथ लगाकर 'तप ऐश्वर्ये वा' ऐसा पढ़ते हैं, अर्थात् तप धातु से ऐश्वर्य अर्थ में विकल्प से श्यन् होता है, पक्ष में शप्। उनके मत में यह धातु 'वृतु वरणे' इतना ही है। वृत्यते, ववृते—अनेकाच् न होने से आम् नहीं हुआ।

में—ववाधृते, ववावृताते, वावर्तितासे, वावर्तिष्यते, अवावर्त्तिष्ट ॥ ५६ [क्लिश] उपतापे=दुःख । क्लिश्यते, चिक्लिशे, क्लेशितासे, अक्लेशिष्ट ॥ ५७ [काशृ] दीप्तौ । काश्यते, चकाशे अकाशिष्ट, अकाशिष्यत ॥ ५८ [वाशृ] शब्दे । वाश्यते, ववाशे, वाशितासे, वाशिष्यते, वाशिषवै, वाशिषावै, वाश्यताम्, अवाश्यत, वाश्येत, वाशिषीष्ट, अवाशिष्ट, अवाशिष्यत । जन्याद्ययोऽनुदात्तेत आत्मनेपदिनस्तपिवर्जमुदात्ता । जनी आदि सब धातु आत्मनेपदी और तप को छोड़ कर सेट् हैं।

अथ पञ्च स्वरितेत । अब पाच धातु उभयपदी कहते हैं ॥ ५९ [मृष] तितिक्षायाम्=सहन । मृष्यति, मृष्यते, ममर्ष, ममृषे, मर्षिता, मर्षिष्यति, [मर्षिष्यत, मर्षिषति, मर्षिषाति] मर्षिषवै, मर्षिषावै, मृष्यतु, मृष्यताम्, अमृष्यत्, अमृष्यत, मृष्येत्, मृष्येत, मृष्यात्, मर्षिषीष्ट, अमर्षीत्, अमर्षिष्ट, अमर्षिष्यत्, अमर्षिष्यत ॥ ६० [ईशुचिर्] पूतीभावे=पवित्रता । इस धातु का ई और इर् भाग इत्संज्ञक होता है । शुच्यति, शुच्यते, शुशोच, शुशुचे, अशुचत् (१३८) इरित् होने से [विकल्प से] अङ्, अशोचीत्, अशोचिष्ट । ये दोनों धातु सेट् उभयपदी हैं ॥ ६१ [णह] बन्धने=बांधना । नह्यति, नह्यते, ननाह, नहतु, नेहु', नहिथ, 'नह्—थल्' यहां अनिट् पक्ष में नह धातु के ह का (२०२) से ढकार पाता है इसलिये—

४०४–नहो धः ॥ ८ । २ । ३४ ॥

नह धातु के हकार को धकार आदेश होवे झल् परे वा पदान्त में । ननद्ध, नेहथु, नेह, नेहे, नेहाते, नद्धासि, नद्धासे, नत्स्यति, नात्सति, नात्साति, नह्यताम्, अनह्यत, नह्येत, नत्सीष्ट, नह्यात्, अनात्सीत् (१३२), अनाद्धाम्, अनात्सु, अनात्सी, अनाद्धम्,

अनाद्ध, अनात्सम्, अनात्त्व, अनात्सम; अनद्ध, अनत्सावाम्, अनत्सत, अनद्धाः, अनत्स्यत्, अनत्स्यत ॥ ६२ [रञ्ज] रागे = रंगना वा अतिप्रीति। उपधा अनुनासिक का लोप (१३९) होकर—रज्यति, रज्यते, ररञ्ज, ररञ्जे, रङ्क्तासि, रङ्क्तासे, रङ्क्ष्यति, रङ्क्ष्यते, [रज्यात्] रङ्क्षीष्ट, अरङ्क्, अरङ्क्षाताम्, अरङ्क्षत, अराङ्क्षीत, अराङ्क्ताम्, अराङ्क्षुः ॥ ६३ [शप] आक्रोश = कोसना। शप्यति, शप्यते, शशाप, शेपतुः, शेपिथ, शशप्थ, शेपे, शेपाते, शप्तासि, शप्स्यति, [शप्स्यते,] शप्ताति, शाप्साति, शाप्सते, शाप्साते, शप्यतु, शप्यताम्, अशप्यत्, अशप्यत, शप्येत्, शप्येत, शप्यात्, शप्सीष्ट, अशाप्सात्, अशाप्ताम्, अशाप्सुः, अशप्त, अशप्साताम्, अशप्स्यत्, अशप्स्यत ॥ णहादयस्त्रयोऽनुदात्ताः स्वरितेत उभयपदिनः। णह आदि तीन धातु अनिट् उभयपदी हैं।

अथ [पदादय] एकादशानुदात्तेतः। अब ११ (ग्यारह) धातु आत्मनेपदी कहते हैं॥ ६४ [पद] गतौ॥ पद्यते, प्रतिपद्यते, प्रपद्यते, पेदे, पेदाते, पेदिरे, पत्तासे, पत्स्यते, पात्सते, पात्साते, पद्यताम्, अपद्यत, पद्येत, पत्सीष्ट।

॥१॥ ४०५–चिण् ते पदः॥ ३। १। ६०॥

पद धातु से परे जो च्लि उसके स्थान में चिण् होवे त शब्द परे हो तो। अपादि (१९५), अपत्साताम्, अपत्सत, अपत्स्यत॥ ६५ [खिद] दैन्ये = दीनता। खिद्यते, चिखिदे, खेत्तासे, खित्सीष्ट (१६३), अखित्त॥ ६६ [विद] सत्तायाम् = होना। विद्यते, विविदे, वेत्तासे, वेत्स्यते, वेत्सते, वेत्साते, विद्यताम्, अविद्यत, विद्येत, वित्सीष्ट (१६३), अवित्त, अवित्साताम्, अवेत्स्यत॥ ६७ [बुध] अवगमने = ज्ञान होना। बुध्यते, बुबुधे, बोद्धासे, भोत्स्यते (२०४), भोत्सते, भोत्साते, बुध्य-

ताम , अबुध्यत, बुध्यत, भुत्सीष्ट (१६३), अबोधि (१९४), अबुद्ध, अभोत्स्यत ॥ ६८ [युध] सम्प्रहारे=युद्ध करना । युध्यते, युयुधे, योद्धासे, योत्स्यते, युध्येत, युत्सीष्ट, अयुद्ध, अयुत्साताम् ॥ ६९ [अनो रुध] कामे=कामना । इस धातु के प्रयोग बहुधा अनुपूर्वक आते हैं इसलिये इसके पूर्व अनु उपसर्ग पढ़ा है । अनुरुध्यत, अनुरुरुधे, अनुरोद्धासे, अन्वरुध्यत, अनुरुत्सीष्ट, अन्वरुद्ध, अन्वरुत्साताम् ॥ ७० [अण] प्राणने=श्वास का चलना । यह धातु सेट् है । अरायत, आणे, आणाते, आणिरे, अणितासे, अणिष्यत, आणिषते, आणिषाते, अण्यताम्, आरायत, अणयेत, अणिषीष्ट, आणिष्ट, आणिष्यत ॥ ७१ [मन] ज्ञाने । मन्यते मेने, मन्तासे, मंसीष्ट, अमस्त ॥ ७२ [युज] समाधौ= चित्त की वृत्तियों का रोकना । युज्यत, युयुजे, योक्तासे, योक्ष्यते, योक्षते, योक्षाते, युज्यताम्, अयुज्यत, युज्येत, युक्षीष्ट, अयुक्त, अयुक्षाताम्, अयोक्ष्यत ॥ ७३ [सृज] विसर्गे=रचना वा त्यागना । सृज्यत, ससृजे, स्रष्टासे (२३३) ज का षत्व और अम् आगम (२७८), स्रक्ष्यते, स्रक्षते, स्रक्षाते, सृज्यताम्, असृज्यत, सृज्यत, सृक्षीष्ट, असृक्त असृक्षाताम्, असृक्षत, अस्रक्ष्यत ॥ ७४ [लिश] अल्पीभावे=थोड़ा होना । लिश्यते, लिलिशे, लेष्टासे (२३३) षत्व, लेक्ष्यते, लक्षते, लेक्षाते, लिश्यताम्, अलिश्यत, लिश्येत, लिक्षीष्ट, (१६३) अलिष्ट, अलेक्ष्यत ॥ पद्यादयोऽनुदात्तेत आत्मनेभाषा अण्यतिवर्जमनुदात्ताः।पद आदि सब धातु आत्मनेपदी और अण् को छोड़ कर अनिट् हैं ॥

अथ [राधादय] आगणान्तात् परस्मैदिन सप्तषष्टिः । अब इस दिवादिगण के अन्तपर्यन्त ६७ (सड़सठ) धातु परस्मैपदी कहते हैं ॥ ७५ [राधोऽकर्मकाद् वृद्धावेव] अकर्मक राध धातु से वृद्धि अर्थ में ही श्यन् प्रत्यय [होता है] । राध्यति, रराध,

रराधतुः, यहां हिंसा अर्थ के न होने से (४२३) सूत्र नहीं लगता ।. रराधिथ, राद्धासि, रात्स्यति, रात्सति, रात्साति, राध्यतु, अराध्यत्, राध्येत्, राध्यात्, अरात्सीत्, अराद्धाम्, अरात्सुः, अरात्स्यत् ॥ ७६ [व्यध] ताड़ने = पीड़ा देना । विध्यति (२८६) सम्प्रसारण, विध्यतः, विध्यन्ति, विव्याध, (२८२), विविधतुः, विविधु, विव्यधिथ, विव्यद्ध, व्यद्धासि, व्यत्स्यति, व्यत्सति, व्यत्साति, विध्यतु, अविध्यत्, विध्येत्, विध्यात्, अव्यात्सीत्। अव्याद्धाम्, अव्यात्सुः अव्यात्स्यत् ॥ ७७ [पुष] पुष्टौ = पुष्ट करना । पुष्यति, पुपोष, पुपोषिथ, पोष्टासि, पोक्ष्यति, पोषति, पोषाति, पुष्यतु, अपुष्यत्, पुष्येत्, पुष्यात्, अपुषत् (२१७) अङ्, इस सूत्र में पुषादि करके इसी पुष से इस गण के अन्तपर्यन्त धातुओं का ग्रहण होता है। अपुषताम्, अपुषन्, अपोक्ष्यत् ॥ ७८ [शुष] शोषणे = सोखना। शुष्यति, अशुषत् ॥ ७९ [तुष] प्रीतौ = प्रसन्नता। तुष्यति, तुष्यतु, अतुषत् ॥ ८० [दुष] वैकृत्ये = विकार को प्राप्त होना। दुष्यति, अदुषत् ॥ ८१ [श्लिष] आलिङ्गने = मिलना। श्लिष्यति, शिश्लेष, श्लेष्टासि, श्लेक्ष्यति, श्लेषति, श्लेषाति, श्लिष्यतु, अश्लिष्यत्, श्लिष्येत्, श्लिष्यात् ।

४०६—श्लिष आलिङ्गने ॥ ३ । १ । ४६ ॥

श्लिष धातु से परे जो अनिट् च्लि उसके स्थान में क्स आदेश होवे आलिङ्गन ही अर्थ में अन्यत्र नहीं। यह सूत्र (२१७) सूत्र का अपवाद है। और आलिङ्गन अर्थ से यहां स्त्री पुरुष का संयोग समझना चाहिये, किन्हीं जड़ पदार्थों वा अन्य सम्बन्धियों का मिलना नहीं। अश्लिक्षत्। और जहां आलिङ्गन अर्थ नहीं है - वहां 'अश्लिषत्' प्रयोग होगा। अश्लिक्षताम्, अश्लिक्षन्, अश्लेक्ष्यत् ॥ ८२ [शक] विभाषितो मर्षणे ।

सहन अर्थ में शक धातु से विकल्प करके श्यन् प्रत्यय होवे, पक्ष में शप् होता है। शक्यति, शकति, शशाक, शेकतुः, शेकिथ, शशकथ, शक्तासि, शक्ष्यति, शक्षति, शक्षाति, शक्यतु, अशक्यत्, शक्येत्, शक्यात्, अशकत् (२१७), अशक्ष्यत् ॥ ८३ [ञिष्विदा] गात्रप्रक्षरणे = पसीना छूटना। स्विद्यति, सिष्वेद, सिष्वेदिथ, स्वेत्तासि, स्वेत्स्यति, स्वेत्सति, स्वेत्साति, स्विद्यतु, अस्विद्यत्, स्विद्येत्, स्विद्यात्, अस्विदत्, अस्वेत्स्यत् ॥ ८४ [क्रुध] क्रोधे। क्रुध्यति, चुक्रोध, क्रोद्धासि, अक्रुधत् ॥ ८५ [क्षुध] बुभुक्षायाम् = भोजन की इच्छा। क्षुध्यति, चुक्षोध, अक्षुधत् ॥ ८६ [शुध] शौचे = शुद्धि। शुध्यति, शुशोध, शोद्धा, अशुधत् ॥ ८७ [षिधु] संराद्धौ = सिद्धि होना। सिध्यति, सिषेध, सिषिधतुः, सिषेधिथ, सेद्धासि, सेत्स्यति, सेत्सति, सेत्साति, सिध्यति, सिध्याति, सिध्यतु, असिध्यत्, सिध्येत्, सिध्यात्, असिधत्, असेत्स्यत्। राधादयोऽनुदात्ता उदात्तेतः परस्मैपदिनः। राध आदि धातु अनिट् परस्मैपदी हैं।

८८ [रध] हिंसासंराद्ध्योः = हिंसा और सिद्धि। रध्यति, ररन्ध (१६५) नुम्, ररन्धतुः, ररन्धिथ।

४०७—रधादिभ्यश्च ॥ ७। २। ४५ ॥

रध आदि (रध, नश, तृप, दृप, द्रुह, मुह, ष्णुह, ष्णिह) धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक को विकल्प करके इट् का आगम होवे। ररद्ध, ररन्धिव, रेध्व, ररन्धिम, रेध्म।

४०८—नेट्यलिटि रधेः ॥ ७। १। ६२ ॥

लिट् लकार से भिन्न इडादि प्रत्यय परे हो तो रध धातु को नुम् का आगम न होवे। इस सूत्र के नियम से इडादि लिट् में तो नुम् होता है। जो कदाचित् ऐसा नियम करते कि इडादि लिट्

में ही नुम् होवे तो इससे विपरीत नियम का सम्भव था कि लिट् में जो नुम् हो तो इडादि में ही होवे इस नियम से " रन्धतुः " आदि में भी निषेध हो जाता। रधिवासि, रद्धासि, रधिष्यति, रत्स्यति, राधिषति, राधिषाति, रधिषति, रधिषाति, रात्सति, रात्साति, रध्यति, रध्याति रध्यतु, अरध्यत्, रध्येत्, रध्यात्, अरधत्, यहां अङ् के परे प्रथम नुम् (१६५) होकर नलोप (१३९) होता है। अरधताम्, अरधिष्यत्, अरत्स्यत् ॥ ८९ [णश] अदर्शने = नेत्र से न दीखना। नश्यति, ननाश, नेशतुः, नेशुः। थल् के परे (१४९, २१५) नियम से सेट् पक्ष में—नेशिथ। अनिट् पक्ष में—

४०६—मस्जिनशोर्झलि ॥ ७ । १ । ६० ॥

झलादि प्रत्यय परे हो तो मस्ज और नश धातु को नुम् का आगम होवे। ननंष्ठ (२३३) थल्, नेशथुः, नेश, ननाश, ननश, नेशिव, ननंश्व, नेशिम, ननंश्म, नशितासि, नंष्टासि (४०७), नशिष्यति, नङ्क्ष्यति, नङ्क्ष्याति, नश्यतु, अनश्यत्, नश्येत्, नश्यात्, अनशत्, अनशिष्यत्, अनङ्क्ष्यत् ॥ ९० [तृप] प्रीणने = तृप्ति। यह धातु अनिट् है। तृप्यति, ततर्प, ततृपतुः, थल् में इट् पक्ष में (४०७) ततर्पिथ, तत्रप्थ (२७५) ततर्प्थ, इसी प्रकार सर्वत्र थलादि आर्धधातुक में जानो। तर्पिता, त्रप्ता, तर्प्ता; तर्पिष्यति, त्रप्स्यति, तर्प्स्यति; तर्पिषति, तर्पिषाति, त्रप्सति, त्रप्साति, तर्प्सति, तर्प्साति, तृप्यति, तृप्याति; तृप्यतु, अतृप्यत्, तृप्येत्, तृप्यात्। लुङ् में प्रथम सिच् पक्ष (२८०) में इट् का विकल्प (४०७) होने से—अतर्पीत्, अत्राप्सीत् (२७५), अतार्प्सीत्। और जिस पक्ष में च्लि के स्थान में सिच् (२८०) न हुआ वहां—अङ् (२१७) अतृपत्। इस प्रकार चार रूप होते हैं। अतर्पिष्यत्, अत्रप्स्यत्, अतर्प्स्यत् ॥ ९१ [दृप] हर्षमोहनयोः =

आनन्द और गर्व। इसके प्रयोग तृप के समान जानो। दृप्यति, अदर्पीत्, अद्राप्सीत्, अदार्प्सीत्, अदृपत्। तृप और दृप दोनों धातु अनिट् हैं परन्तु रधादि में होने से यहां विकल्प से इट् होता है॥ ९२ [द्रुह] जिघांसायाम् = मारने की इच्छा। द्रुह्यति, दुद्रोह, दुद्रोहिथ (४०७), अनिट् पक्ष में—

४१०—वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ॥ ८। २। ३३॥

द्रुह, मुह, ष्णुह और ष्णिह धातुओं के हकार को घकारादेश विकल्प करके होवे झल् परे हो वा पदान्त में। पक्ष में ढकार हो जाता है। यह सूत्र भी (२०३) सूत्र का अपवाद है। दुद्रोग्ध घ को जश्त्व, ढकार पक्ष में—दुद्रोढ, द्रोहिता, द्रोग्धा, द्रोढा, द्रोहिष्यति, ध्रोक्ष्यति। यहां घ और ढ दोनों आदेश का एक ही प्रकार का प्रयोग होता है। घकार पक्ष में उसको चर् ककार और ढकार में भी (२०५) ढ को क हो जाता है। द्रोहिषति, द्रोहिषाति, ध्रोक्षति, ध्रोक्षाति, द्रुह्यतु, अद्रुह्यत्, द्रुह्येत्, द्रुह्यात्, अद्रुहत्, अद्रोहिष्यत्, अध्रोक्ष्यत् ॥ ९३ [मुह] वैचित्ये = विचारशून्य। मुह्यति, मुमोह, मुमोहिथ, मुमोग्ध, मुमोढ, मोहिता, मोग्धा, मोढा, मोहिष्यति, मोक्ष्यति, अमुहत् ॥ ९४ [ष्णुह] उद्गिरणे = उगलना। स्नुह्यति, सुष्णोह, सुष्णोहिथ, सुष्णोग्ध, सुष्णोढ, सुष्णुहिव, सुष्णुह्व, स्नोहिता, स्नोग्धा, स्नोढा, स्नोहिष्यति, स्नोक्ष्यति, अस्नुहत्॥ ९५ [ष्णिह] प्रीतौ = प्रीति करना। स्निह्यति, सिष्णेह, अस्निहत्। वृत् रधादयः समाप्ताः। ये रध आदि (४०७) सूत्र में कहे धातु समाप्त हुए। पुषादि तो इस गण की समाप्ति पर्यन्त हैं॥ ९६ [शम] उपशमे = शान्ति।

४११—शमामष्टानां दीर्घः श्यनि ॥ ७। ३। ७४॥

शम आदि आठ धातुओं के अच् को दीर्घ होवे श्यन् परे हो तो। शाम्यति, शाम्यतः, शाम्यन्ति, शशाम, शेमतुः, शेमिथ, शमिता, शमिष्यति, शामयति, शामयाति, शाम्यतु, अशाम्यत्, शाम्येत्, शम्यात्, अशमत् (२१७), अशमिष्यत् ॥ ९७ [तमु] काङ्क्षायाम् = अभिलाषा । ताम्यति (४११), तताम, तेमतुः, तमितासि, अतमत् ॥ ९८ [दमु] उपशमे । दाम्यति, अदमत् ॥ ९९ [श्रमु] तपसि खेदे च = तप करना और क्लेश भोगना। श्राम्यति, अश्रमत् ॥ १०० [भ्रमु] अनवस्थाने = स्थिति न होना। (१८८) भ्राम्यति, भ्रमति, बभ्राम, भ्रेमतुः, भ्रेमुः,—(२२९) एत्वाभ्यास लोप। विकल्प पक्ष में—बभ्रमतुः। लुङ् में अङ् (२१७)—अभ्रमत्। अन्य सब प्रयोग भ्वादि[1] के समान जानो॥ १०१ [क्षमूष्] सहने। यह धातु ऊदित् और षित् है। क्षाम्यति, चक्षाम, चक्षमतुः, चक्षमिथ (१४०) चक्षन्थ, चक्षमिव, चक्षण्व, चक्षमिम, चक्षण्म, क्षमिता, क्षन्ता, क्षमिष्यति, क्षंस्यति, क्षांसति, क्षांसाति, क्षाम्यतु, अक्षाम्यत्, अक्षमत् ॥ १०२ [क्लमु] ग्लानौ = आनन्द का नाश। क्लाम्यति (१८८), क्लामति (१८६) सूत्र से ही शप् और श्यन् दोनों में दीर्घ हो जाता फिर इसका शमादिकों में यहां पाठ कृदन्त में घिनुण्[2] प्रत्यय होने के लिये है। चक्लाम, चक्लमतुः, क्लमिता, क्लमिष्यति, क्लाम्यतु, क्लामतु, अक्लमत् ॥ १०३ [मदी] हर्षे = आनन्द। माद्यति, ममाद, मेदतुः, मेदिथ, मदिता, मदिष्यति, मादिषति, मादिषाति, माद्यतु, अमाद्यत्, माद्येत्, मद्यात्, अमदत्, अमदिष्यत् ॥ इत्यष्टौ शमादयः। ये (४११) सूत्र में कहे शम

1. द्रष्टव्य पृष्ठ १११, पङ्क्ति १६।

2. शमित्यष्टाभ्यो घिनुण् (अ० १२०२) सूत्र से।

आदि आठ धातु समाप्त हुए॥ १०४ [असु] क्षेपणे = फेंकना। अस्यति, आस, असिताखि, अस्यतु।

४१२—अस्यतेस्थुक्॥ ७। ४। १७॥

अङ् परे हो तो अस्यति धातु को थुक् का आगम होवे। आस्थत्, आस्थाताम्, इस धातु से लुङ् में (२१७) सूत्र से अङ् सिद्ध ही है फिर (३१६) सूत्र में असु धातु का ग्रहण आत्मनेपद विषय के लिये है॥ १०५ [यसु] प्रयत्ने = पुरुषार्थ।

४१३—यसोऽनुपसर्गात्॥ ३। १। ७१॥

उपसर्गरहित यस धातु [से] परे श्यन् प्रत्यय विकल्प करके होवे कर्तावाची सार्वधातुक परे हो तो, पक्ष में शप् होता है। यस्यति, यसति।

४१४—संयसश्च॥ ३। १। ७२॥

संपूर्वक यस धातु से भी श्यन् प्रत्यय विकल्प करके होवे। संयस्यति, संयसति, ययास, येसतुः, यसिता, यसिष्यति, यासिषति, यासिषाति, यस्यतु, अयस्यत्, यस्येत्, यस्यात्, अयसत्, अयसिष्यत्॥ १०६ [जसु] मोक्षणे = छूटना। जस्यति, अजसत्॥ १०७ [तसु] उपक्षये — नाश। तस्यति, अतसत्॥ १०८ [दसु] च — पूर्व धातु के अर्थ में। दस्यति, अदसत्॥ १०९ [वसु] स्तम्भे = रोकना। वस्यति, ववास, ववसतुः (१२९), अवसत्॥ बादिरित्येके। किन्हीं के मत में यह धातु पवर्गादि है वहां (१२९) सूत्र न लगने से 'बसतुः, बेसुः' प्रयोग बनते हैं॥ ११० [व्युष] विभागे। व्युष्यति, अव्युषत्। ओष्ठ्यादिदन्त्यान्तोऽयमित्येके। किन्हीं के मत में यह धातु व्युस है। व्युस्यति, अव्युसत्। अयकारो वुस इत्यपरे। कोई के मत में यकाररहित वुस है। वुस्यति, वुवोस, अवुसत्॥

१११ [प्लुष] दाहे। प्लुष्यति, अप्लुषत्॥ ११२ [बिस] प्रेरणे = प्रेरणा। बिस्यति, बिबेस, अबिसत्॥ ११३ [कुस] संश्लेषणे। कुस्यति, अकुसत्॥ ११४ [बुस] उत्सर्गे = त्याग। बुस्यति, अबुसत्॥ ११५ [मुस] खण्डने = काटना। मुस्यति, मुमोस, मुमुसतुः, मोसिता, मोसिष्यति, मोसिषति, मोसिषाति, मुस्यतु, अमुस्यत्, मुस्येत्, मुस्यात्, अमुसत्, अमोसिष्यत्,॥ ११६ [मसी] परिणामे = विकार। मस्यति, ममास, मेसतुः, अमसत्। [समी] इत्येके। कोई के मत में मसी नहीं समी है। सम्यति, असमत्॥ ११७ [लुठ] विलोडने = बिलोना। लुठ्यति, अलुठत्॥ ११८ [उच] समवाये = नित्य सम्बन्ध। उच्यति, उवोच, ऊचतुः, ऊचुः, ओचिता, ओचिष्यति, ओचिषति, ओचिषाति, उच्यतु, औच्यत्, उच्येत्, उच्यात्, औचत्, मा भवानुचत्, औचिष्यत्॥ ११९, १२० [भृशु, भ्रशु] अधःपतने = नीचे गिरना। भृश्यति, बभर्श, अभृशत्; भ्रश्यति, बभ्रंश, अभ्रशत् (१३९)॥ १२१ [वृश] वरणे = स्वीकार। वृश्यति, अवृशत्॥ १२२ [कृश] तनूकरण = सूक्ष्म करना। कृश्यति, अकृशत्॥ १२३ [ञितृष] पिपासायाम् = पीने की इच्छा। तृष्यति, अतृषत्॥ १२४ [हृष] तुष्टौ = सन्तोष। हृष्यति, अहृषत्॥ १२५, १२६ [रुष, रिष] हिंसायाम् = मारना। रुष्यति, रिष्यति, रुरोष, रिरेष, रोषिता (२१२) रोष्टा, रेषिता, रेष्टा, अरुषत्, अरिषत्॥ १२७ [डिप] क्षेपे = फेंकना। डिप्यति, अडिपत्॥ १२८ [कुप] क्रोधे = कुप्यति, अकुपत्॥ १२९ [गुप] व्याकुलत्वे = व्याकुलता। गुप्यति, अगुपत्॥ १३०—१३२ [युप, रुप, लुप] विमोहने—मोहित करना। युप्यति, रुप्यति, लुप्यति, अयुपत्, अरुपत्। यहां लुप धातु भेद ही है और अनिट् धातुओं

में जो लुप् गिनाया है वह [लिप धातु के] साहचर्य से तुदादिगण का समझा जाता है। अलुपत् ॥ १३३ [लुभ] गार्ध्ये=आकाङ्क्षा। लुभ्यति, लुलोभ, लुलुभतुः, लोभिता (२१२) लोब्धा, अलुभत् ॥ १३४ [क्षुभ] सञ्चलने=चलायमान होना। क्षुभ्यति, अक्षुभत् ॥ १३५, १३६ [णभ, तुभ] हिंसायाम्=नभ्यति, ननाभ, नेभतुः, अनभत्, तुभ्यति, अतुभत् ॥ १३७ [क्लिदू] आर्द्रीभावे=गीलापन। क्लिद्यति, चिक्लेद, चिक्लेदिथ, ऊदित् होने से इट् विकल्प (१४०) चिक्लेत्थ, चिक्लिदिव, चिक्लिद्व, क्लेदिता, क्लेत्ता, अक्लिदत् ॥ १३८ [ञिमिदा] स्नेहने=प्रीति वा चिकनाई।

४१४-मिदेर्गुणः ॥ ७ । ३ । ८२ ॥

मिद् धातु के इक् भाग को गुण होवे शित् प्रत्यय परे हो तो। मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति। यहां श्यन् के ङित् होने से गुण प्राप्त नहीं था। मिमेद, मिमिदतुः, अमिदत् ॥ १३९ [ञिष्विदा] स्नेहनमोचनयोः। स्विद्यति, अस्विदत् ॥ १४० [ऋधु] वृद्धौ। ऋध्यति, आनर्ध, आनृधतुः[1] (१४७, ११२), अर्धिता, अर्धिष्यति, अर्धिषति, अर्धिषाति, ऋध्यतु, आर्ध्यत्, ऋध्येत्, ऋध्यात्, आर्धत्, आर्धिष्यत् ॥ १४१ [गृधु] अभिकाङ्क्षायाम्=मिलने की इच्छा। गृध्यति, जगर्ध, जगृधतुः, अगृधत्।

---

१. 'ऋ' में श्रूयमाण 'र्' स्वतन्त्र रवर्ण के ग्रहण से गृहीत होता है इस पक्ष में 'ऋध' को द्विहल् मानकर सूत्र (१४७) से नुडागम होता है। जिस पक्ष में 'र्' का पृथग्ग्रहण नहीं होता तब द्विहल् ग्रहण को हटाकर तथा 'अश्नोति' ग्रहण को नियमार्थ मानकर नुडागम होता है। अथवा ऋकार का उपसंख्यान मानकर नुडागम होता है। ये तीनों पक्ष 'ए ओ ङ्, ऐ औ च्' (अष्टा० १ । १ । ४, ५) सूत्र के भाष्य में लिखे हैं।

जो मिद् वा क्षुभ आदि धातु भ्वादिगण में पढ चुके हैं उनका पाठ श्यन् वा अङ् आदि विशेष कार्यों के लिये किया है, इसी प्रकार अन्य सब गणों में जानो। वृत् पुषादयः। (२१७) सूत्र में कहे पुषादि धातु पूरे हुए। दिवादिगण भी भ्वादिगण के समान आकृतिगण है। जिससे—'क्षीयते, मृष्यति' आदि प्रयोग बनते हैं॥

इति श्यन् विकरणो दिवादिगणः समाप्तः।

यह श्यन् विकरणवाला दिवादिगण समाप्त हुआ।



अथ स्वादिगणः

१ [षुञ्] अभिषवे = यन्त्र से रस खींचना वा राज्याधिकार देना ।

४१६–स्वादिभ्यः श्नुः ॥ ३ । १ । ७३ ॥

षु आदि धातुओं से शप् का बाधक श्नु प्रत्यय होवे कर्त्तावाची सार्वधातुक परे हो तो । विकरणस्थ उकार को गुण होकर—सुनोति, सुनुतः, सुन्वन्ति (२६१), सुनोषि, सुनुथः, सुनुथ, सुनोमि, सुन्वः (२००), सुनुवः, सुन्मः, सुनुमः, सुनुत, सुन्वाते, सुन्वते, सुषाव, सुषुवे, सोता, सोष्यति, सोष्यते, सोषति, सोषाति, सोषते, सोषावै, सुनोतु, सुनुतात्, सुनु (२०१), सुनवानि, सुनवाव, सुनवाम, सुनुताम्, असुनोत्, [असुनुव,] सुनुयात्, सुन्वीत, सूयात्, सोषीष्ट; असावीत्,[1] (३३०) असोष्ट, असोष्यत्, असोष्यत ॥ २ [षिञ्] बन्धने = बांधना । सिनोति, सिषाय, सिष्ये, सेता, सेष्यति ॥ ३ [शिञ्] निशाने = तीक्ष्ण करना । शिनोति, शिनुते ॥ ४ [डुमिञ्] प्रक्षेपणे = फेंकना । मिनोति, मिनुते, ममौ (३९९), आकारादेश होकर आकारान्तों के तुल्य रूप जानो । एच्विषय में आकारादेश के कहने से 'मिम्यतुः, मिम्युः' आदि में नहीं होता, ममिथ, ममाथ, मिम्ये, मिम्याते, मिम्यिरे, माता, मिनोतु, मीयात् (१६०) दीर्घ, मासीष्ट, अमासीत्, अमासिष्टाम्, अमास्त, [अमास्यत्] अमास्यत ॥ ५ [चिञ्] चयने = जोड़ना । चिनोति, चिनुतः, चिनुते ।

४१७–विभाषा चेः ॥ ७ । ३ । ५८ ॥

सन् और लिट् परे हों तो अभ्यास से परे चिञ् धातु को

---

१. द्रष्टव्य पृष्ठ १७२ टि० १ ।

विकल्प करके कुत्व होवे। चिकाय, चिक्यतुः, चिकयिथ, चिचाय, चिच्यतुः, चिक्ये, चिच्ये, चेता, चेष्यति, चेष्यते, चैपति, चैपाति, चैपते, चैपातै, चिनोतु, चिनुताम्, अचिनोत्, अचिनुत, चिनुयात्, चिन्वीत, चीयात्, चेषीष्ट, अचैषीत्, अचेष्ट, अचेष्यत्, अचेष्यत ॥ ६ [स्तृञ्] आच्छादने। स्तृणोति, स्तृणुते, तस्तार, तस्तरतुः, (२५३), तस्तरुः, तस्तरिथ, तस्तर्थ, तस्तरे, तस्तराते, स्तर्ता, स्तर्यात् (२५४), स्तर्यास्ताम्।

४१८—ऋतश्च संयोगादेः ॥ ७ । २ । ४३ ॥

संयोगादि ऋकारान्त धातु से परे आत्मनेपद विषय में जो लिङ् सिच् उसको विकल्प करके इट् का आगम होवे। स्तरिषीष्ट, स्तृषीष्ट (२४०), अस्तरिष्ट, अस्तृत, अस्तार्षीत्, अस्तार्ष्टाम् ॥ ७ [कृञ्] हिंसायाम्। कृणोति, कृणुते, चकार, चकर्थ (१४८), चक्रे, कर्ता, करिष्यति, करिष्यते, कार्पति, कार्पाति, कार्पतै, कार्पातै, कृणोतु, कृणुताम्, अकृणोत्, अकृणुत, कृणुयात्, कृण्वीत, क्रियात्, (२३९), कृषीष्ट (२४०), अकार्षीत्, अकृत, अकरिष्यत्, अकरिष्यत ॥ ८ [वृञ्] वरणे = स्वीकार। वृणोति, वृणुते, ववार, वव्रतुः।

४१९—बभूथाततन्थजगृम्भववर्थेतिनिगमे ॥ ७ । २ । ६४ ॥

बभूथ, आततन्थ, जगृम्भ, ववर्थ इन शब्दों में थल् के परे वेद विषय में इट् का अभाव निपातन किया है। 'भू' धातु का वेद में 'बभूथ', लोक में 'बभूविथ'। आङ् पूर्वक 'तनु' धातु का वेद में 'आततन्थ', लोक में 'आतेनिथ'। 'ग्रह उपादाने' जुहोत्यादि धातु का लिट् लकार उत्तमपुरुष के बहुवचन में 'जगृम्भ' वेद में, 'जगृहिम' लोक में, तथा इसी 'वृञ्' धातु का 'ववर्थ' वेद में, और

इसी प्रमाण से लोक में इट् होता है 'ववरिथ' । ववृव (१४८) ववृम, वव्रे, ववृषे, ववृवहे, ववृमहे, वरिता, वरीता, (२६४), वरिष्यति, वरीष्यति, वरिष्यते, वरीष्यते, वारीयति, वारीयाति, वारिषति, वारिषाति, वृणोतु, वृणुताम्, अवृणोत्, अवृणुत, वृणुयात्, वृणुवीत, व्रियात्, व्रियास्ताम् ।

४२०–लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु ॥ ७ । २ । ४२ ॥

वृङ्, वृञ् और ॠकारान्त धातुओं से परे जो आत्मनपदविषयक लिङ् सिच् उसको विकल्प करके इट् का आगम होवे । वृङ्, वृञ् [और] ॠकारान्त सब धातु सेट् हैं इसलिये प्राप्तविभाषा है । अब इट् को दीर्घ (२६४) प्राप्त है उसका निषेध ।

४२१–न लिङि ॥ ७ । २ । ३९ ॥

वृङ्, वृञ् और ॠकारान्तों से परे लिङ् के इट् को दीर्घ न होवे । वरिषीष्ट, वरिषीयास्ताम्, अनिट् पक्ष में—वृषीष्ट, अवारीत्, अवारिष्टाम्, अवारिषु: (२६६), अवरिष्ट, अवरीष्ट, अवरीष्यत, अवरिष्यत् ॥ ९ [धुञ्] कम्पने = कांपना । धुनोति, धुनुते, दुधाव, दुधविथ, दुधुवे, धोता, अधौषीत्, अधोष्ट, अधोष्यत् । दीर्घान्तोऽपीत्येके * । यह धुञ् धातु किन्हीं आचार्यों के मत में दीर्घ ऊकारान्त भी है । धूनोति, धूनुते, दुधाव, दुधुवे, दुधविथ, दुधोथ (१४०) इट् विकल्प । किन्तु लिट् में क्रयादि नियम (१४८) से नित्य इट् होता है । दुधुविव, दुधुविम, धविता, धोता, धविष्यति, धोष्यति, धाविषति, धाविषाति, धोषति, धोषाति, धाविषते, धावि

* लोक वेद में सवत्र दीर्घान्त धूञ धातु के प्रयोग बहुधा आते हैं और पाणिनीय 'स्वरतिसूति' (आ० १३०) आदि सूत्रों में दीर्घान्त ही आता है कि यह ठीक नहीं बनता कि किन्हीं के मत में दीर्घान्त हो किन्तु दीर्घान्त सर्वत्रिक और अल्पयुक्त किन्हीं के मत में ह्रस्वान्त होना चाहिये ॥

धावै, धोष्यते, धोषातै, धूनोतु, धूनुताम्, अधूनोत्, अधूनुत, धूनुयात्, धून्वीत, धूयात्, धविषीष्ट,[1] धोषीष्ट, अधविष्ट, अधोष्ट, अधावीत् (३३०) नित्य इट्, अधाविष्टाम्, अधविष्यत्, अधोष्यत् स्वादय उभयतोभाषा वृञ्वर्जमनुदात्ताः। सु आदि धातु उभयपदी वृञ् को छोड़ कर सब अनिट् हैं।

अथ परस्मैपदिनो नव। अथ परस्मैपदी नव (९) कहते हैं। १० [टुदु] उपताप=क्लेश भोगना। टु की इत्संज्ञा (१५०)। दुनोति, दुदाव, दुदविथ, दोतासि, दोष्यति, दोषति, दोषाति, दुनोतु, अदुनोत्, दुनुयात्, दूयात्; अदौषीत्, अदोष्यत्॥ ११ [हि] गतौ वृद्धौ च। हिनोति।

४२२— हेरचङि ॥ ७ । ३ । ५६ ॥

अभ्यास से परे हि धातु के हकार को कुत्व होवे परन्तु चङ् परे न हो तो। हकार का अन्तरतम घकार होकर—जिघाय, जिघ्यतु', जिघयिथ, जिघेय, हिनोतु, अहैषीत्॥ १२ [पृ] प्रीतौ। पृणाति, पर्ता, परिष्यति, प्रियात्, अपार्षीत्॥ १३[स्पृ] प्रीतिसेननयो, प्रीतिचलनयोरित्यन्ये। स्पृणोति, पस्पार, पस्परतुः (२५३), पस्परिथ, पस्पर्थ, स्पर्यात्। (२५४), अस्पार्षीत्॥ [स्मृ][1]इत्येके। स्मृणोति, सस्मार, सस्मरिथ, सस्मर्थ, स्मर्यात् (२५४)॥ १४ [आप्लृ] व्याप्तौ=व्यापक होना आप्नोति, आप्नुत, आप्नुवन्ति। यहां संयोगपूर्व के होने से श्नु प्रत्यय के उकार को यण् (२६१), तथा 'आप्नुतः' [संयोग पूर्व होने से](२००) लोप नहीं होता। आप्ता, आप्स्यति, आप्नुति, आप्साति, आप्नोतु, आप्नुहि (२०१), संयोग पूर्व के होने से हि

1. पृ, स्पृ, स्मृ ये धातुएं किन्हीं वैयाकरणों के मत में छान्दस हैं।

का लुक् नहीं होता । आप्नोत्, आप्नुयात्, आप्यात्, आपत् (२१७) अङ्, आप्स्यत् ॥ [शक्लृ] शक्तौ । शक्नोति, शशाक, शेकतु, शेकिथ, शशकथ, शक्ता, शक्ष्यति, शक्षति शक्षाति शक्नोतु, अशक्नोत्, शक्नुयात्, शक्यात्, अशकत् (२१७), अशक्ष्यत् ॥ १६, १७ [राध, साध] संसिद्धौ । राध्नोति साध्नोति ।

४२३—राधो हिंसायाम् ॥ ६ । ४ । १२३ ॥

कित् ङित् लिट् और सेट् थल् परे हों तो हिंसा अर्थ में वर्तमान राध धातु को एकार आदेश और अभ्यास का लोप होवे । रराध, रेधतु, अपरेधतु, अपरेधुः, रेधिथ, अपपूर्वक राध धातु का हिंसा अर्थ होता है। [अन्यत्र-रराध, रराधतु] राद्धा, साद्धा, रात्स्यति, सात्स्यति, रात्सति, रात्साति, असात्सीत्, असाद्धाम्, असात्सुः ॥ दुनोतिप्रभृतयोऽनुदात्ता० परस्मैभाषा० । दु आदि धातु अनिट् परस्मैपदी हैं ।

अथ द्वावनुदात्तेतौ । अब दो धातु आत्मनेपदी कहते हैं ।

१८ [अशूङ्] व्याप्तौ सङ्घाते च = व्याप्ति और इकट्ठा करना । अश्नुते, अश्नुवाते ।

४२४—अश्नोतेश्च ॥ ७ । ४ । ७२ ॥

दीर्घ किये अभ्यास के अवर्ण से परे अश धातु को नुट् का आगम होवे । आनशे, आनशाते । ऊदित् होने से इट् विकल्प (१४०) आनशिषे, आनक्षे, आनशिवहे, आनश्वहे, अशिताहे, अष्टाहे (२३३) पत्व, अशिष्यते, अक्ष्यते, आशिषते, आशिषातै, आक्षतै, आक्षातै, अश्नुवाम्, अश्नवै, आश्नुत, अश्नुवीत, अशिषीष्ट, अक्षीष्ट, आशिष्ट, आष्ट, आक्षाताम्, आशिष्यत, आक्ष्यत ॥ १९ [ष्टिघ] आस्कन्दने = सूखना । स्तिघ्नुते, तिष्टिघे, स्तेघिताहे, अस्तेघिष्ट ।

अथागणान्तात् परस्मैपदिनः । अब इस गण के अन्त पर्यन्त परस्मैपदी धातु कहते हैं । २०, २१ [तिक, तिग] गतौ च, चादास्कन्दने । यहां चकार से आस्कन्दन अर्थ की अनुवृत्ति आती है । तिक्नोति, तिग्नोति, तितेक, [तितिग, तेकितासि,] तगितासि, तेगिष्यति, तेगिषति, तेगिषाति, तिग्नोतु, अतिग्नोत्, तिग्नुयात्, तिग्यात्, अतेगीत्, अतेगिष्यत् ॥ २२ [षघ] हिंसायाम् । सघ्नोति ॥ २३ [ञिधृषा] प्रागल्भ्ये = अतिदृढ होना । । धृष्णोति, दधर्ष, धर्षिता ॥ २४ [दम्भु] दम्भने = अहङ्कार । (१३९) दभ्नोति, ददम्भ, (२७१) कित्व होकर दम्भ धातु के अनुनासिक का लोप (१३९) होकर न लोप को (४४) असिद्ध मानने से (१२६) एत्वाभ्यास लोप नहीं पाता इसलिये—

४२५—वा०—दम्भ एत्वं वक्तव्यम् ॥महा० ६।४।१२०॥

दम्भ धातु को एत्व और अभ्यास का लोप हो कित् लिट् परे हो तो । देभतु[1], देभु, ददम्भिथ, दम्भिता, दभ्यात् (१३९) ॥ २५ [ऋधु] वृद्धौ । ऋध्नोति, आनर्ध, अर्धिता, अर्धिष्यति, अर्धिषति अर्धिषाति, ऋध्नोतु, आर्ध्नोत्, ऋध्नुयात्, ऋध्यात्, आर्धीत्, आर्धिष्यत् ॥

---

१. श्रन्थिग्रन्थिदम्भि० (वा० २७१) इत्यादि व्याकरणान्तर का सूत्र अपित् विषय में ही कित्व का विधान करता है इस से पित्वचनों में 'ददम्भ, ददम्भिथ' इत्यादि प्रयोग बनते हैं । कई वैयाकरण इस सूत्र को पित् और अपित् दोनों विषयों में कित्व का विधायक मानते हैं । उन के मत में पिद् विषय में 'देभ, देभिथ' आदि प्रयोग होते हैं अन्य वैयाकरण इस सूत्र से कित्व का विकल्प मानते हैं । इस लिये 'देभ, ददम्भ, देभतु, ददम्भतु', इत्यादि दो दो प्रयोग सिद्ध होते हैं । महाभाष्यकार ने सू० ४२५ के वार्तिक पर 'देभतु, देभु,' अपिद् विषय के उदाहरण दिये हैं । इस से प्रतीत होता है कि भाष्यकार को अपिद् विषय में ही कित्वविधान अभिप्रेत है ।

छन्दसि ।[1] इस गणसूत्र का अधिकार है, यहां से आगे इस गण के अन्तपर्यन्त सब धातु वेदविषयक हैं । २६ [तृप] प्रीणन इत्येके[2] । किसी के मत में प्रीणनार्थ तृप धातु वैदिक है । तृप्नोति । क्षुभ्नादि[3] गण में पाठ होने से णत्व [नहीं] होता है । अतर्पीत् ॥ २७ [अह] व्याप्तौ । अह्नोति । मा भवानहीत् (१६२) ॥ २८ [दघ] घातने पालने च = मारना और रक्षा ।, दघ्नोति, ददाघ, देघतुः, देघिथ, दघिता, दघिष्यति, दाघिषति, दाघिषाति, दघ्नोतु, दघ्नवानि, अदघ्नोत्, दघ्नुयात्, दघ्यात्, अदाघीत्, अदघीत्, अदघिष्यत् ॥ २९ [चमु] भक्षणे । चम्नोति ॥ ३०-३५ [रि, क्षि, चिरि, जिरि, दाशृ, दृ] हिंसायाम् । रिणोति, क्षिणोति । अयं भाषायामपीत्येके । कोई के मत में क्षि धातु लौकिक भी है । ऋक्षीत्येके एवाजादिरित्यन्ये । किन्हीं के मत में रि और क्षि दो नहीं किन्तु ऋक्षि अजादि अजन्त एक [illegible] दो अक्षर का धातु है । ऋक्षिणोति, चिरिणोति, जिरिणोति, दाश्नोति, दृणोति, चिक्षिराय, चिचिरियतुः इत्यादि वैदिक प्रयोगों में जैसा प्रयोग आ जावे उसके अनुकूल सूत्रों से सिद्धि समझनी चाहिये । तिकादय उदात्ता उदात्तेतः परस्मैपादिनः । ये तिक आदि धातु सेट् परस्मैपदी हैं ।वृत् ।

इति श्नुविकरण स्वादिगणः समाप्तः ।
यह श्नु विकरणवाला स्वादिगण समाप्त हुआ ॥

---

१. छन्दसि' गणसूत्र को अन्य व्याख्याता 'तृम्नोति' के अनन्तर पढ़ते हैं ।

२. यद्यपि किन्हीं के मत में इस का स्वादि में पाठ नहीं है तथापि क्षुम्नादि गण (अ० ८ । ४ । ३९) में 'तृम्नोति' शब्द का पाठ होने से पाणिनि को स्वादिगण में पाठ अभिप्रेत है अतएव इस पर धात्वङ्क लगाया है ३. अ० ८ । ४ । ३९ ॥

अथ तुदादिगणः।

१ [तुद] व्यथने = पीडा।

४२६–तुदादिभ्यः शः ॥ ३ । १ । ७७ ॥

तुदादि धातुओं से परे शप् का बाधक श प्रत्यय होवे कर्तृवाची सार्वधातुक परे हो तो। अपित् श के ङित् होने से गुणनिषेध सर्वत्र। तुदति, तुदते, तुतोद, तुतोदिथ, तुतुदे, तोत्ता, तोत्स्यति तोत्स्यते, तुदतु, तुदताम्, अतुदत्, अतुदत, तुदेत्, तुदेत, तुद्यात्, तुत्सीष्ट (१६३), अतौत्सीत् (१३२,) अतौत्ताम्, अतुत्त, अतुत्साताम्, अतोत्स्यत्, [अतोत्स्यत]॥ २ [णुद] प्रेरणे = आज्ञा करना। नुदति, नुदते, नुनोद, नुनुदे॥ ३ [दिश] अतिसर्जने = देना। दिशति, दिशते, देष्टा, देक्ष्यति, देक्ष्यते, देष्टति, देष्टाति, देष्टते, देष्टातै, दिक्षीष्ट, अदिक्षत्, अदिक्षत (२०७)॥ ४ [भ्रस्ज] पाके = पकाना। भृज्जति, भृज्जते ॥ (२८६) सम्प्रसारण, सकार का श्चुत्व शकार और शकार को जश्त्व हो जाता है।

४२७–भ्रस्जोरोपधयो रमन्यतरस्याम् ॥ ६ । ४ । ४७ ॥

भ्रस्ज धातु के रेफ और उपधा के स्थान में रम् का आगम विकल्प करके होवे आर्धधातुकविषय में। रम् मित् होने से अन्त्य अच् से परे होता है। और स्थानषष्ठी का निर्देश होने से रेफ और उपधा की निवृत्ति हो जाती है। बभर्ज, बभर्जतुः, बभर्जिथ, बभर्ष्ठ (२३३) षत्व और जिस पक्ष में रम् का आगम न हुआ वहां बभ्रज्ज, बभ्रज्जतुः, बभ्रज्जिथ, बभ्रष्ठ (२१०) सयोगादि सलोप और षत्व (२३३), बभर्जे, बभर्जाते, बभर्जिषे, बभ्रज्जे, भर्ष्टा, भ्रष्टा, भर्क्ष्यति, भ्रक्ष्यति, भर्ष्टति, भर्ष्टाति, भार्ष्टतै, भार्ष्टातै, भ्रष्टति, भ्रष्टाति भ्रष्टतै, भ्रष्टातै, भृज्जतु, भृज्जताम्, अभृज्जत्, अभृज्जत, भृज्जेत्, भृज्जेत,

भृज्ज्यात्, कित् ङित् विषय में रमागम (४२७) को बाध कर और पूर्वविप्रतिषेध मानकर सम्प्रसारण (२८६) होता है। भृज्ज्यास्ताम्, भर्ष्टीष्ट, भ्रक्षीष्ट, अभार्क्षीत्, अभ्राक्षीत्, अभर्ष्ट, अभर्क्षाताम्, अभ्रष्ट, अभ्रक्षाताम्, अभर्क्ष्यत्, अभ्रक्ष्यत्, अभर्क्ष्यत, अभ्रक्ष्यत ॥ ५ [क्षिप] प्रेरणे। क्षिपति, क्षिपते, क्षेप्ता, क्षिप्सीष्ट, अक्षैप्सीत्, अक्षिप्त ॥ ६ [कृष] विलेखने = लिखना वा जोतना। कृषति, कृषते, क्रष्टा, कर्ष्टा (२७५), क्रक्ष्यति। कर्क्ष्यति, कृष्यात्, कृक्षीष्ट, सिच् (२८०) पक्ष में अम् (२७५), अक्राक्षीत्, अकार्क्षीत्, पक्ष में क्स (२०७)—अकृक्षत्, अकृक्षताम्, आत्मनेपद में [सिच्] कित् (१६३) होने से अम् (२७५) नहीं होता। सिच् पक्ष (२८०) में—अकृष्ट, अकृक्षाताम्, अकृक्षत। क्स (२०७) पक्ष में—अकृक्षत, अकृक्षाताम्, अकृक्षन्त, अक्रक्ष्यत्, अकर्क्ष्यत, अक्रक्ष्यत्, अकर्क्ष्यत। षट् तुदादयोऽनुदात्ताः स्वरितेत उभयतोभाषाः। ये तुद आदि छः धातु अनिट् उभयपदी हैं ॥

७ [ऋषी] गतौ। यह धातु सेट् परस्मैपदी है। ऋषति, आनर्ष, आनृषतुः, आर्षीत् ॥

[अथ जुषादयश्चत्वार आत्मनेपदिनः। अब जुषादि चार आत्मनेपदी धातुएं कहते हैं] ॥ ८ [जुषी] प्रीतिसेवनयोः। जुषते, जुजुषे, जोषितासे, जोषिष्यते, जोषिषते, जोषिषातै, जुषताम्, अजुषत, जुषेत, जोषिषीष्ट, अजोषिष्ट, अजोषिष्यत ॥ ९ [ओविजी] भयचलनयोः। बहुधा इस धातु के प्रयोग उद् उपसर्गपूर्वक ही आते हैं। उद्विजते, उद्विविजे, उद्विजिता ।

४२८—विज इट् ॥ १ । २ । २ ॥

विज धातु से परे जो इडादि प्रत्यय सो ङित्वत् हो। उद्विजिता, उद्विजिष्यते, ङित् होने से लघूपध गुण नहीं होता। उद्विजिषीष्ट,

उदविजिष्ट ॥ १०, ११ [ओलजी, ओलस्जी] व्रीडायाम् — प्रेरणा और लज्जा । लजते, लेजे, लजिताहे, लजिष्यते, लाजिषतै, लाजिषातै, लजताम्, अलजत, लजेत, लजिषीष्ट, अलजिष्ट, अलजिष्यत । लज्जते, ललज्जे, भ्रस्ज धातु के समान श्चुत्व और जश्त्व । जुषादय उदात्ताश्चत्वारोऽनुदात्तेत आत्मनेपदिनः । ये जुष आदि चार धातु सेट् आत्मनेपदी हैं ॥

अथ परस्मैपदिनो द्व्युत्तरशतम् । अब एकसौ दो (१०२) धातु परस्मैपदी कहते हैं ॥ १२ [ओव्रश्चू] छेदने = काटना। वृश्चति (२८६) सम्प्रसारण, वव्रश्च यहां अभ्यास के रेफ को ऋ सम्प्रसारण (२८२) होकर ऋ को अकार (१०८) होता है उस अकार को स्थानिवत् मानने से सम्प्रसारण के परे पूर्व वकार को सम्प्रसारण नहीं होता । वव्रश्च[1], वव्रश्चतुः, वव्रश्चिथ, वव्रष्ठ, ऊदित् होने से इट् विकल्प (१४०)—व्रश्चिता, व्रष्टा, व्रश्चिष्यति, व्रक्ष्यति, व्रश्चिषति, व्रश्चिषाति, व्रक्षति, व्रक्षाति, वृश्चतु, अवृश्चत्, वृश्चेत्, वृश्च्यात्, अव्रश्चीत्, अव्राक्षीत् ॥ १३ [व्यच] व्याजीकरणे = छल करना । विचति (२८१), विव्याच (२८२), विविचतुः (२८६), व्यचितासि, व्यचिष्यति, व्यचिषति, व्यचिषाति, विचतु, अविचत्, विचेत्, विच्यात्, अव्याचीत्, अव्यचीत् ॥ १४ [उछि] उञ्छे[2] = उञ्छना । उञ्छति, उञ्छाञ्चकार, उञ्छाम्बभूव, उञ्छामास, उञ्छिता ॥ १५ [उछी] विवास = परदेशवास । उच्छति ॥ १६ [ऋछ] गतीन्द्रियप्रलयमूर्त्तिभावेषु = गति, इन्द्रियों का प्रलय और शरीर का बनना । ऋच्छति, आनर्छ, (२५८) गुण, आनर्छतुः,

---

१ संयोगान्त होने से लिट् कित् नहीं होता, अत एव सम्प्रसारण भी नहीं होता । २. उञ्छ शब्द का अर्थ एक एक दाना उठाना है ।

आनर्छुः, आनछिंथ, ऋच्छित्वा ॥ १७ [मिछ] उत्क्लेशे = पीड़ा । मिच्छति, मिमिच्छ, अमिच्छीत् ॥ १८—२० [जर्ज, चर्च, झर्झ] परिभाषणभर्त्सनयोः = बहुत बोलना व धमकाना । जर्जति, चर्चति, झर्झति ॥ २१ [त्वच] संवरणे = ढाकना त्वचति, तत्वाच ॥ २२ [ऋच] स्तुतौ = गुणकथन । ऋचति, आनर्च, आनृचतुः ॥ २३ [उब्ज] आर्जवे = कोमलता । उब्जति, उब्जाञ्चकार ॥ २४ [उज्झ] उत्सर्गे = त्याग । उज्झति, उज्झाञ्चकार ॥ २५ [लुभ] विमोहने = व्याकुलता । लुभति, लुलोभ, लोभिता (२१२), लोब्धा, लोभिष्यति, लोभिपति, लोभिपाति, लुभतु, अलुभत्, लुभेत्, लुभ्यात्, अलोभीत्, अलोभिष्यत् ॥ २६ [रिफ] कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु = अपनी प्रशंसा, युद्ध, निन्दा, हिंसा और ग्रहण करना वा देना । रिफति, रिरेफ, रेफिता, रेफिष्यति, रेफिपति, रेफिपाति, रिफतु, अरिफत्, रिफेत्, रिफ्यात्, अरेफीत्, अरेफिष्यत् ॥ [रिह] इत्येके । रिहति, रिरेह ॥ २७, २८ [तृप, तृम्प] तृप्तौ । तृपति, ततर्प, तर्पिता ।

४२६–वा०—शे तृम्पादीनामुपसंख्यानम् ॥ ७ । १ । ५६ ॥

तृम्प आदि धातुओं को नुम् हो श प्रत्यय परे हो तो । यह वार्त्तिक (७ । १ । ५९) सूत्र पर है । तृम्प आदि धातुओं में जो अनुनासिकसहित हैं उनके भी अनुनासिक का लोप श के परे (१३९) होजाता है । और नुम्विधानसामर्थ्य से फिर लोप नहीं होता है । तृम्पति, तृम्पात्, तृम्पात् (१३९) उपधाऽनुनासिकलोप, अतर्पीत् । यहां (२८०) वार्त्तिक में अङ् का अपवाद होने से दिवादि के अन्तर्गत पुषादि

के तृप का ग्रहण होता है, इसलिये नित्य सिच् होता है। [तृफ, तृम्फ] इत्येके। तृम्फति, ततृम्फ, तृम्फिता, तृफ्यात् (१३९)॥ २९—३२ [तुप, तुम्प, तुफ, तुम्फ] हिंसायाम्। तुम्पति, तुम्फति, तुप्यात्, तुफ्यात्॥ ३३, ३४ [दृप, दृम्फ] उत्क्लेशे=पीड़ा। दृम्पति, दृम्फति, दृप्यात्, दृफ्यात्॥ ३५,३६ [ऋफ, ऋम्फ] हिंसायाम्। ऋफति ऋम्फति, आनर्फ, ऋम्फाञ्चकार, ऋफ्यात्॥ ३७, ३८ [गुफ, गुम्फ] ग्रन्थे=बन्धन। गुफति, गुम्फति, जुगुम्फ॥ ३९, ४० [उभ, उम्भ] पूरणे=पूर्त्ति। उभति, उम्भति, उवोभ, उम्भाञ्चकार, उभ्यात्॥ ४१, ४२ [शुभ, शुम्भ] शोभार्थे। [शुभति,] शुम्भति, शुशोभ, शुशुम्भ, शुभ्यात्। (४२९) वार्त्तिक में कहे तृम्पादि धातु पूरे हुए॥ ४३ [दृभी] ग्रन्थे। दृभति, ददर्भ, अदर्भीत्, अदर्भिष्यत्॥ ४४ [चृती] हिंसाग्रन्थनयोः। चृतति, चचर्त, चचृततुः चचर्तिथ, चर्तिता, चर्तिष्यति (२९७); चर्त्स्यति, चर्तिपति, चर्तिपाति, चर्त्सति, चर्त्साति, चृततु, अचृतत्, चृतेत्, चृत्यात्, अचर्तीत्, अचर्तिष्यत्॥ ४५ [विध] विधाने। विधति, विवेध, विविधतुः, वेधिता, वेधिष्यति, वेधिपति, वेधिपाति॥ ४६ [जुड] गतौ। जुडति, अजोडीत्॥ [जुन] इत्येके। जुनति॥ ४७ [मृड] सुखने। मृडति, अमर्डीत्॥ ४८ [पृड] च। पृडति॥ ४९ [पृण] प्रीणने=तृप्ति। पृणति, पपर्ण॥ ५० [वृण] च। वृणति, अवर्णीत्, अवर्णिष्यत्॥ ५१ [मृण] हिंसायाम्। मृणति, मर्णिता॥ ५२ [तुण] कौटिल्ये। तुणति, तोणिष्यति॥ ५३ [पुण] कर्मणि शुभे=शुभ कर्म। पुणति, पोणिपति, पोणिपाति॥ ५४ [मुण] प्रतिज्ञाने=प्रतिज्ञा। मुणति, मुणतु॥ ५५ [कुण] शब्दोपकरणयोः=शब्द और उप-

कार । कुणति, अकुणत् ॥ ५६ [शुन] गतौ । शुनति, शुनत् ॥ ५७ [द्रुण] हिंसागतिकौटिल्येषु=हिंसा, गति और कुटिलता । द्रुणति, द्रुण्यात् ॥ ५८, ५९ [घुण, घूर्ण] भ्रमणे=डोलना । घुणति, घूर्णति, जुघोण, जुघूर्ण ॥ ६० [षुर] ऐश्वर्यदीप्त्योः=धन और प्रकाश । सुरति, सुषोर, सोरिता, सोरिष्यति, सोरिषति, सोरिषाति, सुरतु, असुरत्, सुरेत्, सूयात् (१९७) दीर्घ ॥ ६१ [कुर] शब्दे । कुरति ।

४३०—न भकुर्छुराम् ॥ ८ । २ । ७९ ॥

रेफान्त और वकारान्त भसंज्ञक तथा कुर् और छुर् इन की उपधा इक् को दीर्घ न होवे । (१९७) सूत्र से दीर्घ प्राप्त है उसका अपवाद यह सूत्र है । कुर्यात् * ॥ ६२ [खुर] छेदने=दो भाग करना । खुरति, चुखोर, खूर्यात् ॥ ६३ [मुर] संवेष्टने । मुरति, मूर्यात् ॥ ६४ [क्षुर] विलेखने=चौर कर्म । क्षुरति, क्षूर्यात् ॥ ६५ [घुर] भीमार्थशब्दयोः=भयंकर पदार्थ और शब्द । घुरति, घूर्यात् ॥ ६६ [पुर] अग्रगमने=आगे चलना । पुरति, पूर्यात् ॥ ६७ [वृह] उद्यमने=उद्यम करना । वृहति, ववर्ह, ववृहतु, ऊदित् होने से

* यहां भट्टोजिदीक्षित ने लिखा है कि (४३०) सूत्र यहां नहीं लगता क्योंकि वहां कुर् कहने से कुर्न् धातु का ग्रहण होता है इससे 'कूर्यात्' प्रयोग होता है सो संदिग्ध है, क्योंकि जो "लक्षणप्रतिपदोक्तयो.०" (पारि० ११) इस परिभाषा का आश्रय करें तब तो कुर्न् का ग्रहण ही न हो क्योंकि कुर्न् का कुर् लाक्षणिक और कुर् धातु प्रतिपदोक्त है इसलिये इस परिभाषा का आश्रय न करें तो भी लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त दोनों का ग्रहण होवे फिर ऐसी परिभाषा कौन है कि जिससे लाक्षणिक कुर्न् का ग्रहण होजावे और प्रतिपदोक्त कुर् का न हो ॥

इट् विकल्प ववर्हिथ, ववर्ढ, ववृहिव, ववृह्व, वर्हिता, वर्ढा, वर्हि-ष्यति, वर्क्ष्यति, वर्हिषति, वर्हिषाति, वर्क्षति, वर्क्षाति, वृहतु, अवृहत्, वृहेत्, वृह्यात्, अवर्हीत्, अवृक्षत्। (२०७) क्स, अवर्हिष्यत्। अवर्क्ष्यत्॥ [भृहू] इत्येके। इस में इतना विशेष है कि—भर्क्ष्यति (२०४) भर्क्षति, भर्क्षाति, अभृक्षत्, अभर्क्ष्यत्॥ ६८—७० [तृहू, स्तृहू, तृंहू] हिंसार्थाः। तृहति, स्तृहति, तृंहति, ततर्ह, तस्तर्ह, ततृंह, तर्हिता, तर्ढा, स्तर्हिता, स्तर्ढा, तृंहिता, तृण्ढा, तृह्यात्, [अतर्हीत्,] अतृक्षत्, [अस्तर्हीत्,] अस्तृक्षत् [अतृंहीत्, अतार्क्षीत्, अतांढाम्]॥ ७१ [इष] इच्छायाम्। इच्छति, इयेष, एषिता, [एष्टा,] एषिषति, एषिषाति, इच्छतु, ऐच्छत्, इच्छेत्, इष्यात्, ऐषीत्, ऐषिष्यत्॥ ७२ [मिष] स्पर्धायाम्=ईर्षा। मिषति, मिमेष॥ ७३ [किल] श्वैत्यक्रीडनयोः=श्वेताई और क्रीड़ा। किलति, केलिता॥ ७४ [तिल] स्नेहने=चिकनाई। तिलति, तेलिष्यति॥ ७५[चिल] वसने=वस्त्र। चिलति, चेलिषति, चेलिषाति, चिलतु॥ ७६ [चल] विलसने=शोभा। चलति, अचलत्॥ ७७ [इल] स्वप्नक्षेपणयोः—सोना और फेंकना। इलति, इयेल, इलतु, ऐलत्, इलेत्॥ ७८ [विल] संवरणे=आच्छादन। विलति, विल्यात्॥ ७९ [बिल] भेदने=खोदना। बिलति, अबेलीत्॥ ८० [णिल] गहने=गाढ़। निलति, अनेलिष्यत्॥ ८१ [हिल] भावकरणे=प्रीति करना। हिलति॥ ८२, ८३ [शिल, षिल] उञ्छे। शिलति, सिलति॥ ८४ [मिल] संश्लेषणे=मिलना। मिलति॥ ८५ [लिख] अक्षरविन्यासे=अक्षर बनाना। लिखति, लिलेख, लेखिता, लेखिष्यति, लेखिषति, लेखिषाति, लिखतु, अलिखत्, लिखेत्, लिख्यात्, अलेखीत्, अलेखिष्यत्॥ ८६ [कुट] कौटिल्ये=

कुटिलाई। कुटति, चुकोट, चुकुटतु, (३४५) ङित्व होकर—चुकुटिथ, कुटिता, कुटिष्यति, काटिपति, कोटिपाति, कुटिपति, कुटिपाति, यहां णितूपक्ष में ङित्व (३४५) न होने से गुण होता है। और ङित् होने से सब कुटादिकों मे गुण का निषेध जानो। कुटतु, अकुटत्, कुटेत्, कुट्यात्, अकुटात्, अकुटिष्यत्। (३४५) सूत्र में कहे कुटादि धातु इसी कुट् से कूङ धातुपर्यन्त जानो॥ ८७ [पुट] संश्लेषणे। पुटति, पुपोट, पुटिता॥ ८८ [कुच] सकोचने = इकट्ठा होना। कुचति, चुकुचिथ॥ ८९ [गुज] शब्दे। गुजति, गुजिष्यति॥ ९० [गुड] रक्षायाम्। गुडति गोडिपति, गोडिपाति, गुडिपति गुडिपाति॥ ९१ [डिप] क्षेपे = फेंकना। डिपति, डिपतु॥ ९२ [छुर] छेदने। छुरति, अच्छुरत्, छुर्यात् (४३०)॥ ९३ [स्फुट] विकसने = खिलना। स्फुटति, पुस्फुटिथ॥ ९४ [मुट] आक्षेपमर्दनयोः = खण्डन और मलना। मुटति, मुटिता॥ ९५ [त्रुट] छेदने। (१८८) विकल्प से श्यन्—त्रुट्यति, त्रुटति, त्रुटिष्यति, त्रुट्यतु, त्रुटतु, अत्रुट्यत्, अत्रुटत्, त्रुट्येत्, त्रुटेत्॥ ९६ [तुट] कलहकर्मणि = विरोध करना। तुटति, तोटिपति, तोटिपाति, तुटिपति, तुटिपाति॥ ९७, ९८ [चुट, छुट] छेदने। चुटति, छुटति॥ ९९ [जुड] बन्धने = जोड़ना। जुडति, जुडतु॥ १०० [कड] मदे = अहङ्कार। कडति॥ १०१ [लुट] संश्लेषणे = मिलना। लुटति, अलुटत्॥ लुठ इत्येके। लुठति, लुठेत्॥ १०२ [कृड] घनत्वे = सघन। कृडति, अकर्डीत्॥ १०३ [कुड] बाल्ये = बालकपन। कुडति॥ १०४ [पुड] उत्सर्गे = त्याग। पुडति॥ १०५ [घुट] प्रतिघाते = घाटना। घुटति, जुघुटिथ, घुटिता॥ १०६ [तुड] तोडने = ताड़ना। तुडति, तुडिष्यति॥ १०७, १०८ [थुड,

स्थुड] संवरणे। थुडति, स्थुडति, तुस्थुडिथ ॥ [स्फुड] इत्येके। स्फुडति ॥ [खुड, छुड] इत्यन्ये । खुडति, छुडति ॥ [कुड] संघात इत्येके । कुडति ॥ १०९ [स्फुर] स्फुरणे = चेतनता स्फुरति, पुस्फोर ॥ [स्फर] इत्येके। स्फरति ॥ ११० [स्फुल] संचलने = चञ्चलता । स्फुलति ॥ १११—११३ [स्फुड, चुड, व्रुड] संवरणे। स्फुडति, चुडति, व्रुडति ॥ [क्रुड, भ्रुड] निमज्जन इत्येके। क्रुडति भ्रुडति, भ्रुडिता । प्रश्चादय उदात्ता उदात्तेत परस्मैभाषा इयुक्तर्य्य॰ तम्। व्रश्च आदि एकसौ दो (१०२) धातु सेट् परस्मैपदी हैं ॥

११४ [गुरी] उद्यमने। उदात्तोऽनुदात्तदात्मनेपदी। यह धातु सेट् आत्मनेपदी है। गुरते, जुगुरे, गुरिता गुरिष्यते, गारिषते, गारिषातै, गुरिषतै, गुरिषातै, गुरताम्, अगुरत, गुरेत, गुरिषीष्ट, अगुरिष्ट, अगुरिष्यत ।

इतश्चत्वारः परस्मैपदिनः । यहाँ से आगे चार धातु परस्मैपदी हैं । ११५ [णू] स्तवने = स्तुति । नुवति, नुनाव, अनुवात् ॥ ११६ [धू] विधूनने = कंपाना । धुवति, दुधाव, दुधुवतु, धुविता, अधुवात् । ये दोनों सेट हैं ॥

११७ [गु] पुरीषोत्सर्गे = मल त्यागना । गुवति, जुगाव, जुगुविथ, जुगुथ, गुता, गुष्यति, गोषति, गोषाति, गुषति, गुषाति, गुवतु, अगुवत्, गुवत्, गूयात् (१९०) अगुषात्, अगुताम् (२४१) सिच्लोप, अगुषु । ११८ [ध्रु] गतिस्थैर्ययोः = चलना और स्थिति। [ध्रुव] इत्येके। ध्रुवति, इत्यादि गु के समान रूप जानो। और ध्रुव धातु तो सेट् है । दुध्रुविथ, ध्रुविता, ध्रूव्यात् (१९७) दाघ, अध्रुवात् ॥

११९ [कुङ्] शब्दे, [कुड्] शब्द इत्येके । यह धातु दीर्घान्त पक्ष में सेट् और ह्रस्वान्त पक्ष में अनिट् है। कुवति, चुकुविथ, कुविता, अकुविष्ट, पक्षमें—चुकु॰

विथ, चुकुथ, कुता, अकुत । नूत् । इति कुटादयः समाप्ताः । ये (३४५) सूत्र में कहे कुटादि धातु समाप्त हुए ॥

१२० [पृङ्] व्यायामे = कसरत । यह धातु बहुधा वि और आङ् उपसर्गपूर्वक ही प्रयुक्त आता है । व्याप्रियते (२३९, १५९) व्याप्रियेते, व्याप्रियन्ते, व्यापप्रे, व्यापप्राते, व्यापप्रिषे, पर्तासे, परिष्यते, पार्षते, पार्पाते, प्रियताम्, अप्रियत, प्रियेत, पृषीष्ट (२४०), अपृत (२४१), अपृषाताम्, अपृषत ॥ १२१ [मृङ्] प्राणत्यागे = शरीर छूटना ।

४३१—म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च ॥ १ । ३ । ६१ ॥

मृङ् धातु से परे लुङ् लिङ् और शित् विषय में आत्मनेपद-संज्ञक प्रत्यय हों, अन्यत्र नहीं । मृङ् धातु के ङित् होने से सर्वत्र आत्मनेपद सिद्ध ही है फिर विशेष विषय में कहने से यह नियम हुआ कि लुङ् लिङ् और शित् से भिन्न लकारों में परस्मैपद ही हो । म्रियते, ममार, मम्रतुः, मम्रुः, ममर्थ, मम्रिव, मम्रिम, मर्ताSसि, मरिष्यति, मार्षति, मार्षाति, म्रियताम्, अम्रियत, म्रियेत, मृषीष्ट, अमृत, अमृषाताम्, अमरिष्यत् ।

अथ परस्मैपदिनः सप्त । अब सात (७) धातु परस्मैपदी कहते हैं ॥ १२२, १२३ [रि, पि] गतौ । रियति, पियति, रिराय, पिपाय, रिरियतुः, पिपेथ, पेता, पेष्यति, पैषति, पैषाति, पियतु, अपियत्, पियेत्, पीयात्, अपैषीत्, अपैष्टाम्, अपेष्यत् ॥ १२४ [धि] धारणे । धियति, दिधयिथ, दिधेथ, धेता ॥ १२५ [क्षि] निवासगत्योः । क्षियति, क्षीयात्, अक्षैषीत् । र्यादयोऽनुदात्ताः । ये रि आदि अनिट् हैं ॥ १२६ [षु] प्रेरणे = आज्ञा । सुवति, सुषाव, सुषविथ; सविता, सविष्यति, साविषति, साविषाति, सुवतु, असुवत्, सुवेत्, सूयात्,

असावीत्, असाविष्टाम्, असविष्यत् ॥ १२७ [कॄ] विक्षेपे=फैलाना। किरति (२६५), किरतः, चकार, चकरतुः, चकरुः (२५८) गुण, करीता (२६४) करिता, करीष्यति, करिष्यति, करीषति, करीषाति, करिषति, करिषाति, किरतु, अकिरत्, किरेत्, कीर्यात् (२६५, १९७), अकारीत्, (२६६), अकारिष्टाम्, अकरीष्यत्, अकरिष्यत् ॥ १२८ [गॄ] निगरणे=खाना वा उपदेश करना।

४३२-अचि विभाषा ॥ ८। २। २१ ॥

अजादि प्रत्यय परे हो तो गृ धातु के रेफ को विकल्प करके लकारादेश होवे। गिरति, गिलति, जगाल, जगार, जगलतुः, जगरतुः, गलीता, गलिता, गरीता, गरिता, गीर्यात्, अगालीत्, अगारीत्, अगालिष्टाम्, अगारिष्टाम्। उदात्ताः परस्मैपदिनः। सू आदि धातु सेट् परस्मैपदी हैं॥

१२९ [दृङ्] आदरे=सत्कार। यह धातु आङ्पूर्वक बहुधा आता है। आद्रियते (२३९) रिङ्, आद्रियेते, आदद्रे, आदद्रिषे, आदर्तासे, आदरिष्यते, आदार्पते, आदार्पाते, आद्रियताम्, आद्रियत, आद्रियेत, आदृषीष्ट (२४०), आदृत, आदृषाताम्, आदरिष्यत। १३० [धृङ्] अवस्थाने =स्थिति। ध्रियते, दध्रे, दध्रिषे ॥ अनुदात्तावात्मनेपदिनौ। ये दोनों धातु अनिट् आत्मनेपदी हैं॥

अथ परस्मैपदिनः षोडश। अब सोलह धातु परस्मैपदी कहते हैं॥ १३१ [प्रच्छ] ज्ञीप्सायाम्=जानने की इच्छा। पृच्छति, पृच्छतः (२८६) संप्रसारण, पप्रच्छ, पप्रच्छतुः, पप्रच्छिथ, अनिट् पक्ष में—पप्रष्ठ (२३३) षत्व, प्रष्टा, प्रक्ष्यति, प्राक्षति, प्राक्षाति, पृच्छतु, अपृच्छत्, पृच्छेत्, पृच्छ्यात्, अप्राक्षीत्, अप्राष्टाम्,

अप्राक्षु, अप्रक्ष्यत् ॥ वृत्[1]। किरादयः समाप्ताः। ये किरादि आदि पांच धातु पूरे हुए, इनसे सन्नन्त प्रक्रिया में विशेष कार्य होते हैं॥ १३२ [सृज] विसर्गे = रचना वा त्यागना। सृजति, ससर्ज, ससृजतु, ससर्जिथ (२७७), सस्रष्ठ (२३३, २७८), स्रष्टा, स्रक्ष्यति, स्रक्षति, स्राक्षात, सृजतु, असृजत्, सृजेत्, सृज्यात्, अस्राक्षीत्, अस्राष्टाम्, अस्रक्ष्यत् ॥ १३३ [टुमस्जो] शुद्धौ। टु और ओकार की इत्संज्ञा, 'स्तो: श्चुना श्चुः'[2] सूत्र से स को श और श को ज होकर—मज्जति, ममज्ज, ममज्जिथ, अनिट् पक्ष में (४०९) नुम् प्राप्त है सो मित् होने से अन्त्य अच् से पर होवे तो सकार के मध्यपाती होने से संयोगादि लोप (२१०) नहीं हो सकता। इसलिये

४३३–वा०–मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्वक्तव्यः
॥ महा० १। १। ६१॥

मस्ज धातु के अन्त्य वर्ण जकार से पूर्व नुम् कहना चाहिये। फिर सकार के संयोगादि होने से लोप (२१०) होकर+मस न् ज्+थल् = ममङ्क्थ, मङ्क्ता, मङ्क्ष्यति, मङ्क्षति, मङ्क्षाति, मज्जतु अमज्जत्, मज्जेत्, मज्ज्यात्, अमाङ्क्षीत्, अमाङ्क्ताम्, अमाङ्क्षु। अमङ्क्ष्यत् ॥ १३४ [रुजो] भङ्गे = टूटना। रुजति, रोक्ता,

१. कई वैयाकरण 'किरश्च पञ्चभ्यः' (आ० ५०८) में पञ्च ग्रहण सामर्थ्य से यहां 'वृत्' करण को अनार्ष मानते हैं क्योंकि किरादि की समाप्ति के द्योतन के लिये वृत् करने पर सूत्र में पञ्च ग्रहण करना व्यर्थ होजाता है। वस्तुतः यह मत ठीक नहीं है। सूत्र में पञ्च ग्रहण 'रुदादिभ्य. सार्वधातुके' (अ० ५५७) इस उत्तरसूत्र के लिये है। अतः धातुपाठ में किरादि की समाप्ति के लिये वृत् करण अनार्ष नहीं है।

२. सन्धि० २११।

रोक्ष्यति, अरौचीत्, अरोक्ताम् ॥ १३५ [भुजो] कौटिल्ये = कुटिलता। भुजति, बुभोज, बुभोजिथ, बुभोक्थ, भोक्ता, अभौक्षीत्, अभोक्ताम् ॥ १३६ [छुप] स्पर्शे। छुपति, छोप्ता, अच्छौप्सीत् ॥ १३७, १३८ [रुश, रिश] हिंसायाम्। रुशति, रिशति, रोष्टा, रेष्टा, अरुक्षत्, अरिक्षत् (२०७)॥ १३९ [लिश] गतौ। लिशति, लेक्ष्यति, लिशतु, अलिक्षत् ॥ १४० [स्पृश] संस्पर्शे = छूना। स्पृशति, पस्पर्श, पस्पर्शिथ, स्प्रष्टा (२७५), स्पष्टा, स्प्रक्ष्यति, स्पर्क्ष्यति, स्पृशति, स्प्रक्षाति, स्पर्क्षति, स्पर्क्षाति, स्पृशतु, अस्पृशत्, स्पृशेत्, स्पृश्यात्, अस्प्राक्षात्, अस्पार्क्षीत्, अस्पार्क्षम्, (२८०) अस्पृक्षत्, अस्प्रक्ष्यत्, अस्पर्क्ष्यत् ॥ १४१ [विच्छ] गतौ। (१६६) आय प्रत्यय (१६७) धातुसंज्ञा। विच्छायति, विच्छायत, आम् प्रत्यय (१६९)-विच्छायाञ्चकार, विच्छायाम्बभूव, विच्छायामास, (१६८) विविच्छ, विविच्छतुः, विच्छायितासि, विच्छितासि, विच्छायिष्यति, विच्छिष्यति, विच्छायिषति, विच्छायिषाति, विच्छिषति, विच्छिषाति, विच्छायतु, अविच्छायत्, विच्छायेत्, विच्छाय्यात्, विच्छ्यात्, अविच्छायीत्, अविच्छीत्, अविच्छायिष्यत्, अविच्छिष्यत् ॥ १४२ [विश] प्रवेशने। विशति, वेष्टा, अवैक्षीत्, अवैष्टाम् ॥ १४३ [मृश] आमर्शने = विचारना। मृशति, म्रष्टा (२७५), मर्ष्टा, अम्राक्षात्, (२८०) अमार्क्षीत्, अमृक्षत् ॥ १४४ [णुद] प्रेरणे। इस धातु का प्रथम इसी गण में लिख चुके हैं दूसरा बार यहां कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में भी परस्मैपद होने के लिये पढ़ा है ॥ १४५ [षद्लृ] विशरणगत्यवसादनेषु। इस धातु का इसी प्रकार का भ्वादि (पृष्ठ १५०) में लिख चुके हैं वहीं के तुल्य रूप भी जानो कुछ विशेष नहीं, फिर यहां लिखने का यह प्रयोजन है कि कृदन्त शतृ प्रत्यय में

शप् विकरण वाले को नित्य नुम्[1] और श विकरण वाले को विकल्प[2] होता है और शप् और श विकरण का स्वर भी पृथक् पृथक् होता है[3] ॥ १४६ [शद्लृ] शातने। इसको भी भ्वादि (पृष्ठ १५१) में लिख चुके हैं फिर इसका पाठ केवल स्वर के पृथक् होने के लिये है[4]। प्रच्छादयो विच्छिवर्जमनुदात्ताः। ये प्रच्छ आदि धातु विच्छ को छोड़ के अनिट् और सब परस्मैपदी हैं ॥

अथ षट् स्वरितेतः। अब छः (६) धातु स्वरितेत् (उभयपदी) कहते हैं। १४७ [मिल] सङ्गमे = समागम। "मिल संश्लेषणे" धातु प्रथम लिख चुके हैं, उसको फिर दूसरीवार कर्त्रभिप्राय अर्थ में आत्मनेपद होने के लिये पढ़ा है। मिलति, मिलते, मिमेल, मिमिले, मेलिता, मेलिष्यते, मेलिषतै, मेलिषातै, मिलताम्, मिलतु, अमिलत्, मिलेत्, मिल्यात्, अमेलीत्, अमेलिष्यत्। यह धातु सेट् है ॥

१४८ [मुच्लृ] मोक्षणे = छूटना।

४३४-शे मुचादीनाम् ॥ ७।१।५९ ॥

श प्रत्यय के परे मुचादि धातुओं को नुम् का आगम होवे। मुञ्चति, मुञ्चते, मुमोच, मुमुचे, मोक्ता, मोक्ष्यते, मोक्ष्यति, मोक्षत्, मोक्षातै, मोक्षति, मोक्षाति, मुञ्चतु, मुञ्चताम् अमुञ्चत्, अमुञ्चत, मुञ्चेत् मुञ्चेत, मुच्यात्, मुक्षीष्ट, अमुचत् (२१७) अङ्, अमुक्त, अमुक्षाताम्, अमोक्ष्यत्, अमोक्ष्यत ॥ १४९ [लुप्लृ] छेदने। लुम्पति, लुम्पते, लुप्यात्, अलुपत्, अलुप्त ॥ १५० [विद्लृ]

---

१. शप्श्यनोर्नित्यम् (अष्टा० ७।१।८१) सूत्र से। २. आच्छीनद्योर्नुम् (अष्टा० ७।१।८०) सूत्र से। ३. शप् पक्ष में शप् के अनुदात्त होने से धातुस्वर होकर "सर्दति" आद्युदात्त होगा। श पक्ष में 'सृदति' मध्योदात्त होता है। ४. यहां भी पूर्ववत् शप् पक्ष में "शीयते' आद्युदात्त और श पक्ष में 'शीयतें' मध्योदात्त होगा।

लाभे = प्राप्ति। विन्दति, विन्दते, विवेद, विविद, वेत्ता[1], वेत्स्यति परिवेत्ता॥ १५१ [लिप] उपदेहे = लापना वा वृद्धि। लिम्पति, लिम्पते, लेप्ता, अलिपत् (२९२) अङ्, अलिपत, अलिप्त, (२२३)॥ १५२ [षिच] क्षरणे = सींचना। सिञ्चति, सिञ्चते, सिच्यात्, असिचत् (२९२), असिचत (२९३), असिक्त। मुचादयोऽनुदात्ता स्वरितेत उभयपदिन । ये मुच आदि धातु अनिट् उभयपदी हैं॥

अथ परस्मैपदिन । १५३ [कृती] छेदने। कृन्तति, चकर्त, कर्तिता, कर्तिष्यति (३९७), कर्त्स्यति, कर्तिषति, कर्त्सति, कर्त्साति, कृन्ततु, अकृन्तत्, कृत्यात्, अकर्तीत्, अकर्तिष्यत्, अकर्त्स्यत्॥ १५४ [खिद] परिघाते = पीड़ा। यह धातु ज्ञानता अर्थ में दिवादि (पृष्ठ २५९) और रुधादिकों (पृष्ठ २९४) में पढ़ा है। खिन्दति, चिखेद, खेत्ता, खेत्स्यति, खिद धातु अनिट् है। १५५ [पिश] अवयवे। पिंशति, पिपेश, पेशिता, पेशिष्यति, पेशिषति, पेशिषाति, पिंशतु, अपिंशत्, पिंशेत्, पिश्यात्, अपेशीत्, अपेशिष्यत्॥ वृत् मुचादय। ये (४३४) सूत्र में कहे मुच आदि धातु पूरे हुए॥

॥ इति शविकरणस्तुदादिगण समाप्त ॥

[यह शविकरण वाला तुदादिगण समाप्त हुआ]

---

१. महाभाष्यकार के मत में यह धातु अनिट् है। अनिट्कारिकाकार के मत में सेट् है अत पक्ष में 'वेदिता' रूप भी होता है।

अथ रुधादिगणः

अथ नव स्वरितेत इरितश्च । अब नौ धातु उभयपदी कहते हैं। १ [रुधिर्] आवरणे = आच्छादन । इर् भाग की इत्संज्ञा होकर—

४३५—रुधादिभ्यः श्नम् ॥ ३ । १ । ७८ ॥

रुध आदि धातुओं से शप् का अपवाद श्नम् प्रत्यय हो कर्तावाची सार्वधातुक परे हो तो । श्नम् मित् प्रत्यय होने से अन्त्य अच् रु से परे धकार से पूर्व होता है । रु+श्नम्+ध्+तिप् = रुणद्धि । शकार मकार की इत्संज्ञा और णत्व होता है । रुन्ध. (३५२) अकारलोप णत्व का असिद्ध मानकर नकार को अनु॰स्वार और अनुस्वार को परसवर्ण करने में अकारलोप का स्थानिवद्भाव प्राप्त है[1] उसका अनुस्वार और परसवर्णविधि में निषेध हो जाता है[2] । रुन्धन्ति, रुणत्सि, रुन्धे, रुन्धाते, रुन्धते, रुरोध, रुरुधतु॰, रुरोधिथ, रुरुधे, रोद्धा, रोत्स्यति, रोत्स्यते, रोत्स्यति, रोत्साति, रोत्सते, रोत्सातै, रुणधति, रुणधाति, रुणधतै, रुणधातै, रुणद्धु, रुन्धात्, रुन्धाम्, रुन्धन्तु, रुन्धि, रुणधानि, रुणधाव, रुन्धाम, रुन्धाताम्, रुणधै, अरुणत्, अरुन्धाम्, अरुन्धन्, अरुणत्, अरुण, यहां पदान्त धकार को प्रथम जश्त्व होकर (३५१) सूत्र की दृष्टि में जश्त्व सिद्ध होने से दकार को त विक॰ल्प से (३५१) होता है । [अरुन्द्धम्, अरुन्द्ध] अरुणधम्, रुन्ध्यात्, रुन्ध्याताम्, रुध्यात्, इरित् होने से अङ् विकल्प (१२८) अरुधत्, अरुधताम्, अरौत्सीत्, अरुद्ध, अरुत्साताम्, अरोत्स्यत्

---

१. अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (सन्धि॰ ११) सूत्र से ।

२. न पदान्तद्विर्वचन॰ (सन्धि॰ १२) सूत्र से ।

[अरोत्स्यत] ॥ २ [भिदिर्] विदारणे = भेद । भिनत्ति, भिन्ते, बिभेद, बिभिदे, भेत्ता, भेत्स्यति, भेत्सति, भेत्साति, भिनत्तु, अभिनत् अभिनः, अभिनदम्, अभिन्त, भिन्द्यात्, भिद्यात्, अभिदत्, अभैत्सीत्, अभैत्ताम्, अभित्त ॥ ३ [छिदिर्] द्वैधीकरणे = दो भाग करना। छिनत्ति, अच्छिनत्, अच्छिनम्, अच्छिदत्, अच्छैत्सीत्, अच्छित्त ॥ ४ [रिचिर्] विरेचने = खाली करना। रिणक्ति, रिङ्क्ते, रिरेच, रिरिचे, रेक्ता, रेक्ष्यते, रेक्तै, रेक्तातै, रिणक्तु, रिङ्क्ताम्, अरिणक्, अरिचत्, अरिक्त॥ ५ [विचिर्] पृथग्भावे = अलग होना। विनक्ति, विङ्क्ते, अविनक्, अविचत्, अवैक्षीत् अविक्त ॥ ६ [क्षुदिर्] संपेषण = पीसना। क्षुणत्ति, क्षुन्ते, क्षोत्ता, अक्षुणत्, अक्षुणः, अक्षुदत्, अक्षौत्सीत्, अक्षुत्त ॥ ७ [युजिर्] योग = समाधि। युनक्ति, युङ्क्ते, अयुनक्, अयुजत्, अयौक्षीत्, [अयुक्त], अयोक्ष्यत् ॥ रुधादयोऽनुदात्ताः स्वरितेतः। रुध आदि धातु अनिट् उभयपदी हैं ॥

८ [उच्छृदिर्] दीप्तिदेवनयोः = प्रकाश और क्रीड़ा आदि। छृणत्ति, छृन्ते, चच्छर्द, चच्छृदतुः, छर्दिता, छर्दिष्यति, छर्त्स्यति (३९७) छर्दिषति, छर्दिषाति, छर्त्सति, छर्त्साति, छृणत्तु, अच्छृणत्, अच्छृणः, छृन्द्यात्, छृद्यात्, छृत्सीष्ट, अच्छृदत्, अच्छर्दीत्, अच्छर्दिष्ट, अच्छर्दिष्यत्, अच्छर्त्स्यत् ॥ ९ [उतृदिर्] हिंसाऽनादरयोः = हिंसा और अनादर। तृणत्ति, इत्यादि, छृदि के समान जानो। ये दोनों धातु उभयपदी सेट् हैं ॥

१० [कृती] वेष्टने = लपेटना। कृणत्ति। यह धातु तुदादिगण (पृष्ठ २९१) में आचुका है आर्धधातुक में वैसे ही प्रयोग जानो ॥ ११ [ञिइन्धी] दीप्तौ। उदात्तोऽनुदात्तेदात्मनेपदी। यह धातु सेट् आत्मनेपदी है ञि और इकार की इत्संज्ञा होकर—

४३६—श्नान्नलोपः ॥ ६ । ४ । २३ ॥

श्नम् प्रत्यय से परे नकार का लोप हो अर्थात् [श्नम् का विधान] इकार से परे होने के कारण धकार से पूर्व जो न उसका लोप होता है। इन्धे (३५२) अकारलोप, इन्धाते, इन्धते, इन्त्से, इन्धाञ्चक्र, इन्धाम्बभूव, इन्धामास, (१६९) सूत्र से वद में आम् प्रत्यय का निषेध होने से (३३) सूत्र से लिट् को कित् होकर ईधे (१३९) नलोप, ईधाते, ईधिरे, इन्धिता, इन्धिष्यते, इन्धिषतै, इन्धिषातै, इन्धाम्, इन्धाताम्, इन्धै, ऐन्ध, ऐन्धा, इन्धीत, इन्धिषाष्ट, ऐन्धिष्ट, ऐन्धिष्यत ॥ १२ [खिद] दैन्ये = दीनता। खिन्ते, खेत्ता, खिन्ताम्, अखिन्त, खिन्दीत, खित्सीष्ट, अखित्त ॥ १३ [विद] विचारण = विचारना। विन्ते, विविदे, वेत्ता, वेत्स्यते, वेत्सते, वेत्सातै, विन्ताम्, अविन्त, विन्दीत, वित्साष्ट, अवित्त, अवेत्स्यत। खिदिविदी अनुदात्तावात्मनेपादिनौ। खिद और विद दोनों धातु अनिट् आत्मनपदी हैं ॥

अथ परस्मैपादिनो द्वादश। अब बारह (१२) धातु परस्मैपदी कहते हैं। १४ [शिपॢ] विशेषण = विशेषण। शिनष्टि, शिष्ट, शिंषन्ति, शिशेष, शिशेषिथ, शेष्टा, शेक्ष्यति, शेक्षति, शेक्षाति, शिनष्ट, 'शि-न्-ष्-हि' यहां प्रथम हि को धि और षकार का जश्त्व ड [तथा धि का ष्टुत्व] होकर (२७२) सूत्र से विकल्प करके डकार लोप होता है—शिण्ढि, शिण्ड्ढि, शिनषाणि, अशिनट्, शिष्यात्, शिष्यात्, लृदित् होने से अङ् (२१७) अशिषत्, अशेक्ष्यत् ॥ १५ [पिषॢ] सञ्चूर्णने = पीसना। पिनष्टि, पिपेष, पेष्टा, पेक्ष्यति, पेक्षति, पेक्षाति, पिनष्टु, पिण्ढि, अपिनट्, अपेक्ष्यत्, अपिषत् ॥ १६ [भञ्जो] आमर्दने = मल स मलना। भनक्ति, बभञ्ज, बभञ्जिथ, बभङ्क्थ, भङ्क्ता, भङ्

क्ष्यति, अभाङ्क्षात्, अभाङ्क्ताम् ॥ १७ [भुज] पालनाभ्यवहारयो = रक्षा और भोजन । भुनक्ति, भोक्ता, भोक्ष्यति, अभुनक्, अभौक्षीत्, अभोक्ष्यत् । अनुदात्ता उदात्तेत्तश्चत्वार ये शिष आदि चार धातु अनिट् परस्मैपदी हैं ॥ १८, १९ [तृह, हिंसि] हिंसायाम् ।

४३७—तृणह इम् ॥ ७ । ३ । ९२ ॥

श्नम् प्रत्ययान्त तृह धातु को इम् का आगम होवे हलादि पित् सार्वधातुक पर हो तो । तृणेढि, तृण्ढ, ततर्ह, तर्हिता, तर्हिष्यति, तर्हिष्यति, तर्हिपाति, तृणेढु, अतृणेट्, तृह्यात्, तृह्यात्, अतर्हीत्, हिनस्ति, हिंस्त, हिंसन्ति, जिहिंस, हिंसिता ॥ २० [उन्दी] क्लेदने = गीलापन । उनत्ति, उन्त, उन्दन्ति, उन्दाञ्चकार, उन्दाम्बभूव, उन्दामास, उन्दिता, उनत्तु, उन्धि, औनत्, औन्ताम्, औन्दन्, औन (२५१) औनत्, औनदम्, उन्द्यात्, उद्यात्, (१२९), औन्दीत् ॥ २१ [अञ्जू] व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु = मनुष्यादि का स्थूलव्यक्ति, भोजन, शोभा और गति । अनक्ति, अङ्क्त, अञ्जन्ति, आनञ्ज, आनञ्जिथ, आनङ्क्थ, ऊदित् होने से इट् विकल्प (१४०), अञ्जिता, अङ्क्ता, अञ्जिष्यति, अञ्जिष्यति, अङ्क्ष्यति, अङ्क्षाति, अनक्तु, अङ्ग्धि, अनजानि, आनक्, आङ्क्ताम्, आञ्जन्, अज्यात्, अज्यात् ।

४३८—अञ्जेः सिचि ॥ ७ । २ । ७१ ॥

अञ्ज धातु से परे जो सिच् उसका नित्य इट् का आगम होवे । ऊदित् होने से इट का विकल्प (१४०) प्राप्त है, उसका यह अपवाद है । आञ्जीत्, आञ्जिषम् ॥ २२ [तञ्चू] सङ्कोचने = दही जमाना । तनक्ति, ततञ्चिथ, ततङ्क्थ, तञ्चिता, तङ्क्ता, तनक्तु, अतनक्, अतञ्चीत्, अताङ्क्षीत्,

अवाङ्क्ताम् ॥ २३ [ओविजी] भयचलनयोः । विनक्ति विङ्क्तः, विवेज, विविजिथ (४२८), विजिता, विजिष्यति, वेजिपति, वेजिपाति, विनक्तु, अविनक्, अविजीत् ॥ २४ [वृजी] वर्जने । वृणक्ति, वर्जिता ॥ २५ [पृची] सपर्के = स्पर्श करना । पृणक्ति, पपर्च, पपर्चिथ, पर्चिष्यति, पर्चिपति, पर्चिपाति, पृणक्तु, अपृणक्, पृच्यात्, पृच्यात्, अपर्चीत्, अपर्चिष्यत् ॥ वृत ॥

॥ इति श्नम्विकरणो रुधादिगणः समाप्तः ॥

[यह श्नम् विकरणवाला रुधादिगण समाप्त हुआ ।]



अथ तनादिगणः

अथ सप्त स्वरितेतः। अब सात धातु उभयपदी कहते हैं।

१ [तनु] विस्तारे।

४३९-तनादिकृञ्भ्य उः ॥ ३ । १ । ७९ ॥

तनादि और कृञ् धातु से उ प्रत्यय हो कर्तावाची सार्वधातुक परे हो तो। यह भी सूत्र शप् का अपवाद है। कृञ् धातु भी तनादिगण में ही पढ़ा है इस कारण कृञ् से भी उ प्रत्यय हो ही जाता फिर कृञ् का पृथक् ग्रहण इसलिये है कि तनादिगण के अन्य कार्य कृञ् को न हों। जैसे तनादिकों से परे सिच् का लुक् (४४०) विकल्प से होता है सो कृञ् से न होवे [1]। तनोति, तनुतः, तन्वः

---

१ वस्तुतः यह ठीक नहीं है। कृञ् से लुक् के अभावपक्ष में भी 'ह्रस्वादङ्गात्' (आ० २४१) से सिच् का लोप हो जायगा, अतः महाभाष्यकार के मत में कृञ् ग्रहण व्यर्थ है। हमारा विचार है 'कृञ्' का तनादि में पाठ अपाणिनीय है। इस का वास्तविक पाठ भ्वादि में था। क्षीरस्वामी, हेमचन्द्र, दैव-ग्रन्थकार, दशपादी-उणादिवृत्तिकार आदि अनेक प्राचीन वैयाकरण इसे भ्वादि में पढ़ते हैं। भ्वादि से कृञ् का बहिष्कार सायण ने किया है। वह ऋग्भाष्य १ । ८२ । १ में लिखता है—"अनेन प्रकारेणास्माभिर्धातुवृत्तावथ धातुर्निराकृतः"। दीक्षित ने भी सायण का अनुसरण किया, अतः धातुपाठ के नये हस्तलेखों में इसका भ्वादि में पाठ नहीं मिलता। वस्तुतः कृञ् के 'करति, करतः, करन्ति' और 'करोति, कुरुतः, कुर्वन्ति' दो प्रकार के रूप बनाने के लिये पाणिनि ने भ्वादिगण और इस (४३९) सूत्र में कृञ् का पाठ किया था। भ्वादि पाठ सामर्थ्य से शप् और ४३९ सूत्र में पाठ होने से उ प्रत्यय होता है। स्वामी दयानन्द का भी यही मत है वे लिखते हैं—"डुकृञ् करणे इत्य-

(२००), वनुत, ततान, तेन, तनिता, [तनिष्यति] तनिष्यत, तानिपति, तानिपाति, [तानिपतै, तानिपातै] तनोतु, तनु (२०१), तनवानि, तनुताम्, अतनोत्, अतनुत, तनुयात्, तन्वीत, तन्यात्, तनिषीष्ट, अतानीत्, अतनीत्।

४४०—तनादिभ्यस्तथासोः ॥ २।४।७६॥

तनादि धातुओं से परे जो सिच् उसका [विकल्प से] लुक् होवे त और थास् परे हों तो। थास् आत्मनेपद प्रत्यय के साहचर्य से त भी आत्मनेपद का एकवचन लिया जाता है, इससे 'यूयमतनिष्ट' यहां परस्मैपद के मध्यम पुरुष बहुवचन में सिच् लुक् नहीं होता। अतत (२०३) अनुनासिकलोप, अतनिष्ट, अतनिषाताम्, अतनिषत, अतथाः, अतनिष्ठा, अतनिषि, अतनिष्यत्, अतनिष्यत ॥ २ [षणु] दाने। सनोति, सनुते, सायात् (१८५) सन्यात्, [सनिषीष्ट, असानीत्, असनीत्] असात (३९४) असनिष्ट, असाथा, असनिष्ठा। ॥ ३ [क्षणु[२]] हिंसायाम्।

स्य भ्वादिगणान्तर्गतपठितत्वाच्छविकरणोऽत्र गृह्यते, तनादिभिः सहपाठाद् उविकरणोऽपि। यजुर्वेदभाष्य ३। ५८।" यहां 'तनादिभिः सह पाठाद्' का अभिप्राय सूत्र (४३९) पाठ में 'तनादिकृञ्भ्य' पाठ से है। डी. ए. वी. कालेज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय में धातुपाठ का एक हस्तलेख है जिसकी संख्या १७६९ है यह हस्तलेख स्वामी विरजानन्द सरस्वती के शिष्य हरिचन्द्र के हाथ का लिखा हुआ है। इस हस्तलेख में कृञ् धातु का तनादि में पाठ नहीं है। इस से प्रतीत होता है कि कृञ् के तनादिगण में पाठ मानने से पाणिनि के ऊपर जो दोष आता है उसके निराकरण का श्रेय स्वामी विरजानन्द सरस्वती को है।

२ धातुपारायण में पूर्णचन्द्र ने 'क्षणु, क्षिणु, ऋणु, तृणु' धातुओं में ण को नैमित्तिक अर्थात् ष और ऋ के योग में बना हुआ माना है।

क्षणोति, क्षणुते, अक्षणीत् (१६२) वृद्धि का निषेध। अक्षत, अक्षणिष्ट, अक्षथाः, अक्षणिष्ठाः॥ ४ [क्षिणु] च। क्षेणोति¹ यहां उ प्रत्यय के आर्धधातुक होने से लघूपधगुण (५२) होता है। क्षेणुते, चिक्षेण, चिक्षिणे, क्षेणितासि, क्षेणितासे, क्षेणिष्यति, क्षेणिष्यते, अक्षेणीत्, अक्षित, अक्षेणिष्ट, अक्षिथाः, अक्षेणिष्ठाः॥

५ [ऋणु]। गतौ। अर्णोति, अर्णुतः, अर्णुवन्ति, आनर्ण, आनृणतुः, आनृणे, अर्णितासि, आर्णीत्, आर्त, आर्णिष्ट, आर्थाः, आर्णिष्ठाः॥ ६ [तृणु] अदने। तर्णोति, तर्णुते, अतृत, अतर्णिष्ट॥ ७ [घृणु] दीप्तौ। घर्णोति, घर्णुते, जघर्ण, जघृणे। तनादय उदात्ताः स्वरितेत उभयतोभाषाः। ये तन आदि धातु सेट् उभयपदी हैं॥

८ [वनु] याचने = मांगना। वनुते। ववने (१२९),

अतः उनके मत में यङ्लुक् में 'क्षणु' का 'चङ्क्षणन्ति', 'क्षिणु' का 'चेक्षिणन्ति' और 'तृणु' का 'तरीतृणन्ति' प्रयोग बनता है। इसी प्रकार 'ऋणु' का सन् में 'अर्णिणिषति' प्रयोग होता है। अर्थात् णकार के योग में यङ्लुक् के प्रयोगों में नकार को णकार नहीं होता और सन् के प्रयोग में अभ्यास से उत्तर नकार रहता है।

१ कई वैयाकरण 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इस नियम से गुण का अभाव मानते हैं इसलिये उन के मत में 'क्षिणोति, ऋणोति' आदि प्रयोग बनते हैं। आपिशलि आचार्य ने "उविकरणे गुणः, करोतेश्च, मिदेश्च" ये तीन सूत्र रचे हैं। उनके मत में 'करोतेश्च' सूत्र के नियमार्थक होने से उविकरण में केवल कृञ् को ही गुण होता है अन्य को नहीं। अतः क्षिणोति आदि प्रयोग ही साधु हैं। अर्वाचीन वैयाकरण अष्टाध्यायी में गुणनिषेधक सूत्र के विद्यमान न होने से गुण मान कर 'क्षेणोति' प्रयोग मानते हैं, परन्तु ऐसे प्रयोग न मिलने से वे चिन्त्य हैं।

वनितासे, वनिष्यति, वानिषते, वानिषाते, वनुताम् , वनवै, अवनुत, वन्वीत, वनिषीष्ट, अवत, अवनिष्ट, अवथाः, अवनिष्ठाः, अवनिष्यत ॥
९ [मनु] अवबोधने = निश्चित ज्ञान । मनुते, मेने, अमत, अमनिष्ट। उदात्तावनुदात्तेतावात्मनेपदिनौ। ये दोनों धातु सेट् आत्मनेपदी हैं॥

१० [डुकृञ्] करणे = करना । अनुदात्त उभयतोभाषः । यह धातु अनिट् उभयपदी है । करोति । तस् के परे भी उ प्रत्ययनिमित्त कृञ् को अर् गुण होकर—

४४१–अत उत्सार्वधातुके ॥ ६ । ४ । ११० ॥

कृञ् धातु के अकार को उकारादेश होवे कित् ङित् सार्वधातुक परे हों तो । कुरुतः, कुर्वन्ति । यहां भी यणादेश के अनन्तर (१९७) सूत्र से दीर्घ प्राप्त है उसका निषेध (४३०) हो जाता है । करोषि, कुरुथः, कुरुथ, करोमि ।

४४२–नित्यं करोतेः ॥ ६ । ४ । १०८ ॥

करोति धातु से परे जो प्रत्यय का उकार उसका नित्य ही लोप होवे व, म परे हों तो । यह सूत्र (२००) का अपवाद है । कुर्वः, कुर्मः, कुरुते, कुर्वाते, चकार, चक्रतुः, चकर्थ (१४८), चकृव, चक्रे, चकृषे, कर्ता, करिष्यति, करिष्यते (२३८), कार्यति, कार्षाति, कार्षतै, कार्षातै, करोतु, कुरुतात्, कुरु (२०१), करवाणि, करवाव, कुरुताम्, अकरोत्, अकुरुत ।

४४३–ये च ॥ ६ । ४ । १०९ ॥

कृञ् धातु से परे प्रत्यय के उकार का लोप हो यकारादि प्रत्यय परे हों तो । कुर्यात्, क्रियात् (२३९), कृषीष्ट (२४०), अकार्षीत्, अकार्ष्टाम्, अकृत, अकृथाः । यहां सिच्लुक् (२४१) नित्य होता है । अकरिष्यत्, अकरिष्यत ।

४४४—मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः ॥ २ । ४ । ८० ॥

वेदविषय मन्त्रभाग में घस, ह्वर, णश, वृ, दह, आकारान्त, वृज्, कृ, गमि और जन धातुओं से परे जो लि उसका लुक् होवे। लि करके यहां लुङ् का च्लि प्रत्यय समझा जाता है। 'घस्लृ, अदने—अक्षन्नमीमदन्त पितर, अक्षन्। अघसन्—लोक में होता है। ह्वर से 'ह्वृ कौटिल्ये' समझना चाहिये। मा ह्वा', अह्वाः। लोक में—अह्वार्षीत्। 'णश अदर्शने'—प्रणक् मर्त्यस्य, प्रणक्। यहां अट् का अभाव है। लोक में—अनशत्। वृ करके 'वृङ्' और 'वृञ्' दोनों का ग्रहण होता है। सुरुचो वेन आवः, आवः। आवारीत्—आङ्पूर्वक लोक में। 'दह भस्मीकरणे'—अधक्। लोक में—अधाक्षीत्। [आकारान्त—] 'प्रा पूरणे'—आप्रा द्यावापृथिवी, अप्रा। अप्रासीत्—लोक में। [वृज् से 'वृजी वर्जने'—मा नो अस्मिन् धने परा] वर्क्। लोक में—अवर्जीत्। 'कृ' धातु का—'अक्रन्' बहुवचन में और 'अकः' एकवचन में। 'गम्लृ' का—अग्मन्। लोक में—अगमन्। 'जन' का—अज्ञत वा अस्य दन्ताः। लोक में—अजनि, अजनिष्ट।

४४५—अभ्युत्सादयांप्रजनयांचिकयांरमयामकः पावयांक्रियाद्विदामक्रन्निति छन्दसि ॥ ३ । १ । ४२ ॥

अभ्युत्सादयाम् आदि वेदविषय में विकल्प से निपातन किये हैं। सद, जन और रम इन णयन्त धातुओं से लुङ् लकार में आम् प्रत्यय निपातन किया है। और चिञ् धातु से भी लुङ् में आम् प्रत्यय द्विर्वचन और कुत्व निपातन किया है। 'अकः' यह कृञ्

-धातु का पूर्वसूत्र (४४४) से सिद्ध प्रयोग का सद् आदि चारों धातुओं के अन्त में अनुप्रयोग किया है । जैसे—अभ्युत्सादयामकः । और लोक में—अभ्युदसीषदत् । प्रजनयामकः । लोकमें प्राजीजनत् । चिकयामकः । लो०—अचैषीत् । रमयामकः । लोकमें अरीरमत् । पावयांक्रियात् । यहां एयन्त पूङ् धातु से लिङ् में आम् प्रत्यय और कृञ् धातु का अनुप्रयोग निपातन किया है । लोक में—पाव्यात् । विदामक्रन् । यहां लुङ् लकार के प्रथम पुरुष बहुवचन में विद धातु से आम् प्रत्यय कृञ् का अनुप्रयोग और च्लि का लुक् (४४४) निपातन किया है । लोक में—अवेदिषुः । होता है । धृत ॥

॥ इति [उविकरणः] तनादिगणः समाप्तः ॥

[यह उ विकरणवाला तनादिगण समाप्त हुआ]



अथ क्र्यादिगण

[अथ क्र्यादय: षोडशोभयपदिन । अब १६ सोलह[1] उभयपदी धातु कहते हैं ।] १ [डुक्रीञ्] द्रव्यविनिमये = द्रव्य का लेना देना ।

४४३—क्र्यादिभ्यः श्ना ॥ ३ । १ । ८१ ॥

कर्त्तावाची सार्वधातुक परे हो तो क्री आदि धातुओं से श्ना प्रत्यय हो । क्रीणाति, क्रीणीत (३८३), पर नित्य और अन्तरङ्ग होने से ईकारादेश । (३८३) का बाधक झि को अन्ति और झ को अन्त आदेश होकर—क्रीणन्ति (३६५), क्रीणासि, क्रीणीसे, क्रीणाति, क्रीणत, चिक्राय, चिक्रियतुः, चिक्रयिथ, चिक्रेथ, चिक्रियिव, क्रेता, क्रेष्यति, क्रेष्यत, क्रैषति, क्रैषाति, क्रैषते, क्रैषातै, क्रीणातु, क्रीणीहि, क्रीणानि, क्रीणीताम्, [अक्रीणात्,], अक्रीणीत, क्रीणीयात्, क्रीणीत, क्रीयात्, क्रेषीष्ट, अक्रैषीत्, अक्रेष्ट, अक्रेष्यत्, अक्रेष्यत ॥ २ [प्रीञ्] तर्पणे कान्तौ च = तृप्ति और शोभा । प्रीणाति, प्रीणीते ॥ ३ [श्रीञ्] पाके = पकाना । श्रीणाति, श्रीणीत ॥ ४ [मीञ्] हिंसायाम् । मीनाति, मीनीत, मीनीत । एच् विषय में आकारादेश (३९९)—ममौ, मिम्यतु, ममिथ, ममाथ, मिम्ये, माता, मास्यति, मास्यते, मासति, मासाति, मीयात्, मासीष्ट, अमासीत्, अमासिष्टाम्, अमास्त, अमासाताम् ॥ ५ [षिञ्] बन्धने । सिनाति, सिनीत, सिषाय, सिष्ये, सेता ॥ ६ [स्कुञ्] आप्रवणे = कूदना ।

---

1. क्र्यादि अनिट् ७ + क्नूयादि सेट् ९ = १६ ।

४४७—स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्कुम्भुस्कुञ्भ्यः श्नुश्च ॥ ३ । १ । ८२ ॥

स्तम्भु आदि पांच धातुओं से श्नु और चकार से श्ना प्रत्यय हों कर्तावाची सार्वधातुक परे हो तो । स्कुनोति, स्कुनुते, स्कुनाति, स्कुनीते, चुस्काव, चुस्कविथ, चुस्कोथ, स्कोता, अस्कौषीत्, अस्कोष्ट। स्तम्भ आदि चार धातु सौत्र हैं, इनका पाठ किसी गण में नहीं है, और सब रोकने अर्थ में परस्मैपदी हैं। स्तभ्नोति, स्तभ्नाति (१३९) नलोप, तस्तम्भ, अस्तभत् (१५४) अङ्विकल्प, अस्तम्भीत्, स्तुभ्नोति, स्तुभ्नाति, स्कभ्नोति, स्कभ्नाति, स्कुभ्नोति, स्कुभ्नाति, चस्कम्भ, स्कम्भिता, स्कम्भिष्यति ।

४४८—हलः श्नः शानज्झौ ॥ ३ । १ । ८३ ॥

हलन्त धातु से परे जो श्ना प्रत्यय उसको शानच् आदेश होवे हि परे हो तो । स्तभान, स्तुभान, स्कभान, स्कुभान । श्नुपक्ष में—स्तभ्नुहि इत्यादि । अस्कभ्नात्, अस्कभ्नोत्, स्कभ्नीयात्, स्कभ्नुयात्, स्कभ्यात्, अस्कम्भीत्, अस्कम्भिष्यत् ।

४४९—छन्दसि शायजपि ॥ ३ । १ । ८४ ॥

वेद विषय में हि परे हो तो श्ना प्रत्यय के स्थान में शानच् और शायच् दोनों आदेश हों । गृभाय, स्तभाय, स्कभाय, स्तभान, बधान देव सवितः ॥ ७ [युञ्] बन्धने । युनाति, युनीते, युयाव, युयुवे । क्र्यादयोऽनुदात्ता उभयपदिनः सप्त । क्री आदि सात धातु अनिट् उभयपदी हैं ॥

४५०—प्वादीनां ह्रस्वः ॥ ७ । ३ । ८० ॥

शित् प्रत्यय परे हो तो पू आदि धातुओं के अच् को ह्रस्व होवे। पुनाति, पुनीते, पुपाव, पुपुवे, पविता, पविष्यति ॥ ११ [लूञ्] बन्धने। लुनाति, लुनीते, लाविषति, लाविषाति ॥ १२ [लूञ्] छेदन = काटना। लुनाति, लुनीते, लुनातु, लुनीताम् ॥ १३ [स्तॄञ्] आच्छादन। स्तृणाति, स्तृणीते, तस्तार, तस्तरतु, स्तरीता, स्तरिता, अस्तृणात्, [अस्तृणीत,] स्तृणीयात्, स्तृणीत, स्तीर्यात्, स्तरिषीष्ट, (४२०, ४२१), स्तृषीष्ट, अस्तारीत्, अस्तारिष्टाम्। अस्तरिष्ट, अस्तरीष्ट, (४२०) अस्तीर्ष्ट ॥ १४ [कॄञ्] हिंसायाम्। कृणाति, कृणीते, चकार, चकरतु, चकरे (२५८) ॥ १५ [वृञ्] वरणे = स्वीकार। वृणाति, वृणीते, ववार, ववरे, वरिता, वरीता, वूर्यात् (३८०, १९७), वरिषीष्ट (४२०) वूर्षीष्ट, अवारीत्, अवारिष्टाम्, अवरिष्ट, अवरीष्ट, अवूर्ष्ट ॥ १६ [धूञ्] कम्पने। धुनाति, धुनीते, दुधाव, दुधुवतु, दुधविथ, दुधोथ (१४०) इट् विकल्प, धविता, धोता, धविष्यति, धोष्यति, अधावीत् (३३०) नित्य इट्, अधविष्ट, अधोष्ट। उदात्ता उभयतोभाषा नव। स्तॄञ् आदि नव (९) धातु सेट् उभयपदी हैं ॥

अथ [श्रादयो] वध्नात्यन्ता [द्वाविंशति] परस्मैपदिनः। अब [शॄ आदि] बध धातुपर्यन्त [२२] परस्मैपदी कहते हैं। १७ [शॄ] हिंसायाम्। शृणाति, शशार, शश्रतु, शश्रु (३८१), दीर्घ पक्ष में शशरतु (२५८) गुण, शशरिथ, शश्रिथ, शशरिव, शरीता, शरिता, शरिष्यति, शरीष्यति, शारीषति, शारीषाति, शारिषति, शारिषाति, शृणातु, शृणीहि, अशृणात्, शृणीयात्, शीर्यात्, अशारात्, अशारिष्टाम्, अशरीष्यत्, अशरिष्यत् ॥ १८ [पॄ] पालनपूरणयोः।

पृणाति, पप्रतुः, पपरतुः, पूर्यात् (३८०)। १९ [वॄ] वरणे। भरण इत्येके। वृणाति, वूर्यात्॥ २० [भॄ] भर्त्सने। भरण इत्यन्ये॥ २१ [मॄ] हिंसायाम्। मृणाति, ममार,॥ २२ [दॄ] विदारणे। दृणाति। दद्रतुः, ददरतुः,॥ २३ [जॄ] वयोहानौ। [झॄ] इत्येके। जृणाति, जीर्यात्॥ [धॄ] इत्यन्ये। धृणाति॥ २४ [नॄ] नये = ले चलना। नृणाति, नन्रतुः ननरतुः॥ २५ [कॄ] हिंसायाम्। कृणाति,॥ २६ [ॠ] गतौ। ऋणाति, अराञ्चकार, अराम्बभूव, अरामास, अरिता, अरीता, आर्णात्, आर्णीताम्, ईर्यात्, आरीत्, आरिष्टाम्॥ २८ [गॄ] शब्दे। गृणाति, जग्रतुः, जगरतुः गरीता, गरिता, गरिष्यति, गरीष्यति, गारीयति, गारीपाति, गृणातु, गृणीहि, अगृणात्, गृणीयात्, अगारीत्। [श्रादय उदात्ता एकादश। ये श्र आदि ११ धातु उदात्त हैं॥] २८ [ज्या] वयोहानौ (२८६) य को इ सम्प्रसारण और पूर्वरूप एकादेश होता है।

४५१—हलः॥ ६। ४। २॥

अङ्ग का अवयव हल् से परे जो संप्रसारण उस को दीर्घ होवे। जिनाति, यहां जि को दीर्घ होकर फिर ह्रस्व (४५०) हो जाता है। जिज्यौ (२८२), जिज्यतुः (२८६), ज्याता, ज्यास्यति, ज्यासति, ज्यासाति, जिनातु, अजिनात्, जिनीयात्, जीयात्, (२८६), अज्यासीत्, अज्यासिषुः,॥ २९ [व्री] वरणे। व्रिणाति, विव्राय, विव्रियतुः, व्रेता, व्रीयात्॥ ३० [री] गतिरेषणयोः = गति और भेड़ियें का शब्द। रिणाति॥ ३१ [ली] श्लेषणे। लिनाति, (४००) आत्वविकल्प। ललौ, लिलाय, लिल्यतुः, ललिथ, ललाथ, लिलयिथ, लाता, लेता, लास्यति, लेष्यति, लासति, लासाति, लैपति, लैपाति, लिनातु, लिनीहि, अलिनात्, लिनीयात्,

लायात्, लेयात्, अलासीत्, अलैषीत्, अलास्यत्, अलेष्यत् ॥ ३२ [व्ली] वरणे = स्वीकार । व्लिनाति ॥ ३३ [प्ली] गतौ । वृत् । ये (४५०) सूत्र में कहे प्वादि[1] धातु पूरे हुए ॥

३४ [व्री] वरणे । व्रीणाति ।] ३५ [भ्री] भये = डर । [भरण] इत्येके । भ्रीणाति ॥ ३६ [क्षीष्] हिंसायाम् । षित् का प्रयोजन कृदन्त[2] में आवेगा । क्षीणाति ॥ ३७ [ज्ञा] अवबोधने । जानाति (४०२), जानीतः, जानन्ति, जानासि, जज्ञौ, जज्ञतु, जज्ञिथ, जज्ञाथ, ज्ञाता, ज्ञास्यति, ज्ञास्सति, ज्ञासाति, जानातु, जानीहि, जानानि, अजानात्, जानीयात्, ज्ञयात्, ज्ञायात्, अज्ञासीत्, अज्ञास्यत् ॥ ३८ [बन्ध] बन्धने = बाधना । बध्नाति, बबन्धिथ, बबन्ध, बन्धा, बन्धारौ, बन्धार, भन्त्स्यति, भन्त्सति, भन्त्साति, बध्नातु, बधान (४४८, ४४९) बधाय, अबध्नात्, बध्नीयात्, बध्यात्, अभान्त्सीत्, अबान्धाम्—यहां भष्भाव से पूर्व सिज्लोप (१४२) हो जाता है, पीछे प्रत्ययलक्षण सूत्र की अपेक्षा में त्रिपादी सिज्लोप के असिद्ध होने से । प्रत्यय के न रहने से भष्भाव नहीं होता । अभान्त्सुः । उपादयोऽनुदात्ताः परस्मैभाषाः । ये ज्यादि [११] धातु अनिट् परस्मैपदी हैं ॥

३९ [वृङ्] सम्भक्तौ = अच्छी भक्ति । उदात्त आत्म-

---

१ यहीं पर ल्वादि की परिसमाप्ति भी होती है । देखो भाष्या० ११५२ । अन्य वैयाकरण इस वृत् करण को केवल ल्वादि की समाप्ति के लिये मानते हैं, और प्वादि आगणान्त मानते हैं । उन के मत में 'व्री' भ्री, क्षीष्, इन को भी ह्रस्व होता है, अर्थात् क्रमशः—'व्रिणाति, भ्रिणाति, क्षिणाति' रूप बनते हैं ।

२. पिद्भिदादिभ्योऽङ् (भा० १२६२) से अङ् प्रत्यय होता है ।

नेपदी। वृणीते, वव्रे, ववृषे, ववृढ्वे, वरीता, वरिता, वृणीताम्, अवृणीत, वृणीत, वरिषीष्ट (४२०, ४२१) वृषीष्ट, अवरीष्ट, अवरिष्ट, अवृत, अवरीष्यत, अवरिष्यत ॥

इति परस्मैपदिनः। अब यहां से आगे परस्मैपदी धातु कहते हैं ॥ ४० [श्रन्थ] विमोचनप्रतिहर्षयो = छूटना और आनन्द। श्रथ्नाति, शश्राथ[1] (२७१), श्रेथतु, श्रेथुः, श्रथिथ, शश्रथ, शश्राथ, श्रन्थिता, श्रन्थिष्यति, श्रन्थिषति, श्रन्थिषाति, श्रथ्नातु, श्रथान, श्रथाय, अश्रथ्नात्, श्रथ्नीयात्, श्रथ्यात् (१३९), अश्रन्थीत्, अश्रन्थिष्टाम्, अश्रन्थिष्यत्॥ ४१ [मन्थ] विलोडने। मथ्नाति, मथान, मथाय ॥ [श्रन्थ, ४२ ग्रन्थ] सन्दर्भे। ग्रथ्नाति, ग्रथान, ग्रथ्यात्, अर्थ भिन्न होने से श्रन्थ फिर पढा है ॥ ४३ [कुन्थ] संश्लेषणे। कुथ्नाति, कुथान ॥ ४४ [मृद] क्षोदे = पीसना। मृद्नाति, मृदान ॥ ४५ [मृड] च। अयं सुखेऽपि। मृड्नाति, मृडान ॥ ४६ [गुध] रोषे = रिसाना। गुध्नाति, गुधान ॥ ४७ [कुष] निष्कर्षे = खींचना। कुष्णाति, चुकोष, चुकुषतु, कोषिता, कोषिष्यति, कोषिषति, कोषिषाति, कुष्णातु, कुषाण, अकोषीत्।

४५२–निरः कुषः ॥ ७। २। ४६ ॥

निर् उपसर्ग पूर्वक कुष धातु से परे वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम विकल्प करके होवे। निष्कोषिता, निष्कोष्टा, निरकोषीत्, निरकुक्षत् (२०७) क्स ॥ ४८ [क्षुभ] सञ्चलने = चलायमान होना। यहां षकार से परे णत्व प्राप्त है इसलिये—

---

1. दम्भु धातु पर सूत्र २७१ से किच्च का विधान अपिद् वचनों में माना है। यहां पक्षान्तर से पिद्वचन में भी किच्च का विधान किया है। विचार देखो, आख्या० पृष्ठ २०५, टि० १।

४५३—क्षुभ्नादिषु च ॥ ८ । ४ । ३८ ॥

क्षुभ्ना आदि शब्दों में नकार को णकारादेश न होवे। क्षुभ्नाति, क्षुभ्नीत, क्षोभिता, क्षुभाण,[1] क्षुभाय ॥ ४९, ५० [णभ, तुभ] हिंसायाम्। नभ्नाति, तुभ्नाति, नभान, नभाय। ये दोनों धातु भ्वादि और दिवादिगण में भी आ चुके हैं ॥ ५१ [क्लिशू] विबाधने = दुःख होना। क्लिश्नाति, चिक्लेश, क्लेशिता, क्लेष्टा (१४०), अक्लेशात्, अक्लिक्षत् ॥ ५२ [अश] भोजने। अश्नाति, आश, आशतु, अशान ॥ ५३ [उध्रस] उञ्छे। उकार की इत्संज्ञा[2]। ध्रस्नाति, दध्रास, ध्रसिता, ध्रसान ॥ ५४ [इष] आभीक्ष्ण्य = बार-बार वा शीघ्र होना। इष्णाति, इयेष, ईषतु, एषिता[3], एषिष्यति, इषाण, ऐष्णात्, इष्णीयात्,

---

१ क्षुभ्नादिषु च (अ० ४५३) सूत्र में 'क्षुभ्ना' स्वरूप का ग्रहण है अतः यहां णत्व का निषेध नहीं होता। इसी प्रकार 'क्षोभणम्' में भी समझना चाहिये। भट्टोजिदीक्षित ने 'क्षुभान' णत्व का निषेध माना है। यह अशुद्ध है (काशिका क्षुभाण इत्यादि पाठ) 'क्षुभ्नाति, क्षुभ्नन्ति' इत्यादि प्रयोगों में 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' (परि० २७) नियम से णत्व का प्रतिषेध हो जाता है

२ कई वैयाकरण उकार की इत्संज्ञा नहीं मानते। उनके मत में—उध्रस्नाति, उध्रसाञ्चकार आदि प्रयोग बनते हैं। अन्य 'उद्ध्रस्' पढ़ते हैं। उनके मत में 'उद्ध्रस्नाति, उद्ध्रसाञ्चकार' आदि प्रयोग होते हैं।

३ अनेक वैयाकरणों का मत है कि 'तीषसहलुभ०' सूत्र (अ० २१२) में सह धातु के साहचर्य से शकार विकरणवाली तौदादिक इष का ही ग्रहण होता है अतः इसको इड्विकल्प नहीं होता। वस्तुतः 'इषेस्तकारे श्यन्प्रत्ययात् प्रतिषेधः' (अ० ७ । २ । ४८) इस वार्तिक के प्रमाण से इस 'इष' धातु से भी इट् का विकल्प होता है। अतः 'एषिता, एष्टा' दोनों रूप होंगे।

इष्यात्, ऐषीत्॥ ५५ [विष] विप्रयोगे = विरुद्धसंयोग विष्णाति, वेष्टा। यह धातु अनिट् है॥ ५६, ५७ [प्रुष, प्लुष] स्नेहनसेचनपूरणेषु। प्रुष्णाति, प्लुष्णाति॥ ५८ [पुष] पुष्टौ। पोषिता, पुपाष॥ ५९ [मुष] स्तेये = चोरी। मुष्णाति, मोषिता, मुमाष॥ ६० [खच] भूतप्रादुर्भावे = हो चुके का फिर होना। खच्नाति, चखाच। वान्तोऽयमित्येके। कोई के मत में यह खव धातु है वहां—

४५४—च्छ्वोः शूडनुनासिके च॥ ६। ४। १९॥

तुक् आगम के सहित जो छ और व उनको श और ऊठ् आदेश यथासंख्य करके हों अनुनासिक, क्विप और झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे हों तो। पीछे ऊठ् के साथ वृद्धि एकादेश होकर— खौनाति, खौनीत, चखाव, चखवतु, खविता, खौनीहि। यहां परत्व से प्रथम ऊठ् होकर हलन्त के न रहने से हि को धि न हुआ। ६१ [हेठ] च। चकार से पूर्वोक्त अर्थ लिया जाता है। ष्टुत्व होकर—हेठ्णाति, हेठान॥ श्रन्थादयः द्वाविंशतिरुदात्ता उदात्तेत [विष्णातिस्त्वनुदात्तः]। [ये] श्रन्थ आदि बाईस (२२) धातु सेट् परस्मैपदी हैं [और विष अनिट् है।] ६२ [ग्रह] उपादाने = लेना॥उदात्तः स्वरितेत्। यह धातु सेट् उभयपदी है। गृह्णाति। (२८६) सम्प्रसारण। गृह्णीते, जग्राह, जगृहतु, जगृहुः॥

४५५—ग्रहोऽलिटि दीर्घः॥ ७। २। ३७॥

एकाच् ग्रह धातु से विहित जो इट् उसको दीर्घ होवे परन्तु लिट् परे न हो तो। ग्रहीता। लिट् में निषेध होने से 'जग्रहिथ' यहां दीर्घ न हुआ। ग्रहीष्यति, ग्रहीष्यते, ग्राहिषति, ग्राहिषाति, गृह्णातु, गृहाण, अगृह्णात्, गृह्णीयात्, गृह्यात्, ग्रहीषीष्ट, अग्रहीत् (१६२), अग्रहीष्टाम्, अग्रहीष्ट, अग्रहीषाताम्, अग्रहीषत, अग्रहीष्यत्, अग्रहीष्यत। वृङ्॥

॥ इति श्नाविकरणः क्र्यादिगण समाप्तः॥

अथ चुरादिगणः

१ [चुर] स्तेये = चोरी करना।

४५६—सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच् ॥३।१।२५॥

सत्याप, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोम, त्वच, वर्म, वर्ण, चूर्ण [सुबन्तों] और चुरादि धातुओं से णिच् प्रत्यय होवे। सत्याप आदि चूर्णपर्यन्त प्रातिपदिकों का वर्णन नामधातु-प्रक्रिया में करेंगे। चुरादि धातुओं से स्वार्थ में णिच् होकर 'चुर्—णिच्' की धातु संज्ञा (१६७), णिच् को मानकर गुण (५२), तिप्, शप्, को मान कर गुण और अयादेश होकर—चोरयति, चोरयतः, चोरयन्ति।

४५७—णिचश्च ॥ १ । ३ । ७४ ॥

क्रिया का फल कर्ता के लिये हो तो णिजन्त धातु से आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय हों। चोरयते[1], चोरयाञ्चकार, चोरयाञ्चक्रे, चोरयामास, चोरयाम्बभूव, चोरयिता, चोरयिष्यति, चोरयिष्यते, चोरयिषति, चोरयिषाति, चोरयतु, चोरयताम्, अचोरयत, चोरयेत्, चोर्यात्, चोरयिषीष्ट, लुङ् में (१७६) चङ् (१७९) उपधा को ह्रस्व (१८०) द्वित्व (१८३) अभ्यास को दीर्घ—अचूचुरत्, अचूचुरत॥

२ [चिति] स्मृत्याम् = स्मरण। चिन्तयति, अचिचिन्तत्। इस चिति धातु को इदित् पढ़ने से यह ज्ञापक होता है कि

---

1. चन्द्र और श्रीभद्र आदि कतिपय वैयाकरण 'णिचश्च' सूत्र में चौरादिक णिच् का ग्रहण नहीं मानते, इसलिये उनके मत में आत्मनेपद नहीं होता। पाणिनीय वैयाकरण दोनों पक्ष मानते हैं।

चुरादि धातुओं से णिच् प्रत्यय विकल्प[1] से होवें, पक्ष में चुरादिकों से शप भी होवे अन्यथा चिन्त धातु पढ़ देते । चिति पढ़ने से 'चिन्त्यात्' आदि प्रयोगों में नकारलोप (१३९) नहीं होता ॥ ३ [यत्रि][2] संकोचने । यन्त्रयति, अययन्त्रत् ॥ ४

१. ज्ञापक इस प्रकार का होता है—चिति धातु का आर्शीलिङ् में 'चिन्त्यात्' और भावकर्म प्रक्रिया में 'चिन्त्यते' प्रयोग होता है। यदि यहां 'चिन्त' धातु पढ़ते तो भी उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध हो ही जाते, क्योंकि यासुट् या यक् के परे णि का लोप हुआ, पुनः न-लोप करने में णिलोप (आ० ४४ सूत्र से) के असिद्ध हो जाने से न लोप प्राप्त ही नहीं होता। पुनः नकार की रक्षा के लिये इदित् पढ़ना व्यर्थ है। अतः इदित् करना इस बात का ज्ञापक है कि कोई ऐसी अवस्था भी होती है जहां बिना इदित् किये नलोप का प्रतिषेध नहीं हो सकता। वह अवस्था तभी मिलेगी जब णिच् न हो और चिन्त से सीधे आर्शीलिङ् या यक् आदि की उत्पत्ति हो तब बिना इदित् किये न-लोप को कोई रोक नहीं सकता। कई वैयाकरण इस ज्ञापक से सब धातुओं से सामान्यतया णिच् विकल्प मानते हैं जैसा कि ऊपर लिखा है। परन्तु महाभाष्य ७।२।२१ से तथा चुरादिगण में णिच्विकल्प करने के लिये 'आधृषाद्वा' गणसूत्र पढ़ने से प्रतीत होता है कि यह सामान्य ज्ञापक नहीं हो सकता, अन्यथा 'आधृषाद्वा' वचन व्यर्थ होगा। अतः जिस धातु में कोई लिङ्ग होगा या जिसके लिये विशेष वचन होगा उसी धातु से णिच् का विकल्प होगा, सब से नहीं।

२. सायण ने धातुवृत्ति में 'यत्रि, कुद्रि, तत्रि, मत्रि, धातुओं से भी इदित्करण सामर्थ्य से पक्ष में शप् माना है, वह अयुक्त है क्योंकि यहां 'यन्त्र, कुन्द्र, आदि पढ़ते तब भी नकार का लोप प्राप्त नहीं होता, क्योंकि यहां इन में नकार उपधा में नहीं है। अतः यह इकार उच्चारणार्थ है।

[स्फुडि] परिहासे = ठट्ठा करना। स्फुण्डयति, अपुस्फुण्डत्। [स्फुटि] इत्येके। स्फुण्टयति॥ ५ [लक्ष] दर्शनाङ्कनयोः देखना और चिह्न। लक्षयति, अललक्षत्॥ ६ [कुद्रि] अनृतभाषणे = झूंठ बोलना। कुन्द्रयति, अचुकुन्द्रत्॥ ७ [लड] उपसेवायाम् = लाड़। लाडयति (१२७) वृद्धि, अलीलडत्॥ ८ [मिदि] स्नेहने। मिन्दयति, अमिमिन्दत्, मिन्द्यात्॥ ९ [ओलडि] उत्क्षेपे = ऊपर को फेंकना। लण्डयति, किन्हीं के मत में आकार की इत्संज्ञा नहीं होती वहां 'ओलण्डयति'। उकारादिरयमित्यन्ये। कोई इस धातु को उकारादि कहते हैं। उलण्डयति॥ १० [जल] अपवारणे = जाल। जालयति, अजीजलत्। [लज] इत्येके। लाजयति, अलीलजत्॥ ११ [पीड] अवगाहने = पीड़ा। पीडयति॥

४५८-भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम्॥ ७। ४। ३॥

भ्राज आदि धातुओं की उपधा को विकल्प करके ह्रस्व हो, चङ्परक णि परे हो तो। अपीपिडत्, अपिपीडत्, यहां जिस पक्ष में ह्रस्व नहीं होता है वहां लघुपरक अभ्यास के न होने से अभ्यास को दीर्घ (१८३) नहीं होता॥ १२ [नट] अवस्यन्दने = नाचना। नाटयति, अनीनटत्॥ १३ [श्रथ] प्रयत्ने। प्रस्थान इत्येके। कोई के मत में श्रथ धातु प्रस्थान अर्थ में है॥ १४ [बध] संयमने = बन्धन। बाधयति, अबीबधत्॥ १५ [पॄ] पूरणे। पारयति, पारयते, पारयाञ्चकार, पारयिता, अपीपरत्। इस धातु को दीर्घ ऋकारान्त पढ़ा है सो ह्रस्व कहते तो भी णिच् में वृद्धि हो ही जाती, फिर यह ज्ञापक होता है कि इससे शप् भी होवे। परति, परतः, पपार, पपरतुः, पप्रतुः (३८१)॥ १६ [ऊर्ज]

वलप्राणनयोः = बल और जीवन । ऊर्जयति ॥ १७ [पक्ष] परिग्रहे = लेना । पक्षयति, अपपक्षत् ॥ १८,१९ [वर्ण, चूर्ण] प्रेरणे । वर्णयति, चूर्णयति,॥ [वर्ण] वर्णन इत्येके = व्याख्यान॥ २० [प्रथ] प्रख्याने = प्रकट करना । प्रथयति ।

४५६—अत् स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तृस्पशाम् ॥ ७ । ४ । ९५ ॥

स्मृ आदि धातुओं के अभ्यास को अकारान्त आदेश हो चङ्परक णि परे हो तो । यह सूत्र सन्वद्भाव (१८१) से प्राप्त इत्व (१८२) का अपवाद है । अपप्रथत् ॥ २१ [पृथ] प्रक्षेपे = पर्थयति, पर्थयते, पर्थयाञ्चकार ।

४६०—उर्ऋत् ॥ ७ । ४ । ७ ॥

धातु की उपधा ऋकार के स्थान में ऋत् आदेश विकल्प से होवे चङ्परक णि परे हो तो । यह सूत्र गुण वृद्धि आदि का बाधक है । अपीपृथत्, अपपर्थत्, अपीपृथत, अपपर्थत ॥ [पथ] इत्येके । पाथयति ॥ २२ [षम्ब] सम्बन्धने = मेल । सम्बयति, अससम्बत् ॥ २३ [शम्ब] च । अशशम्बत् ॥ [साम्ब] इत्येके । अससाम्बत् ॥ २४ [भक्ष] अदने । भक्षयति ॥ २५ [कुट्ट] छेदनभर्त्सनयोः । पूरण इत्येके । कुट्टयति, अचुकुट्टत ॥ २६, २७ [पुट्ट, चुट्ट] अल्पीभावे = थोड़ा होना । पुट्टयति, चुट्टयति ॥ २८, २९ [अट्ट, षुट्ट] अनादरे । अट्टयति । इस धातु को दकारोपध मानने से उस दकार को ट के संयोग में टकार हो होकर उसके असिद्ध होने से संयोगादि दकार को द्वित्व नहीं होता । आट्टिटत् ॥ ३० [लुण्ठ] स्तेये । लुण्ठयति ॥ ३१, ३२ [शठ, श्वठ] असंस्कारगत्योः । [श्वठि] इत्येके । शाठयति, श्वाठयति, श्वण्ठयति, ॥ ३३,—३८ [तुज, तुजि, पिज, पिजि

लजि, लुजि] हिंसाबलादाननिकेतनेषु = हिंसा, बल, आदान और स्थान। लाजयति, अलुलजत्, लुञ्जयति, अलुलुञ्जत्, पेंजयति, अपीपिजत्, [पिञ्जयति, अपिपिञ्जत्, लञ्जयति, अललञ्जत्, लुञ्जयति, अलुलुञ्जत्] ॥ ३९ [पिस] गतौ । पेसयति ॥ ४० [सान्त्व] सामप्रयोगे = शान्ति करना । सान्त्वयति ॥ ४१, ४२ [श्वल्क, वल्क] परिभाषणे । श्वल्कयति ॥ ४३ [ष्णिह] स्नेहने = प्रीति । स्नेहयति, असिस्निहत् ॥ [स्फिट] इत्येके । स्फेटयति ॥ ४४ [स्मिट] अनादरे । असिस्मिटत् ॥ ४५ [स्मिङ्] अनादर इत्येके । इसमें णिच् को छोड़कर केवल स्मिङ् धातु से क्तिन्करण निष्प्रयोजन होने से णिजन्त से आत्मनेपद ही होते हैं ॥ ४५ [श्लिष] श्लेषणे । श्लेषयति, अशिश्लिषत् ॥ ४६ [पथि] गतौ । पन्थयति ॥ ४७ [पिच्छ] कुट्टने = कूटना । पिच्छयति ॥ ४८ [छदि] संवरणे । छन्दयति ॥ ४९ [श्रण] दाने । श्राणयति ॥ ५० [तड] आघाते = ताडना । ताडयति, अतीतडत् ॥ ५१—५३ [खड, खडि, कडि] भेदने । खाडयति, खण्डयति, कण्डयति ॥ ५४ [कुडि] रक्षणे ॥ ५५ [गुडि] वेष्टने । रक्षण इत्येके ॥ [कुठि, गुठि] चेत्यन्ये । कुण्ठयति, गुण्ठयति, अचुकुण्ठत् ॥ ५६ [खुडि] खण्डने = काटना । खुण्डयति ॥ ५७ [वठि] विभाजने = बांटना । वण्ठयति ॥ [वडि] इत्येके ॥ ५८ [मडि] भूषायाम् = शोभा । मण्डयति, मण्डयते, मण्डयाञ्चकार, मण्डयिता, मण्डयिष्यति मण्डयिषति मण्डयिषाति, मण्डयतु, मण्डयताम्, अमण्डयत्, मण्डयेत्, मण्ड्यात्, अममण्डत्, अमण्डयिष्यत् ॥ ५९ [भडि] कल्याणे । भण्डयते,[1] ॥

1. यहां से आगे कुछ धातुओं के आत्मनेपद तथा इत्तरोत्तर टकार के प्रयोग दर्शाये हैं।

६० [छर्द] वमने । छर्दयाञ्चक्रे ॥ ६१, ६२ [पुस्त, बुस्त] आदरानादरयोः । पुस्तयितासे ॥ ६३ [चुद] संचोदने । चोदयिष्यते ॥ ६४, ६५ [नक्क, धक्क] नाशने । नक्कयिषते, नक्कयिषातै ॥ ६६, ६७ [चक्क, चुक्क] व्यथने । चक्कयताम् ॥ ६८ [क्षल] शौचकर्मणि = शुद्धि करना । क्षालयति ॥ ६९ [तल] प्रतिष्ठायाम् । अतालयत ॥ ७० [तुल] उन्माने तोलना । तोलयति, अतूतुलत् ॥ ७१ [दुल] उत्क्षेपे = फेंकना । दोलयति ॥ ७२ [पुल] महत्त्वे । पोलयेत ॥ ७३ [चुल] समुच्छ्राये । चोलयिषीष्ट, अचूचुलत ॥ ७४ [मूल] रोहणे । मूलयति ॥ ७५ [बुल] निमज्जने = डूबना । अबूबुलत् ॥ ७६, ७७ [कल, विल] क्षेपे = निन्दा । कालयति, वेलयति ॥ ७८ [बिल] भेदने । बेलयति ॥ ७९ [तिल] स्नेहने । तेलयति ॥ ८० [चल] भृतौ । चालयति ॥ ८१ [पाल] रक्षणे । पालयति ॥ ८२ [लूष] हिंसायाम् । लूषयति ॥ ८३ [शुल्ब] माने । शुल्बयति ॥ ८४ [शूर्प] च । शूर्पयति ॥ ८५ [चुट] छेदने । चोटयति ॥ ८६ [मुट] संचूर्णने । मोटयति ॥ ८७, ८८ [पडि, पसि] नाशने । पण्डयति, पंसयति ॥ ८९, ९० [व्रज, मार्ग] संस्कार गत्योः । व्राजयति, मार्गयति] ॥ ९१ [शुल्क] अतिस्पर्शने । शुल्कयति ॥ ९२ [चपि] गत्याम् । चम्पयति, अचचम्पत् ॥ ९३ [क्षपि] क्षान्त्याम् = सहना । क्षम्पयति, अचक्षम्पत् ॥ ९४ [छजि] कृच्छ्रजीवने = कठिनता से जीना ॥ ९५ [श्वर्त] गत्याम् । श्वर्तयति ॥ ९६ [श्वभ्र] च । श्वभ्रयति ॥ ९७ [ज्ञप] मिच्च । ज्ञप धातु से णिच् प्रत्यय और उसकी मित् संज्ञा हो ।

४६१—मितां ह्रस्वः ॥ ६ । ४ । ९२ ॥

मित्संज्ञक धातुओं की उपधा को ह्रस्व हो णिच् परे हो तो। ज्ञपयति ॥ ९८ [यम] च परिवेषणे। परोसने अर्थ में यम धातु से णिच् प्रत्यय और उसको मित्संज्ञा होती है। यमयति (४६१) ह्रस्व ॥ ९९ [चह] परिकल्कने = मूर्खता। चहयति, अचीचहत् ॥ [चप] इत्येके। चपयति, अचीचपत् ॥ १०० [रह] त्यागे। रहयति, अरीरहत् ॥ १०१ [बल] प्राणने = जीवन। बलयति ॥ १०२ [चिञ्] चयने = इकट्ठा करना।

४६२—चिस्फुरोर्णौ ॥ ६ । १ । ५४ ॥

चि और स्फुर धातु के एच् को आकारादेश विकल्प से हो णिच् परे हो तो आकारादेश होने के पश्चात्—

४६३—अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुग् णौ ॥ ७ । ३ । ३६ ॥

ऋ, ह्री, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी और आकारान्त धातुओं को पुक् का आगम हो णि परे हो तो। चपयति[1], अचीचपत्। जिस पक्ष में आकार न हुआ वहां चययति। इस धातु में ञित् करने से णिच् प्रत्यय का विकल्प होता है क्योंकि ञित् करने का प्रयोजन आत्मनेपद होना है णिजन्त से भी उसी अर्थ में हो जाता फिर णिच् से अलग भी आत्मनेपद होने के लिये ञित् पढ़ा है। चयते, चयति। नान्ये मितोऽहेतौ। स्वार्थ णिच् में ज्ञप आदि धातुओं से अन्य धातु मित्संज्ञक न हों। इस नियम के करने में प्रयोजन यह है कि जिन शम आदि अमन्त धातुओं की भ्वादिगण में मित्संज्ञा कर चुके हैं उनमें से जिस किसी धातु से इस चुरादिगण में स्वार्थ में

1 मितां ह्रस्वः (आ० ४६१) से ह्रस्व होता है।

णिच् करें तो भी मित्संज्ञा न हो केवल ज्ञप आदि धातुओं की ही हो। १०३ [यट्ट] चलने ॥ १०४ [मुस्त] संघाते ॥ १०५ [खट्ट] संवरणे ॥ १०६—१०८ [पट्ट, स्फिट्ट, चुवि] हिंसायाम् । चुम्बयति ॥ १०९ [पूल] संघाते—पूर्ण इत्येके। [पुण] इत्येके । पूलयति ॥ ११० [पुस] अभिवर्द्धने=बढ़ना । पुसयति, अपुपुसत् ॥ १११ [टकि] बन्धने । टङ्कयति ॥ ११२ [धूस] कान्तिकरणे=इच्छा करना । धूसयति, अदूधुसत् ॥ ११३ [धूष्] इत्येके । [धूश्] इत्यपरे ॥ ११३ [कीट] वरणे । कीटयति, अचीकिटत् ॥ ११४ [चूर्ण] संकोचने । चूर्णयति ॥ ११५ [पूज] पूजायाम् । अपुपूजत् ॥ ११६ [अर्क] स्तवने=स्तुति । तपन इत्येके । अर्कयति, आर्चिकत् ॥ ११७ [शुठ] आलस्ये । अशुशुठत् ॥ ११८ [शुठि] शोषणे । शुण्ठयति ॥ ११९ [जुड] प्रेरणे ॥ १२०, १२१ [गज, मार्ज] शब्दार्थौ । गाजयति, मार्जयति, अममार्जत् ॥ १२२ [मर्च] च । मर्चयति । १२३ [घृ] प्रस्रवणे । घारयति, अजीघरत् ॥ १२४ [पचि] विस्तारवचने=विस्तार से करना । पञ्चयति ॥ [तिज] निशाने=तीक्ष्णता । तेजयति ॥ १२६ [कृत] संशब्दने=कीर्ति ।

४६४—उपधायाश्च ॥ ७ । १ । १०१ ॥

धातु की उपधा का जो ऋकार उसको इकारादेश हो । रपर इर् होकर (१३०) सूत्र से दीर्घ होता है । कीर्त्तयति, कीर्तयाञ्चकार, अचीकृतत् , अचिकीर्तत् ॥ १२७ [वर्ध] छेदनपूरणयोः । वर्धयति ॥ १२८ [कुबि] आच्छादने । कुम्बयति ॥ [कुभि] इत्येके । कुम्भयति ॥ १२९, १३० [लुबि, तुबि] अदर्शने । अर्दने इत्येके ॥ १३१ [ह्लप] व्य-

क्तायां वाचि। ह्लापयति ॥ [क्लप] इत्येके। क्लापयति ॥ १३२ [चुटि] छेदने । चुण्टयति, अचुचुण्टत् ॥ १३३ [इल] प्रेरणे। एलयति, एलिलत्।

४६५—नोनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः ॥ ३।१।५१॥

ऊन, ध्वन, इल और अर्द इन णिजन्त धातुओं से परे च्लि के स्थान में चङ् आदेश न हो वेदविषय में। यहां (१७६) से चङ् प्राप्त था उसका निषेध है। ऐलयीत् ॥ १३४ [म्रच्छ] म्लेच्छने = अशुद्ध बोलना। म्रच्छयति, अमम्रच्छत् ॥ १३५ [म्लेच्छ] अव्यक्तायां वाचि ॥ १३६, १३७ [ब्रूस, बर्ह] हिंसायाम्। ब्रूसयति, बर्हयति ॥ १३८ १३९ [गर्ज, गर्द] शब्दे। गर्जयति, गर्दयति ॥ १४० [गर्ध] अभिकाङ्क्षायाम् गर्धयति ॥ १४१, १४२ [गुर्द, पूर्व निकेतने = स्थान। गुर्दयति, पूर्वयति, अजुगुर्दत्, अपुपूर्वत् ॥ १४३ [जसि] रक्षणे। मोक्षण इत्येके। जसयति अजजसत् ॥ १४४ [ईड] स्तुतौ। ईडयति, ऐडिडत् ॥ १४५ [जसु] हिंसायाम्। जासयति, अजीजसत्, ॥ १४६ [पिडि] सघाते। पिण्डयति, अपिपिण्डत् ॥ १४७ [रुप] रोपे। [रुट] इत्येके ॥ १४८ [डिप] क्षेपे। अडीडिपत् ॥ १३९ [ष्टुप] समुच्छ्राये स्तोपयति, अतुष्टुपत्। सैटं एकशतमेकोनपञ्चाशच्च। ये चुर आदि १४९ धातु परस्मैपदी हैं।

आकुस्मादात्मनेपदिनः। अब यहां से कुस्म धातु पर्यन्त आत्मनेपदी कहते हैं, अर्थात् कर्तृगामी क्रियाफल से अन्यत्र भी आत्मनेपद ही हो। १५० [चित] सचेतने। चेतयते, अचीचितत ॥ १५१ [दशि] दशनदर्शनयोः

=काटना और देखना। [दंशयते, अददंशत्] [दस, दंसि] इत्येके। दासयते, दंसयते, अदीदसत, अददंसत॥ १५२, १५३ [डप, डिप] संघाते। डापयते, डेपयते। अडीडपत्॥ १५४ [तंत्रि] कुटुम्बधारणे। तन्त्रयते, अतन्तन्त्रत॥ १५५ [मंत्रि] गुप्तभाषणे। मन्त्रयते, अममन्त्रत॥ १५६ [स्पश] ग्रहणसंश्लेषणयोः स्पाशयते, अपस्पशत॥ १५७, १५८ [तर्ज, भर्त्स] तर्जने = डरना। तर्जयते। अततर्जत, भर्त्सयते, अबभर्त्सत॥ १५९, १६० [बस्त, गन्ध] अर्दने = मांगना। बस्तयते, गन्धयते॥ १६१ [विष्क] हिंसायाम्। [हिष्क] इत्येके। १६२ [निष्क] परिमाणे = तोल। निष्कयते॥ १६३ [लल] ईप्सायाम् = लेने की इच्छा। लालयते, लालयाञ्चक्रे, लालयाम्बभूव, लालयामास॥ १६४ [कूण] सङ्कोचने। कूणयते, अचूकुणत॥ १६५ [तूण] पूरणे॥ १६६ [भ्रूण] आशाविशङ्कयोः = इच्छा और संदेह। भ्रूणयते॥ १६७ [शठ] श्लाघायाम् = अपनी प्रशंसा। शाठयते, शाठयाञ्चक्रे, शाठयाम्बभूव शाठयामास॥ १६८ [यक्ष] पूजायाम्। यक्षयते॥ १६९ [स्यम] वितर्के। स्यामयते॥ १७० [गुर] उद्यमने। गोरयते, अजूगुरत॥ १७१, १७२ [शम, लक्ष] आलोचने = देखना। शामयते, लक्षयते॥ १७३ [कुत्स] अवक्षेपणे। कुत्सयते, अचुकुत्सत॥ १७४ [त्रुट] छेदने। त्रोटयते, अतुत्रुटत॥ [कुट] इत्येके॥ १७५ [गल] स्रवणे = झरना। गालयते, अजीगलत, अगालयिष्यत॥ १७६ [भल] भण्डने बहुत बोलना। भालयते॥ १७७ [कूट] आप्रदाने। आसादन इत्येके। कूटयते, अचुकूटत॥ १७८ [कुट्ट] प्रतापने = तपाना। कुट्टयते, अचुकुट्टत॥ १७९ [वञ्चु] प्रलम्भने = ठगना। वञ्चयते, अववञ्चत॥ १८० [वृष] शक्तिबन्धने =

सन्तानोत्पत्ति का सामर्थ्य । वर्पयते, अवीवृपत, अववर्षत (४६०) ॥ १८१ [मद] तृप्तियोगे । मादयते, अमीमदत ॥ १८२ [दिवु] परिकूजने = शब्द ॥ देवयते अदीदिवत ॥ १८३ [गृ] विज्ञाने । गारयते, अजीगरत ॥ १८४ [विद] चेतनाख्याननिवासेषु । वेदयते, अवीविदत ॥ १८५ [मान] स्तम्भे = रोकना । मानयते, अमीमनत ॥ १८६ [यु] जुगुप्सायाम् = निन्दा । यावयते, अयीयवत ॥ १८७ [कुस्म] नाम्नो वा । यह कुस्म प्रातिपदिक अथवा धातु है और इस का अर्थ बुरा हंसना है । कुस्मयते, अचुकुस्मत ॥ चितादयोऽयनियत् । ये चित आदि ३८ धातु पूरे हुए ॥

१८८ [चर्च] अध्ययने = पढ़ना । चर्चयति, अचचर्चत् ॥ १८९ [बुक्क] भषणे । बुक्कयते ॥ १९० [शब्द] उपसर्गादाविष्कारे च, चाब्भाषणे । उपसर्गपूर्वक शब्द धातु से परे प्रकट करने और बोलने अर्थ में णिच् होता है । परिशब्दयति ॥ १९१ [कण] निमीलने = मींचना । काणयति, काणयते ।

४६६—वा०—काण्यादीनां वा ॥ ७ । ४ । ३ ॥

चङ् परक णिच् परे हो तो काणि आदि धातुओं की उपधा को ह्रस्व विकल्प करके हो । अचीकणत्, अचकाणत ॥ १९२ [जभि] नाशने । जम्भयति, अजजम्भत् ॥ १९३ [षूद] क्षरणे = झरना । सूदयति ॥ १९४ [जसु] ताडने । जासयति ॥ १९५ [पश] बन्धने । पाशयति ॥ १९६ [अम] रोगे । आमयति, आमिमत् ॥ १९७, १९८ [चट, स्फुट] भेदने । चाटयते, स्फोटयते, अचीचटत्, अचीचटत, अपुस्फुटत्, अपुस्फुटत ॥ १९९ [घट] संघाते = समूह । घाटयति, घाटयते, अजीघटत् ॥ हन्त्यर्थाश्च । चुरादि से पहिले नव गणों में जो हिंसार्थक धातु कहे हैं उन सब से स्वार्थ में णिच् होता है । हिंसयति,

त्रिहयति, इत्यादि ॥ २०० [दिवु] मर्दने । देवयति, अदीदिवत् ॥ २०१ [अर्ज] प्रतियत्ने = सञ्चय । अर्जयति, ॥ २०२ [घुषिर्] विशब्दने । घोषयति, अजूघुषत् । इस धातु में इरित् करने का यह प्रयोजन है कि णिच् प्रत्यय विकल्प से होवे, जहां णिच् नहीं होता वहां अङ् (१३८) से हो जाता है । अघुषत्, अघोषीत् ॥ २०३ [आङ् क्रन्द] सातत्ये । आङ्पूर्वक क्रन्द धातु से निरन्तर अर्थ में णिच् होता है । आक्रन्दयति, आचक्रन्दत्, आचक्रन्दत ॥ २०४ [लस] शिल्पयोगे = कारीगरी में युक्त। लासयति, लासयते, अलीलसत् ,।अलासयिष्यत् , अलासयिष्यत ॥ २०५, २०६ [तसि, भूष] अलङ्कारे । तंसयति, भूषयति ॥ २०७ [अर्ह] पूजायाम् । अर्हयति ॥ २०८ [ज्ञा] नियोगे = नियुक्त करना । आज्ञापयति, आज्ञापयते (४६३) ॥ २०९ [भज] विश्राणने = बहुत सुनाना । भाजयति ॥ २१० [शृधु] प्रसहने । शर्धयति, अशीशृधत्, अशशर्धत् ॥ २११ [यत] निकारोपस्कारयोः = खान और जोड़ना । यातयति ॥ २१२, २१३ [कल, गल] आस्वादने । कालयति ॥ [रघ] इत्येके, [रग] इत्यन्ये ॥ २१४ [अञ्चु] विशेषणे । अञ्चयति ॥ २१५ [लिगि] चित्रीकरणे = चिह्न करना । लिङ्गयति, अलिलिङ्गत् , अलिलिङ्गत ॥ २१६ [मुद] संसर्गे = मिलना । मोदयति, मोदयते, अमूमुदत्, अमूमुदत, अमोदयिष्यत् , अमोदयिष्यत ॥ २१७ [त्रस] धारणग्रहणवारणेषु । त्रासयति, अतत्रसत् ॥ २१८ [उध्रस] उञ्छे । ध्रासयति, उध्रासयति । इस धातु में किन्हीं के मत में उकार की इत्संज्ञा हो जाती है ॥ २१९ [मुच] प्रमोचनमोदनयोः । मोचयति, मोचयते ॥ २२० [वस] स्नेहच्छेदापहरणेषु = प्रीति, काटना और छीन लेना । वासयति, वासयते ॥ २२१ [चर] संशये । चारयति, अचीचरत्,

अचीचरत ॥ २२२ [च्यु] हसने । सहन इत्येके । च्याव-यति, च्यावयते ॥ [च्युस] इत्येके । च्योसयति । च्योसयते ॥ २२३ [भुवो] अवकल्कने = मिलना वा विचारना[1] । भावयति ॥ २२४ [कृपेश्च] कृपू धातु से भी सामर्थ्य[2] अर्थ में णिच् प्रत्यय हो । कल्पयति ॥ आस्वदः सकर्मकात् । यहां से लेकर स्वद धातु पर्यन्त सकर्मक धातुओं से ही णिच् प्रत्यय कहेंगे[3] । २२५ [ग्रस] ग्रहणे । ग्रासयति, ग्रासयते ॥ २२६ [पुष] धारणे । पोषयति, अपूपुषत् ॥ २७ [दल] विदारणे = खण्ड करना ॥ २२८—२५७ [पट, पुट, लुट, तुजि, मिजि, पिजि, भाजि, लघि, त्रसि, पिसि, कुसि, दशि, कुशि, घट, घटि, बृहि, बर्ह, बल्ह, गुप, धूप, विच्छ, चीव, पुथ, लोकृ, लोचृ, णद, कुप, तर्क, वृतु, वृधु] भाषार्थः = बोलना । पाटयति, पोटयति, लोटयति, तुञ्जयति, लोकयति, लोचयति ।

४६७–नाग्लोपिशास्वृदिताम् ॥ ७ । ४ । २ ॥

णिच् प्रत्यय के परे जिन के अक् का लोप हुआ हो उन तथा शासु और ऋकार जिन का इत् गया हो उन धातुओं की उपधा

---

१. अवकल्कन का अर्थ कई वैयाकरण मिश्रीकरण मानते हैं, कई चिन्तन । अत एव भाषार्थ में वा शब्द का प्रयोग किया है ।

२. कई वैयाकरण चकार से पूर्वनिर्दिष्ट 'अवकल्कन' अर्थ का निर्देश मानते हैं । क्षीरस्वामी 'कृपेस्तादर्थ्ये' ऐसा पढ़ कर तादर्थ्य अर्थात् प्रस्तुत भुव धातुके मिश्रीकरण अर्थ में णिच् मानता है, पक्षान्तर में तद् शब्द से कृप धातु का निर्देश मान कर सामर्थ्य अर्थ भी स्वीकार करता है ।

३. धातुओं के अनेक अर्थ होने से जिस अर्थ में कर्म का सम्बन्ध सम्भव होगा (चाहे कर्म का प्रयोग न भी हो) उस अर्थ में णिच् प्रत्यय होगा, अन्य में नहीं ।

को ह्रस्व न हो चङ्परक णिच् परे हो तो । अलुलोकत्, अलुलोचत् ॥ २५८—२७२ [रुट, लजि, भजि, दसि, भृशि, रुशि, शीक, नट पुटि, जिवि, रघि, लघि, अहि, रहि, नहि] च, २७३-२७५ [लडि, तड, नल] च । रोटयति, लञ्जयति, नाटयति, जिन्वयति ॥ २७६ [पूरी] आप्यायने = बढ़ना । पूरयति ॥ २७७ [रुज] हिंसायाम् । रोजयति, अरूरुजत् ॥ २७८ [ष्वद] आस्वादने । स्वादयति, असिस्वदत् ॥ [स्वाद] इत्येके । इस में विशेष यह है कि षोपदेश के न होने से अभ्यास से परे षत्व नहीं होता । असिस्वदत् । इत्यास्वदीयाः । स्वदपर्यन्त जो सकर्मक धातु कह चुके हैं सो पूरे हुए ।

आधृषाद्वा । अब यहां से आगे धृष धातु पर्यन्त सब धातुओं से णिच् प्रत्यय विकल्प करके होगा. पक्ष में सब धातुओं से भ्वादिगण के प्रयोग होंगे । २७९, २८० [युज, पृच] संयमने । योजयति, योजति, अयूयुजत्, अयौक्षीत् पर्चयति, अपीपृचत्, अपपर्चत्, पर्चति, पर्चिता, पर्चिष्यति, अपर्चीत् ॥ २८१ [अर्च] पूजायाम् । अर्चयति, अर्चति, आर्चिचत्, आर्चीत् ॥ २८२ [षह] मर्षणे = सहना । साहयति, असीसहत्, सहति, असहीत् (१६२) ॥ २८३ [ईर] क्षेपे । ईरयति, ऐरिरत् ॥ २८४ [ली] द्रवीकरणे = गीला करना । लाययति, लयति ॥ २८५ [वृजी] वर्जने । वर्जयति, वर्जति, अवीवृजत्, अववर्जत्, अवर्जीत् ॥ २८६ [वृञ्] आवरणे = ढांकना । वारयति, वरति, वरते ॥ २८७ [जॄ] वयोहानौ । जारयति, जरति, जरिता, जरीता ॥ २८८ [श्रि] च । श्राययति, श्रयति, सेता, ॥ २८९ [रिच] वियोजनसम्पर्चनयोः = पृथक् होना और सम्बन्ध । रेचयति, रेचति, रेक्ता, अरीरिचत् ॥

२९० [शिष] असर्वोपयोगे = बाकी होना। शेषयति, शेषति, शेष्टा, अशीशिषत्॥ २९१ [तप] दाहे। तापयति, तपति, तप्ता, अतीतपत्, अताप्सीत्॥ २९२ [तृप] तृप्तौ। तर्पयति, तर्प्ता, त्रप्ता॥ २९३ [छृदी] सन्दीपने = प्रकाश होना। छर्दयति, छर्दति, अचीछृदत्, अचच्छर्दत्, छर्दिष्यति। यहां इट् का विकल्प (३९७) कृतादि रौधादिक के साहचर्य से नहीं होता॥ [चृप, छृप, दृप] सन्दीपन इत्येके। चर्पयति, छर्पयति, दर्पयति, दर्पति, अदीदृपत्, अददर्पत्॥ २९४ [दृभी] भये। दर्भयति, दर्भति, दर्भिता॥ २९५ [दृभ] सन्दर्भे = गांठना॥ २९६ [छद] संवरणे। छादयति, छदति॥ २९७ [श्रथ] मोक्षणे। हिंसायामित्येके। श्राथयति॥ २९८ [मी] गतौ। माययति, मयति, मेता॥ २९९ [ग्रन्थ] बन्धने। ग्रन्थयति, ग्रन्थति॥ ३०० [क्रथ] हिंसायाम्। स्वरितेदित्येके। यह धातु शप् पक्ष में स्वरितेत् है। क्राथयति, क्रथति, क्रथते॥ ३०१ [शीक] आमर्षणे = सहना॥ ३०२ [चीक] च। चीकयति, चीकति, अचीचिकत्॥ ३०३ [अर्द] हिंसायाम्। स्वरितेत्। अर्दयति, आर्दिदत्, अर्दति, अर्दते॥ ३०४ [हिंसि] हिंसायाम्। हिंसयति, हिंसति॥ ३०५ [अर्ह] पूजायाम्॥ ३०६ [आङः षद] पद्यर्थे = गति। आसादयति, असीदति (२३१) सीद आदेश, आसत्ता, असात्सीत्॥ ३०७ [शुन्ध] शौचकर्मणि। शुन्धयति॥ ३०८ [छद] अपवारणे = बुरे प्रकार हटाना। स्वरितेत्॥ ३०९ [जुष] परितर्कणे[1] = इकट्ठा होना वा मारना। परितर्पण इत्यन्ये। जोषयति, जोषति॥ ३१० [धून] कम्पने।

---

१. धातुवृत्तिकार परितर्कण का अर्थ 'ऊहा' या 'हिंसा' करता है।

४३८—वा०—धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः ॥ ७ । ३ । ३७ ॥

णिच् परे हो तो धूञ् और प्रीञ् धातु को नुक् का आगम हो। धूनयति, धवति, धवते। इस वार्त्तिक को कोई आचार्य 'धूञ्प्रीणोः' ऐसा पढ़के क्र्यादिस्थ प्रीञ् धातु के साहचर्य से क्र्यादि का जो धूञ् धातु है उसी को हेतुमान् णिच् के परे नुक् कहते हैं। धावयति॥ ३११ [प्रीञ्] तर्पणे। प्रीणयति, प्रयति, प्रयते॥ ३१२, ३१३ [श्रन्थ, ग्रन्थ] सन्दर्भे=गांठना॥ ३१४ [आप्लृ] लम्भने=प्राप्ति करना। आपयति, आपति, आपत् (२१७), आप्ता। स्वरितेदयमित्येके। आपते॥ ३१५ [तनु] श्रद्धोपकरणयोः=श्रद्धा और उपकार करना। उपसर्गाच्च दैर्घ्ये। विस्तार अर्थ में उपसर्ग से परे णिच् होता है। तानयति, वितानयति, तनति, वितनति॥ [चन] श्रद्धोपहननयोरित्येके। चानयति, चनति॥ ३१६ [वद] संदेशवचने। संदेशा कहना। स्वरितेत्। वादयति, वदति, वदते॥ ३१७ [वच] परिभाषणे=अधिक बोलना। वाचयति, वचति, वक्ता, अवीवचत्, अवाक्षीत्॥ ३१८ [मान] पूजायाम्। मानयति, मानति, मानिता॥ ३१९ [भू] प्राप्तावात्मनेपदी। भावयते, भवति। इस धातु से णिच् के संयोग में ही आत्मनेपद होता है, अन्यत्र नहीं॥ ३२० [गर्ह] विनिन्दने=निन्दा। गर्हयति॥ ३२१ [मार्ग] अन्वेषणे=खोजना। मार्गयति॥ ३२२ [कठि] शोके। कण्ठयति॥ ३२३ [मृजू] शौचालङ्कारयोः। मार्जयति, मार्जति, मार्जिता, मार्ष्टा॥ ३२४ [मृष] तितिक्षायाम्। स्वरितेत्। मर्षयति, मर्षति, मर्षते॥ ३२५ [धृष] प्रसहने। धर्षयति, धर्षति। इत्याधृषीयाः। धृषपर्यन्त धातुओं से णिच् का विकल्प कह चुके हैं, सो पूरे हुए।

अथादन्ताः । अब अदन्त धातु कहते हैं अर्थात् उनके अकार का लोप (१७२) से णिच् के परे होगा, इसीसे ये अग्लोपी कहाते हैं। ३२६ [कथ] वाक्यप्रबन्धने=प्रबन्ध से कहना। कथयति, अचकथत् । यहां अग्लोप के होने से वृद्धि नहीं होती ॥ ३२७ [वर] ईप्सायाम्=मिलने की इच्छा। वरयति, अववरत्॥ ३२८ [गण] सख्याने=गणना। गणयति ।

४६६-ई च गणः ॥ ७ । ४ । ६७॥

गण धातु के अभ्यास को ईकारादेश और चकार से अकारादेश भी हो चङ्परक णिच् परे हो तो । अजीगणत, अजगणत् ॥ ३२९, ३३० [शठ, श्वठ] सम्यगवभाषणे=अच्छे प्रकार कहना। शाठयति, श्वाठयति, अशशठत्, अशश्वठत् ॥ ३३१, ३३२ [पट वट] ग्रन्थे। पटयति, वटयति॥ ३३३ [रह] त्यागे। अररहत्॥ ३३४, ३३५ [स्तन, गदी] देवशब्दे। स्तनयति, गदयति ॥ ३३६ [पत] गतौ वा। यह धातु विकल्प करके णिजन्त है। पतयति, पतयाचकार, [अपपतत्] पतति, अपतीत् । वाऽदन्त इत्येके। कोई लोग विकल्प करके अदन्त कहते हैं। पातयति, अपीपतत्॥ ३३७ [पष] अनुपसर्गात्। यहां पूर्व से गति अर्थ की अनुवृत्ति आती है। पषयति ॥ ३३८ [स्वर] आक्षेपे=निन्दा । स्वरयति ॥ ३३९ [रच] प्रतियत्ने । रचयति ॥ ३४० [कल] गतौ सख्याने च। कलयति ॥ ३४१ [चह] परिकल्कने=अभिमान और मूर्खता । चहयति, अचचहत्॥ ३४२ [मह] पूजायाम्। महयति॥ ३४३—३४५ [सार, कृप, श्रथ] दौर्बल्ये—निर्बलता । सारयति, कृपयति, श्रथयति ॥ ३४६ [स्पृह] ईप्सायाम् । स्पृहयति ॥ ३४७ [भाम] क्रोधे। अबभामत्। अग्लोपी होने से उपधा ह्रस्व

का निषेध (४६७) ॥ ३४८ [सूच] पैशुन्ये = चुगली करना । सूचयति, असुसूचत् ॥ ३४९ [खेट] भक्षणे । खेटयति, अचिखेटत् । तृतीयान्त इत्येके । कोई के मत में डकारान्त 'खेड' धातु है । खेडयति, अचिखेडत् ॥ [खोट] इत्यन्ये ॥ ३५० [चोट] क्षेपे = निन्दा । अचुचोटत् ॥ ३५१ [गोम] उपलेपने = लीपना । गोमयति, अजुगोमत् ॥ ३५२ [कुमार] क्रीडायाम् । कुमारयति, अचुकुमारत् ॥ ३५३ [शील] उपधारणे = अच्छे गुणों का अभ्यास करना । शीलयति, अशिशीलत् ॥ ३५४ [साम] सान्त्वप्रयोगे । अससामत् ॥ ३५५ [वेल] कालोपदेशे = नियत समय का उपदेश । वेलयति ॥ [काल] इति पृथक् धातुरित्येके । कालयति, अचकालत् ॥ ३५६ [पल्पूल] लवनपवनयोः = खेत काटना और पवित्र करना । पल्पूलयति, अपपल्पूलत् ॥ ३५७ [वात] सुखसेवनयोः ॥ गतिसुखसेवनेष्वित्येके । वातयति, अववातत् ॥ ३५८ [गवेष] मार्गणे = खोजना । गवेषयति, अजगवेषत् ॥ ३५९ [वास] उपसेवायाम् । वासयति ॥ ३६० [निवास] आच्छादने । निवासयति, अनिनिवासत् ॥ ३६१ [भाज] पृथक्कर्मणि = अलग करना । भाजयति, अबभाजत् ॥ ३६२ [सभाज] प्रीतिदर्शनयोः । प्रीतिसेवनयोरित्येके । सभाजयति, अससभाजत् ॥ ३६३ [ऊन] परिहाणे । ऊनयति, औननत् । वेद में—औनयीत् (४६५) चङ् नहीं होता ॥ ३६४ [ध्वन] शब्दे । अदध्वनत्, अध्वनयीत् (४६४) ॥ ३६५ [कूट] परितापे । परिदाह इत्यन्ये । कूटयति, अचुकूटत् ॥ ३६६–३६९ [सङ्केत, ग्राम, कुण, गुण] चामन्त्रणे । चकार से कूट धातु की अनुवृत्ति है । सङ्केतयति, ग्रामयति, कुणयति, गुणयति ॥ ३७० [कूण] सकोचन । अचुकूणत् ॥ ३७१ [स्तेन] चौर्ये = चोरी । अतिस्तेनत् ॥

आगर्वादात्मनेपदिनः । यहां से आगे गर्व धातुपर्यन्त आत्मनेपदी हैं ॥ ३७२ [पद] गतौ । पदयते, अपपदत ॥ ३७३ [गृह] ग्रहणे । अजगृहत ॥ ३७४ [मृग] अन्वेषणे । मृगयते, ॥ ३७५ [कुह] विस्मापने = सन्देह कराना । कुहयते ॥ ३७६, ३७७ [शूर, वीर] विक्रान्तौ = पराक्रम दिखाना । शूरयते, अशुशूरत, वीरयते ॥ ३७८ [स्थूल] परिबृंहणे = मोटापन । स्थूलयते ॥ ३७९ [अर्थ] उपयाच्ञायाम् = चाहना । अर्थयते, आर्तथत ॥ ३८० [सत्र] सन्तानक्रियायाम् = विस्तार । सत्रयते, अससत्रत ॥ ३८१ [गर्व] माने । गर्वयते, अजगर्वत ॥ इत्यागर्वीया ॥

३८२[सूत्र] वेष्टने = लपेटना । विमोचन इत्यन्ये = छोड़ना सूत्र यति ॥ ३८३[मूत्र] प्रस्रवणे । मूत्रयति, अमुमूत्रत् ॥ ३८४[रूक्ष] पारुष्ये = कठोरपन । रूक्षयति, अरुरूक्षत् ॥ ३८५, ३८६ [पार, तीर] कर्मसमाप्तौ । पारयति, तीरयति, अपपारत्, अतितीरत् ॥ ३८७ [पुट] संसर्गे = मिलाना । पुटयति ॥ [धेक] दर्शन इत्येके । अदिधेकत् ॥ ३८८ [कत्र] शैथिल्ये । कत्रयति, अचकत्रत् ॥ [कर्त] इत्यप्येके । कर्तयति ॥

प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च । प्रातिपदिक से सामान्य धातु के अर्थ में णिच् प्रत्यय हो और जैसे इष्ठन् तद्धित प्रत्यय के परे कार्य होते हैं वैसे णिच् प्रत्यय के परे हों । जैसे—पटुमाचष्टे पटयति । यहां इष्ठन् प्रत्यय के समान टिलोप होता है । अपपटत् ।

तत्करोति तदाचष्टे । द्वितीयान्त कर्मवाची प्रातिपदिक से 'करोति' और 'आचष्टे' अर्थ में णिच् होता है । मृदुं करोत्याचष्टे वा म्रदयति । यह तथा अगले सूत्र प्रथम सूत्र के ही प्रपञ्च हैं ।

तेनाऽतिक्रामति । तृतीयान्त प्रातिपदिक से अतिक्रमण =

उल्लङ्घन अर्थ में णिच् प्रत्यय हो। अश्वेनातिक्रामति अश्वयति, हस्तिना अतिक्रामति हस्तयति इत्यादि ।

धातुरूप च । जिस प्रातिपदिक से णिच् प्रत्यय करें वह जिस धातु से बना हो उसी का रूप णिच् प्रत्यय में हो जावे और चकार से अन्य कार्य भी णिच् प्रत्यय के अनुकूल हो जावें । कसवधमाचष्टे कंसं घातयति । यहां वध शब्द हन धातु से बना है वह णिच् प्रत्यय के परे धातुरूप होकर हन धातु का प्रयोग होता है इस विषय की विशेष व्याख्या आगे नामधातु प्रक्रिया में लिखेंगे ।

कर्तृकरणाद्धात्वर्थे । कर्ता के व्यापार के लिये जो साधन हैं उससे धातु के अर्थ में णिच् प्रत्यय हो । असिना हन्ति, असयति, परशुना घ्नन्ति परशयति ॥ ३८९ [वल्क] दर्शने । वल्कयति ॥ ३९० [चित्र] चित्रीकरणे । कदाचिद्दर्शने । किसी समय देखने अर्थ में भी चित्र धातु से णिच् होता है । चित्रयति, अचिचित्रत् ॥ ३९१ [अस] समाघाते । असयति ॥ ३९२ [वट] विभाजने ॥ ३९३ [लज] प्रकाशने । लजयति ॥ [घटि, लजि] इत्येके । वण्टयति, लञ्जयति ॥ ३९४ [मिश्र] सम्पर्क = संयोग करना । मिश्रयति ॥ ३९५ [संग्राम] युद्धे । अनुदात्तेत् । संग्रामयते, असंग्रामत ॥ ३९६ [स्तोम] श्लाघायाम्, स्तोमयति ॥ ३९७ [छिद्र] कर्णभेदने । = कान का छेदना । छिद्रयति । करणभेदन इत्येके = साधनों का भेद । [कर्ण] इति धात्वन्तरमित्यन्ये । कर्णयति ॥ ३९८ [अन्ध] दृष्ट्युपघाते = नेत्र फूटना । उपसंहार = इत्यन्ये समाप्ति अन्धयति ॥ ३९९ [दण्ड] दण्डनिपातने = दण्ड देना । दण्डयति, अददण्डत् ॥ ४०० [अङ्क] पदे लक्षणे च = पग और चिन्ह । अङ्कयति । आञ्चकत् ॥ ४०१ [अङ्ग] च । आञ्जगत् ॥ ४०२,४०३ [सुख, दुःख] तत्क्रियायाम्

= सुख और दुःख करना । सुखयति, दुःखयति ॥ ४०४ [रस] आस्वादस्नेहनयो । रसयति ॥ ४०५ [व्यय] वित्तसमुत्सर्गे = खर्च करना । व्ययति, अवव्ययत् ॥ ४०६ [रूप] रूपक्रियायाम् = रूप को देखना वा करना । रूपयति, अरुरूपत् ॥ ४०७ [छेद] द्वैधीकरणे = दो भाग करना । अचिच्छेदत् ॥ [छद] अपवारण इत्येके । छदयति ॥ ४०८ [लाभ] प्रेरणे = आज्ञा करना । लाभयति, अललाभत् ॥ ४०९ [व्रण] गात्रविचूर्णने = घाव । व्रणयति, अवव्रणत् ॥ ४१० [वर्ण] वर्णक्रियाविस्तारगुणवचनेषु = रंगना, फैलाव, स्तुति करना। वर्णयति, अववर्णत् ॥

बहुलमेतन्निदर्शनम् । कथ आदि अदन्त धातुओं का पाठ बहुल से जानो अर्थात् बहुल कहने से अन्य धातुओं से भी यहां णिच् होता है जैसे—[पर्ण] हरितभावे = हरा होना । पर्णयति, अपपर्णत् ॥ [विष्क] दर्शने = देखना । विष्कयति, अविविष्कत् ॥ [क्षप] प्रेरणे । क्षपयति ॥ [वस] निवासे । वसयति ॥ [तुत्थ] आवरणे । तुत्थयति ॥ तथा गण्डयति, आन्दोलयति, प्रेङ्खोलयति, विडम्बयति, अवधीरयति इत्यादि प्रयोग भी बहुल ग्रहण से होते हैं । तथा कोई ऐसा कहते हैं कि दशों गण के धातुओं के लिये बहुल ग्रहण है इससे सौत्र, लौकिक और वैदिक धातु अपठित (जो दश गणों में नहीं पढे) उनसे भी उन गणों के प्रयोग होते हैं । और कोई मत में नव गणों में पढे धातुओं के लिये बहुल है इससे चुरादिगण में अपठित धातुओं से भी स्वार्थ में णिच् हो जाता है । जैसे—अचीकरत् । और कोई के मत में चुरादि धातुओं से ही णिच् बहुल करके होता है ॥

णिङङ्गान्निरसने । अङ्गवाची प्रातिपदिक से फेंकने अर्थ में णिङ् प्रत्यय हो । ङित् करने से आत्मनेपद होता । हस्तौ निरस्यति —हस्तयते, पादौ निरस्यति—पादयते, इत्यादि ।

श्वेताश्वाश्वतरगालोडिताह्वरकाणामश्वतरेतकलोपश्च । श्वेताश्व, अश्वतर, गालोडित, आह्वरक, इन प्रातिपदिकों से अतिक्रमण अर्थ में णिङ् प्रत्यय और इनके अश्व, तर, इत और ककार का लोप हो जावे । श्वेताश्वमाचष्टे, अतिक्रामति वा—श्वेतयते, अश्वतरमाचष्टे—अश्वयते, गालोडित वाग्विमर्षमाचष्टे तत्करोत्यतिक्रामति वा—गालोडयते, आह्वरक करोत्यतिक्रामति वा—आह्वरयते ।

पुच्छादिषु धात्वर्थ इत्येव सिद्धम् । पुच्छ आदि प्रातिपदिकों से "पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ्"[1] इस सूत्र में णिङ् प्रत्यय कहा है वहा भी धात्वर्थ में प्रातिपदिकमात्र के कहने से णिच् होकर बहुलवचन सामर्थ्य से आत्मनेपद भी हो जावेगा फिर पुच्छ आदि से णिङ् कहने का कुछ प्रयोजन नहीं । और यहा सिद्ध शब्द के मङ्गलार्थ होने से इस चुरादिगण की समाप्ति जानो । इन दश गणों में भ्वादिगण सब का उत्सर्ग है और नौ गण सब शप् के बाधक ही हैं । जब नव गणों में पढे भ्वादि के धातु को अवकाश मिलता है तब शप् ही होता है । जितने धातु इन दश गणो में लिखे हैं वे ही औपदेशिक हैं और इन्हीं से सब प्रकार के शब्द बनते हैं और आगे १२ प्रक्रिया लिखेंगे उन प्रत्येक में इन सब धातुओं का काम पड़ा करेगा ॥

॥ इति चुरादिगणः समाप्तः ॥

---

१ भा० ६०८ ।

अथ णिजन्तप्रक्रिया

४७०—तत्प्रयोजको हेतुश्च ॥ १ । ४ । ५५ ॥

स्वतन्त्र कर्त्ता को प्रेरणा करनेहारे की हेतु और कर्त्ता दोनों संज्ञा हों।

४७१—हेतुमति च ॥ ३ । १ । २६ ॥

प्रयोजक कर्त्ता के भेजने आदि व्यवहार अर्थ में धातु से णिच प्रत्यय हो। सो दश गणों में जितने धातु लिख चुके हैं उन सब से णिच् आदि प्रक्रिया के प्रत्यय होंगे, उन सब धातुओं के प्रयोग सर्वत्र नहीं लिखेंगे, किन्तु जिनमें कुछ विशेष कार्य सूत्रों से होवे हैं वे लिखे जावेंगे। भवतीति भवन्, भवन्तं प्रेरयति—भावयति, भावयते। यहां क्रिया का फल कर्त्ता के लिये होने में आत्मनेपद (४५८) होता है, और शप् आदि की उत्पत्ति होती है। भावयाञ्चकार, भावयाम्बभूव, भावयामास, भावयिता, भावयिष्यति, भावयिषति, भावयिषाति, भावयतु, अभावयत्, भावयेत्, भाव्यात् (१७७) णिलोप।

४७२—ओः पुयणज्यपरे ॥ ७ । ४ । ८० ॥

अवर्णपरक पवर्ग, यण और जकार परे हों तो सन् प्रत्यय के परे जो अङ्ग उसके अवयव अभ्यास के उवर्ण को इकारादेश हो। अबीभवत्, अपीपवत्, अमीमवत्, अयीयवत्, अरीरवत्, अलीलवत्, अजीजवत्। यहां सर्वत्र यद्यपि सन् प्रत्यय परे नहीं है तो भी (१८१) से सन्वद्भाव मानकर कार्य होता है।

४७३—स्रवतिशृणोतिद्रवतिप्रवतिप्लवतिच्यवतीनां वा ॥ ७ । ४ । ८१ ॥

स्रवति आदि धातुओं के अभ्यासस्थ उकार को विकल्प करके इकारादेश हो सन् प्रत्यय के परे अवर्णपरक धातु का अक्षर परे हो तो। असिस्रवत्, असुस्रवत्, अशिश्रवत्, अशुश्रवत्, अदिद्रवत्, अदुद्रवत्, अपिप्रवत्, अपुप्रवत्, अपिप्लुवत्, अपुप्लुवत्, अचिच्यवत्, अचुच्यवत्॥ अडुढौकत्, अचीचकासत्, यहां (४५७) सर्वत्र उपधा को ह्रस्व नहीं होता ॥ चुरादिगण में स्वार्थ णिच् से भी हेतुमान् णिच् प्रत्यय होता है। चोरयन्तं प्रेरयति, चोरयति, अचूचुरत्[1]।

४७४—णौ च संश्चङोः ॥ ६ । १ । ३१ ॥

सन् और चङ् जिससे परे हों ऐसा णि परे हो तो श्वि धातु को सम्प्रसारण विकल्प करके हो, सम्प्रसारण और उसके आश्रय जो कार्य हैं उनके बलवान् होने से सम्प्रसारण[2] और पूर्वरूप होकर—अशूशुवत्। पक्ष में—अशिश्वियत् ॥ आटिटत्। यहां उपधा का

---

१ 'अ+चोर्+इ+इ+अ+त्' इस अवस्था में णिच् के परे प्रथम णिच् का लोप होता है। उपधाह्रस्वत्व करते समय पूर्व णिच् स्थानिवत् हो जाता है। इसलिये जिस णिच् से परे चङ् है उससे पूर्व ह्रस्वभावी अङ्ग नहीं, बीच में णिच् का व्यवधान है। जो णिच् (प्रथम) ह्रस्वभावी अङ्ग से परे है उससे परे चङ् नहीं, द्वितीय णिच् का व्यवधान है, अतः यहां ह्रस्वत्व की प्राप्ति नहीं होता। ऐसी अवस्था में 'उणिच्युपसंख्यानम्' (महा० ७।४।१) इस वार्तिक से या 'व्याकृतिनिर्देशात् सिद्धम्' (महा० ७।४।१) इस आकृतिग्रहण से ह्रस्वत्व होता है।

२. सम्प्रसारणं सम्प्रसारणाश्रयं च कार्यं बलीयो भवति। पार० १०६।

ह्रस्व बहिरङ्ग[1] है परन्तु ओणृ धातु में ऋदित्करणसामर्थ्य[2] मान द्वित्व से पहिले ही ह्रस्व हो जाता है। औनिनत्, आड्डित्, आचिचत्। यहां संयोग के आदि न द और र को द्वित्व (३२६) से नहीं होता। [उब्ज] आर्जवे धातु उपदेश में दकारोपध है और "भुजन्युब्जौ[3]" सूत्र में निपातन करने से दकार को बकार हो जाता है, वह अन्तरङ्ग भी है परन्तु द्वित्वविषय में औपदेशिक का ग्रहण होने से दकारस्थानी बकार को द्वित्व नहीं होता। औब्जिजत्।

४७५—रभेरशब्लिटोः ॥ ७ । १ । ६३ ॥

रभ धातु को नुम् का आगम हो शप् और लिट् भिन्न अजादि प्रत्यय परे हो तो। रम्भयति, अररम्भत्।

४७६—लभेश्च ॥ ७ । १ । ६४ ॥

---

१ 'आट्+इ+अ+त्' इस अवस्था में द्विर्वचन और उपधा ह्रस्वत्व दोनों की प्राप्ति है। उपधा ह्रस्वत्व में णिच, चङ् दोनों निमित्त हैं, द्विर्वचन में केवल चङ्। इस प्रकार उपधा ह्रस्वत्व बह्वपेक्ष होने से बहिरङ्ग है। वस्तुतः द्विर्वचन और उपधा ह्रस्वत्व दोनों समान कोटि में हैं, क्योंकि द्विर्वचन में यद्यपि चङ्मात्र की अपेक्षा है तथापि चङ् बिना णिच् के उत्पन्न नहीं होता। अतः द्विर्वचन को अन्तरङ्ग नहीं मान सकते। द्विर्वचन उपधा ह्रस्वत्व की अपेक्षा नित्य है और उपधा ह्रस्वत्व अनित्य है, क्योंकि द्विर्वचन करने पर उपधा में आकार न होने से ह्रस्वत्व प्राप्त नहीं होता। अत एव प्रथम द्विर्वचन की प्राप्ति होती। महाभाष्य ७ । ४ । १ ॥

२ 'ओण्+इ+अ+त्' इस अवस्था में यदि पहले द्विर्वचन हो जावे तो ओकार उपधा में नहीं रहता। अत एव ह्रस्वत्व की प्राप्ति भी नहीं होती, ऋदित् करना व्यर्थ है। व्यर्थ होकर इस बात का ज्ञापक है कि द्विर्वचन से पूर्व ह्रस्वत्व होता है। ३ अष्टा० ७ । ३ । ६१ ॥

पूर्वसूत्रोक्त कार्य लभ धातु को भी हों। लम्भयति, अललम्भत्॥ अजीहयत्। यहां (४२२) से चङ् के परे अभ्यास को कुत्व का निषेध हो जाता है। स्मारयति, असस्मरत्, दारयति, अददरत्, अतत्वरत्, अमम्रदत्, अतस्तरत्। यहां सर्वत्र स्मृ आदि धातुओं के अभ्यास को अकारादेश (४५९) से हो जाता है।

४७७—विभाषा वेष्टिचेष्ट्योः॥ ७। ४। ९६॥

चङ्परक णिच् परे हो तो वेष्ट और चेष्ट धातु के अभ्यास को अकारादेश विकल्प करके होवे। अववेष्टत्, अविवेष्टत्, अचचेष्टत्, अचिचेष्टत्। भ्राज आदि धातुओं की उपधा को विकल्प करके ह्रस्व (४५८) सूत्र से होकर—अबिभ्रजत्, अबभ्राजत्, अबीभसत्, अबभासत्, अबीभषत्, अबभाषत्, अदीदिपत्, अदिदीपत् अजीजिवत्, अजिजीवत्, अपीपिडत्, अपिपीडत्। कण आदि णिजन्त धातुओं की उपधा को चङ्परक णिच् में (४६६) से विकल्प करके ह्रस्व हो जाता है। कण, रण, भण, श्रण, लुप, हेठ ये छः धातु महाभाष्य में काण्यादि गिनाये गये हैं। अचीकणत्, अचकाणत् इत्यादि।

४७८—स्वापेश्चङि॥ ६। १। १८॥

णिजन्त स्वापि धातु को संप्रसारण हो चङ् परे हो तो। स्वापयति, असूषुपत्।

४७९—शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक्॥ ७। ३। ३७॥

शा आदि धातुओं को युक् का आगम हो णिच् परे हो तो। (४६३) सूत्र से पुक् प्राप्त है उसका यह अपवाद है। शाययति, छाययति, साययति, ह्वाययति, संव्याययति, वाययति, पाययति, अशीशयत्॥ ह्वा धातु में विशेष है—

४८०—ह्वः सम्प्रसारणम् ॥ ६ । १ । ३२ ॥

सन् और चङ् जिससे परे हों ऐसा णिच् परे हो तो ह्वा धातु को सम्प्रसारण हो। अजूहवत्, अजुहावत्[1]। यहां (४६६) वार्तिक से उपधाह्रस्व [का] विकल्प होता है ॥ पा धातु में यह विशेष है—

४८१—लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य ॥ ७ । ४ । ४ ॥

चङ्परक णिच् परे हो तो पिबति अङ्ग की उपधा का लोप और अभ्यास को ईकारादेश हो। अपीप्यत् ॥ अर्पयति, ह्रेपयति, ब्लेपयति, रेपयति, क्नोपयति, क्ष्मापयति, स्नापयति, दापयति, धापयति, घ्रापयति। यहां सर्वत्र (४६३) सूत्र से णिच् के परे पुक् होता है ॥ स्था धातु में यह विशेष है—

४८२—तिष्ठतेरित् ॥ ७ । ४ । ५ ॥

चङ्परक णिच् परे हो तो स्था अङ्ग की उपधा को इकारादेश हो। अतिष्ठिपत्, अतिष्ठिपताम् ॥ घ्रा धातु में यह विशेष है—

४८३—जिघ्रतेर्वा ॥ ७ । ४ । ६ ॥

चङ्परक णिच् परे हो तो घ्रा धातु की उपधा को इकारादेश विकल्प करके हो। अजिघ्रिपत्, अजिघ्रपत् ॥ कर्तयति इत्यादि ऋवर्णोपध धातुओं में (४६०) सूत्र से विकल्प करके ऋत् हो जाता है। अचीकृतत्, अचकर्तत्; कीर्तयति, अचीकृतत्, अचिकीर्तत्, वर्तयति, अवीवृतत्, अववर्तत्; अमीमृजत्, अममार्जत् ॥ पाति धातु में यह विशेष है—

1. न्यासकार ने 'ह्वेञ्, षण, लुठ, लप' इन चार को भी काण्यादि माना है। महाभाष्यकार ने पूर्व पृष्ठ ३३६ पंक्ति १४ पर लिखी छ धातुएं ही काण्यादि मानी हैं। अतः यह रूप न्यासकार के मतानुसार है। महाभाष्यकार के अनुसार नित्य ह्रस्व होता है।

४८४—वा०-पातेर्लुग्वचनम् ॥ ७ । ३ । ३७ ॥

णिच् परे हो तो पाति धातु को लुक् आगम हो। पालयति।

४८५—वो विधूनने जुक् ॥ ७ । ३ । ३८ ॥

णिच् परे हो तो कपाने अर्थ में वर्तमान 'वा' धातु को जुक आगम हो। वाजयति। और जहां कपाना अर्थ नहीं है वहां—केशान् वापयति।

४८६-लीलोर्नुग्लुकावन्यतरस्यां स्नेहविपातने॥ ७ । ३ । ३९ ॥

णिच् परे हो तो चिकनाई गिराने अर्थ में ली और ला धातु को नुक् और लुक् का आगम यथासंख्य और विकल्प करके हो। घृत विलीनयति, घृत विलालयति। जहां स्नेहविपातन नहीं है वहां-विलाययति, विलापयति। इस सूत्र में ईकारान्त ली धातु * का ग्रहण इसलिये है कि जिस पक्ष में (४००) सूत्र से आकारादेश होता है वहां नुक् का आगम न हो।

४८७—लियः सम्माननशालीनीकरणयोश्च ॥ १ । ३ । ७० ॥

सत्कार, तिरस्कार और ठगने अर्थ में णिजन्त ली धातु से आत्मनेपद हो। जटाभिरालापयते। अर्थात् जटाओं से सत्कार को प्राप्त होता है। श्येनो वर्तिकामुल्लापयते। बाज पखेरू बतक का तिरस्कार करता है। कस्त्वामुल्लापयते। कौन तुमको ठगता है।

---

*ईकारान्त के कहने से प्रयोजन यह है कि (ली-ङ) ऐसा भाष्यकार ने प्रश्लेष करके व्याख्यान दिखाया है॥

४८८–बिभेतेर्हेतुभये ॥ ६ । १ । ५६ ॥

णिच् प्रत्यय परे हो तो हेतु से भय अर्थ में 'भी' धातु के एच् को विकल्प से आकार आदेश हो।

४८९–भीस्म्योर्हेतुभये ॥ १ । ३ । ६८ ॥

हेतुभय अर्थ में णिजन्त 'भी' और 'स्मि' धातु से आत्मनेपद हो। आकारादेश पक्ष में—मुण्डो भापयते। और जहां आकारादेश न हुआ वहां यह विशेष है—

४९०–भियो हेतुभये षुक् ॥ ७ । ३ । ४० ॥

णिच् परे हो तो हेतुभय अर्थ में 'भी' धातु का षुक् का आगम हो। जटिलो भीषयते। जटाधारी डरवाता है। यहां [सूत्रस्थ] 'भी' धातु में महाभाष्यकार ने ईकार का प्रश्लेष माना है, इससे आकारान्त 'भी' धातु को षुक् नहीं होता है। "स्मि" धातु में यह विशेष है—

४९१–नित्यं स्मयतेः ॥ ६ । १ । ५७ ॥

णिच् परे हो तो हेतुभय अर्थ में स्मि धातु को नित्य ही आकारादेश हो। जटिलो विस्मापयते। और जहां हेतुभय अर्थ नहीं है वहां—कुञ्चिकयैनं विस्माययति। यहां कूची से भय है, किन्तु हेतु प्रयोजक कर्त्ता से नहीं है।

४९२–स्फायो वः ॥ ७ । ३ । ४१ ॥

णिच् परे हो तो स्फायि अङ्ग को वकारादेश हो। स्फावयति।

४९३–शदेरगतौ तः ॥ ७ । ३ । ४२ ॥

णिच् परे हो तो गतिभिन्न अर्थ में वर्त्तमान शद अङ्ग को तकारादेश हो। पुष्पाणि शातयति। और गति अर्थ में तो—गोपालो गाः शादयति। यहां चलाना अर्थ है।

४६४—रुहः पोऽन्यतरस्याम् ॥ ७ । ३ । ४३ ॥

णिच् परे हो तो रुह् अङ्ग को पकारादेश विकल्प करके होवे। रोपयति।

४६५—क्रीङ्जीनां णौ ॥ ६ । १ । ४८ ॥

णिच् प्रत्यय परे हो तो क्री, इङ् और जि धातुओं के एच् को आकारादेश हो। आकारादेश होकर पुक् (४६२)—क्रापयति, अध्यापयति, जापयति। इङ् धातु में कुछ विशेष है—

४६६—णौ च संश्चङोः ॥ २ । ४ । ५१ ॥

सन् और चङ् जिससे परे हों ऐसा णिच् परे हो तो इङ् धातु को गाङ् आदेश विकल्प करके होवे। अध्यजीगपत्, अध्यापिपत्।

४६७—सिध्यतेरपारलौकिके ॥ ६ । १ । ४९ ॥

णिच् परे हो तो सांसारिक पदार्थों की सिद्धि करने अर्थ में वर्तमान जो सिध्यति धातु है उसके एच् को आकारादेश हो। अन्नं साधयति। अलौकिक ग्रहण इसलिये है कि "तपस्तापसं सेधयति" [आकारादेश न हो]॥

"चापयति, स्फारयति" यहां (४६२) इस सूत्र से आकारादेश होता है।

४६८—प्रजने वीयतेः ॥ ६ । १ । ५५ ॥

णिच् परे हो तो गर्भधारण कराने अर्थ में वर्तमान वी धातु के एच् को आकारादेश विकल्प करके हो। पुरोवातो गाः प्रवापयति, प्रवाययति वा।

"गूहयति" (२३५) सूत्र से उपधा को ऊकार होता है।

४६६—दोषो णौ ॥ ६ । ४ । ६० ॥

णिच् परे हो तो दुष् धातु के उपधा ओकार को ऊकारादेश हो। दूषयति।

५००—वा चित्तविरागे ॥ ६ । ४ । ६१ ॥

णिच् परे हो तो चित्त बिगाड़ने अर्थ में दुष् धातु के ओकार को विकल्प करके ऊकारादेश हो। चित्तं दूषयति, दोषयति ॥ मितः ॥ जितने मित्संज्ञक धातु भ्वादि और चुरादिगण में लिख चुके हैं उन सब की उपधा को ह्रस्व (४६१) से होता है। जैसे—घटमानं प्रयोजयति, घटयति, जनयति, जरयति। रञ्ज धातु में यह विशेष है—

५०१—वा०–रञ्चेर्णौ मृगरमणे ॥ ६ । ४ । २४ ॥

णिच् परे हो तो मृगरमण[1] अर्थ में रञ्ज धातु के उपधा नकार का लोप हो। मृगान् रजयति। अन्यत्र—रञ्जयति वस्त्राणि ॥ गच्छन्तं प्रयोजयति गमयति; अजीगमत्, ज्वलयति, ज्वालयति।

५०२—णौ गमिरबोधने ॥ २ । ४ । ४६ ॥

णिच् परे हो तो अबोधन अर्थ में वर्तमान इण् धातु को गमि आदेश हो। यन्तं प्रयोजयति गमयति। बोधन अर्थ में तो—प्रत्या-

---

1. मृगरमण का अर्थ आखेट = शिकार खेलना है। संस्कृत में मृग शब्द व्याघ्रादि हिंसक प्राणियों के लिये भी प्रयुक्त होता है। यथा—मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः (ऋ० १० । १८० । २)। यहां मृग का विशेषण 'भीम' = भयानक लिखा है। कांगड़ा ज़िले के ग्रामीण लोग चीते के लिये मृग शब्द का व्यवहार करते हैं। अत एव संस्कृत भाषा में शिकार के लिये मृगया शब्द का व्यवहार होता है। प्रजा और कृषि की रक्षा के लिये मृगया = हिंसक प्राणियों का आखेट क्षत्रियों का धर्म है।

ययति। इक् धातु को भी इण्वत् कार्य (३४७) वार्तिक से होता है—अधिगमयति।

५०३–हनस्तोऽचिण्णलोः ॥ ७।३।३२ ॥

चिण् और णल्भिन्न ञित् णित् प्रत्यय परे हों तो हन् धातु को तकारादेश हो। घातयति। यहां (३०४) से कुत्व हो जाता है॥ ईर्ष्ययति—

५०४–वा०–ईर्ष्यतेस्तृतीयस्य द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥ ६।१।३

ईर्ष्य धातु के द्वित्वप्रसंग में तृतीय व्यञ्जन वा तृतीय एकाच् अवयव को द्वित्व आदेश हो। ऐर्ष्यियत्, ऐर्षिष्यत्[1]। यहां तृतीय के कहने से यकार को द्वित्व नहीं होता है। नाथयति, अननाथत्॥

॥ इति णिजन्तप्रक्रिया समाप्ता ॥

---

१. जिस पक्ष में 'तृतीय' पद का सम्बन्ध एकाच् के साथ होता है उस पक्षमें तृतीय एकाच् के न होने से उत्सर्ग प्राप्त द्वितीय एकाच् को ही द्वित्व होता है।

अथ सन्नन्तप्रक्रिया

५०५—धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा ॥ ३ । १ । ७ ॥

जो धातु इष धातु का कर्म हो और इष धातु के साथ समानकर्तृक हो उस धातु से इच्छा अर्थ में विकल्प करके सन् प्रत्यय हो। पठितुमिच्छति, पिपठिषति। कर्म ग्रहण इसलिये है कि 'गमनेनेच्छति' यहां करण से न हो। समानकर्ता इसलिये कहा है कि—देवदत्तस्य भोजनमिच्छति यज्ञदत्त.। विकल्पग्रहण से पक्ष में वाक्य भी होता है। पिपठिषांचकार, पिपठिषिता, पिपठिषिष्यति, पिपठिषिषति, पिपठिषिषाति, पिपठिषति, पिपठिषाति, पिपठिषतु, अपिपठिषत्, पिपठिषेत्, पिपठिष्यात्, अपिपठिषीत्, अपिपठिषिष्यत्। अद् धातु को घस्लृ आदेश (३०२) से होता है। अत्तुमिच्छति-जिघत्सति। ईर्ष्य धातु के तृतीय एकाच् (५०४) को द्वित्व होता है।[1] ईर्ष्यियिषति।

५०६—रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्च ॥ १ । २ । ८ ॥

रुदादि धातुओं से परे जो सन् और क्त्वा सो किद्वत् हों। रुरुदिषति, विविदिषति, मुमुषिषति। इन में कित् मानकर गुणादेश नहीं होता।

५०७—सनि ग्रहगुहोश्च ॥ ७ । २ । १२ ॥

ग्रह, गुह और उगन्त धातुओं से परे जो सन् उसको इट् का

---

1. देखो भा० ५०४ सूत्र।

आगम न हो । जिघृक्षति । यहां (२८६) से संप्रसारण होता है । सुषुप्सति (२८३) से संप्रसारण ।

५०८–किरश्च पञ्चभ्यः ॥ ७ । २ । ७५ ॥

कॄ गॄ दृङ् धृङ् और प्रच्छ इन पांच धातुओं से परे सलादि सन् आर्धधातुक को इट् का आगम हो । पिपृच्छिषति, चिकरिषति, जिगरिषति, जिगलिषति,[1] दिदरिषते, दिधरिषते ।

५०९–इको झल् ॥ १ । २ । ९ ॥

इगन्त से परे जो झलादि सन् वह कित् हो । भवितुमिच्छति–बुभूषति; पुपूषति, पुपूषते; लुलूषति, लुलूषते ।

५१०–हलन्ताच्च ॥ १ । २ । १० ॥

इक्समीपवर्ती हल् से परे झलादि सन् कित् हो । विविप्सते, जुघुक्षति, बिभित्सति । इग्ग्रहण इसलिये है कि 'यियक्षते' यहां कित् के न होने से संप्रसारण न हुआ । झल् इसलिये है कि 'विवर्द्धिषते' । हल्ग्रहण यहां जातिपरक है इससे—विवृक्षति[2], विवृंहिषति ।

५११–अज्झनगमां सनि ॥ ६ । ४ । १६ ॥

---

१. अचि विभाषा (आ० ४३२) से लत्व का विकल्प होता है ।

२. वृहू धातु के उदित् होने से इडभाव (१४०) पक्ष में सन् को कित् होकर अनुनासिक लोप और लघूपध गुण का अभाव होता है ।

अजन्त, हन और अजादेश[1] गम धातु को दीर्घ हो झलादि सन् परे हो तो। जेतुमिच्छति-जिगीषति। चिकीर्षति, चिचीषति। यहां (४१७) से कुत्वविकल्प। हन्तुमिच्छति जिघांसति।

५१३-सनि च ॥ २। ४। ४७॥

सन् परे हो तो इङ् धातु को गमि आदेश हो। अधिजिगांसते। यहां (५१२) से दीर्घ होगया। अजादेश ग्रहण से गम् धातु को दीर्घ नहीं होता है इससे 'संजिगंसते' यहां उपधादीर्घ न हुआ।

५१४-रलोव्युपधाद्धलादेः संश्च ॥ १। २। २६॥

इकार और उकार जिसकी उपधा और हल् आदि तथा रल् अन्त में हो उस से परे सेट् क्त्वा और सन् [विकल्प से] कित्संज्ञक हों। दिद्युतिषते, दिद्योतिषते (२१८), रुरुचिषते, रुरोचिषते; लिलिखिषति, लिलेखिषति। रल्ग्रहण इसलिये है कि 'दिदेविषति'। इ, उ, उपधा में इसलिये कहा कि-विवर्तिषते। हलादि इसलिये है कि 'एषिषिषति'। यहां नित्य द्वित्व को भी बाधकर पूर्व गुणादेश होता है।

---

[1] महाभाष्यकार ने इस सूत्र का योगविभाग करके उक्त अर्थ दर्शाया है। "अच."—अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है झलादि सन् परे रहने पर। यथा—चिचीषति। "हनिगम्योश्च"—'अच.' की अनुवृत्ति है। अजादेश जो हन और गम उस को दीर्घ होता है। यहां अजादेश केवल गम का विशेषण है, हन का नहीं, असम्भव होने से। इक् और इण के स्थान में जो गमादेश होता है उस को दीर्घ नहीं होता, क्योंकि 'जिगमिषति, अधिजिगमिषति' में सन् को इडागम होता है।

५१५—सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भुश्रिस्वृयूर्णुभरज्ञपिसनाम् ॥ ७ । २ । ४९ ॥

इवन्त, ऋधु, भ्रस्ज, दम्भु, श्रि, स्वृ, यु, ऊर्णु, भर, ज्ञपि और सन् इन अङ्गों से परे वलादि सन् आर्धधातुक को विकल्प करके इट् का आगम हो। दिदेविषति, दुद्यूषति; सिसेविषति, सुस्यूषति; अर्दिधिषति। अनिट् पक्ष में—

५१६—आप्ज्ञप्यृधामीत् ॥ ७ । ४ । ५५ ॥

सकारादि सन् प्रत्यय परे हो तो आप, ज्ञपि और ऋध अङ्गों के अच् को ईकारादेश होवे।

५१७—अत्र लोपोऽभ्यासस्य ॥ ७ । ४ । ५८ ॥

इस (अ० ७ । ४ । ५४) से लेकर (अ० ७ । ४ । ५७) इस सूत्र पर्यन्त जिन धातुओं से इस् आदि का विधान किया है उनके अभ्यास का लोप होवे। आप्तुमिच्छति, ईप्सति, अर्धितुमिच्छति, ईर्त्सति। यहां धकार को चर्त्व और ईकार को रपरभाव होता है। बिभ्रज्जिषति, बिभर्जिषति (४२७) रेफ और उपधा को रम् आगम का विकल्प। अनिट् पक्ष में बिभ्रक्षति, बिभर्क्षति।

५१८—दम्भ इच्च ॥ ७ । ४ । ५६ ॥

सकारादि सन् परे हो तो दम्भ धातु के अच् को इकार और ईकार होवे। पूर्व सूत्र से अभ्यासलोप और (५१०) सूत्र में हल् करके हलजाति का ग्रहण होने से सन् को किद्वत् होकर नकारलोप (१३९) होता है। धिप्सति, धीप्सति। सेट् पक्ष में—दिदम्भिषति। शिश्रीषति, शिश्रयिषति, सुस्वूर्षति (५११, ३८०) ऋ को उर् आदेश। *सिस्वरिषति, यियविषति* (४७२) अभ्यास को इत्। युयूषति। किद्वत् (५०९) होकर दीर्घ (५११) होजाता है। ऊर्णुन-

तिपति (३२७) डित्व का विकल्प। ऊर्णुनुविषति, ऊर्णुनूषति।(५१५) सूत्र में भर कहने से भ्वादिगण के भृञ् धातु का ग्रहण है–बिभरिषति, बुभूर्षति (३८०), जिज्ञपयिषति, ज्ञीप्सति (५१६) से ईकार और अभ्यास का लोप। (५१७) सिसनिषति, सिषासति (३१४) आकारादेश।

५१९–वा०–तनिपतिदरिद्राणामुपसंख्यानम् ॥ ७। २। ४९ ॥

तन, पत और दरिद्रा धातुओं से परे जो वलादि सन् आर्धधातुक उसको विकल्प से इट् का आगम होवे।

५२०–तनोतेर्विभाषा ॥ ६। ४। १७ ॥

झलादि सन् परे हो तो तन अङ्ग की उपधा को विकल्प करके दीर्घ होवे। तितनिषति, तितांसति, तितंसति।

५२१–वा०–आशङ्कायामुपसंख्यानम् ॥ ३। १। ७ ॥

संदेह करने अर्थ में धातु से सन् प्रत्यय हो। पतितुमिच्छति कूलं–पिपतिषति, श्वा मुमूर्षति।

५२२–सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस् ॥ ७। ४। ५४ ॥

सकारादि सन् परे हो तो मी, मा, घु, रभ, लभ, शक, पत और पद इन धातुओं के अच् को इस् आदेश होवे। पिसत्+सन् तिप्=पित्सति (२१०) से सलोप और (५१७) अभ्यास का लोप हो जाता है। दिदरिद्रिषति, दिदरिद्रासति। 'मी' से डुमिञ् और मीङ् दोनों का ग्रहण है। मित्सति, (२१६) इस के स को तकार। मा माने–मित्सति, माङ्, मेङ्–मित्सते। दा, दाण्–

दित्सति, देङ्—दित्सते, दाण्—दित्सति, दित्सते । धेट्—धित्सति, धाञ्—धित्सति, धित्सते । रभ—रिप्सते । लभ—लिप्सते । शक्लृ—शिक्षति । शक्—शिक्षति, शिक्षते । पद—पित्सते ।

५२३—वा०—इस्त्वं सनि राधो हिंसायाम् ॥ ७ । ४ । ५६ ॥

सन् परे हो तो हिंसा अर्थ में वर्तमान राध धातु के अच् को इस् आदेश और अभ्यास का लोप होवे । प्रतित्सति । हिंसा अर्थ से अन्यत्र—आरिरात्सति ।

५२४—मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा ॥ ७।४।५७ ॥

सकारादि सन् परे हो तो अकर्मक मुच धातु को विकल्प से गुण और अभ्यास का लोप होवे । प्रयोजन यह है कि (५१०) सूत्र से कित्त्व नित्य प्राप्त है उस का विकल्प हो जावे । मोक्षते, मुमुक्षते वा वत्सः स्वयमेव । अकर्मक ग्रहण इसलिये है कि 'मुमुक्षति वत्सं देवदत्तः' यहां गुण न होवे ॥ वृतु आदि चार धातुओं से परे सादि आर्धधातुक को इट् का निषेध (२२२) विवृत्सति (२२१) परस्मैपदविधि । निनर्त्तिषति, निनृत्सति (३९७) से इट् का विकल्प । चिकर्त्तिषति, चिकृत्सति, चिचर्त्तिषति, चिचृत्सति, चिछर्दिषति, चिछृत्सति ।

५२५—इट् सनि वा ॥ ७ । २ । ४१ ॥

वृङ् वृञ् और ऋकारान्त धातुओं से सन् को इडागम विकल्प करके हो । विवरिषति, विवरीषति (२६४) इट् को दीर्घ विकल्प । अनिट् पक्ष में—तितीर्षति । विवरिषति, विवरीषति, वुवूर्षति, विवरिषते, विवरीषते, वुवूर्षते । वृङ्—विवरिषते, विवरीषते, वुवूर्षते इत्यादि ।

५२३—स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि ॥७।२।७४॥

सन् परे हो तो स्मिङ्, पूङ्, ऋ, अञ्जू, अशू इन धातुओं का इट् का आगम होवे। स्मेतुमिच्छति सिस्मयिषते, पिपविषते "ओः पुयण्ज्यपरे"[2] सूत्र से अभ्यास को इकारादेश होता है। पिपावयिषति, अरिरिषति, अञ्जिजिषति, अशिशिषते, पूङ्-पुपूषति, इच्छ—इचिच्छिषति। चुरादिगण तथा अन्य सब धातु हेतुमान् णिजन्तों से भी इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय होता है। जैसे—पाठयितुमिच्छति-पिपाठयिषति, अध्यापयितुमिच्छति-अधिजिगापयिषति (४९६) इङ् का गाङ् आदेश विकल्प-अध्यापिपयिषति, शिश्रावयिषति, शुश्रावयिषति (४७४) श्वि को सम्प्रसारण। जुहावयिषति, सम्प्रसारण। पुस्फारयिषति, चुक्षावयिषति, यियावयिषति, बिभावयिषति, रिरावयिषति, लिलावयिषति, जिजावयिषति (४७२)। प्लु, यण्, जि ग्रहण[1] इसलिये है कि 'नुनावयिषति'। अकार परे इसलिये कहा है कि 'बुभूषति'। (४७३) सूत्र से स्रव आदि के अभ्यास को इत्व का विकल्प होकर—सिस्रावयिषति, सुस्रावयिषति इत्यादि। तुष्टूषति, शुश्वापयिषति, सिषाधयिषति, विद्वासति, शुशुप्सति, प्रवापिषति, अधीषिषति, एधितुमिच्छति एदिधिषति, इस प्रक्रिया में भी सामान्य और विशेष सूत्रों में सब धातुओं का सम्बन्ध करके यथा व्यवस्था जानो।

॥ इति सन्नन्तप्रक्रिया समाप्ता ॥

---

1. आ० ४७२। 2. ओः पुयण्ज्यपरे (आ० ४७२) सूत्र में।

अथ यङन्तप्रक्रिया

५२७—धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् ॥ ३ । १ । २२ ॥

क्रिया के बार बार शीघ्र वा निरन्तर अर्थ में हलादि एकाच् धातुओं से यङ् प्रत्यय होवे। (१६७) से धातुसंज्ञा और (२६८) से द्वित्व होकर—

५२८—गुणो यङ्लुकोः ॥ ७ । ४ । ८२ ॥

यङ् और यङ्लुक् परे हो तो अङ्ग के इगन्त अभ्यास को गुणादेश हो। पुनः पुनरतिशयेन भृशं वा भवतीति बोभूयते, बोभूयाचक्रे,* बोभूयाबभूव, बोभूयामास, बोभूयिता, बोभूयिष्यते, बोभूयिषतै, बोभूयिषातै, बोभूयताम्, अबोभूयत, बोभूयेत, बोभूयिषीष्ट, अबोभूयिष्ट, अबोभूयिष्यत। धातुग्रहण आर्धधातुक संज्ञा होने के लिये है। एकाच्ग्रहण इसलिये है कि 'पुनः पुनर्जागर्ति' यहां यङ् न हो। हलादिग्रहण इसलिये हैं कि 'भृशमाटत'। जिस धातु* के यङन्त प्रयोग से शीघ्र आदि अर्थ विदित नहीं होते हैं उससे यङ् प्रत्यय नहीं होता। जैसे—भृशं शोभते, भृशं रोचते।

---

* तन्वावश्यमनभिधानमाश्रयितव्य क्रियमाणेऽपि ह्येकाज्ग्रहणे हलादिग्रहणे यत्रैकाचो हलादेश्चोत्पद्यमानेन यङाऽर्थस्याभिधानं न भवति, न भवति तत्रोत्पत्तिः। तद्यथा—भृशं शोभते, भृशं रोचते। महाभाष्य अ० ३। पा० १। सू० २२॥

५२६—वा०—सूचिसूत्रिमूत्र्यट्यर्त्यशूर्णोतीनां ग्रहणं यङ्विधावनेकाजहलाद्यर्थम् ॥ ३।१।२२ ॥

यङ्विधान में अनेकाच् और अहलादि धातुओं के अर्थ सूचि, सूत्रि, मूत्रि, अटि, अर्ति, अशू, ऊर्णु इन धातुओं का ग्रहण कर्तव्य है। अर्थात् (५२७) सूत्र में एकाच् और हलादिग्रहण से सूचि आदि धातुओं से यङ् नहीं प्राप्त है वह हो। सोसूच्यते, सोसूत्र्यते, मोमूत्र्यते।

५३०—यस्य हलः ॥ ६।४।४९ ॥

आर्धधातुक विषय में हल् से परे यकार का लोप हो। सोसूच्य+अम्+कृ+एश्=सोसूचाञ्चक्रे, सोसूचिता, सोसूत्रिता, मोमूत्रिता।

५३१—दीर्घोऽकितः ॥ ७।४।८३ ॥

यङ् और यङ्लुक् परे हो तो अङ्ग के अकित् अभ्यास का दीर्घ हो। अट् आदि अजादि धातुओं में यङन्त द्वितीय एकाच् अवयव 'ट्य' मात्र को द्वित्व होता है। अटाट्यते, अटाटाञ्चक्रे, अटाटिष्यते।

५३२—यङि च ॥ ७।४।३० ॥

यङ् परे हो तो ऋ और संयोगादि ऋकारान्त धातु को गुणादेश होवे। अरार्यते[1], अशाश्यते, अराराञ्चक्रे, अरारिता, अशाशिता,

---

1 यहां 'न न्द्राः संयोगादयः' (अ० ३२६) से रेफ को द्विर्वचन का निषेध प्राप्त होता है। परन्तु महाभाष्यकार के वचन सामर्थ्य (ऐसा उदाहरण देने) से द्विर्वचन का निषेध प्रवृत्त नहीं होता। काशिकाकार ने 'यकारपरस्य रेफस्य प्रतिषेधो न भवतीति वक्तव्यम्' (काशिका ६।१।३) ऐसा स्पष्ट वचन पढ़ा है।

ऊर्णोनूयते, वेभिद्यते, बेभिदिता । यहां अकारलोप को स्थानिवत् मानने से उपधा को गुण नहीं होता[२] ।

५३३—नित्यं कौटिल्ये गतौ ॥ ३ । १ । २३ ॥

कुटिलता अर्थ में गत्यर्थक धातुओं से नित्य ही यङ् प्रत्यय हो, अर्थात् क्रियासमभिहार अर्थ में जो यङ् (५२७) कहा है वहां उसी अर्थ में लकारार्थ प्रक्रिया में पाक्षिक लोट् भी होगा, परन्तु गत्यर्थ धातुओं से कुटिलगति में यङ् ही होगा लोट् नहीं। कुटिलं व्रजति, वाव्रज्यते, वाव्रज्यते ।

५३४—लुपसदचरजपजभदहदशगृभ्यो भावगर्हायाम् ॥ ३ । १ । २४ ॥

धात्वर्थ की निन्दा मे लुप् आदि धातुओं से यङ् प्रत्यय हो। लुप् आदि से क्रियासमभिहार में यङ् नहीं होता, किन्तु निन्दा में ही होता है। गर्हितं लुम्पति लोलुप्यते, निन्दितं सीदति सासद्यते ।

५३५—चरफलोश्च ॥ ७ । ४ । ८७ ॥

यङ् और यङ्लुक् परे हो तो चर और फल धातु के अभ्यास को नुक् आगम होवे ।

५३६—वा०-अनुस्वारागमः पदान्तवच्च ७ । ४ । ८५ ॥

नुक् के स्थान में अनुस्वार आगम कहो और उसको पदान्त के समान कार्य हों ।

---

२. अथवा 'न धातुलोप आर्धधातुके' (आ० ५५५) सूत्र से गुण का प्रतिषेध समझना चाहिये ।

५३७—उतपरस्यातः ॥ ७ । ४ । ८८ ॥

यङ् और यङ्लुक् परे हो तो चर और फल धातु के अभ्यास से पर अकार को उकारादेश हो। चञ्चूर्यते[1], चंचूर्यते (१९७) दीर्घ। पम्फुल्यते, पंफुल्यते।

५३८—जपजभदहदशभञ्जपशां च ॥ ७ । ४ । ८६ ॥

यङ् और यङ्लुक् परे हो तो जप, जभ, दह, दश, भञ्ज और पश धातुओं के अभ्यास को नुक् का आगम होवे। कुत्सितं जपति, जञ्जप्यते, जंजप्यते, जंजभ्यते, दंदह्यते, दंदश्यते, [बंभज्यते,] पश धातु सौत्र है किसी गण का नहीं—पंपश्यते।

५३६—ग्रो यङि ॥ ८ । २ । २० ॥

यङ् परे हो तो गृ धातु के रेफ को लकारादेश हो। गर्हितं गिरति जेगिल्यते। अतिशयेन पुनः पुनर्वा ददाति देदीयते, देधीयते, मेमीयते, देष्ठीयते, जेगीयते, पेपीयते, जेहीयते, अवसेषीयते। यहां सर्वत्र (३४६) से द्वित्व से पूर्व ईकारादेश होता है। शोशूयते, शेश्वीयते, यहां (२९४) से संप्रसारण विकल्प। अतिशयेन प्यायते पेपीयते, यहां (१९३) सूत्र प्यायी धातु को पी आदेश। सास्मर्यते, सास्वर्यते (२५४) से ऋकार को गुण होता है।

५४०—रीङ् ऋतः ॥ ७ । ४ । २७ ॥

कृत् और सार्वधातुकभिन्न यकारादि और च्वि प्रत्यय परे हों तो ऋकारान्त अङ्ग को रीङ् आदेश हो। चेक्रीयते, जेह्रीयते, देध्रीयते, वेभ्रीयते।

---

१. पदान्तवद्भाव का विधान (भा० ५३६) होने से 'वा पदान्तस्य' (सन्धि० १९८) से विकल्प से परसवर्णादेश होता है।

५४१—न कवतेर्यङि ॥ ७ । ४ । ६३ ॥

यङ् परे हो तो कुङ् धातु के अभ्यास को चुत्व न हो। अतिशयेन—कवते कोकूयते, अतिशयेन कुवति—चोकूयते।

५४२—कृपेश्छन्दसि ॥ ७ । ४ । ६४ ॥

यङ् परे हो तो वेदविषय में कृप धातु के अभ्यास को चुत्व न हो। कराकृप्यते यज्ञकुणपः। अन्यत्र लोक में—चरीकृप्यते कृषीवलः।

५४३—नीग् वञ्चुस्रंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् ॥ ७ । ४ । ८४ ॥

यङ् और यङ्लुक् परे हों तो वञ्चु, संसु, ध्वसु, भ्रसु, कस, पत, पद और स्कन्द के अभ्यास का नीक् आगम हो। वनीवच्यते। (५३१) इस सूत्र में अकित् कहने से दीर्घ नहीं होता। सनीस्रस्यते, दनीध्वस्यते, बनीभ्रस्यते। यहां (१३९) से नलोप होता है। चनीकस्यते, पनीपत्यते, पनीपद्यते, चनीस्कद्यते।

५४४—नुगतोऽनुनासिकान्तस्य ॥७।४।८५॥

यङ् और यङ्लुक् परे हों तो अनुनासिकान्त अङ्ग के अकारान्त अभ्यास को नुक् आगम हो। ततन्यते, जंगम्यते, यंयम्यते। तपरग्रहण से पूर्व दीर्घ अभ्यास को नुक् नहीं होता। यथा—बाभाम्यते, जाजायते, जञ्जन्यते, यहां (१८५) सूत्र से आकारादेश विकल्प से होता है।

५४५—हन्तेर्हिंसायां यङि घ्नीभावो वक्तव्यः ॥ ७ । ४ । ३० ॥

यङ् प्रत्यय परे हो तो हिंसा अर्थ में हन् धातु का घ्नी आदेश हो। अतिशयेन हन्ति जेघ्नीयते। हिंसा से अन्यत्र—जंघन्यते।

५४६—रीगृदुपधस्य च ॥ ७ । ४ । ९० ॥

यङ् और यङ्लुक् परे हों तो ऋदुपध धातु के अभ्यास को रीक् का आगम हो अतिशयेन वर्तते, वरीवृत्यते, वरीवृध्यते, नरीनृत्यते। यहां (४९३) इस सूत्र से णत्व का निषेध होता है। चलीक्लृप्यते। यहां (२२३) से लत्व होता है।

५४६—रीगृत्वत इति वक्तव्यम् ॥७।४।९०॥

(रीगृदु०) यहां ऋकारवान् धातु के अभ्यास को रीक् कहना चाहिये। पुनः पुनर्भ्रशं वरीवृश्च्यते, परीपृच्छ्यते।

५४८—स्वपिस्यमिव्येञां यङि ॥ ६।१।१९ ॥

यङ् परे हो तो स्वपि, स्यमि और व्येञ् धातु को संप्रसारण हो। सोषुप्यते, सेसिम्यते, वेवीयते।

५४९—न वशः ॥ ६ । १ । २० ॥

यङ् परे हो तो वश धातु को संप्रसारण न हो। वावश्यते।

५५०—चायः की ॥ ६ । १ । २१ ॥

यङ् परे हो तो चाय् धातु को की आदेश हो। अतिशयेन चायते, चेकीयते।

५५१—ई घ्राध्मोः ॥ ७ । ४ । ३१ ॥

यङ् परे हो तो घ्रा, ध्मा धातुओं को ईकारादेश हो। अतिशयेन पुनः पुनर्वा जिघ्रति जेघ्रीयते, देध्मीयते।

५५२—अयङ् यि क्ङिति ॥ ७ । ४ । २२ ॥

यकारादि क्ङित् प्रत्यय परे हों तो शीङ् धातु को अयङ् आदेश हो। मृशं शेते शाशय्यते, डोढौक्यते, तोत्रौक्यते। यहां अभ्यास को ह्रस्व होकर गुण हो जाता है। अतिशयेन प्रीणाति, पेप्रीयते।

इति यङन्तप्रक्रिया समाप्ता ॥

अथ यङ्लुगन्त प्रक्रिया

५५३—यङोऽचि च ॥ २ । ४ । ७४ ॥

अच् प्रत्यय परे हो तो यङ् का लुक् हो, तथा चकार से उसके बिना भी बहुल करके लुक् हो।

५५४—न धातुलोप आर्धधातुके ॥ १ । १ । ४ ॥

आर्धधातुक को निमित्त मान कर जहां धात्ववयव का लोप हुआ हो, वहां इक् के स्थान में गुण वृद्धि न हो। अतिशयेन यो लोलूयते स लोलुवः, पापुवः, सनीस्रसः, दनीध्वसः। "दाधर्ति॰" इस अगले (५५६) सूत्र में 'तेतिक्ते' इस प्रयोग में यद्यपि प्रत्ययलक्षण मानकर आत्मनेपद सिद्ध है तथापि आत्मनेपद निपातन से यह ज्ञापन है कि अन्यत्र यङ्लुगन्त धातुओं से परस्मैपद[1] होता है। यहाँ अन्तरङ्गत्व मानकर द्वित्व से पूर्व यङ्लुक् होता है। प्रत्ययलक्षण से द्वित्व, लट् आदि लकारों का उत्पात्त परस्मैपद और विकरणों का उत्सर्ग शप् विकरण होता है। [अदादिगण में "चर्करीतं च" गणसूत्र का पाठ होने यङ्लुक् को आदादिक मानकर शप् का लुक् होता है]।

५५५—यङो वा ॥ ७ । ३ । ९४ ॥

यङ् से परे हलादि पित् सार्वधातुक को ईट् का आगम विकल्प करके हो। शाकुनिको लालपीति, दुन्दुभिवावदीति, त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति।

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ २३०, टि॰ २।

५५६—दाधर्तिदर्धर्तिदर्धर्षिबोभूतुतेतिक्तेऽलर्ष्यापनीफणत्संसनिष्यदत्करिक्रत्कनिक्रदद्भरिभ्रद्दविध्वतोदविद्युतत्तरित्रतःसरीसृपतंवरीवृजन्मर्मृज्यागनीगन्तीति च ॥ ७ । ४ । ६५ ॥

दाधर्ति, दर्धर्ति, दर्धर्षि, बोभूतु, तेतिक्ते, अलर्षि, आपनीफणत्, संसनिष्यदत्, करिक्रत्, कनिक्रदत्, भरिभ्रत्, दविध्वतः, दविद्युतत्, तरित्रतः, सरीसृपतम्, वरीवृजत्, मर्मृज्य और आगनीगन्ति ये अष्टादश वेद में निपातन हैं। दाधर्ति—यहाँ धारि और धृङ् धातु से श्लु या यङ्लुक् में अभ्यास को दीर्घ और णिच्लोप निपातन है। दर्धर्ति—में प्रत्यय के श्लु होने पर अभ्यास को रुक् आगम, तथा दर्धर्षि में भी। बोभूतु—में यङ्लुगन्त भू धातु से लोट् प्रथमैकवचन में गुण का निषेध निपातन है। यद्यपि (९२) सूत्र से गुण का निषेध हो जाता, फिर यहाँ गुण के अभाव निपातन से 'बोभवीति' आदि में (९२) सूत्र से गुण का निषेध नहीं होता। तेतिक्ते—में यङ्लुगन्त तिज धातु से आत्मनेपद निपातन किया है। अलर्षि—यहाँ जुहोत्यादि ऋ धातु से लट् मध्यमैकवचन में अभ्यास के 'हलादि शेष' रुक को लत्व निपातन है। यहाँ सिप् निर्देश उपलक्षणमात्र है, इससे 'अलर्ति दक्षः' इत्यादि में उक्त कार्य होता है। आपनीफणत् में आङ्पूर्वक यङ्लुगन्त फण धातु के अभ्यास को नीक् आगम शतृ प्रत्यय में निपातन है। संसनिष्यदत्—में सम्पूर्वक यङ्लुगन्त स्यन्दू धातु को शतृ पर हो तो अभ्यास को निक् आगम [तथा धातु के सकार को षत्व] निपातन है। यहाँ सम्पूर्वक होना अतन्त्र है, इससे 'आसनिष्यदत्' यहाँ भी उक्त कार्य होता है। करिक्रत्—यहाँ कृञ् धातु के अभ्यास को चुत्व न होना तथा उसके ककार को रिक् आगम [शतृ प्रत्यय के रहते] निपातन है।

कनिक्रदत्—में लुङ् में क्रन्द् से परे च्लि को अङ् आदेश, धातुद्विर्वचन, अभ्यास को चुत्व न होना और निक् आगम निपातन है। भरिभ्रत्—में यङ्लुगन्त भृञ् धातु के अभ्यास को जश्त्व और इत्व का होना और रिक् आगम निपातन है। दविध्वतः—में यङ्लुगन्त ध्वृ धातु के अभ्यास को विक् आगम और ऋलोप शतृपूर्वक जस् विभक्ति के परे निपातन है। दविध्वतो रश्मय सूर्यस्य। दविद्युतत्—में यङ्लुगन्त द्युत् धातु के अभ्यास को सम्प्रसारण निषेध, अकारादेश और विक् आगम निपातन है। तरित्रतः—में तृ धातु को श्लु, शतृ प्रत्यय के परे षष्ठी के एकवचन में अभ्यास को रिक् आगम निपातन है। सरीसृपतम्—में सृप् धातु को श्लु, शतृ प्रत्यय के परे द्वितीया के एकवचन में अभ्यास को रीक् आगम निपातन है। वरीवृजत्—में वृजी धातु को श्लु, शतृ प्रत्यय के परे अभ्यास को रीक् आगम निपातन है। मर्मृज्य—में मृज धातु से लिट् णल् परे हो तो अभ्यास को रुक्, धातु को युक् निपातन है यहां मृज को लघूपध के अभाव से वृद्धि नहीं होता। आगनीगन्ति—में आङ्पूर्वक गम धातु को श्लु होने से लट् में अभ्यास को चुत्व निषेध और नीक् आगम निपातन किया है। वस्यन्ति वेदागनीगन्ति कर्णम्। "दाध०" इस सूत्र में इति शब्द पढ़ने से इस प्रकार के अन्य प्रयोगों का भी संग्रह होता है।

(२६१) इस सूत्र में हु श्नु ग्रहण का मुख्य प्रयोजन यही है कि यङ्लुगन्त में अजादि सार्वधातुक के परे इन को यण्ादेश न हो। इससे हु, श्नु ग्रहण ज्ञापक है कि लोक में भी सब लकारों के विषय में यङ्लुक् होता है। यथा—अतिशयेन पुनः पुनर्वा भिनत्ति बेभिदीति। यहां (२९०) से गुणनिषेध होता है। बेभेत्ति, बेभित्तः, बेभिदति, बेभिदीषि, बेभेत्सि, बेभित्थः, बेभित्थ, बेभिदीमि, बेभेद्मि, बेभिद्वः, बेभिद्मः, बेभेदाञ्चकार, बेभेदामास, बेभेदाम्बभूव, बेभेदिता,

वेभेदिष्यति, वेभेदिषति, वेभेदियाति, वेभिदति, वेभिदाति, वेभिदीतु, वेभेत्तु, अवेभिदीत्, अवेभेत्, अवेभेः, यहां (३५१) से हत्वविकल्प होता है। अवेभेदीः, वेभिद्यात्, वेभिद्यास्ताम्, अवेभेदीत्, अवेभेदिष्टाम्, अवेभेदिष्यत्, चेच्छिदीति, चेच्छेत्ति इत्यादि। बोभवीति, बोभोति, बोभूतः, बोभुवति, बोभवांचकार, बोभविता, अबोभवीत्, अबोभूताम्, अबोभवुः। यहां (३६२) से गुणादेश होता है। बोभूयात्, बोभूयाताम्, बोभूयास्ताम्, अबोभूवीत्। (९१) से सिच्लुक् तथा (३५) नित्यत्व मानकर वुक्। अबोभोत्, अबोभूताम्, अबोभवुः, अबोभविष्यत्।

अतिशयेन स्पर्द्धते, पास्पर्द्धीति। पास्पर्द्धि। पास्पर्द्धः। पास्पर्द्धति। पास्पर्त्सि, पास्पर्द्धि। यहां (३००) से हि को धि हुआ है। अपास्पत्, अपास्पाः, यहां सिप् के परे (३५१) से हत्वविकल्प हुआ। अपास्पत्, अपास्पद् ॥ अतिशयेन गाधते जागाद्धि, जागाधीति, जागात्सि, अजागात्, अजागाः। यहां (२०४) से भ० ॥ पुनः पुनर्नोनूयते नानाति, नानाधीति, नानाचः, चोस्कुन्दीति, चोस्कुन्ति, अचोस्कुन्, अचोस्कुन्ताम्, अचोस्कुन्दुः ॥ अतिशयेन मोदते मोमुदीति, मामोदांचकार, मामोदिता, अमामुदीत्, अमोमोत्, अमोमुत्ताम्, अमोमुदुः, अमोमुदीः, अमामाः, अमोमोत्, अमोमोदीत् ॥ पुनः पुनः कूर्दते चोकूर्दीति, चोकूर्त्ति, चोकूर्दते, चोकूर्दति, अचोकूर्त्[1], अचोकूर्दीत्, अचोकूः, अचोकूः[1], अजोगूः[2] ॥ अतिशयेन वञ्चति वनीवञ्चीति, वनीवञ्चात, वनीवञ्चः, वनीवञ्चति, अवनीवञ्चीत्, अवनीवन् ॥ अतिशयेन गच्छति जंगमीति, जंगन्ति, जंगतः। यहां (३०३) से अनुनासिक लोप होता है। जंगमति, जंगन्मि, जंगन्वः। यहां (१७३) से म को न आदेश होता है। जगमिता, यहां

---

१. खुर्द धातु का रूप। २. गुर्द धातु का रूप।

एकाच् से निषेध होने से इट् निषेध नहीं होता। जंगहि, [अजंगन्,] "मो नो धातोः"[1] इस सूत्र से मकार को नकार होता है। अजंगमीत् अजंगमिष्टाम्। यहां लृदित् कार्य 'च्लि' को 'अङ्' आदेश नहीं होता, [(१६२) सूत्र से वृद्धि का निषेध हो जाता है]॥ भृशं हन्ति जंघनीति, जंघन्ति, जंघतः, जंघ्नति, जंघनिता, जंघहि, अजघनीत्, अजंघन्, [जंघन्यात्, आशिषि—] वध्यात्। यहां द्वित्व आदेश होकर वध आदेश होता है फिर आदेश को स्थानिवत् मानकर अनभ्यास निषेध से वधादेश को द्वित्व नहीं होता। आङ् पूर्व से "आङो यमहनः"[2] से आत्मनेपद होगा— आजंघत इत्यादि॥ अतिशयेन चरति, चंचुरीति, चञ्चूर्ति, चञ्चूर्त्तः, चञ्चुरति, अचञ्चुरीत्, अचञ्चूः॥ चह्वनीति, चह्वन्ति, चह्वातः। यहां (२९४) सूत्र से आकारादेश। चह्वाहि, अचह्वनीत्, अचह्वन्, अचह्वाताम्, अचंखनुः, चंखन्यात्, चह्वायात्। यहां (१८९) से आकारादेश विकल्प। अचह्वनीत् [अचह्वानीत्]॥ अतिशयेन यौति, योयोति, योयवीति। यहां "उतो वृद्धि०"[3] इस सूत्र में "नाभ्यस्त०"[4] इस सूत्र की अनुवृत्ति होने से वृद्धि न हुई। अयोयवीत्, अयोयोत्, योयुयात्। आशीर्लिङ् में (१६०) दीर्घ— योयूयात्, अयोयावीत्। नोनवीति, नोनाति॥ अतिशयेन जहाति जाहेति, जाहाति, जाहीतः। यहां (३८३) से ईकारादेश। जाहति, जाहेषि, जाहासि, जाहीथः। यहां "जहातेश्च"[5] "आ च हौ"[6] "लोपो यि"[7] "घुमास्था०"[8] "पालिङि"[9]—ये पाच सूत्र श्तिप्

के निर्देश से प्रवृत्त नहीं होवे हैं। जाहोदि, अजाहेत्, अजाहात्, अजाहीताम्, अजाहुः, जाहीयात्, जाहायात्, अजाहासीत्, अजाहासिष्टाम्, अजाहिष्यत् ॥ अतिशयेन स्वपिति—सास्वपीति, सास्वप्ति। यहां यङ् का लुक् होने से "न लुमताङ्गस्य"[1] इस निषेध से "स्वपिस्यमि" संप्रसारण और गुण के वारण से "रुदादिभ्यः०"[3] यह इट् नहीं होता। सास्वप्तः, सास्वपति, असास्वपीत्, असास्वप्, सास्वप्यात्। आशीर्लिङ् में—सासुप्यात्। यहां "वचिस्वपि०"[5] इससे सम्प्रसारण होता है। असास्वापीत्, असास्वपीत्।

५५७—रुग्रिकौ च लुकि ॥ ७। ४। ९१ ॥

यङ्लुक् परे हो तो ऋकारोपध धातु के अभ्यास को रुक्, रिक् और रीक् आगम हो। अतिशयेन वर्तते, वर्वृतीति, वरिवृतीति, वरीवृतीति, वर्वर्त्ति, वरिवर्त्ति, वरीवर्त्ति, वर्वृत्तः, वर्वृतति, वर्वर्तामास, वर्वर्तिता, वर्वर्तिष्यति, वर्वृतति, वरिवृतति, वरीवृतति, वर्वृताति, वरिवृताति, वरीवृताति, वर्वर्तिषति, वरिवर्तिषति, वरीवर्तिषति, वर्वर्तिषाति, वरिवर्तिषाति, वरीवर्तिषाति, अवर्वृतीत्, अवर्वर्त्, अववाः, अवर्वर्तीत् ॥ अतिशयेन गर्हते जर्गहीति, जर्गढि, जर्गृढः, जर्गृहति, अजर्घट्, अजर्घड् ॥ अतिशयेन गृह्णाति जागृहीति, जामाढि। ग्रस् आदि में ङित् मानकर संप्रसारण होता है, वह बहिरङ्ग है, इससे यहां अभ्यास को रुक् आदि नहीं होवें। जागृढः, जागृहति, जाग्रहीषि, जाग्रक्षि, जाग्रहिता। यहां "ग्रहो लिटि दीर्घः"[4] यह नहीं होता, क्योंकि वहां एकाच की अनुवृत्ति है। जर्गृधीति, जर्गर्द्धि, जर्गृद्धः, जर्गृधति, जर्गृधीषि,

१, आ० ९८। २, आ० ५१८। ३, आ० ३५७।
४, आ० २८३। ५, आ० ५५५।

अथ नामधातुप्रक्रिया



५६१—सुप आत्मनः क्यच् ॥ ३ । १ । ८ ॥

इच्छा करनेवाले के संबन्धी इच्छा के कर्मरूप सुबन्त से इच्छा अर्थ में विकल्प करके क्यच् प्रत्यय हो।

५६२—क्यचि च ॥ ७ ॥ ४ । ३३ ॥

क्यच् परे हो तो अवर्णान्त अङ्ग को ईकारादेश हो। यह सूत्र (१६०) सूत्र का अपवाद है। आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति। यहां "सुपो धातुप्रातिपदिकयोः"[1] सूत्र से पुत्र शब्द का द्वितीया विभक्ति का लुक् हो जाता है। आत्मनः गामिच्छति, गव्यति, (सन्धि० १८२) सूत्र से वान्तादेश। आत्मनः नावमिच्छति, नाव्यति। यहां (५६३) से पदान्त के न होने से अवर्णपूर्वक वकार का लोप (सन्धि० २५१) सूत्र से नहीं होता। गव्याञ्चकार, गव्यिता, नाव्याञ्चकार, नाव्यिता। यहां सन्निपातपरिभाषा के आश्रय से क्यच् के यकार का लोप नहीं होता।

५६३—नः ॥ १ । ४ । १५ ॥

क्यच्, क्यङ् और क्यष् परे हो तो नकारान्त की ही पदसंज्ञा हो अन्य की नहीं। आत्मनः राजानमिच्छति, राजीयति। यहां पद संज्ञा होने से राजन् शब्द के नकार का लोप होता है। राजीयाञ्चकार, राजीयिता, राजीयिष्यति, राजीयतु, राजीयति, राजीयतु, अराजीयत्, राजीयेत्, राजीय्यात्, अराजीयीत्, अराजीयिष्यत्।

1 अष्टा० २।४।७१

५६५—प्रत्ययोत्तरपदयोश्च॥ ७ । २ । ९८॥

प्रत्यय और उत्तरपद परे हो तो एक वचन में वर्तमान मपर्यन्त युष्मद् अस्मद् शब्दों को त्व म आदेश हों । आत्मनस्त्वामिच्छति, त्वयति, मयति । एकवचन के कहने से "युष्मयति, अस्मयति" यहां त्व म, आदेश नहीं होते । आत्मनो गिरमिच्छति गीर्यति । (१९७) वाधादेश पूर्ववत् । दिवमिच्छति दिव्यति । धातु को दीर्घ कहा है [इसलिये अव्युत्पन्न] दिव् शब्द के इकार को नहीं होता । अध इच्छति अधस्यति । आत्मन: कर्तारमिच्छति कर्त्रीयति (२२९) सू. को रिङ् आदेश० ।

५६५—क्यच्व्योश्च ॥ ६ । ४ १५२ ॥

क्य और च्वि प्रत्यय परे हो तो हल् से परे अपत्यसम्बन्धी यकार का लोप हो । आत्मनो गार्ग्यमिच्छति गार्गीयति, वात्सीयति । आत्मन: कर्तारमिच्छति, कर्त्रीयति (१६०) दीर्घ आत्मनो वाचमिच्छति वाच्यति, समिधमिच्छति समिध्यति ।

५६६—क्यस्य विभाषा ॥ ६ । ४ । ५० ॥

हल् से परे जो क्य प्रत्यय का यकार उसका विकल्प करके लोप हो आर्धधातुक विषय में । समिधाञ्चकार । यहां प्रथम यकारलोप (१०२) से होकर उसको स्थानिवत् मानकर लघूपध गुण नहीं होता । समिध्याञ्चकार, समिधिता, समिध्यिता इत्यादि ।

(५६१) सूत्र में सुप्ग्रहण इसलिये है कि वाक्य में क्यच न हो । जैसे—महान्तं पुत्रमिच्छति । और आत्मग्रहण इसलिये है कि 'राज्ञः पुत्रमिच्छति' यहां क्यच् न हो ।

५६७—वा०—क्याचि मान्ताऽव्ययप्रतिषेधः॥ ३ । १ । ८ ॥

मकारान्त और अव्यय शब्दों से क्यच् प्रत्यय न हो। इदमिच्छति, किमिच्छति, उच्चैरिच्छति, नीचैरिच्छति, स्वरिच्छति इत्यादि।

५६८—अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षापिपासागर्द्धेषु ॥ ७। ४। ३४ ॥

बुभुक्षा, पिपासा अभिलाषा इन अर्थों में अशनाय, उदन्य और धनाय य यथासंख्य करके तीनों निपातन हैं। अशनाय यहां 'अशन' शब्द को आत्व क्यच् प्रत्यय के परे निपातन है। आत्मनोऽशनमिच्छति, अशनायति। बुभुक्षा से अन्यत्र—आत्मनोऽशनं संपादयितुमिच्छति, अशनीयति। उदन्य यहां 'उदक' शब्द को उदन् आदेश निपातन है। उदकमिच्छति—उदन्यति। पीने की इच्छा से अन्यत्र-उदकीयति। धनाय यहां 'धन' शब्द को आकारादेश निपातन है। धनायति। अभिलाष से अन्यत्र-धनीयति।

५६९—न छन्दस्यपुत्रस्य ॥ ७। ४। ३५ ॥

वेदविषय में क्यच् परे हो तो पुत्रभिन्न अवर्णान्त अङ्ग को ईत्व न हो। मित्रयति। पुत्र शब्द के ग्रहण से यहां न हुआ—पुत्रीयन्तः सुदानवः। अत्यल्पमिदमुच्यते अपुत्रस्यति, अपुत्रादीनामिति वक्तव्यम्। इहापि यथास्यात्—जनीयन्तोऽन्वग्रवः।

५७०—क्याच्छन्दसि ॥ ३। २। १७० ॥

वेद में क्य प्रत्ययान्त धातुओं से तच्छील, तद्धर्म, तत्साधुकारि इन अर्थों में उ प्रत्यय हो। मित्रयुः, संस्वेदयुः, देवाञ्जिगाति सुम्नयुः।

५७१—दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति ॥ ७। ४। ३६ ॥

वेद में क्यच् प्रत्ययान्त दुरस्यु, द्रविणस्यु, वृषण्यति, रिषण्यति, ये शब्द निपातन किये हैं। दुरस्यु—यहां दुष्ट शब्द को दुरस् आदेश

निपातन है । अविर्योना दुरस्युः । 'दुष्टीयति' यह लोक में होता है। द्रविण शब्द को द्रविणस्भाव निपातन है। द्रविणस्युर्विपन्यया । 'द्रविणीयति' यह लोक में होता है। वृष शब्द को वृषण् निपातन है। वृषण्यति । लोक में—वृषीयति। रिष्ट शब्द को रिषण्भाव निपातन है। रिषण्यति । लोक में—रिष्टीयति ।

५७२—अश्वाघस्यात् ॥ ७ । ४ । ३७ ॥

वेदविषय में क्यच् परे हो तो अश्व और अघ अङ्ग को आकारादेश हो । अश्वायन्तो मघवन् । मा त्वा वृका अघायवो विदन् । लोक में—अश्वीयति, अघीयति । यह अश्व और अघ अङ्ग का आत्वविधान ज्ञापक है कि इस प्रकरण में (१६०) सूत्र से दीर्घ नहीं होता ।

५७३—देवसुम्नयोर्यजुषि काठके ॥७।४।३८॥

यजुर्वेद की काठक शाखा में देव और सुम्न अङ्ग को आकारादेश हो क्यच् परे हो तो । देवायन्तो यजमानाय, सुम्नायन्तो हवामहे । यजुर्ग्रहण से 'देवान् जिगाय सुम्नयुः' यहां नहीं होता । काठकग्रहण से 'सुम्नयुरिदमासीत्' [यहां नहीं होता] ।

५७४—कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः ॥७।४।३९॥

वेदविषय में क्यच् परे हो तो कवि, अध्वर और पृतना अङ्ग का लोप हो । कव्यन्तः सुमनसः, अध्वर्यन्तः, पृतन्यन्तस्तिष्ठन्ति ।

५७५—अश्वक्षीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचि ॥ ७ । १ । ५१ ॥

क्यच् परे हो तो अश्व, क्षीर, वृष, लवण इन अङ्गों को आत्मप्रीति अर्थ में असुक् आगम हो । अश्वस्यति वडवा, क्षीरस्यति माणवकः, आत्मनो वृषमिच्छति वृषस्यति गौः, लवणमिच्छति

लवणस्यत्युग्रः। आत्मप्रीति अर्थ से अन्यत्र—'अश्वीयति' क्षीरीयति वृषीयति, लवणीयति' इत्यादि में नहीं होता।

५७६—वा० अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम् ॥ ७। १। ५१ ॥

(अश्वक्षीर०) सूत्र में जो असुक् कहा है वह अश्व और वृष शब्दों से मैथुन की इच्छा में हो। उदाहरण पूर्वोक्त जानो।

५७७—वा० क्षीरलवणयोर्लालसायाम् ॥ ७। १। ५१ ॥

क्षीर और लवण शब्द से लालसा (अत्यन्त भोजन की इच्छा) में असुक् होता है। यहां भी उदाहरण पूर्वोक्त जानो।

५७८—वा०-अपर आह-सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायामिति वक्तव्यम् ॥ ७। १। ५१॥

किन्हीं लोगों के मत में क्यच् पर हो तो सब प्रातिपदिकों को असुक् हो। आत्मनो दधीच्छति, दध्यस्यति, मध्वस्यति इत्यादि।

५७६-वा०-अपर आह-सुग्वक्तव्यः ॥७।१।५१

कोई आचार्य कहते हैं कि क्यच् के परे सब प्रातिपदिकों को सुक् का आगम हो। दधिस्यति, मधुस्यति।

५८०—काम्यच ॥ ३। १। ६ ॥

सुबन्त कर्म से आत्मा की इच्छा में काम्यच् प्रत्यय होवे। आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रकाम्यति, वस्त्रकाम्यति। यह सूत्र (५६१) सूत्र से पृथक् इसलिये किया है कि इससे अगले सूत्रों में क्यप् की अनुवृत्ति जावे काम्यच् की नहीं। यशस्काम्यति, सर्पिष्काम्यति। और काम्यच् प्रत्यय मान्त तथा अव्ययों से भी होता है—इदङ्काम्यति, किङ्काम्यति, स्वःकाम्यति, उच्चैःकाम्यति।

५८१—उपमानादाचारे ॥ ३ । १ । १० ॥

आचार अर्थ में उपमानवाची सुबन्त कर्म से विकल्प करके क्यच् प्रत्यय हो। आचाररूप क्रिया प्रत्यय का अर्थ होने से उसी की अपेक्षा से उपमान का कर्मत्व बनता है। पुत्रमिवाचरति, पुत्रीयति शिष्यम्, मित्रमिवाचरति मित्रीयति शत्रुम्, इत्यादि।

५८२—वा०—अधिकरणाच्च ॥ ३ । १ । १० ॥

अधिकरणवाची प्रातिपदिक से भी आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय होवे। कुट्यामिवाचरति कुटीयति प्रासादे, प्रासादीयति कुट्याम्, पर्यङ्कीयति मञ्चके।

५८३—कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च ॥ ३ । १ । १० ॥

आचार अर्थ में उपमानवाची कर्त्ता सुबन्त से विकल्प करके क्यङ् प्रत्यय और सकार का लोप हो। जो सकारान्त शब्द हैं उनके लिये सकार का लोप कहा है।

५८४—वा०—सलोपो वा ॥ ३ । १ । ११ ॥

सकारान्त शब्दों के सकार का लोप विकल्प करके होवे।

५८५—वा०—ओजोऽप्सरसोर्नित्यम् ॥३।१।११॥

ओजस् और अप्सरस् शब्द के सकार का लोप नित्य हो। श्येन इवाचरति—श्येनायते काकः। यहाँ सर्वत्र क्यङ् के ङित्त्व से आत्मनेपद होता है। पण्डित इवाचरति—पण्डितायते मूढः, राजेवाचरति—राजायते, पय इवाचरति पयायते, पयस्यते वा तक्रम् (५८४) सलोप, यशायते, यशस्यते, विद्वायते, विद्वस्यते, त्वद्यते, मद्यते, ओज इवाचरति ओजायते, अप्सरायते, हंसायते सारसायते, इत्यादि में अन्त्य सकार के न होने से सलोप नहीं होता।

५८६—वा०—आचारेऽवगल्भक्लीबहोडेभ्यः क्विप् वा ॥ ३ । १ । ११ ॥

अवगल्भ, क्लीब और होड शब्दों से आचार अर्थ में विकल्प करके क्विप् प्रत्यय होवे । पक्ष में क्यङ् होता है । क्विप् का सब लोप होकर—अवगल्भते, अवगल्भायते, विक्लीबते, विक्लीबायते, विहोडते, विहोडायते, अवगल्भाञ्चक्रे, अवगल्भिष्यते, इत्यादि । इन शब्दों में क्विबन्तों से आत्मनेपद प्राप्त नहीं, इसलिये अवगल्भादि शब्दों को भाष्यकार ने अनुदात्तेत् माना है ॥

५८७—वा०—अपर आह—सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विप् वा वक्तव्यः ॥ ३ । १ । ११ ॥

किन्हीं के मत में सब प्रातिपदिकों से आचार अर्थ में क्विप् होता है । अश्व इवाचरति, अश्वति, गर्दभति, अश्वायते, गर्दभायते अ इवाचरति अति, अतः, अन्ति । लिट् में—औ, अतुः, उः । मालेवाचरति, मालाति, मालाञ्चकार, अमालात्, अमालासीत् । कविरिवाचरति कवयति, कवीयात्, अकवयीत् । विरिवाचरति-वयति, विवाय, विव्यतु, अवयीत्, श्रीरिव-श्रयति, शिश्राय, शिश्रियतु, शिश्रियु, श्रीयात् । पितेवाचरति–पितरति, पित्रियात् (२३९) से रिङ् आदेश । भूरिवाचरति भवति, बुभाव, अभावीत् । द्रुरिवाचरति—द्रवति, अद्रावीत् ।

५८८—अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति ॥ ६ । ४ । १५ ॥

क्विप् और झलादि कित् ङित् परे हों तो अनुनासिकान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो । इदमिवाचरति, इदामति, राजेवाचरति राजानति, पन्था इवाचरति, पथीनति, अमुत्रोणति । द्यौरिवाचरति

यवति। यहाँ वकार को ऊठ्, यणादेश और शशाश्रय गुण होता है।

५८९—क्यङ्मानिनोश्च ॥ ६ । ३ । ३६ ॥

क्यङ् प्रत्यय और मानिन् शब्द परे हो तो ऊङ्रहित भाषित-पुंस्क स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव होवे। एनी इवाचरति—एतायते, श्येनी इवाचरति श्येतायते यहाँ स्त्री प्रत्यय के निमित्त से हुए सकार को नकार आदि कार्य भी निवृत्त हो जाते हैं। कुमारी-वाचरति कुमारायते, हरिणीवाचरति हरिणायते, गुर्वीवाचरति-गुरूयते। पट्वीमृद्व्याविवाचरति पट्वीमृदूयते।

५९०—न कोपधायाः ॥ ६ । ३ । ३७ ॥

ककारोपध स्त्री को पुंवद्भाव न हो क्यङ् और मानिन् शब्द परे हो तो। पाचिका इवाचरति पाचिकायते, मद्रिकायते इत्यादि।

५९१—भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः ॥ ३ । १ । १२ ॥

भू धातु के अर्थ में अभूततद्भावविषयक भृशादि शब्दों से क्यङ् प्रत्यय होवे और भृशादिकों में जो हलन्त हैं उनके अन्त्य हल् का लोप हो। अभृशो भृशो भवति, भृशायते। इस सूत्र में च्विप्रत्ययान्त के निषेध से अभूततद्भाव समझा जाता है। अभूत-तद्भाव ग्रहण से 'क दिवा भृशा भवन्ति' यहां क्यङ् नहीं होता। सुमनस्—सुमनायते, सकारलोप, सुमनायाञ्चक्रे, सुमनायिता, सुमनायिष्यते, सुमनायिषते, सुमनायिषातै, सुमनायताम्, स्वम-नायत। यहां मनस् शब्दमात्र से क्यङ् प्रत्यय है इससे मनस

के पूर्व अट् होता है। क्योंकि चुरादिगणपठित "संग्राम युद्धे" * यह नियमार्थ है कि सोपसर्ग प्रातिपदिक से जो क्यजादि प्रत्यय हों तो संग्राम ही से हों औरों से न हों।

५९२–लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् ॥३।१।१३ ॥

भू धातु के अर्थ में अभूततद्भावविषयक लोहितादि और डाच्प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से क्यष् प्रत्यय हो।

५९३—वा क्यषः ॥ १ । ३ । ९० ॥

क्यष् प्रत्ययान्त धातु में परस्मैपद विकल्प करके हो। अलोहितो लोहितो भवति लोहितायते, लोहितायति, अपटपटा पटपटा भवति पटपटायति, पटापटयते।

५९४–वा०–लोहितडाज्भ्यः क्यष्वचनं भृशादिष्वितराणि ॥ ३ । १ । १३ ॥

(५९२) सूत्र से जो क्यष् प्रत्यय कहा है वह लोहित और डाच् प्रत्ययान्तों से ही कहना चाहिये। किन्तु लोहितादिगण के नील आदि शब्द भृशादिकों में पढ़ने चाहियें। अनीलो नीलो भवति नीलायते पटः। यहां क्यषन्त से जो उभयपद होता है वह न हुआ। अलोहिनी लोहिनी भवति लोहिनीयति, लोहिनीयते। यहां "प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्" [परि० ९२] इस परिभाषा से लोहिनी शब्द का भी ग्रहण होता है॥

* अवश्य संग्रामयतेः सोपसर्गादुत्पत्तिर्वक्तव्या। असंग्रामयत शूर इत्येवमर्थम्। तन्नियमार्थं भविष्यति, संग्रामयतेरेव सोपसर्गान्नान्यस्मात् सोपसर्गादिति॥ महाभाष्ये ३ । १ । २२ ॥

५६५—कष्टाय क्रमणे ॥ ३ । १ । १४ ॥

चतुर्थ्यन्त कष्ट शब्द से क्रमण अर्थात् उत्साह अर्थ में क्यङ् प्रत्यय हो। कष्टाय क्रमते कष्टायते।

५६६-वा०-सत्रकष्टकक्षकृच्छ्रगहनेभ्यः कण्वचिकीर्षायाम् ॥ ३ । १ । १४ ॥

कण्वचिकीर्षा अर्थात् पाप करने की इच्छा में सत्र, कष्ट, कक्ष, कृच्छ्र और गहन शब्दों से क्यङ् प्रत्यय हो। कण्वं चिकीर्षति—सत्रायते, कष्टायते, कक्षायते, कृच्छ्रायते। इन में स्वपदविग्रह नहीं होता है। कण्वचिकीर्षा से अन्यत्र—कष्टं क्रामति।

५६७—कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः ॥ ३ । १ । १५ ॥

वर्ति और चर धातु के अर्थ में यथाक्रम से जो रोमन्थ और तप कर्म उनसे क्यङ् प्रत्यय हो। रोमन्थ रोमन्थ कहाता है।

५६८-वा०-हनुचलन इति वक्तव्यम् ॥३।१।१५॥

ठोड़ी चलाने अर्थ में क्यङ् प्रत्यय कहना चाहिये। रोमन्थं वर्तयति, रोमन्थायते।

५६९-वा०-तपसः परस्मैपदं च ॥ ३ । १ । १५॥

क्यङन्त तप शब्द से परस्मैपद भी हो जावे। तपश्चरति तपस्यति।

६००—वाष्पोष्मभ्यामुद्वमने ॥ ३ । १ । १६ ॥

उगलने अर्थ में वाष्प और ऊष्म कर्मवाची शब्दों से क्यङ् प्रत्यय हो। वाष्पमुद्वमति वाष्पायते, ऊष्मायते।

६०१-वा०-फेनाच्च ॥ ३ । १ । १६ ॥

फेन शब्द से भी उगलने अर्थ में क्यङ् हो। फेनमुद्वमति फेनायते।

६०२-शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे ॥ ३ । १ । १७ ॥

करने अर्थ में शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व और मेघ प्रातिपदिक से क्यङ् प्रत्यय हो। शब्दं करोति शब्दायते, वैरायते, कलहायते, अभ्रायते, कण्वायते, मेघायते।

६०३-वा०-सुदिनदुर्दिनाभ्यां च ॥ ३ । १ । १७ ॥

सुदिन और दुर्दिन शब्द से करने अर्थ में क्यङ् प्रत्यय हो। सुदिनं करोति सुदिनायते, दुर्दिनं करोति दुर्दिनायते।

६०४-वा०-नीहाराच्च ॥ ३ । १ । १७ ॥

नीहारं करोति नीहारायते।

६०५—वा०—अटाट्टाशीकाकोटापोटासोटाकष्टाप्रुष्टाप्लुष्टाग्रहणम् ॥ ३ । १ । १७५ ॥

करने अर्थ में अटा, अट्टा, शीका, कोटा, पोटा, सोटा, कष्टा, प्रुष्टा और प्लुष्टा शब्दों से क्यङ् प्रत्यय हो। अटां करोति अटायते, अट्टायते, शीकायते, कोटायते, पोटायते, सोटायते, कष्टायते, प्रुष्टायते, प्लुष्टायते।

६०६—सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम् ॥ ३ । १ । १८ ॥

वेदना अर्थ में कर्ता के सम्बन्धी सुख आदि कर्मवाची प्रातिपदिकों से क्यङ् प्रत्यय हो। सुखं वेदयते सुखायते, दुःखायते, कृच्छ्रायते, कृपणायते इत्यादि। इस सूत्र में कर्तृग्रहण इसलिये है कि 'सुखं वेदयति प्रसाधको देवदत्तस्य' यहां सुख शब्द से क्यङ् न हो।

६०७—नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् ॥ ३ । १ । १९ ॥

नमस्, वरिवस् और चित्रङ् प्रातिपदिकों से सत्कार करने आदि अर्थों में क्यच् प्रत्यय हो । नमसः पूजायाम्, वरिवसः परिचर्यायाम्, चित्रङ आश्चर्ये । नमः करोति नमस्यति गुरुम्, वरिवः करोति वरिवस्यति पितरम्, चित्रं करोति चित्रीयते । चित्रङ् शब्द में ङित् अनुबन्ध आत्मनेपद होने के लिये है ।

६०८—पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ् ॥ ३ । १ । २० ॥

करणविशेष में पुच्छ, भाण्ड और चीवर प्रातिपदिक से णिङ् प्रत्यय हो । पुच्छादुदसने व्यसने पर्यसने च । पुच्छमुदस्यति उत्क्षिपति उत्पुच्छयते, पुच्छं व्यस्यति विविधं विरुद्धं वा क्षिपति विपुच्छयते, पुच्छं पर्यस्यति परितः क्षिपति परिपुच्छयते । भाण्डात् समाचयने । भाण्डानि समाचिनोति संभाण्डयते, राशीकरोतीत्यर्थः । चीवरादर्जने परिधाने च । चीवराण्यर्जयति परिधत्ते वा संचीवरयते भिक्षुः ।

६०९—मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच् ॥ ३ । १ । २१ ॥

करण अर्थ में मुण्ड, मिश्र, श्लक्ष्ण, लवण, व्रत, वस्त्र, हल, कल, कृत और तूस्त से णिच् प्रत्यय हो । मुण्डं करोति मुण्डयति, मिश्रं करोति मिश्रयति, श्लक्ष्णयति, लवणयति, व्रतयति, वस्त्रयति । हलिकल्योरदन्तनिपातनं सन्वद्भावप्रतिषेधार्थम् । हलिं करोति हलयति, कलयति, अजहलत्, अचकलत्, कृपयति, वितूस्तयति * केशान्, विशदीकरोति ॥

---

* तूस्ताः जटीभूताः केशाः तूस्तं पापं वा ।

इष्ठन् प्रत्यय के तुल्य हो । पृथुमाचष्टे प्रथयति (स्त्रैण० ८९६)[1] से ऋ का र आदेश । म्रदयति, भ्रशयति, क्रशयति, ऊढिमाख्यत् औजिढत् । यहां ढत्वादिकों के असिद्ध होने से ह शब्द का द्वित्व होकर अभ्यास के हकार का चुत्व होता है । अथवा 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने'[2] इस वचन से ढत्वादि सिद्ध मानकर ढि शब्द का द्वित्व होता है—औडिढत् । ऊढमाख्यत् औजढत्, औडढत् । 'ओः पुयण्'[3] यह यहां नहीं प्रवृत्त होता है क्योंकि इस सूत्र में पवर्ग और प्रत्याहार के वर्णों का ग्रहण है । स्वमाचष्टे स्वापयति । यहां (स्त्रैण० ८९९)[4] प्रकृतिभाव (६०) वृद्धि और (४६३) पुक् हो जाता है । स्वामाऽऽचष्टे स्वापयति मामाचष्टे मापयति । यहां पररूप से पूर्व ही नित्यत्व मानकर (स्त्रैण० ८८९)[5] टिलोप होता है । युवामावां वाचष्टे युष्मयति, अस्मयति, उदञ्चमाचष्टे उदाचयति, उदैचिचत्, प्रत्यञ्चमाचष्टे प्रताचयति, प्रत्यचिचत्, 'इकोऽसवर्णे शा०'[6] इससे प्रकृतिभावपक्ष में प्रतिअचिचत्, सम्यञ्चमाचष्टे समाचयति, सम्यचिचत्, समिअचिचत्, भुवमाचष्टे भावयति, अबीभवत्, भ्रुवमाचष्टे भ्रावयति, अबुभ्रवत्, श्रियमाचष्टे श्रापयति, अशिश्रियत्, गामाख्यत् अजूगवत्, रायमाख्यत् अरारयत्, स्वमाचष्टे स्वयति, असस्वत्, असिस्वत्, बहून्भावयति बहयति[7], श्रीमतीं श्रीमन्तं वा स्तौति श्राययति, अशिश्रयत्,

---

१. र ऋतो हलादेर्लघोः ।
२ परि० १०४ ।
३ आ० ४७२ ।
४ प्रकृत्यैकाच् ।
५ टेः ।
६ सन्धि० १७३ ।

७. इष्ठस्य यिट् च (स्त्रै० ८९४) सूत्र से 'यिट्' के सन्नियोग में ही भू आदेश होता है ऐसा जिन वैयाकरणों का मत है, उन के मत में 'बहयति' रूप होता है । अन्यों के मत में 'भावयति' रूप होता है ।

सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वच्-वर्मवर्णचूर्ण०

यह सूत्र पीछे (४५६) संख्या में लिख चुके हैं इसका शेष विवरण लिखने के लिये यहां लिखा है।

६१०—वा०—णिविधावर्थवेदसत्यानामापुक् च ॥ ३ । १ । २५ ॥

णिच् विधि में अर्थ, वेद और सत्य शब्द को आपुक् आगम हो। अर्थमाचष्टे अर्थापयति वेदापयति, सत्यं करोति आचष्टे वा सत्यापयति, पाशं विमुञ्चति, विपाशयति, रूपं पश्यति रूपयति, वीणयोपगायति उपवीणयति, तूलेनानुकुष्णाति अनुतूलयति, श्लोकैरुपस्तौति उपश्लोकयति, सेनया अभियाति अभिषेणयति, उपसर्गात्सुनोति०[1]* इस सूत्र से षत्व होता है। अभ्यषेणयत्, प्राक् सिता०[2] इस सूत्र से षत्व। अभिषेणयितुमिच्छति अभिषेणयिषति, स्थादिष्वभ्या०[3] इस सूत्र से षत्व। लोमान्यनुमार्ष्टि अनुलोमयति, त्वचं गृह्णाति त्वचयति, वर्मणा सन्नह्यति संवर्मयति, वर्णं गृह्णाति वर्णयति, चूर्णैरवध्वंसयति अवचूर्णयति।

६११—वा०—प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च ॥ ३ । १ । २६ ॥

प्रातिपदिक से धात्वर्थ में णिच् प्रत्यय है और वह बहुल करके

*(उपसर्गात् सुनोति०, प्राक्सितादड्व्य०, स्थादिष्वभ्य०, इन सूत्रों को षत्वप्रकरण में लिखेंगे।

1. आ० ८१५। 2. आ ८१३। 3. आ० ८१४।

पयस्विनीमाचष्टे पयसयति। यहां टिलोप नहीं होता क्योंकि टिलोपापवाद 'विनमतोर्लुक्' (स्त्रैण० ७८८) इससे विन् प्रत्यय का लुक् हो जाता है। स्थूलमाचष्टे स्थवयति, दूरं गच्छति दवयति, इत्यादि प्रयोगों में जो जो कार्य (स्त्रैण० ८९१)[1] सूत्र में जिन जिन शब्दों को कहे हैं वे उन शब्दों को होते हैं। युवानं-युवयति, कनयति वा, (स्त्रैण० ८८७)[2] से कन् आदेश विकल्प से होता है। अन्तिकं प्राप्नोति-नेदयति, बाढं-साधयति, प्रशस्य-प्रशस्यति, यहां (श्र, ज्य) ये आदेश न होंगे, क्योंकि नामधातुओं में उपसर्ग पृथक् माने हैं और पृथक् होने से 'शस्य' शब्द प्रकृति रह जायगा 'शस्य' को आदेश विधान नहीं है। वृद्धं सेवयते-ज्यापयति, प्रियमाचष्टे, प्रापयति, स्थिर-स्थापयति, स्फिरं-स्फापयति, उरं-वरयति, बहुलं-बंहयति, गुरु-गरयति, [वृद्धं-वर्षयति,] तृप्रं-त्रपयति, दीर्घं-द्राघयति, वृन्दारकं,-वृन्दयति।

६१२—वा०—तत्करोतीत्युपसंख्यानं सूत्रयत्याद्यर्थम् ॥ ३ । १ । २६ ॥

सूत्रयति, इत्यादि प्रयोगों के लिये द्वितीयासमर्थ प्रातिपदिक से करने अर्थ में णिच् प्रत्यय कहना चाहिये। सूत्रं करोति सूत्रयति, व्याकरणस्य सूत्रं करोति व्याकरणं सूत्रयति। यहां वाक्य में जो षष्ठी है उसके स्थान में प्रत्ययोत्पत्ति में द्वितीया हो जाती है क्योंकि जो वह सूत्र और व्याकरण शब्द का सम्बन्ध है उसकी प्रत्ययोत्पत्ति में निवृत्ति हो जाती है।

---

१. स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः।

२. युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्।

६१३-वा०-आख्यानात् कृतस्तदाचष्टे कृल्लुक् प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकम् ॥ ३ । १ । २६ ॥

द्वितीयासमर्थ आख्यान कृदन्त से कहने अर्थ में णिच् प्रत्यय हो, कृत् का लुक्, प्रकृति का पूर्वरूप और प्रकृति के तुल्य कारक हो। कंसवधमाचष्टे कंसं घातयति। यहां अप् जो कृत प्रत्यय है उसका लुक्, 'वध' का पूर्वरूप [हन] और कंस कारक प्रकृति के तुल्य होता है। बलिबन्धमाचष्टे बलिं बन्धयति। राजागमनमाचष्टे राजानमागमयति।

६१४-वा०-दृश्यर्थायां च प्रवृत्तौ ॥ ३।१।२६॥

जिस में देखना प्रयोजन है ऐसी जहां प्रवृत्ति हो वहां आख्यान कृदन्त में णिच् और पूर्वोक्त सब कार्य हों। मृगरमणमाचष्टे मृगान् रमयति। दृश्यार्थप्रवृत्ति क्यों कहा? 'आगमे मृगरमणमाचष्टे' यहां न हो।

६१५-वा०-आङ्लोपश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्यादायाम् ॥ ३ । १ । २६ ॥

समय के अत्यन्तसंयोग अर्थ में मर्यादा प्राप्त हो तो द्वितीयासमर्थ प्रातिपदिक से णिच्, पूर्वोक्त कार्य और आङ् का लोप हो। आरात्रिविवासमाचष्टे रात्रिं विवासयति। जब तक रात्रि व्यतीत होती है तब तक किसी प्रसङ्ग को कहता है।

६१६—वा०-चित्रीकरणे प्रापि ॥ ३ । १ । २६ ॥

आश्चर्य करने अर्थ में प्राप्ति अर्थ हो तो द्वितीयासमर्थ प्रातिपदिक से णिच् और पूर्वोक्त कार्य हो। उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्या

पयस्विनीमाचष्टे पयसयति। यहां टिलोप नहीं होता क्योंकि टिलोपापवाद 'विनमतोर्लुक्' (स्त्रैण० ७८८) इससे विन् प्रत्यय का लुक् हो जाता है। स्थूलमाचष्टे स्थवयति, दूरं गच्छति दवयति, इत्यादि प्रयोगों में जो जो कार्य (स्त्रैण० ८९१)[1] सूत्र में जिन जिन शब्दों को कहे हैं वे उन शब्दों का होते हैं। युवान–युवयति, कनयति वा, (स्त्रैण० ७८७)[2] से कन् आदेश विकल्प से होता है। अन्तिकं प्राप्नोति–नेदयति, बाढ–साधयति, प्रशस्य–प्रशस्यति, यहां (श्र, ज्य) ये आदेश न होंगे, क्योंकि नामधातुओं में उपसर्ग पृथक् माने हैं और पृथक् होने से 'शस्य' शब्द प्रकृति रह जायगा 'शस्य' को आदेश विधान नहीं है। वृद्धं सेवयते–ज्यापयति, प्रियमाचष्टे, प्रापयति, स्थिर–स्थापयति, स्फिर–स्फापयति, उरु–वरयति, बहुल–बंहयति, गुरु–गरयति, [वृद्ध–वर्षयति,] तृप्र–त्रपयति, दीर्घ–द्राघयति, वृन्दारक–वृन्दयति।

६१२—वा०—तत्करोतीत्युपसंख्यानं सूत्रयत्याद्यर्थम् ॥ ३। १। २६ ॥

सूत्रयति, इत्यादि प्रयोगों के लिये द्वितीयासमर्थ प्रातिपदिक से करने अर्थ में णिच् प्रत्यय कहना चाहिये। सूत्रं करोति सूत्रयति, व्याकरणस्य सूत्रं करोति व्याकरणं सूत्रयति। यहां वाक्य में जो षष्ठी है उसके स्थान में प्रत्ययोत्पत्ति में द्वितीया हो जाती है क्योंकि जो वह सूत्र और व्याकरण शब्द का सम्बन्ध है उसकी प्रत्ययोत्पत्ति में निवृत्ति हो जाती है।

---

१. स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः।

२. युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्।

६१३-वा०-आख्यानात् कृतस्तदाचष्टे कृल्लुक् प्रकृतिप्रत्ययापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकम् ॥ ३ । १ । २६ ॥

द्वितीयासमर्थ आख्यान कृदन्त से कहने अर्थ में णिच् प्रत्यय हो, कृत् का लुक्, प्रकृति का पूर्वरूप और प्रकृति के तुल्य कारक हो। कंसवधमाचष्टे कंसं घातयति। यहां अप् जो कृत प्रत्यय है उसका लुक्, 'वध' का पूर्वरूप [हन] और कंस कारक प्रकृति के तुल्य होता है। बलिबन्धमाचष्टे बलिं बन्धयति। राजागमनमाचष्टे राजानमागमयति।

६१४-वा०-दृश्यर्थायां च प्रवृत्तौ ॥ ३।१।२६॥

जिस में देखना प्रयोजन है ऐसी जहां प्रवृत्ति हो वहां आख्यान कृदन्त से णिच् और पूर्वोक्त समस्त कार्य हों। मृगरमणमाचष्टे मृगान् रमयति। दृश्यर्थाप्रवृत्ति क्या कहा? 'ग्रामे मृगरमणमाचष्टे' यहां न हो।

६१५-वा०-आङ्लोपश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्यादायाम् ॥ ३ । १ । २६ ॥

समय के अत्यन्तसंयोग अर्थ में मर्यादा प्राप्त हो तो द्वितीयासमर्थ प्रातिपदिक से णिच्, पूर्वोक्त कार्य और आङ् का लोप हो। आरात्रिविवासमाचष्टे रात्रिं विवासयति। जब तक रात्रि व्यतीत होती है तब तक किसी प्रसङ्ग को कहता है।

६१६—वा०-चित्रीकरणे प्रापि ॥ ३ । १ । २६ ॥

आश्चर्य करने अर्थ में प्राप्ति अर्थ हो तो द्वितीयासमर्थ प्रातिपदिक से णिच् और पूर्वोक्त कार्य हों। उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्यां

सूर्योद्गमन सभावयते सूर्यमुद्गमयति। कोई पुरुष उज्जयिनी नगरी से चला हुआ और माहिष्मती नगरी में सूर्य के उदय को प्राप्त होता है। यहा अति दूर देश पहुचने से आश्चर्य की प्रतीति होती है।

६१७—वा०—नक्षत्रयोगे ज्ञि॥ ३। १। २६॥

नक्षत्र के योग में जानना अर्थ हो तो द्वितीयान्त प्रातिपदिक से णिच् प्रत्यय तथा पूर्वोक्त अर्थ अर्थात् कृत्प्रत्यय का लुक् प्रकृति का पूर्वरूप और प्रकृति के तुल्य कारक हो। पुष्ययोग जानाति पुष्येण योजयति, मघाभियोजयति।

॥ इति नामधातुप्रक्रिया समाप्ता ॥

अथ कण्ड्वादिप्रक्रिया

६१८—कण्ड्वादिभ्यो यक्॥ ३। १। २७॥

कण्ड्वादि धातुओ से यक् प्रत्यय नित्य हो।

६१९—का०—

धातुप्रकरणाद्धातुः कस्य चासजनादपि।

यही है कि एक पक्ष में यह कण्डू शब्द धातु और दूसरे पक्ष में प्रातिपदिक हो इसलिये इनका विकल्प करके धातु मानता हूं। प्रयोजन यह है कि कण्डूञ् आदि धातु और प्रातिपदिक दोनों हैं जिस पक्ष में धातु माने जाते हैं वहां (६१८) सूत्र से यक् होता है, अन्यत्र नहीं।

१ [कण्डूञ्] गात्रविघर्षणे = शरीर खुजाना। ञकार अनुबन्ध से उभयपद होते हैं। कण्डूयति, कण्डूयते, कण्डूयांचक्रे, कण्डूयांबभूव, कण्डूयामास, कण्डूयिता, कण्डूयिष्यति, कण्डूयिषति, कण्डूयिषाति, कण्डूयतु, अकण्डूयत्, कण्डूयेत्, कण्डूय्यात्, अकण्डूयीत्, अकण्डूयिष्यत्॥ २ [मन्तु] अपराधे। रोष इत्येके। मन्तूयति। ३ [वल्गु] पूजामाधुर्ययोः = सत्कार और मीठापन। वल्गूयति। ४ [असु] उपताप = दुःख होना। असूयति। [असू, असूञ्] इत्येके। असयति, असूयति, असूयते। ५-६ [लेट्, लोट्] धौर्त्ये, पूर्वभावे, स्वप्ने च। दीप्तावित्येके = धूर्तपन, पिछलापन और सोना तथा प्रकाश। लेट्यति, लोट्यति, लेटिता, लोटिता। ७ [लेला] दीप्तौ। लेलायति। ८-१० [इरस्, इरज्, इरञ्] ईर्ष्यायाम्। इरस्यति, इरज्यति, ईर्यति, ईर्यते (१५७) से दीर्घ। ११ [उषस्] प्रभातीभावे = प्रातःकाल का

'वेरपृक्तस्य' (अ० ६।१।६६) से क्विप् का लोप होकर 'कण्डू' दीर्घान्त प्रातिपदिक सिद्ध हो जाता है। अतः कण्डूञ् का दीर्घ पाठ व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि कण्डू आदि धातु और प्रातिपदिक दोनों हैं। प्रातिपदिक मानने का फल यह है कि 'कण्डू' शब्द से 'औ' विभक्ति परे रहने पर 'कण्ड्वौ' प्रयोग बनता है। अन्यथा केवल धातुपक्ष में 'क्विबन्तो धातुत्वं न जहाति' नियम से 'अचि श्नुधातु०' (अ० १५९) से उवङ् होकर 'कण्डुवौ' रूप की प्राप्ति होगी। प्रातिपदिक पक्ष मानने से ज्ञापक होता है कि यगन्त से क्विप् नहीं होता। अतः 'कण्डुवौ' प्रयोग नहीं बनता।

होना। वरस्यति। १२ [वेद] धौर्त्ये स्वप्ने च। वेदयति। १३ [मेधा] आशुग्रहणे = तुरन्त लेना। मेधायति। १४ [कुसुभ] क्षेपे = निन्दा। कुसुभ्यति। १५ [मगध] परिवेष्टने, नीचदास्य इत्यन्ये = लपेटना तथा नीच की सेवा करना। मगध्यति। १६,१७ [तंतस्, पपस्] दुःखे। तंतस्यति, पपस्यति। १८,१९ [सुख, दुःख] तत्क्रियायाम्। सुख्यति, दुःख्यति, सुख दुःखं चानुभवति। २० [सपर] पूजायाम्। सपर्यति। २१ [अरर] आराकर्मणि = चाम काटना आदि। अररेति। २२ [भिषज्] चिकित्सायाम्। भिषज्यति। २३ [भिष्णज्] उपसेवायाम्। भिष्णज्यति। २४ [इषुध] शरधारणे = वाण धारण। इषुध्यति। २५,२६ [चरण, वरण] गतौ। चरण्यति। वरण्यति। २७ [चुरण] चौर्ये। चुरण्यति। २८ [तुरण] त्वरायाम् = शीघ्रता। तुरण्यति। २९ [भुरण] धारणपोषणयोः। भुरण्यति। ३० [गद्गद] वाक्स्खलने = गिड़गिड़ाकर बोलना। गद्गद्यति। ३०-३३ [एला, केला, खेला] विलासे। एलायति। केलायति। खेलायति। [इला] इत्यन्य। इलायति। [लेखा][1] स्खलने च। अदन्तोऽयमित्यन्य। लेख्यति[1]। ३४ [लिट्] अल्पकुत्सनयोः। लिट्यति। ३५ [लाट्] जीवने। लाट्यति। ३६ [हृणीङ्] रोषणे लज्जायां च। हृणीयते। ३७ [महीङ्] पूजायाम्। महीयते। ३८ [रेखा] श्लाघासादनयोः = आत्मप्रशंसा, रेख्यति। रेखायति। ३९ [द्रवस्] परितापपरिचरणयोः = कष्ट और सेवा। द्रवस्यति। ४० [तिरस्] अन्तर्धौ।

---

1 अन्यों के मत में 'लेखा' धात्वन्तर है जिन्हों के मत में 'लेख' अदन्त है, उसका 'लेख्यति' रूप बनता है।

विरस्यति । ४१ [अगद] नीरोगत्वे । अगद्यति । ४२ [उरस्] बलार्थे । उरस्यति । ४३ [तरण] गतौ। तरण्यति । ४४ [पयस्] प्रसृतौ । पयस्यति । ४५ [सम्भूयस्] प्रभूतभावे = समर्थ होना । संभूयस्यति । ४६, ४७ [अम्बर सम्बर] सम्भरणे। अम्बरयति । सम्बरयति । आकृतिगणोऽयम् । यह कण्ड्वादि आकृतिगण अर्थात् इस गण में अर्थानुसार अन्य शब्द भी धातु माने जाते हैं।

॥ इति कण्ड्वादिप्रक्रिया समाप्ता ॥

अथ प्रत्ययमालाप्रक्रिया ॥

६२०—का०—

शैषिकान्मतुवर्थीयाच्छैषिको मतुवर्थिकः ।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥
महा० ३ । १ । ७ ॥

शेषाधिकार के प्रत्यय से समानरूपवाला शेषाधिकारी प्रत्यय और मतुप् प्रत्यय के अर्थवाले से समान रूपवाला मतुवर्थ प्रत्यय इष्ट नहीं; तथा इच्छा अर्थवाला सन् प्रत्यय जिसके अन्त में हो उससे फिर इच्छार्थ सन् प्रत्यय नहीं इष्ट है । शैषिकात्—शालाया भवः, शालीयो घटः, शालीये घटे भवमुदकम् । यहां 'छ' प्रत्यय फिर न हुआ । और विरूप हो जाता है, जैसे—अहिच्छत्रे भवः आहिच्छत्रः, आहिच्छत्रे भवः आहिच्छत्रीयो माणवकः । मतुवर्थीयात्—दण्डोऽस्यास्तीति, दण्डिकः, दण्डिकोऽस्यास्तीति । यहां फिर मतुपर्थ ठन् प्रत्यय नहीं होता, और विरूप तो होता है जैसे—दण्डिमती सेना । सन्नन्तात्—चिकीर्षितुमिच्छति, जिहीर्षितुम-

च्छति। यहां फिर सन् नहीं होता। स्वार्थ सन्नन्त से तो इच्छार्थ सन् होता है। जैसे—*जुगुप्सितुमिच्छति, जुगुप्सिषते, मीमांसिषते।*

६२१—वा०—कण्ड्वादीनां च ॥ ६।१।३॥

कण्ड्वादि शब्दों के तृतीय एकाच् अवयव को द्वित्व हो। कण्डूयितुमिच्छति कण्डूयियिषति, असूयियिषति।

६२२—वा०—वा नामधातूनां तृतीयस्य द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥ ६।१।३॥

नामधातुओं के तृतीय एकाच् अवयव को विकल्प करके द्वित्व हो। क्यजन्तात् सन्, आत्मनोऽश्वमिच्छति अश्वीयति, अश्वीयितुमिच्छति अश्वीयियिषति, अशिश्वीयिषति।

६२३—अपर आह—यथेष्टं वा नामधातूनाम् ॥ ६।१।३॥

पुत्रीयितुमिच्छति पुपुत्रीयिषति, पुतित्रीयिषति, पुत्रीयियिषति अजादि के आदि को छोड़कर औरों को यथेष्ट द्वित्व होता है। अध्यापनीयितुमिच्छति अदिध्यापनीयिषति, अध्यापिपनीयिषति, अध्यापनिनीयिषति, अध्यापनीयियिषति। न, द, र, य संयुक्त हो तो इन में जो अच् से परे हो उसका द्वित्व का निषेध है[1]। आत्मन इन्द्रमिच्छति इन्द्रीयति, इन्द्रीयितुमिच्छति इन्दिद्रीयिषति, इन्द्रीयियिषति। प्रियमाचष्टे प्रापयति, प्रापयितुमिच्छति पिप्रापयिषति, प्रापिपयिषति, प्रापयियिषति उरुमाचष्टे वारयति, वारयितुमिच्छति [विवारयिषति] वारिरयिषति, वारयियिषति। बाढमाचष्टे साधयति, साधयितुमिच्छति सिसाधयिषति, सादिधयिषति, साधयियिषति।

१. न न्द्राः संयोगादयः। अ० १२६ ॥

अतिशयेन पुनः पुनर्वा भवति, बोभूयते, बोभूयितुमिच्छति, बोभूयिषते, बोभूयिषमाचष्टे बोभूयिषयति, बोभूयिषयितुमिच्छति, बोभूयिषयिषति। अन्तिकमाचष्टे नेदयति, आत्मनो नेदयितुमिच्छति, नेदयीयति, नेदयीयितुमिच्छति निनेदयीयिषति, निनेदयीयिषमाचष्टे, निनेदयीयिषयति। गोमन्तमाचष्टे गवयति, आत्मनः गवयमिच्छति गवयीयति, गवयीयितुमिच्छति [जिगवयीयिषति], गविवयीयिषति, पाचकीयितुमिच्छति, पिपाचकीयिषति। आख्यातमाचष्टे आख्यातयति, आख्यातयितुमिच्छति आचिख्यातयिषति। इत्यादि असंख्य प्रयोग प्रत्ययमाला में बन सकते हैं। सो व्याकरण में पूर्ण प्रवेश होने के अधीन हैं।

॥ इति प्रत्ययमालाप्रक्रिया समाप्ता ॥

अथात्मनेपदप्रक्रिया ॥

अनुदात्त और ङित् धातुओं से आत्मनेपद (९५) सूत्र में कह चुके हैं। आस्ते, शेते, प्रवते, प्लवते इत्यादि।

६२४–भावकर्मणोः ॥ १ । ३ । १३ ॥

भाव और कर्म में विहित जो लकार उसके स्थान में आत्मनेपद हो। भाव में–आस्यते भवता, शय्यते भवता। कर्म में–क्रियते कटः, ह्रियते भारः।

६२५–कर्तरि कर्मव्यतिहारे ॥ १ । ३ । १४ ॥

परस्पर एक दूसरे का काम करे इस अर्थ में वर्त्तमान धातु से कर्त्ता में आत्मनेपद हो। व्यतिलुनते, व्यतिपुनते, व्यतिस्ते, व्यतिपाते, व्यतिवते। [व्यतिसे] (५४) इससे सलोप व्यतिध्वे, यहां (११३) सूत्र से सलोप। व्यतिहे, (११४) सूत्र से अस् के स को ह। कर्मव्यतिहार कहने से यहां न हुआ–स्वं स्वं क्षेत्रं लुनन्ति। कर्त्ता का ग्रहण अगले सूत्रों के लिये है।

६२६–न गतिहिंसार्थेभ्यः ॥ १ । ३ । १५ ॥

गत्यर्थक और हिंसार्थक धातुओं से कर्मव्यतिहार अर्थ में आत्मनेपद न हो। गत्यर्थ–व्यतिगच्छन्ति, व्यतिसर्पन्ति, हिंसार्थ–व्यतिहिंसन्ति, व्यतिघ्नन्ति।

६२७–वा०–प्रतिषेधे हसादीनामुपसंख्यानम् ॥ १ । ३ । १५ ॥

यहां आत्मनेपद के प्रतिषेध में हसादिकों का भी ग्रहण करना चाहिये। हस के सदृश शब्दक्रिया वाले धातु हसादि कहाते हैं। व्यतिहसन्ति, व्यतिजल्पन्ति, व्यतिपठन्ति।

६२८—वा०—हरिवह्योरप्रतिषेधः ॥ १ । ३ । १५ ॥
हृ और वह धातु से कर्मव्यतिहार अर्थ में आत्मनेपद होने का प्रतिषेध न हो। संप्रहरन्ते राजानः, सविवहन्ते गर्गाः।

६२९—इतरेतरान्योन्योपपदाच्च ॥ १ । ३ । १६ ॥
इतरेतर और अन्योन्य उपपद हों तो कर्मव्यतिहार अर्थ में धातु से आत्मनेपद न हो। इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति, अन्योन्यस्य व्यतिलुनन्ति।

६३०—वा०—परस्परोपपदाच्च ॥ १ । ३ । १६ ॥
परस्पर उपपद हो तो कर्मव्यतिहार अर्थ में धातु से आत्मनेपद न हो। परस्परस्य व्यतिलुनन्ति, परस्परस्य व्यतिपुनन्ति।

६३१—नेर्विशः ॥ १ । ३ । १७ ॥
निपूर्वक विश् धातु से आत्मनेपद हो। निविशते। नि ग्रहण से यहां न हुआ। प्रविशति "अर्थवत आगमस्तद्गुणीभूतोऽर्थवद्ग्रहणेन गृह्यते"[1] इससे अट् के व्यवधान में भी होता है। न्यविशत "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य"[2] इससे यहां न हुआ—मधुनि विशन्ति भ्रमराः।

६३२—परिव्यवेभ्यः क्रियः ॥ १ । ३ । १८ ॥
परि, वि और अव उपसर्गों से परे डुक्रीञ् धातु से आत्मनेपद हो। परिक्रीणीते, विक्रीणीते, अवक्रीणीते। यहां न हुआ—बहुविक्रीणाति वनम्।[3]

६३३—विपराभ्यां जेः ॥ १ । ३ । १९ ॥
वि और परा उपसर्ग से परे जि धातु से आत्मनेपद हो।

---

१. परि० ११। २. परि० १२।
३. बहवो वयः सन्ति यस्मिन् वने तद् बहुवि वनम्।

विजयते, पराजयते। उपसर्ग ग्रहण से यहां न हुआ—बहुविजयति वनम्, परा जयति सेना।

६३४—आङो दोऽनास्यविहरणे॥ १। ३। २०॥

मुख के फैलाने अर्थ से अन्यत्र अर्थ में आङ्पूर्वक डुदाञ् धातु से आत्मनेपद हो। विद्यामादत्ते। अनास्यविहरण कहने से यहां न हुआ—आस्यं व्याददाति। आस्यविहरण के समान जो और क्रियाएं हैं उनमें भी प्रतिषेध होता है। जैसे—विपादिका व्याददाति, कूलं व्याददाति।

६३५—वा०-स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्॥ १। ३। २०॥

"अनास्यविहरण" यहां स्वाङ्गकर्म वाले दा धातु से आत्मनेपद प्रतिषेध कहना चाहिये। इससे यहां प्रतिषेध न हुआ। व्याददते पिपीलिका पतङ्गस्य मुखम्।

६३६—क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्च॥ १। ३। २१॥

अनु, सम्, परि और आङ् उपसर्गों से परे जो क्रीड धातु उससे आत्मनेपद हो। अनुक्रीडते, सक्रीडते, परिक्रीडते, आक्रीडते। उपसर्ग नियम से यहां नहीं होता—अनुक्रीडति माणवकम्, माणवकेन सह क्रीडतीत्यर्थः। यहाँ "तृतीयार्थे"[1] इससे अनु की कर्मप्रवचनीय-संज्ञा है, किन्तु उपसर्गसंज्ञा नहीं। "समोऽकूजने"[2] सम् से परे क्रीड से अकूजन अर्थ में आत्मनेपद होना चाहिये, अर्थात् यहां न हो—संक्रीडन्ति शकटानि।

६३७—वा०-आगमेः क्षमायाम्॥ १। ३। २१॥

१ अष्टा० १। ४। ८५॥ २. वार्त्तिक १। ३। २१।

सहन अर्थ में आङ्पूर्वक णिजन्त गम धातु से आत्मनेपद हो। माणवकमागमयस्व तावत्, सहनं कुरु।

६३८—वा०-शिक्षेर्जिज्ञासायाम् ॥१।३।२१॥

जानने की इच्छा में शिक्ष धातु से आत्मनेपद हो। विद्यासु शिक्षते, धनुषि शिक्षते। विद्या वा धनुर्विषय के ज्ञान में समर्थ होने की इच्छा करता है।

६३९—वा०-किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेषु ॥ १।३।२१॥

हर्ष आनन्द, जीविका, कुलायकरण गड्ढा करना इन अर्थों में किरति धातु से आत्मनेपद हो। अपस्किरते वृषो हृष्टः, अपस्किरते कुक्कुटो भक्षार्थी, अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी।

६४०—वा०-हरतेर्गतताच्छील्ये ॥१।३।२१॥

किसी प्रकार के स्वभाव होने अर्थ में हृधातु से आत्मनेपद हो। पैतृकमश्वा अनुहरन्ते, मातृकं गावोऽनुहरन्ते। घोड़ा पिता से पाये हुए प्रकार का अनुहार करते हैं, तथा गौ मातृस्वभाव का अनुहार करती हैं।

६४१—वा०-आशिषि नाथः ॥ १।३।२१॥

आशीर्वाद अर्थ में ही नाथ् से आत्मने पद हो। सर्पिषो नाथते मधुनो वा।

६४२—वा०-आङि नुप्रच्छ्योः ॥ १।३।२१॥

आङ् पूर्वक नु और प्रच्छ धातु से आत्मनेपद हो—आनुते शृगालः, उत्साहपूर्वक शब्द करता है। आपृच्छते गुरुम्।

६४३—वा०-शप उपलम्भने[1] ॥ १।३।२१॥

---

1. उपलम्भन का अर्थ शाप देना भी होता है।

। ।ⁿ उलाहना देने में शप धातु से आत्मनेपद हो—गुरवे शपते ।

६४४—समवप्रविभ्यः स्थः ॥ १ । ३ । २२ ॥

। सम्¹, अव, प्र और वि उपसर्गों से परे स्था धातु से आत्मनेपद हो । संतिष्ठते, अवतिष्ठते, प्रतिष्ठते, वितिष्ठते ।

। ६४५—वा०—आङः स्थः प्रतिज्ञाने ॥३।१।२२॥

प्रतिज्ञा अर्थ में आङ् से पर स्था धातु से आत्मने पद हो । अस्ति सकारमातिष्ठते, आगमौ गुणवृद्धी आतिष्ठते, विकारौ गुणवृद्धी आतिष्ठते ।

६४६—प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च ॥१। ३। २३॥

अपने अभिप्राय के प्रकाश और विवाद के निर्णय करने वाले की आख्या में स्था धातु से आत्मनेपद हो । भाया तिष्ठते पत्ये, विद्रुपे तिष्ठते जिज्ञासु, संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः ।

६४७—उदोऽनूर्ध्वकर्मणि ॥ १ । ३ । २४ ॥

अनूर्ध्व कर्म में वर्तमान उद् उपसर्ग से परे स्थाधातु से आत्मने पद हो । "उद् ईहायाम्" यहां उद् उपसर्ग से चेष्टा अर्थ में कहना चाहिये । गेहे उत्तिष्ठते । पर की उन्नति के लिये यत्न करता है । अनूर्ध्वकर्म कहने से यहां न हुआ—आसनादुत्तिष्ठति । ईहाग्रहण से यहां न हुआ—उत्तिष्ठति सेना, उत्पद्यत जायत इत्यर्थः ।

६४८—उपान्मन्त्रकरणे ॥ १ । ३ । २५ ॥

मन्त्रकरण¹ में उप से पर स्था धातु से आत्मनेपद हो । ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते, आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते । मन्त्रकरण अर्थ के ग्रहण से यहां न हुआ—पतिमुपतिष्ठति यौवनम् ।

---

१. मन्त्र है करण, साधन जिसमें वह मन्त्रकरण अर्थात् स्तुति कहाती है ।

६४९—वा०—उपाद्देवपूजासंगतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वक्तव्यम् ॥१।३।२५॥

देवपूजा, सङ्गतिकरण, मित्रकरण और मार्ग अर्थ में उप से परे स्था धातु से आत्मनेपद हो। देवपूजायाम्—आदित्यमुपतिष्ठते, चन्द्रमसमुपतिष्ठते। सङ्गतिकरणे—रथिकानुपतिष्ठते, अश्वारोहानुपतिष्ठते। सङ्गतिकरण समीप जाकर मित्रपन से वर्तमान और मित्रकरण तो समीप या असमीप में केवल मित्रपन समझना चाहिये[1]। पथिषु—अयं पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते, अयं पन्थाः साकेतमुपतिष्ठते।

६५०—वा०—वा लिप्सायाम् ॥ १ । ३ । २५ ॥

लाभ की इच्छा अर्थ में स्था धातु से आत्मनेपद हो। भिक्षुको ब्राह्मणकुलमुपतिष्ठते [उपतिष्ठति वा]

६५१—अकर्मकाच्च ॥ १ । ३ । २६ ॥

उप पूर्वक अकर्मक अर्थात् अकर्मकक्रियावचन स्था धातु से आत्मनेपद हो। यावद् भुक्तमुपतिष्ठते, यावदोदनमुपतिष्ठते। भोजन २ में सन्निहित होता है। अकर्मक ग्रहण से यहां न हुआ—राजानमुपतिष्ठति।

६५२—उद्विभ्यां तपः ॥ १ । ३ । २७ ॥

उद् और वि उपसर्ग से परे अकर्मकक्रियावचन तप धातु से आत्मनेपद हो। उत्तपते, वितपते। प्रकाशित होता है। अकर्मक ग्रहण से यहां न हुआ—उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः, वितपति पृष्ठं सविता।

---

1. इसका भाव यह है—संगतिकरण में उपश्लेष (परस्पर मिलना) होता है, और मित्रकरण में उपश्लेष की आवश्यकता नहीं होती है।

६६१—वा०—समो गमादिषु विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम् ॥ १ । ३ । २ ॥

सम् से परे गमादिकों में विद, प्रच्छ, स्वृ इन धातुओं से आत्मनेपद कहना चाहिये। संविद्ते, संविदाते, संपृच्छते, संस्वरते। यहां अकर्मक की अनुवृत्ति (६५०) सूत्र से नहीं आती है।

६५५—वा॰—स्वाङ्गकर्मकाच्च ॥ १ । ३ । २८ ॥

आङ् से परे स्वाङ्गकर्मक यम और हन् धातु से आत्मनेपद हो। आयच्छते पाणिं, आहते उदरम्।

६५६—आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ॥ २ । ४ । ४४ ॥

आत्मनेपद प्रत्यय परे हों तो लुङ्लकार में हन् धातु को वध आदेश विकल्प करके हो। आवधिष्ट, आवधिषाताम्, आवधिषत। जिस पक्ष में वध आदेश न हुआ वहां—

६५७—हनः सिच् ॥ १ । २ । १४ ॥

हन धातु से परे आत्मनेपद में झलादि सिच् किद्वत् हो। आहत, आहसाताम्, आहसत।

६५८—यमो गन्धने ॥ १ । २ । १५ ॥

दूसरे के दोष को प्रकाश करने में यम धातु से परे जो झलादि सिच् सो किद्वत् हो आत्मनेपद में। उदायत, उदायसाताम्, उदायसत। गन्धनग्रहण से यहां न हुआ—उदायंस्त पादम्। यहां "समुदाङ्भ्यो॰[1]" इस आगामी सूत्र से आत्मनेपद हुआ।

६५९—समो गम्यृच्छिभ्याम् ॥ १ । ३ । २९ ॥

सम् उपसर्ग से परे अकर्मक क्रियावाचक गम और ऋच्छ धातु से आत्मनेपद हो। संगच्छते शास्त्रम्, समृच्छते वस्त्रम्। अकर्मक ग्रहण से यहां न हुआ—संगच्छति ग्रामम्।

६६०—वा गमः ॥ १ । २ । १३ ॥

गम धातु से परे आत्मनेपद विषयक झलादि लिङ् सिच् [विकल्प से] किद्वत् हों। संगसीष्ट, संगंसीष्ट, समगत, समगंस्त।

---

१ अ॰ ७०५।

६५३—वा०—स्वाङ्गकर्मकाच ॥ १ । ३ । २७ ॥

उद् और वि से परे स्वाङ्गकर्मक तप धातु से आत्मनेपद हो। उत्तपते पाणिम्, वितपते पाणिम्, उत्तपते पृष्ठम्, वितपते पृष्ठम्। स्वाङ्ग यहां अपने ही अङ्ग का ग्रहण है अर्थात् "स्वमङ्गं स्वाङ्गम्", किन्तु "अद्रवं मूर्त्तिमत्०"[1] इस परिभाषा से जो उक्त है वह नहीं लिया जाता है। इससे यहां नहीं हुआ—देवदत्तो यज्ञदत्तस्य पाणि-मुत्तपति। उद्, वि ग्रहण से यहां न हुआ—निष्टपति।

६५४—आङो यमहनः ॥ १ । ३ । २८ ॥

आङ् से परे अकर्मकक्रियावचन यम और हन धातु से आत्मनेपद हो। आयच्छते, आयच्छेते, आयच्छन्ते, आहते (३०३) अनुनासिक लोप—आघ्नाते, आघ्नते। अकर्मक ग्रहण से यहां न हुआ—आयच्छति रज्जुं कूपात्, आहन्ति वृषलं पादेन।

---

१ अद्रवं मूर्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तस्य चेत् तथा युतम्॥
अप्राणिनोऽपि स्वाङ्गत्वं भवति। महा० ४। १। ५४॥

अर्थात्- जो द्रव = बहने वाली नहीं है, मूर्तिमान् है, प्राणी में रहने वाला है, विकार से उत्पन्न नहीं है और प्राणि से अन्यत्र भी देखा जाता है उस की स्वाङ्ग संज्ञा होती है।

द्रव का निषेध करने से कफ, लोहित, मूर्त कहने से मन बुद्धि, विकारज का निषेध करने से व्रण, पुन्सी और प्राणि से अन्यत्र भी देखा जाय कहने से शिर उर. आदि का निषेध समझना चाहिये अर्थात् इन की स्वाङ्ग संज्ञा नहीं होती।

उपर्युक्त लक्षण से जिसकी स्वाङ्ग संज्ञा की है वह अवयव यदि अप्राणिक हो तो उस की भी स्वाङ्ग संज्ञा होती है।

६५५—वा०—स्वाङ्गकर्मकाच्च ॥ १ । ३ । २८ ॥

आङ् से परे स्वाङ्गकर्मक यम और हन् धातु से आत्मनेपद हो। आयच्छते पाणिः, आहते उदरम्।

६५६—आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ॥ २ । ४ । ४४ ॥

आत्मनेपद प्रत्यय परे हों तो लुङ्लकार में हन् धातु को वध आदेश विकल्प करके हो। आवधिष्ट, आवधिषाताम्, आवधिषत। जिस पक्ष में वध आदेश न हुआ वहां—

६५७—हनः सिच् ॥ १ । २ । १४ ॥

हन् धातु से परे आत्मनेपद में झलादि सिच् किद्वत् हो। आहत, आहसाताम्, आहसत।

६५८—यमो गन्धने ॥ १ । २ । १५ ॥

दूसरे के दोष को प्रकाश करने में यम धातु से परे जो झलादि सिच् सो किद्वत् हो आत्मनेपद में। उदायत, उदायसाताम्, उदायसत। गन्धनग्रहण से यहां न हुआ—उदायंस्त पादम्। यहां "समुदाङ्भ्यः"[1] इस आगामी सूत्र से आत्मनेपद हुआ।

६५९—समो गम्यृच्छिभ्याम् ॥ १ । ३ । २९ ॥

सम् उपसर्ग से परे अकर्मक क्रियावचन गम और ऋच्छ धातु से आत्मनेपद हो। संगच्छते शास्त्रम्, समृच्छते वचनम्। अकर्मक ग्रहण से यहां न हुआ—संगच्छति ग्रामम्।

६६०—वा गमः ॥ १ । २ । १३ ॥

गम धातु से परे आत्मनेपद विषयक झलादि लिङ् सिच् [विकल्प से] किद्वत् हों। संगसीष्ट, संगंसीष्ट, समगत, समगंस्त।

१ भा० ७०५ ।

६६१—वा०—समो गमादिषु विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम् ॥ १ । ३ । २ ॥

सम् से परे गमादिकों में विद, प्रच्छ, स्वृ इन धातुओं से आत्मनेपद कहना चाहिये। संवित्ते, संविदाते, संपृच्छते, संस्वरते। यहां अकर्मक की अनुवृत्ति (६५०) सूत्र से नहीं आती है।

६६२—वेत्तेर्विभाषा ॥ ७ । १ । ७ ॥

विद ज्ञाने धातु से परे प्रत्ययादि झकार के स्थान में (१२३) से अत् और उसको रुट् आगम विकल्प करके हो आत्मनेपद विषय में। इस सूत्र में 'वेत्ति' को रुडागम कहा है इसी कारण पूर्व वार्त्तिक में विद् करके वेत्ति का ही ग्रहण है, अन्य विद् का नहीं। सम् विद्+रुट्+अत्+अ=संविद्रते। संविदते।

६६३—वा०—अर्त्तिश्रुदृशिभ्यश्च ॥ १।३।२९॥

सम् से परे ऋ, श्रु और दृश धातु से आत्मनेपद हो। मासमृत, मासमृषाताम्, मासमृषत*, संशृणुत, संपश्यते।

६६४—वा०—उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा वचनम्॥१।३।२९॥

* यहां कौमुदीकार वा काशिकाकार आदि ने ऋ धातु से आत्मनेपद विषयक लुङ् लकार में च्लि के स्थान में अङ् "सर्त्तिशास्त्यर्त्तिभ्यश्च[1]" सूत्र से करके 'मासमरत, मासमरेताम्, मासमरन्त[3]' इत्यादि प्रयोग बनाये हैं। सो महाभाष्य से विरुद्ध है क्योंकि महाभाष्यकार केआस १८८ हलः" इस सूत्र के व्याख्यान[4] से निश्चित होता है कि "सर्त्तिशास्ति०" सूत्र में परस्मैपद की अनुवृत्ति है॥

१. आ० ७०५। २. आ० २५६। ३. आ० १०१। ४. महा० ६।४।१२४॥

उपसर्ग से परे जो अस् और ऊह् धातु उनसे विकल्प करके आत्मने पद हो। निरस्यति, निरस्यते; समूहति, समूहते।

६६५—उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः ॥ ७। ४। २३॥

उपसर्ग से परे ऊह् धातु का ह्रस्व हो, यकारादि कित् ङित् प्रत्यय परे हों तो। समुह्यादिम्।

६६६—निसमुपविभ्यो ह्वः ॥ १। ३। ३०॥

नि, सम्, उप और वि इनसे परे जो ह्व धातु उससे आत्मनेपद हो। निह्वयते, संह्वयते, उपह्वयते, विह्वयते।

६६७—स्पर्धायामाङः ॥ १। ३। ३१॥

स्पर्धा अर्थात् दूसरे के तिरस्कार करने की इच्छा में वर्तमान आङ् उपसर्ग से परे जो ह्वा धातु उससे आत्मनेपद हो। मल्लो मल्लमाह्वयते, छात्रश्छात्रमाह्वयते। स्पर्धा से अन्यत्र— गामाह्वयति गोपालः।

६६८—गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः ॥१।३।३२॥

गन्धन (चुगली), अवक्षेपण (धमकाना), सेवन (सेवा), साहसिक्य (हठ), प्रतियत्न (गुणाधान), प्रकथन, उपयोग (धर्मार्थ नियम) इन अर्थों में वर्तमान कृञ् धातु से आत्मनेपद हो। गन्धन— शत्रुमुत्कुरुते। अवक्षेपण—श्येनोवर्तिकामुदाकुरुते। सेवन—आचार्यमुपकुरुते शिष्यः, परदारान् प्रकुरुते। प्रतियत्न—एधोदकस्योपस्कुरुते गुहस्योपस्कुरुते। प्रकथन—जनापवादान् प्रकुरुते। उपयोग—शतं प्रकुरुते। सहस्रं प्रकुरुते, धर्मार्थं विनियुङ्क्त इत्यर्थः। इन अर्थों से अन्यत्र—कटं करोति।

६६९—अधेः प्रसहने ॥ १। ३। ३३॥

सहन वा तिरस्कार करने अर्थ में अधि से परे कृञ् धातु से आत्मनेपद हो। सहन—शीतमधि कुरुते। तिरस्कार—शत्रुमधिकुरुते। अन्यत्र—अर्थमधिकरोति।

६७०—वेः शब्दकर्मणः ॥ १ । ३ । ३४ ॥

वि उपसर्ग से परे शब्दकर्मवाले कृञ् धातु से आत्मनेपद हो। यहां कर्मकारक का ग्रहण है। क्रोष्टा विकुरुते स्वरान्, ध्वाङ्क्षो विकुरुते स्वरान्। अन्यत्र—विकरोति पयः।

६७१—अकर्मकाच्च ॥ १ । ३ । ३५ ॥

वि उपसर्ग से परे अकर्मक कृञ् धातु से आत्मनेपद हो। विकुर्वते सैन्धवाः, शोभनं वल्गन्तीत्यर्थः।

६७२—सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः ॥ १ । ३ । ३६ ॥

सम्मानन (अच्छे प्रकार मान), उत्सञ्जन (उछालना), आचार्यकरण (आचार्यक्रिया), ज्ञान, भृति (वेतन), विगणन (ऋणादि का चुकाना), व्यय (धर्मादि कामों में खर्च करना) इन अर्थों में वर्तमान नी धातु से आत्मनेपद हो। सम्मानन—मातरं सन्नयते। उत्सञ्जन—दण्डमुन्नयते। आचार्यकरण—माणवकमुपनयते। ज्ञान—तत्त्वं नयते। भृति-कर्मकरानुपनयते, भृतिदानेन समीपं नयत इत्यर्थः। विगणन—मद्राः करं विनयन्ते। राजा को उगाही आदि धन देते हैं। व्यय-शतं विनयते। धर्मार्थ शत मुद्रा खर्च करता है।

६७३—कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि ॥ १ । ३ । ३७ ॥

कर्ता में स्थित शरीर भिन्न कर्म उपपद हो तो नी धातु से आत्मनेपद होवे। शरीर का एकदेश भी शरीर कहाता है। क्रोधं विनयते, मन्युं विनयते। कर्तृस्थ ग्रहण इसलिये है कि—देवदत्तो यज्ञदत्तस्य

क्रोधं विनयति । शरीर ग्रहण इसलिये है कि—हस्तं विनयति । कर्म ग्रहण इसलिये है कि—बुद्ध्या विनयति ।

६७४—वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः ॥१।३।३८॥

वृत्ति (अनिरोध), सर्ग (उत्साह), तायन (विस्तार) इन अर्थों में वर्तमान क्रम धातु से आत्मनेपद हो । वृत्ति—मन्त्रेष्वस्य क्रमते बुद्धिः । सर्ग—व्याकरणाध्ययनाय क्रमते । तायन—क्रमन्ते ऽस्मिन् शास्त्राणि । वृत्ति आदि से अन्यत्र—अपक्रामति बालः ।

६७५—उपपराभ्याम् ॥ १ । ३ । ३९ ॥

वृत्ति, सर्ग, तायन अर्थों में उप और परा उपसर्ग पूर्वक क्रम धातु से परे ही आत्मनेपद हो, अन्य उपसर्गों से नहीं । उपक्रमते, पराक्रमते । उप, परा के नियम से 'सक्रामति' यहां आत्मनेपद नहीं होता । वृत्ति आदि अर्थों से अन्यत्र—उपक्रामति, पराक्रामति ।

६७६—आङ उद्गमने ॥ १ । ३ । ४० ॥

वा०—ज्योतिरुद्गमने (१ । ३ । ४०) आङ् से परे सूर्य आदि के ऊपर को उठने अर्थ में वर्तमान क्रम धातु से परे आत्मनेपद हो । आक्रमते सूर्यः, आक्रमते चन्द्रमाः । उद्गमन से अन्यत्र—आक्रामति माणवक: कुतुपम् । ज्योतियों के ग्रहण से अन्यत्र—'आक्रामति धूमा हर्म्यतलात्' यहां आत्मनेपद न हो ।

६७७—वेः पादविहरणे ॥ १ । ३ । ४१ ॥

पादविहरण अर्थ में वर्तमान वि उपसर्ग पूर्वक क्रम धातु से आत्मनेपद हो । साधु विक्रमते वाजी । पादविहरण से अन्यत्र—विक्रामति सन्धिः ।

६७८—प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् ॥ १ । ३ । ४२ ॥

। तुल्यार्थ प्र और उप से परे जो क्रम धातु है उससे आत्मनेपद हो। प्रक्रमते भोक्तुम्, उपक्रमते भोक्तुम्। प्र और उप दोनों शब्द आरम्भ अर्थ में तुल्यार्थ हैं। समर्थ ग्रहण इसलिये है कि—पूर्वेद्युः प्रक्रामति, अपरद्युरुपक्रामति" यहां आत्मनेपद न हो।

६७९—अनुपसर्गाद्वा ॥ १ । ३ । ४३ ॥

उपसर्ग रहित क्रम धातु से आत्मनेपद विकल्प करके हो। क्रमते, क्रामति। अनुपसर्ग कहने से—'सङ्क्रामति' में न हुआ।

६८०—अपह्नवे ज्ञः ॥ १ । ३ । ४४ ॥

मिथ्या अर्थ में वर्तमान ज्ञा धातु से आत्मनेपद हो। शतमपजानीते। अपह्नव अर्थ से अन्यत्र—न त्वं किंचिदपि जानासि।

६८१—अकर्मकाच्च ॥ १ । ३ । ४५ ॥

अकर्मक ज्ञा धातु से आत्मनेपद हो। सर्पिषो जानीते। यहां करण में षष्ठी है। अकर्मक से अन्यत्र—'स्वरं पुत्रं जानाति' यहां आत्मनेपद नहीं होता।

६८२—संप्रतिभ्यामनाध्याने ॥ १ । ३ । ४६ ॥

उत्कण्ठापूर्वक स्मरण से अन्य अर्थ में सम् और प्रति उपसर्ग पूर्वक ज्ञा धातु से आत्मनेपद हो। शतं संजानीते, शतं प्रतिजानीते। स्मरण का निषेध इसलिये है कि—मातुः संजानाति बालः।

६८३—भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः ॥ १ । ३ । ४७ ॥

भासन (दीप्ति), उपसंभाषा (समीप से समझना), ज्ञान (सम्यग्बोध), यत्न (उत्साह), विमति (नाना प्रकार की बुद्धि), उपमन्त्रण (एकान्त में कहना), इन अर्थों में वद धातु से आत्मनेपद हो। भासन—शास्त्रे वदते, शास्त्र में विद्याप्रकाश

को प्राप्त हुआ कह रहा है। उपसम्भाषा—कर्मकरानुपवदते। ज्ञान—व्याकरणे वदते। यत्न—क्षेत्रे वदते, गेहे वदते। विमति—सदसि विवदन्ते विद्वांसः। उपमन्त्रण—राजानमुपवदते मन्त्री। भासन आदि अर्थों से अन्यत्र—यत् किञ्चिद्वदति।

६८४—व्यक्तवाचां समुच्चारणे ॥ १ । ३ । ४८ ॥

स्पष्ट वर्ण बोलने वालों के एक साथ उच्चारण करने अर्थ में वर्तमान वद् धातु से आत्मनेपद हो। सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः। व्यक्तवाणी वालों का ग्रहण इसलिये है कि—सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः। साथ उच्चारण करने से अन्यत्र—'ब्राह्मणो वदति' यहां आत्मनेपद न हो।

६८५—अनोरकर्मकात् ॥ १ । ३ । ४९ ॥

स्पष्ट वर्ण बोलने वालों के एक साथ उच्चारण करने अर्थ में वर्तमान अनु उपसर्ग से परे वद् धातु से आत्मनेपद हो। अनुवदते कठः कलापस्य। जैसे कलाप पढ़ता हुआ कहता है वैसे कठ भी। अकर्मक ग्रहण से यहां न हुआ—उक्तमनुवदति। व्यक्तवाग् ग्रहण से यहां न हुआ—अनुवदति वीणा। यहां सदृश अर्थमात्र है।

६८६—विभाषा विप्रलापे ॥ १ । ३ । ५० ॥

विरुद्धकथन में व्यक्तवर्ण बोलने वाला के एक साथ उच्चारण अर्थ में वद् धातु से परे आत्मनेपद विकल्प करके हो। विप्रवदन्ते, विप्रवदन्ति वा वैयाकरणाः। एक दूसरे के पक्ष का खण्डन करने में विरुद्ध बोलते हैं। विप्रलाप से अन्यत्र—सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः। व्यक्तवाणी से अन्यत्र—विप्रवदन्ति शकुनयः समुच्चारण से अन्यत्र—क्रमेण तार्किकस्तार्किकेण सह विवदति।

६८७—अवाद्ग्रः ॥ १ । ३ । ५१ ॥

अव उपसर्ग से परे जो गृ धातु उससे आत्मनेपद हो। अव-गिरते, अवगिरेते। अव से अन्यत्र—गिरति।

६८८—समः प्रतिज्ञाने ॥ १ । ३ । ५२ ॥

प्रतिज्ञा अर्थ में वर्तमान सम्पूर्वक गृ धातु से आत्मनेपद हो। शतं संगिरते, नित्यं शब्दं संगिरते। प्रतिज्ञा अर्थ से अन्यत्र—संगिरति ग्रासम्' यहां आत्मनेपद नहीं होता।

६८९—उदश्चरः सकर्मकात् ॥ १ । ३ । ५३ ॥

उद्पूर्वक सकर्मक चर धातु से आत्मनेपद हो। धर्ममुच्चरते, गुरुवचनमुच्चरते। धर्म और गुरु के वचन का उल्लङ्घन करता है। सकर्मक से अन्यत्र—बाष्पमुच्चरति कूपात्।

६९०—समस्तृतीयायुक्तात् ॥ १ । १ । ५४ ॥

तृतीया विभक्ति से युक्त सम्पूर्वक चर धातु से आत्मनेपद हो। रथेन संचरते, अश्वेन संचरते। तृतीया से अन्यत्र—'उभौ लोकौ संचरति' यहां न हो।

६९१—दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे ॥१।३।५५॥

अशिष्टव्यवहार अर्थ में तृतीया विभक्ति से युक्त सम्पूर्वक दाण् धातु से आत्मनेपद हो परन्तु वह तृतीया विभक्ति चतुर्थी के अर्थ में हो तो। दास्या संप्रयच्छते, वृषल्या संप्रयच्छते, कामी पुरुष दासी और वेश्या को कुछ देता है। चतुर्थ्यर्थ से अन्यत्र—पाणिना संप्रयच्छति।

६९२—उपाद्यमः स्वकरणे ॥ १ । ३ । ५६ ॥

हाथ पकड़ कर जो स्वीकार करना है उस अर्थ में वर्तमान यम धातु से आत्मनेपद हो। भार्यामुपयच्छते। स्वकरण ग्रहण करने से यहां न हुआ। परमुपयच्छति। देवदत्तो यज्ञदत्तस्य भार्यामुपयच्छति।

६६३—ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः ॥ १ । ३ । ५७ ॥

ज्ञा, श्रु, स्मृ और दृश् इन धातुओं के सन् प्रत्यय से परे आत्मनेपद हो। धर्मं जिज्ञासते, गुरुं शुश्रूषते, विस्मृतं सुस्मूर्षते, नृपं दिदृक्षते। सन् ग्रहण से यहां न हुआ—जानाति, शृणोति, स्मरति, पश्यति।

६६४—नानोर्ज्ञः ॥ । ३ । ५८ ॥

अनु उपसर्ग से परे ज्ञा धातु के सन् से आत्मनेपद न हो। पुत्रमनुजिज्ञासति। 'अनु' ग्रहण से यहां न हुआ—धर्मं जिज्ञासते।

६६५—प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः ॥ १ । ३ । ५९ ॥

प्रति और आङ् उपसर्ग से परे सन्नन्त श्रु धातु से आत्मनेपद न हो। प्रति शुश्रूषति। आशुश्रूषति। उपसर्ग मानने से यहां न हुआ—देवदत्तं प्रति शुश्रूषते।

६६६—पूर्ववत्सनः ॥ १ । ३ । ६२ ॥

सन्नन्त से पूर्ववत् आत्मनेपद हो। अर्थात् जिस निमित्त से प्रथम आत्मनेपद होता हो, उसी निमित्त से सन्नन्त में भी आत्मनेपद हो। जैसे—अनुदात्त ङित् से आत्मनेपद होता है। आस्ते, शेते। वैसे ही उन्हीं निमित्तों से सन्नन्त में भी आत्मनेपद हो। आसिसिषते, शिशयिषते, निविशते, निविविक्षते, आक्रमते, आचिक्रंसते। सन्नन्त शद् और मृङ् धातु से आत्मनेपद न होगा। क्योंकि उनसे आत्मनेपद विधान में सन्नन्त का निषेध है * ॥

६६७—प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु ॥१।३।६४॥

---

* (३३२, ४११) सूत्रों में आत्मनेपद विधान का नियम है, जो सन्नन्त में आत्मनेपद नहीं होगा क्योंकि (३३२, ४११) सूत्रों में (५६४, ६६५) सूत्रों से सन्नन्त के निषेध की अनुवृत्ति आती है—शिशत्सति, मुमूर्षति।

अयज्ञपात्र प्रयोग में प्र और उप से परे युज धातु से आत्मनेपद हो। प्रयुङ्क्ते, उपयुङ्क्ते। "अयज्ञपात्र" ग्रहण से यहां न हुआ—द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति।

६९८-वा०-स्वराद्यन्तोपसृष्टादिति वक्तव्यम् ॥ १ । ३ । ६४ ॥

स्वर जिसके आदि तथा अन्त में हो उस उपसर्ग से युक्त युज धातु से परे आत्मनेपद हो। अर्थात् सम्, निस्, दुर्, इन तीन उपसर्गों को छोड़कर अन्य सब उपसर्गों से परे युज से आत्मनेपद हो। उद्युङ्क्ते, अनुयुङ्क्ते, नियुङ्क्ते। यहां नहीं होता—संयुनक्ति।

६९९—समः क्ष्णुवः ॥ १ । ३ । ६५ ॥

सम्पूर्वक क्ष्णु धातु से आत्मनेपद हो। संक्ष्णुते शस्त्रम्। क्ष्णु धातु को (६५९) सूत्र में पढ़ देते तो यह पृथक् सूत्र बनाना न पड़ता। फिर यहां सकर्मक ही क्ष्णु का ग्रहण होने के लिये पृथक् पढ़ा है। और वहां (६५९) सूत्र में अकर्मक की अनुवृत्ति है।

७००—भुजोऽनवने ॥ १ । ३ । ६६ ॥

अपालन अर्थ में वर्त्तमान भुज धातु से आत्मनेपद हो। भुङ्क्ते, भुञ्जाते, भुञ्जते। पालन के निषेध से अन्यत्र—पृथिवीं भुनक्ति राजा। यहां रक्षार्थ के निषेध से जाना जाता है कि इस सूत्र में रुधादि के भुज का ग्रहण किया है तुदादि का नहीं।

७०१—णेरणौ यत्कर्मणौ चेत्सकर्त्ताऽनाध्याने ॥ १ । ३ । ६७ ॥

अण्यन्त अवस्था में जो कर्म वही ण्यन्त अवस्था में कर्म तथा कर्त्ता भी हो तो अनाध्यान अर्थात् अत्यन्त उत्कण्ठा से जो स्मरण करना है उससे भिन्न अर्थ में णिजन्त

धातु से आत्मनेपद हो। आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः, आरोहयते हस्ती स्वयमेव, उपसिञ्चन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः, उपसेचयते हस्ती स्वयमेव, पश्यन्ति भृत्या राजानं, दर्शयते राजा स्वयमेव। 'णि'ग्रहण से यहां न हुआ—आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपका सा आरोहयमाणो हस्ती साध्वारोहति। 'अणि'ग्रहण से यहां न हुआ—गणयति गणं गोपालकः, गणयति गणः स्वयमेव। 'कर्म' ग्रहण से यहां न हो—लुनाति दात्रेण, लावयति दात्रं स्वयमेव। 'यो चेत्' ग्रहण समान क्रिया के लिये है। आरोहयमाणो हस्ती भीतान् सेचयति मूत्रेण। 'चेत्' ग्रहण अनन्यकर्म के लिये है—आरोहयमाणो हस्ती स्थलमारोहयति मनुष्यान्। 'कर्ता' ग्रहण इसलिये है कि—आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः तानारोहयति महामात्राः। अनाध्यान ग्रहण से यहां न हुआ—स्मरयत्येनं वनगुल्मः स्वयमेव। आगे कर्मकर्तृप्रक्रिया लिखेंगे उसी के सदृश उदाहरण इस सूत्र में दिये हैं सो कर्म कर्ता से आत्मनेपद हो जाता, फिर विशेष यह है कि उस प्रक्रिया में जो आत्मनेपद होता है सो कर्मस्थभावक[1] और कर्मस्थक्रियक धातुओं[2] से होता है और यह सूत्र कर्तृस्थभावक और कर्तृस्थक्रियक धातुओं के लिये है। वैसे ही कर्तृस्थक्रियक यह और कर्तृस्थभावक दृश धातुओं के उदाहरण दिये हैं।

७०२—गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने ॥ १।३।६९॥

१. भाव का लक्षण—अपरिस्पन्दनसाधनसाध्यो धात्वर्थो भावः। अर्थात् जो परिस्पन्दन = हिलना जुलना से रहित साधन से साध्य धात्वर्थ है वह भाव कहाता है।

२. क्रिया का लक्षण—सपरिस्पन्दनसाधनसाध्यो धात्वर्थः क्रिया। अर्थात् जो परिस्पन्दन गति युक्त साधन से सिद्ध होने योग्य धात्वर्थ है वह क्रिया कहाती है।

प्रलम्भन अर्थात् झूठ सांच बकने अर्थ में वर्तमान णिजन्त गृधु और वञ्चु धातुओं से आत्मनेपद हो। माणवकं गर्धयते। माणवकं वञ्चयते। प्रलम्भन ग्रहण से यहां न हुआ—श्वानं गर्धयति। रोटी आदि से कुत्ते की इच्छा को उत्पादन कराता है। अहिं वञ्चयति। सर्प को हर लेता है।

७०३—मिथ्योपपदात्कृञोऽभ्यासे ॥१।३।७१॥

वार २ काम करने में मिथ्या शब्द जिसके उपपद हो उस णिजन्त कृञ् धातु से परे आत्मनेपद हो। पदं मिथ्या कारयते। पद का वार २ मिथ्या उच्चारण कराता है। मिथ्या शब्द के ग्रहण से यहा न हुआ—पदं सुष्ठु कारयति। कृञ् ग्रहण से यहां न हुआ—पदं मिथ्या वाचयति। अभ्यास ग्रहण से यहा न हुआ—पदं मिथ्या कारयति। एक वार उच्चारण कराता है।

७०४—अपाद्वदः ॥ १ । ३ । ७३ ॥

क्रिया का फल जहां कर्त्ता के लिये हो वहा अप उपसर्ग से परे वद धातु से आत्मनेपद हो। धनकामो न्यायमपवदते। धन का लोभी न्याय को छोड़ के हुए कहता है। जहा कर्तृगामी क्रियाफल नहीं है वहां 'अपवदति' होगा।

७०६—अनुपसर्गाज्ज्ञः ॥ १ । ३ । ७६ ॥

क्रिया का फल कर्त्ता के लिये हो तो उपसर्ग रहित ज्ञा धातु से आत्मनेपद हो । गां जानीते, अश्वं जानीते । अनुपसर्ग ग्रहण से यहां न हुआ—स्वर्गं लोकं न प्रजानाति मूढः । कर्त्तृगामी फल न हो तो—देवदत्तस्य गां जानाति ।

७०७—विभाषोपपदेन प्रतीयमाने ॥ १।३।७७॥

समीपवर्त्ती पद के उच्चारण से कर्त्तृगामी क्रियाफल प्रतीत हो तो "स्वरितञितः०[1], अपह्नवे ज्ञः[2], णिचश्च०[3], समुदाङ्भ्यो य०[4], अनुपस०[5]" इन सूत्रों से जो आत्मनेपद कहा है वह विकल्प करके हो । स्वं यज्ञं यजति, स्वं यज्ञं यजते, स्वं पुत्रमपवदते, स्वं पुत्रमपवदति, स्वं यज्ञं कारयति, कारयते वा, स्वान् व्रीहीन् संयच्छति, संयच्छते वा, स्वां गां जानाति, जानीते वा ।

इत्यात्मनेपदप्रक्रिया समाप्ता ॥

अथ परस्मैपदप्रक्रियारम्भः ॥

७०८—अनुपराभ्यां कृञः ॥ १ । ३ । ७९ ॥

अनु और परा उपसर्गों से पर कृञ् धातु से परस्मैपद हो । अनुकरोति, पराकरोति । कर्त्तृगामी क्रियाफल और गन्धनादि अर्थों में भी अनु और परा पूर्वक कृञ् से परस्मैपद ही होता है ।

७०९—अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः ॥ १ । ३ । ८० ॥

अभि, प्रति और अति उपसर्गों से परे क्षिप धातु से परस्मैपद हो । अभिक्षिपति, प्रतिक्षिपति, अतिक्षिपति । इनसे अन्यत्र—आक्षिपते ।

1, आ० १०५ । 2, आ० ७०४ । 3 आ० ५५७ । 4 आ० ७०५ । 5 आ० ७०६ ।

७१०—प्राद्वहः ॥ १ । ३ । ८१ ॥

प्र पूर्वक वह धातु से परस्मैपद हो। प्रवहति। अन्यत्र—आवहते।

७११—परेर्मृषः ॥ १ । ३ । ८२ ॥

परि पूर्वक मृष धातु से परस्मैपद हो। परिमृष्यति। अन्यत्र—आमृष्यते।

७१२—व्याङ्परिभ्यो रमः ॥ १ । ३ । ८३ ॥

वि, आङ् और परि उपसर्ग से परे रम धातु से परस्मैपद हो। विरमति, आरमति, परिरमति। अन्यत्र—अभिरमते।

७१३—उपाच्च ॥ १ । ३ । ८४ ॥

उप पूर्वक रम धातु से परे परस्मैपद हो। उपरमति। यह सूत्र अलग जो किया है इससे जानना चाहिये कि अगलेसूत्र में उप उपसर्ग से ही अकर्मक रम धातु से परस्मैपद होगा।

७१४—विभाषाऽकर्मकात् ॥ १ । ३ । ८५ ॥

उपपूर्वक अकर्मक रम धातु से परे विकल्प करके परस्मैपद हो। उपरमति, उपरमते। निवृत्ति को प्राप्त होता है।

७१५—बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः ॥ १ । ३ । ८६ ॥

बुध, युध, नश, जन, इङ, प्रु, द्रु और स्रु इन णिजन्त धातुओं से परे लकार के स्थान में परस्मैपद हो। बोधयति, योधयति, नाशयति, जनयति, अध्यापयति, प्रावयति, द्रावयति, स्रावयति। बुध आदि धातुओं में जो अकर्मक हैं उनका ग्रहण अचित्तवत्कर्तृकों के लिये है क्योंकि चित्तवत् कर्तृकों से "अणावकर्म०"[1] इस सूत्र से परस्मैपद सिद्ध है और चलनार्थक धातुओं में "निगरणचलनार्थेभ्यश्च"[2] इस सूत्र से परस्मैपद सिद्ध है फिर [उनका ग्रहण] चलनार्थ से

१ आ० ७१७। २ आ० ७१६।

अन्यत्र भी परस्मैपद होने के लिये है।

७१६—निगरणचलनार्थेभ्यश्च ॥ १ । ३ । ८७ ॥

भोजन और कम्पन अर्थ वाले णिजन्त धातुओं से परे परस्मैपद हो निगारयति, निगालयति वा। भोजन कराता है। चलयति, चोपयति, कम्पयति। यह भी सूत्र सकर्मक और अचित्तवत् कर्तृकों के लिये है। अत्ति यज्ञदत्तः, आदयते देवदत्तेन। यहां इससे परस्मैपद प्राप्त है उसका निषेध कारकीय पा०—३३[1] से होता है।

७१७—अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात् ॥ १ । ३ । ८८ ॥

अण्यन्त अवस्था में जो अकर्मक और चित्तवान् कर्ता वाला धातु हो उस ण्यन्त से परस्मैपद हो। आस्ते बालः, आसीनं बालं माता प्रयोजयति इति माता बालमासयति। स्थापयति, शाययति। अण्यन्त अवस्था ग्रहण से यहां न हुआ— आरोहमाणं प्रयोजयति, आरोहयति। अकर्मकग्रहण से यहां न हुआ—कटं कुर्वाणं प्रयोजयति कारयते। चित्तवत्ता से अन्यत्र—शुष्यन्ति व्रीहयः, शोषयति व्रीहीनातपः।

७१८—न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः ॥ १ । ३ । ८९ ॥

पा, दमि, आङ्यम, आङ्यस, परिमुह, रुचि, नृति, वद और वस इन ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद न हो। "अणाव०"[2], निगरण०"[3] पूर्वोक्त इन दो सूत्रों से जो परस्मैपद प्राप्त है उसका निषेध किया है। पाययते, दमयते, आयामयते, आयासयते, परिमोहयते, रोचयते, नर्तयते, वादयते, वासयते। यहां ऐसा जानना चाहिये कि पा आदि

---

१. [illegible]

२. भा० ७१७। ३. भा० ७१६।

धातुओं से कर्तृगामी क्रियाफल में यह निषेध है और परगामी क्रियाफल में तो "शेषात् कर्तरि०" इससे परस्मैपद होता ही है। वत्सान् पय. पाययति।

७१६—वा०—पादिषु धेट उपसंख्यानम् ॥

१। ३। ८९ ॥

इन पा आदि धातुओं में धेट् धातु को भी पढ़ना चाहिये। धापयत शिशुमेक समीचा।

इति परस्मैपदप्रक्रिया समाप्ता ॥

अथ भावकर्मप्रक्रिया ॥

भाव, भावना क्रिया को कहते हैं। यह सब धातुओं से अपने २ धात्वर्थ को लेकर कहा जाता है। उसका अनुवाद भाववाची लकार से होता है। युष्मद् और अस्मद् से समानाधिकरण का अभाव है इससे यहा प्रथम पुरुष होता है। तथा तिङ् प्रत्ययवाच्य भाव अद्रव्य [और एक] है इससे भाव में द्विवचन और बहुवचन की प्रतीति नहीं होती इसलिये भाव म द्विवचन और बहुवचन नहीं होते हैं किन्तु एक वचन होता है। क्योंकि वह द्विवचनादिकों का उत्सर्गनात्र है। अब प्रथम पुरुष के परस्मैपद वा आत्मनेपद में कौन होना चाहिये इस विषय में (६२८) सूत्र से आत्मनेपद विधान कर चुके हैं सो यहा भाव म प्रथमपुरुष का आत्मनेपद एक वचन होगा, जैसे भू+त। इस अवस्था में—

७२०—सार्वधातुके यक् ॥ ३। १। ६७ ॥

भावकर्मवाचि सार्वधातुक परे हो तो धातु से यक् प्रत्यय हो। भू+यक्+ते। भूयते देवदत्तेन। बभूवे।

1. भा० ११।

७२१—स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुप-देशेऽज्झन ग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च ॥६।४।६२॥

भावकर्म विषय में स्य, सिच्, सीयुट् और तासि परे हों तो उपदेश में अजन्त हन, ग्रह और दृश अङ्गों को विकल्प करके चिण्वत् कार्य और इट् का आगम हो। यहां चिण्वद्भाव का विकल्प होने से जिस पक्ष में चिण्वत् कार्य होता है वहीं इट् भी जानो। चिण् णित् है इससे जो जो कार्य णित् प्रत्ययों में होते हैं वे ही स्य आदि के परे भी हो जावें। भविता। यहां चिण्वत् कार्य वृद्धि होती है। भविता, भाविष्यते, भविष्यते, भाविषते, भाविषाते, [भविषते], भाविष्यते, भूयताम्, अभूयत, भूयेत, भाविषीष्ट, भविषीष्ट।

७२२—चिण् भावकर्मणोः ॥ ३ । १ । ६६ ॥

भाव कर्मवाची त शब्द परे हो तो च्लि के स्थान में चिण् आदेश हो। अभावि, अभाविष्यत, अभविष्यत।

अनुपूर्वक भू धातु सकर्मक हो जाता है। अनुभूयते चैत्रेण त्वया मया वा आनन्दः। यहां आनन्द अनुपूर्वक भू धातु का कर्म है। इस आनन्दकर्म में लकारादि प्रत्यय के होने से उससे द्वितीया विभक्ति नहीं होती, क्योंकि यह अनभिहित नहीं रहा। अनुभूयेते, अनुभूयन्ते, त्वमनुभूयसे, अहमनुभूये, अनुभूवे', त्वमनुभाविमासे,

अनुभवितासे । इत्यादि । अन्वभावि, अन्वभाविषाताम्, अन्वभविषाताम् ॥ णिजन्त से भाव कर्म में यक्—भाव्यते, भावयाञ्चक्र, भावयाम्बभूवे, भावयामासे, भाविता । यहां चिण्वद्भाव में इट् को (४२) सूत्र से असिद्ध मानकर (१७७)सूत्र से णि लोप हो जाता है और जहां चिण्वद्भाव नहीं हैं वहां—भावयिता । भाविष्यते, भावयिष्यते, भाव्यताम्, अभाव्यत, भाव्येत, भाविषीष्ट, भावयिषीष्ट, अभाविषाताम्, अभावयिषाताम् ॥ सन्नन्त से भाव कर्म—बुभूष्यते, बुभूषाञ्चक्र, बुभूषिता, बुभूषिष्यते ॥ यङन्त से भाव कर्म—बोभूयते । यङ्लुगन्त से भाव कर्म—बोभूयते, बोभवाञ्चक्र, बोभाविता, बोभविता, स्तूयते परमात्मा, तुष्टुवे, स्ताविता, स्तोता, स्ताविष्यते, स्तोष्यते, अस्तावि, अस्ताविषाताम्, अस्तोषाताम् ॥ अर्यते (२५४) से गुण होकर । स्मर्यते, सस्मरे, स्मारिता, यहाँ परत्व और नित्यत्व मानकर प्रथम गुण तथा गुण को रपर करने से ऋ धातु अजन्त है तथापि 'स्यसिच०'[1] इस सूत्र में जो उपदेशग्रहण है इससे उसको णिवद्भाव और तत्सन्नियोग इट् होता है । स्मर्ता, स्मारिता, स्मर्ता, स्मर्यते । यहां (२५४) इस सूत्र से संयोगादि मान कर ऋकार को गुणादेश नहीं होता है । क्योंकि यह संयोग सुट् से हुआ है सुट् बहिरङ्ग वा ऋ का अभक्त होने से असिद्ध है ॥ स्रस्यते । यहां (१३९) इससे नकार का लोप हुआ । नन्द्यते । यहां इदित् मानकर नकार का लोप न हुआ । इज्यते । यहां (२८३) इससे सम्प्रसारण हुआ । शाय्यते । यहां (५५२) से अयङ् आदेश हुआ ।

७२३—तनोतेर्यकि ॥ ६ । ४ । ४४ ॥

यक् प्रत्यय परे हो तो तनोति धातु को आकारादेश विकल्प करके होवे । तायते, तन्यते । जन धातु को आकारादेश विकल्प (१८१) से होता है । जायते, जन्यते ।

1. आद्यस० ७२१ ।

७२४—तपोऽनुतापे च ॥ ३ । १ । ६५ ॥

कर्म, कर्ता और अनुताप अर्थ में तप धातु से परे च्लि के स्थान में चिण आदेश न हो। अनुताप पछतावे को कहते हैं। सो भाव-कर्मप्रक्रिया में ही चिण निषेध होने के लिये अनुताप ग्रहण है। अन्वतप्त पापेन पापस्य कर्ता। यह भावकर्म का उदाहरण है। कर्म-कर्ता का उदाहरण कर्मकर्तृप्रक्रिया में लिखेंगे। दीयते, धीयते (३४६) इस सूत्र से इकारादेश होता है।

में ग्रहण है। ग्रहाता, ग्राहिष्यत, ग्रहिष्यत, ग्राहिषीष्ट, ग्रहीषीष्ट, अग्राहि, अग्राहिषाताम्। दृश्यत, अदर्शि, अदर्शिषाताम्, अदृक्षाताम्। यहां सिच् के कित् होने से (२७८) अम् न हुआ। गीर्यत, जगरे, जगले, गारिता, गालिता, गरीता, गलीता, गरिता, गलिता, गारिष्यते, गारिषतै, गारिषातै, गालिषतै, गालिषातै, गरीषतै, गरीषातै, गलीषतै, गलीषातै, गरिषतै, गरिषातै, गलिषतै, गलिषातै, गारिषते, गारिषाते, गालिषत, गालिषाते, गरीषत, गरीषाते, गलीषत, गलीषाते, गरिषते, गरिषाते, गलिषत, गलिषाते, गीर्यत, गार्यात, गीर्यतै, गीर्यातै, गीर्यताम्, अगीर्यत, गीर्येत गालिषीष्ट, गारिषीष्ट, गरिषीष्ट। यहां ४२१) इससे दीर्घ न हुआ। गीर्षीष्ट। यहां (४२०) से इट् विकल्प होता है। अगारि, अगारिषाताम्, अगरिषाताम्, अगीर्षाताम्, अगारिध्वम्, अगरीध्वम् अगरिध्वम्, अगालिध्वम्, अगालीध्वम्, अगलिध्वम्(४३२) से लत्व विकल्प होकर—अगारीढ्वम्, अगरीढ्वम्, अगरिढ्वम्, अगालिढ्वम्, अगलीढ्वम्, अगलिढ्वम्। (१९१) मूर्द्धन्यादेश विकल्प से हुआ। इट् के अभाव पक्ष में—अगीर्ढ्वम्। यहां (२४०) से सिच् कित् (१०९) से नित्य ढत्व होता है। हेतुमत् णिजन्त से कर्म में लकार होकर। शम्यत मोक्षो गुरुणा।

७२६—चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्॥ ६।४।९३॥

चिण् और णमुल् जिससे परे हों ऐसा णिच् पर हो तो मित् अङ्ग की उपधा को विकल्प करके दीर्घ हो। शामिता शमिता, शमयिता, शामिष्यत, शमिष्यत, शमयिष्यत। जहां णिजन्त नहीं है वहां भाव में लकार होंगे। शम्यत मुनिना।

७२७—नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्याऽनाचमेः॥ ७।३।३४॥

भी कर्तृसंज्ञा को प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे अपने २ विषय में स्वतन्त्र हैं और स्वाधीन व्यापार वाले की कर्ता संज्ञा भी होती है। इस कारण प्रथम करण आदि संज्ञा होती हैं तथापि उन कारकों के स्वतन्त्र होने से कर्तृसंज्ञा होकर उस कर्ता में भी लकार होते हैं। करण— देवदत्तोऽसिना छिनत्ति, छिन्दतो देवदत्तस्यासिः स्वयमेव छिनत्ति। देवदत्त तलवार से काटता है, काटते हुए देवदत्त की तलवार आप ही काटती है। देवदत्तः काष्ठैः पचति, पचतो देवदत्तस्य काष्ठानि साधु पचन्ति। देवदत्तः स्थाल्या पचति, पचतो देवदत्तस्य स्थाली स्वयमेव पचति। और जब कर्म की कर्तृत्व विवक्षा होती है तब प्रथम से सकर्मक भी धातु प्रायः अकर्मक हो जाते हैं और उनसे भाव वा कर्ता में लकार होते हैं जैसे भाव में—देवदत्त ओदनं पचति, पचतो देवदत्तस्य ओदनेन स्वयमेव पच्यते, भिद्यते काष्ठेन। और कर्त्ता में तो—

७३१—कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः ॥३।१।८७॥

जिसकी कर्मस्थ क्रिया के तुल्य क्रिया है वह कर्त्ता कर्मवत् हो। यहां कार्यातिदेश अर्थात् कर्म विषयक काम कर्त्ता में भी हों। इसका प्रयोजन यह है कि यक्, आत्मनेपद, चिण् और चिण्वद्भाव भी होवे। देवदत्तः काष्ठं भिनत्ति, भिन्दतो देवदत्तस्य काष्ठं स्वयमेव भिद्यते, देवदत्त ओदनं पचति, पचतो देवदत्तस्यौदनः स्वयमेव पच्यते, अभेदि काष्ठं स्वयमेव, अपाच्योदनः स्वयमेव, पाचिष्यते ओदनः स्वयमेव। वत् ग्रहण करने से स्वाधीन कार्य भी होते हैं *। भिद्यते कुसूलेन।

*"कर्मवत्०" सूत्र में "वत्" को छोड़ के "कर्म कर्मणा" कहने से तुल्य क्रिया कर्ता की कर्म संज्ञा होकर उसको कर्माश्रय कार्य ही होते किन्तु जो कर्म को कर्तृत्व विवक्षा करने से सकर्मक धातु अकर्मक होकर उनसे भाव में लकार होते हैं वे न होते। वत् ग्रहण करने से तो कर्म की तुल्यता होकर स्वाश्रय कार्य भी होते हैं॥

यहां स्वाश्रय कार्य भाव में लकार हुआ है। 'कर्मणा' ग्रहण इसलिये है कि करण और अधिकरण के तुल्य क्रिया कर्ता को कर्मवद्भाव न हो। जैसे साध्वसिश्छिनत्ति, साधु स्थाली पचति। इस प्रकरण में धातु का अधिकार है इससे ए० ही धातु में कर्मवद्भाव होता है किन्तु—'पचत्योदनं देवदत्तः, राधत्योदनः स्वयमेव' यहां न हुआ। इस सूत्र से कर्मस्थभावक और कर्मस्थक्रियक धातुओं का कर्ता कर्मवत् होता है, किन्तु कर्तृस्थभावक तथा कर्तृस्थक्रियक धातुओं का कर्ता कर्मवत् नहीं होता। जैसे कर्तृस्थभावों में—देवदत्तः शास्त्रं चिन्तयति, शास्त्रं चिन्तयतो देवदत्तस्य शास्त्रं स्वयमेव चिन्तयति, अमात्यो राजानं मन्त्रयते, मन्त्रयमाणस्यामात्यस्य राजा स्वयमेव मन्त्रयते। कर्तृस्थक्रियाओं में—गच्छति ग्रामं देवदत्तः, ग्रामं गच्छतो देवदत्तस्य ग्रामः स्वयमेव गच्छति, आरोहति हस्ती स्वयमेव। कर्मस्थ-भावकों में—शेते बालः, शयानं बालं जनकः प्रयाजयति, जनको बालं शाययति, शाययतो जनकस्य बालः स्वयमेव शाय्यते। यहां सोना रूप भाव कर्मस्थ है। जहां कर्म में क्रिया कृत् विशेष देख पड़े वह कर्मस्थक्रिय होता है। जैसे फटी हुई लकड़ियों में काटना रूप क्रिया प्रत्यक्ष देख पड़ती है। इससे भिद् धातु कर्मस्थक्रिय है।

७३२—तपस्तपः कर्मकस्यैव ॥ ३ । १ । ८८ ॥

सकर्मकों में तपः कर्म वाले ही तप का कर्ता कर्मवत् हो यह सूत्र नियमार्थ है कि सकर्मक धातुओं को कर्मवद्भाव हो तो तप धातु ही का हो। सो भी तपः कर्म वाले हो तप धातु का हो, किन्तु और कर्म वाले का न हो। वेदव्रतादीनि तपांसि तापसाः तपन्ति, स ताप-सस्त्वगस्त्रिभूतः स्वर्गाय तपस्तप्यते। वेदव्रत आदि तप स्तापस अर्थात् तपस्या करने वाले को संताप देते हैं वह तापस अत्यन्त सुख के लिए तप को यत्न से सिद्ध करता है। पिछले सूत्र से कर्मवद्भाव प्राप्त

न था, इससे विधान किया है। अन्वतप्त तपस्तापसः। यह (७२४) इससे चिण् निषेध होकर सिच् हो जाता है। तप.कर्मक ग्रहण करने से यहां न हुआ—उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः। कारकः कटं करोति, कुर्वतस्तस्य कटः स्वयमेव क्रियते।

७३३—अचः कर्मकर्त्तरि ॥ ३ । १ । ६२ ॥

कर्मकर्त्ता में त शब्द परे हो तो अजन्त धातु से परे च्लि को [विकल्प से] चिण् आदेश हो। अकारि कटः स्वयमेव, अकृत कटः स्वयमेव, कृषीवलः केदारं लुनीते, लुनतस्तस्य केदारः स्वयमेव लूयते, [अलावि केदारः स्वयमेव] अलविष्ट केदारः स्वयमेव। 'अच.' इस ग्रहण से यहां न हुआ—अभेदि काष्ठ स्वयमेव। कर्मकर्तृ ग्रहण से यहां न हुआ—अकारि कटो देवदत्तेन।

गोपालो गा व्रजमन्ववरुणद्धि, रुन्धतस्तस्य गौः स्वयमेवान्ववरुध्यते ॥ ७३२ ॥

७३४—न रुधः ॥ ३ । १ । ६४ ॥

रुधि धातु से परे कर्मकर्त्ता में च्लि के स्थान में चिण् आदेश न हो। अन्ववारुणद्धि गौः स्वयमेव। कर्मकर्तृ ग्रहण से यहां न हुआ—अन्ववारोधि गौर्गोपालेन।

७३५—वा०—दुहिपच्योर्बहुलं सकर्मकयोः ॥

सकर्मक दुह और पच धातु का कर्त्ता बहुल करके कर्मवत् हो।

७३६—न दुहस्नुनमां यक्चिणौ ॥३।१।८९॥

दुह, स्नु और नम इन धातुओं के कर्मवद्भाव में यक् और चिण् न हों। इससे दुह् धातु से यक् का प्रतिषेध है। और चिण् को विकल्प से कहेंगे। गोपालो गां पयो दोग्धि, दुहतस्तस्य गौः पयः, स्वयमेव दुग्धे।

७३७—दुहश्च ॥ ३ । १ । ६३ ॥

दुह धातु से परे कर्मकर्ता में विकल्प करके च्लि को चिण् आदेश हो। अदुग्ध गौः पयः स्वयमेव। कर्मकर्ता ग्रहण से—अदोहि गौर्गोपालेन। ऋतुहदुंबरं सलोहितं फलं पचति, पचत्यस्मादुम्बरः सलोहितं फलं पच्यते। प्रस्नुते गौः स्वयमेव, प्रास्नोष्ट गौः स्वयमेव। नमते दण्डः स्वयमेव। अनंस्त दण्डः स्वयमेव।

७३८—वा०—सृजियुज्योः श्यस्तु ॥३।१।८७॥

सकर्मक सृज् और युज् धातु का कर्ता बहुल करके कर्मवत् और श्यन् हो। यह श्यन् यक् प्रत्यय का अपवाद है।

७३९—वा०—सृजेः श्रद्धोपपन्ने कर्त्तरि कर्मवद्भावो वाच्यश्चिणात्मनेपदार्थः ॥

श्रद्धायुक्त कर्ता में सृज धातु को कर्मवद्भाव कहना चाहिये। चिण् और आत्मनेपद होने के लिये। सृज्यते मालाम्। श्रद्धा से माला बनाता है। असर्जि मालाम्। श्रद्धा से माला बनाली। युज्यते ब्रह्मचारी योगम् ॥ ३ । १ । ८७ ॥

७४०—वा०—भूषाकर्मकिरादिसनां चान्यत्रात्मनेपदात् ॥ ३ । १ । ८७ ॥

भूषण अर्थवाले, किरादि और सन्नन्त धातुओं का आत्मनेपद से अन्यत्र प्रतिषेध कहना चाहिये। अर्थात् उनको यक्, चिण् और चिण्वद्भाव न हो। और आत्मनेपद हो। भूषार्थ में माता कन्यां भूषयति, कन्यां भूषयितारः मातुः, कन्या स्वयमेव भूषयते,

अनुभूषत कन्या स्वयमेव *, मराडयते कन्या स्वयमेव, अममराडत कन्या स्वयमेव, अलंकुरुते कन्या स्वयमेव, अलमकृत कन्या स्वयमेव। किरादि—अवकिरते हस्ती स्वयमेव, अवाकीर्ष्ट हस्ती स्वयमेव, गीर्यते ग्रासः स्वयमेव, अवागीष्ट ग्रासः स्वयमेव, चिकीर्षते कटः स्वयमेव, अचिकीर्षिष्ट कटः स्वयमेव। यहां इच्छा कर्तृस्थ भी है तथापि करोति क्रिया की अपेक्षा लेकर कर्मस्थ क्रिया जाननी चाहिये। क्योंकि करोति प्रधान है और इच्छा तो करोति के आधीन है किन्तु स्वतन्त्र नहीं है।

७४१—वा०—यक्चिणोः प्रतिषेधे हेतुमण्णिश्रिब्रूञामुपसंख्यानम् ॥

यक् और चिण् के प्रतिषेध में हेतुमान् णि, श्रि और ब्रूञ् इन का उपसंख्यान करना चाहिये। णि—कारयते कटः स्वयमेव, [अचीकरत कटः स्वयमेव]। श्रि—उच्छ्रयते दण्डः स्वयमेव, उदशिश्रियत दण्डः स्वयमेव। ब्रूञ्—ब्रूते कथाः स्वयमेव, अवोचत कथाः स्वयमेव।

* यहां स्वार्थणिच् मानकर भूषार्थकों के प्रतिषेध में 'भूषयते' इत्यादि उदाहरण महाभाष्यकार ने दिये हैं क्योंकि "यक्चिणोः प्रतिषेधे" इस वार्तिक से केवल हेतुमत् णिच् से प्रतिषेध है। और भारद्वाजीय जो णिमात्र से प्रतिषेध पढ़ते हैं वह उन्हीं का मत है[1]। इसलिये सर्वसम्मत से ण्यन्त अण्यन्त दोनों पक्ष में "भूष/कृ०" इस वार्तिक में भूषार्थकों का ग्रहण किया है अन्यथा महाभाष्यकार का "भूषयते कन्या स्वयमेव" इत्यादि उदाहरण देना व्यर्थ हो, इससे यहां कैयट ने जो भूषार्थकों का ग्रहण अण्यन्तों ही के लिये माना है यह उनका व्याख्यान असंगत है॥

1. भारद्वाजीय आचार्यों के मत में णिमात्र से यक् और चिण् में ही कर्मवद्भाव का निषेध होता है चिण्वद्भाव और आत्मनेपद होता ही है। अतः चिण्वद्भाव के प्रतिषेध के लिये ण्यन्त भूषादि का ग्रहण युक्त है। कैयट का भूषादि को अण्यन्त पक्ष में ग्रहण मानना अयुक्त है।

७४२—वा०—भारद्वाजीयाः पठन्ति—यक्चिणोः प्रतिषेधे णिश्रन्थिग्रन्थिब्रूञात्मनेपदाकर्मकाणामुपसंख्यानम् ॥

पुच्छमुदस्यति उत्पुच्छयते गौः। अन्तर्भावितण्यर्थं मान कर—'गामुत्पुच्छयते' यह व्यवस्था होगी। फिर कर्तृत्व की अपेक्षा में—'उत्पुच्छयते गौः' होगा। उदपुपुच्छत। यहां यक् और चिण् के प्रतिषेध से शप् और चङ् होते हैं। ग्रन्थ और श्रन्थ के आधृषीयत्व होने से णिच् के अभाव पक्ष के लिये इनका ग्रहण है। ग्रन्थते ग्रन्थमाचार्यः, श्रन्थते मेखलां देवदत्तः, ग्रन्थते ग्रन्थः स्वयमेव, श्रन्थते मेखला स्वयमेव, अग्रन्थिष्ट, अश्रन्थिष्ट। विकुर्वते * सैन्धवाः। फिर अन्तर्भावितण्यर्थ के प्रयोजनांश त्याग करने से—'विकुर्वते सैन्धवाः स्वयमेव' होगा। व्यकारिष्ट, व्यकारिषाताम्, व्यकारिषत, यहां चिण्वद्भाव होता है। व्यकृत, व्यकृषाताम्, व्यकृषत।

७४३—कुषिरञ्जोः प्राचां श्यन् परस्मैपदं च ॥ ३।१।९० ॥

प्राचीन आचार्यों के मत से कुष और रञ्ज धातु को कर्मवद्भाव में श्यन् प्रत्यय और परस्मैपद हो, किन्तु यक् आत्मनेपद न हो। कुष्यति, कुष्यते वा पादः स्वयमेव, रज्यति, रज्यते वस्त्रं स्वयमेव। यह प्राचां ग्रहण विकल्प के लिये है और वह व्यवस्था से माना जाता है[1] इससे लिङ् लुङ् लिट् और स्यादि विषय में यह सूत्र नहीं

* यहां "वेः शब्दकर्मणोऽकर्मकाच्च" इससे तङ् हुआ है।

1 महर्षि ने अष्टाध्यायी भाष्य में महाभाष्य के अनुसार सार्वधातुक की अनुवृत्ति या स्यादि प्रत्ययों को अन्तरंग मानकर लिङादि में श्यन् और परस्मैपद का प्रतिषेध किया है।

प्रवृत्त होता । चुकुपे पादः स्वयमेव, ररञ्जे वस्त्रं स्वयमेव, कोपिषीष्ट पादः स्वयमेव, रङ्क्षीष्ट वस्त्रं स्वयमेव, कोपिष्यते पादः स्वयमेव, रङ्क्ष्यते वस्त्रं स्वयमेव, अकोपि पादः स्वयमेव, अरञ्जि वस्त्रं स्वयमे

॥ इति कर्मकर्तृप्रक्रिया समाप्ता ॥

अथ लकारार्थप्रक्रियारम्भः ॥

७४४—अभिज्ञावचने लृट् ॥ ३ । २ । ११२ ॥

अभिज्ञावचन अर्थात् स्मृतिवाचक उपपद हो तो धातु से लृट् प्रत्यय हो । यह लङ् का अपवाद है । अभिजानासि वत्स ! कश्मीरेषु वत्स्यामः, स्मरसि बुध्यसे चेतयसे वा मित्र ! काश्यां पठिष्यामः ।

७४५—न यदि ॥ ३ । २ । ११३ ॥

यत् शब्द सहित अभिज्ञावचन उपपद हो तो लृट् प्रत्यय न हो। अभिजानासि देवदत्त ! यत्कश्मीरेष्ववसाम । यहाँ निवास मात्र का स्मरण है । इससे यह अगले सूत्र का विषय नहीं है ।

७४६—विभाषासाकाङ्क्षे ॥ ३ । २ । ११४ ॥

अभिज्ञावचन उपपद हो और यत् शब्द उपपद हो वा न हो तो धातु से विकल्प करके लृट् हो साकाङ्क्ष अर्थ में । अभिजानासि देवदत्त ! कश्मीरेषु वत्स्यामः, तत्र सक्तून् पास्याम, (अभिजानासि देवदत्त ! कश्मीरेष्ववसाम,) तत्र सक्तूनपिबाम, यद् अभिजानासि देवदत्त ! यत् कश्मीरान् गमिष्यामः, यत् कश्मीरानगच्छाम, यत्तत्रौदनं भोक्ष्यामहे, यत् तत्रौदनमभुञ्ज्महि । अयद्—अभिजानासि देवदत्त !

कस्मीरान् गमिष्याम, कस्मारानगच्छाम, तत्रौदन भोक्ष्यामहे, तत्रौदनमभुञ्ज्महि। लक्ष्य और लक्षण के सम्बन्ध से वक्ता की आकाङ्क्षा होती है। उक्त उदाहरणों में निवास और गमन लक्षण है और पान, भोजन लक्ष्य हैं।

(२९) से लिट् विधान कर चुके हैं यहां उत्तम पुरुष के विषय में विशेष कहते हैं।

७४७—सुप्तमत्तयोरुत्तमः। महाभा०॥३।२।११५॥

सुप्त और मत्त के विषय में पारोक्षभाव से उत्तम पुरुष होता है। सुप्तोऽहं किल विललाप, सुप्तो न्वहं किल विललाप, मत्तो न्वहं किल विललाप।

७४८—वा०—परोक्षे लिडत्यन्तापह्नवे च ॥

"परोक्षे लिट्" यहां अत्यन्त अपह्नव अर्थात् मिथ्यापन में भी लिट् कहना चाहिये। नो खण्डिकान् जगाम, नो कलिङ्गान् जगाम।

७४९—हशश्वतोर्लङ् च ॥ ३। २। ११६॥

भूत अनद्यतन परोक्ष अर्थ में ह और शश्वत् शब्द उपपद हों तो धातु से लङ् और लिट् हो। इति ह अकरोत्, इति ह चकार, शश्वदकरोत्, शश्वच्चकार।

७५०—प्रश्ने चासन्नकाले ॥ ३। २। ११७॥

समीप काल के पूछने में जो भूत अनद्यतन[1] परोक्ष है उस अर्थ में धातु से लङ् और लिट् हो। अगच्छत् किं देवदत्त ? जगाम किं

---

१. महर्षि ने अष्टाध्यायी भाष्य में अनद्यतन की अनुवृत्ति नहीं मानी है। देखो इस सूत्र का अष्टाध्यायी भाष्य और उस पर मेरी टिप्पणी।

देवदत्तः ? । कोई किसी से पूछता है कि क्या देवदत्त गया ?। प्रश्नग्रहण से अन्यत्र—जगाम देवदत्तः । यहां न हुआ । आसन्न काल से अन्यत्र– भवन्त पृच्छामि, जघान कंस किल वासुदेव ।

७५१—लट् स्मे ॥ ३ । २ । ११८ ॥

भूत अनद्यतन परोक्ष काल में स्म उपपद हो तो धातु से लट् प्रत्यय हो । यजति स्म युधिष्ठिर । स्म से अन्यत्र—इयाज युधिष्ठिर ।

७५२—अपरोक्षे च ॥ ३ । २ । ११९ ॥

भूत अनद्यतन अपरोक्ष काल में भी स्म उपपद हो तो धातु से लट् हो । एव पिता ब्रवीति स्म ।

७५३—ननौ पृष्टप्रतिवचने ॥ ३ । २ । १२० ॥

ननु शब्द उपपद हो तो प्रश्न के उत्तर देने अर्थ में भूतकाल में वर्तमान धातु से लट् प्रत्यय हो । अकार्षी किम् ? ननु करोमि भो ! अवोचत् तत्र किं देवदत्तः ? ननु ब्रवीमि भो. । पृष्टप्रतिवचन से अन्यत्र—नन्वकार्षीन् माणवकः ॥

७५४—नन्वोर्विभाषा ॥ ३ । २ । १२१ ॥

न और नु उपपद हों तो प्रश्न के उत्तर देने में भूतकाल में वर्तमान धातु से विकल्प करके लट् हो । अकार्षीः किम् ? न करोमि, नाकार्षं वा । नु करोमि, न्वकार्षं वा ।

७५५—पुरि लुङ् चास्मे ॥ ३ । २ । १२२ ॥

स्म रहित पुरा शब्द उपपद हो तो भूत अनद्यतन काल में धातु से विकल्प करके लुङ् और लट् हो । वसन्तीह पुरा छात्राः । अवात्सुरिह पुरा छात्राः । पक्ष में यथाप्राप्त हों । अवसन्निह पुरा छात्राः । ऊषुरिह पुरा छात्राः । अस्मग्रहण से यहां लुङ् न हुआ । धर्मेण स्म पुरा क्रतवो युध्यन्ते ।

७५६—यावत् पुरानिपातयोर्लट् ॥ ३ । ३ । ४ ॥

निपात संज्ञक यावत् और पुरा शब्द उपपद हों तो भविष्यत् काल में धातु से लट् प्रत्यय हो। यावद् भुङ्क्ते, पुरा भुङ्क्ते। निपात ग्रहण से यहां न हुआ—यावद्दास्यति तावद्भोक्ष्यते, पुरा यास्यति। यहां पुरा तृतीया का एकवचन है।

७५७—विभाषा कदाकर्ह्योः ॥ ३ । ३ । ५ ॥

कदा और कर्हि शब्द उपपद हों तो भविष्यत् काल में धातु से विकल्प करके लट् प्रत्यय हो। कदा भुङ्क्ते कर्हि भुङ्क्ते, कदा भोक्ष्यते, भोक्ता, कर्हि भोक्ष्यते, भोक्ता।

७५८—किंवृत्ते लिप्सायाम् ॥ ३ । ३ । ६ ॥

किं शब्द का प्रयोग उपपद हो तो भविष्यत्कालिक धातु से लाभ की इच्छा अर्थ में विकल्प करके लट् प्रत्यय हो। कं कतरं कतमं वा ददासि, दास्यसि, दातासि वा ? कोई लाभ की इच्छा वाला पूछता है कि तुम किसको दोगे ? लिप्सा अर्थ से अन्यत्र—कः पाटलिपुत्रं गमिष्यति ?

७५९—लिप्स्यमानसिद्धौ च ॥ ३ । ३ । ७ ॥

अभीष्ट पदार्थ की सिद्धि गम्यमान हो तो भविष्यत्काल में धातु से विकल्प करके लट् प्रत्यय हो। यो धनं ददाति स स्वर्गं गच्छति, यो धनं दास्यति स स्वर्गं गमिष्यति, यो धनं दाता स स्वर्गं गन्ता। धन देने से स्वर्ग प्राप्त होता है इस प्रकार धन चाहता हुआ देने वाले का उत्साह कराता है।

७६०—लोडर्थलक्षणे च ॥ ३ । ३ । ८ ॥

विध्यादिक जो लोट् के अर्थ हैं वे जिससे जाने जावें उस अर्थ में वर्तमान धातु से भविष्यत् काल में विकल्प करके लट् प्रत्यय

हो। उपाध्यायश्चेदागच्छति, आगमिष्यति, आगन्ता वा अथ त्वं व्याकरणमधीष्व। यहां उपाध्याय का आगम पढाने की प्रेरणा को विदित कराता है।

७६१—लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके ॥ ३ । ३ । ६ ॥

लोडर्थ लक्षण में वर्तमान धातु से दो घड़ी से ऊपर जो भविष्यत् काल उसमें विकल्प करके लिङ् और लट् हों। उपाध्यायश्चेदागच्छति, आगच्छेत्, आगमिष्यति, आगन्ता वा, अथ त्वं छन्दोऽधीष्व।

७६२—वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा॥३।३।१३१॥

वर्तमान के समीप का जो भूत वा भविष्यत् काल उसमें वर्तमान धातु से वर्तमानवत् प्रत्यय विकल्प करके हों। अर्थात् 'वर्त्तमाने लट्'[1] इस सूत्र से लेकर "उणादयो बहुलम्"[2] इस सूत्र पर्यन्त वर्तमानाधिकार में जिस २ निमित्त से जो २ प्रत्यय कहे हैं। वे उन्हीं निमित्तों से वर्तमानसमीप भूत वा भविष्यत् काल में विकल्प करके हों। कदा देवदत्तागतोसि ? अयमागच्छामि, आगच्छन्तमेव मां विद्धि, अयमागमम्, एषोऽस्म्यागतः। कदा देवदत्त गमिष्यसि ? एष गच्छामि, गच्छन्तमेव मां विद्धि, एष गमिष्यामि, गन्तास्मि। सामीप्यग्रहण से अतिकाल की विवक्षा में न हो। परुदगच्छत् पाटलिपुत्रम् वर्षेण गमिष्यति।

७६३—आशंसायां भूतवच्च ॥ ३ । ३ । १३२ ॥

आशंसा गम्यमान हो तो भविष्यत् काल में धातु से विकल्प करके भूतवत् और वर्तमानवत् प्रत्यय हों। अप्राप्तप्रियवस्तु के पाने की इच्छा करने को आशंसा कहते हैं, वह भविष्यत् काल का

१. भा० ४। २. भा० १३३२।

विषय] है। उपाध्यायश्चेदागमत्, आगत, आगच्छति, आगमिष्यति वा एते वय व्याकरणमध्यगीष्महि, एते वय व्याकरणमधीवन्त, अधीमहे, अध्येष्यामहे। यहा सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेश.[1] इस परिभाषाबल स लड् और लिट् नहीं होते हैं। आशंसाग्रहण से यहाँ न हुआ—आगमिष्यति।

७६४—क्षिप्रवचने लृट्॥ ३। ३। १३३॥

क्षिप्रवाची पद उपपद हो और आशसा गम्यमान हो तो भविष्यत् काल में धातु से लृट् प्रत्यय हो। यह पिछले सूत्र का अपवाद है। उपाध्यायश्चेत् क्षिप्रमागमिष्यति, क्षिप्र व्याकरणमध्येष्यामहे, शीघ्रमाशु त्वरितमध्येष्यामहे वा।

७६५—आशंसावचने लिङ्॥ ३। ३। १३४॥

आशंसा कहने वाला पद उपपद हो तो धातु से लिङ् प्रत्यय हो। यह (७६३) सूत्र का अपवाद है। उपाध्यायश्चेदागच्छेत् आशसेऽधीयीय, आशंसेऽवकल्पये युक्तोऽधीयीय, आशसे क्षिप्रमधीयीय।

७६६—नानद्यतनवत् क्रियाप्रबन्धसामीप्ययोः॥ ३। ३। १३५॥

क्रिया के प्रबन्ध और सामीप्य में अनद्यतनवत् प्रत्यय न हो। अर्थात् भूत अनद्यतन में लङ् और भविष्यत् अनद्यतन में लुट् विहित हैं वे न हों। क्रियाप्रबन्ध क्रिया का निरन्तर होना, सामीप्य तुल्य जातीय से अव्यवधान। क्रियाप्रबन्ध-यावज्जीव भृशमन्नमदात्, भृशमन्नं दास्यति, यावज्जीव पुत्रोऽध्यापिपत्। यावज्जीवमध्यापयिष्यति। सामीप्य—येयं पौर्णमासी अतिक्रान्ता, एतस्यामुपाध्यायोऽग्नीनाधित, सोमेनायष्ट, गामदित, येयममावस्याऽऽगामिनी, एतस्यामुपाध्यायोऽग्नीनाधास्यते, सोमेन यक्ष्यते, [illegible] गा दास्यते।

---

1 परि० ८८

७६७—भविष्यति मर्यादावचनेऽवरस्मिन् ॥३।३।१३६॥

उरले भाग को लेकर मर्यादा हो तो भविष्यत् काल में अनद्यतनवत् प्रत्यय न हो। आपाटलिपुत्राद् योऽयमध्वा गन्तव्यस्तस्य यदवरं कौशाम्ब्यास्तत्र स्थास्यामि। भविष्यत् के ग्रहण से यहा न हुआ—आपाटलिपुत्राद् योऽयमध्वागतस्तस्य यदवरं कौशाम्ब्यास्तत्र युक्ता अध्यैमहि। मर्यादावचन से अन्यत्र योऽयमध्वा निरवधिको गन्तव्यस्तस्य यदवरं कौशाम्ब्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्तास्महे। अवरस्मिन् ग्रहण से यहा न हुआ—आपाटलिपुत्राद् योऽयमध्वा गन्तव्यस्तस्य यत् पर कौशाम्ब्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्तास्महे।

७६८—कालविभागे चानहोरात्राणाम् ॥ ३ । ३ । १३७ ॥

समय की मर्यादा के विभाग में उरले विभाग की अपेक्षा हो तो भविष्यत् काल में अनद्यतनवत् प्रत्यय न हो। यदि वह मर्यादा-विभाग अहोरात्र संबन्धी न हो। योऽयं संवत्सर आगामी तत्र यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येष्यामहे। भविष्यत् ग्रहण से यहा न हुआ—योऽयं वत्सरोऽतीतस्तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्यैमहि। मर्यादा से अन्यत्र—योऽय निरवधिकः काल आगामी तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येतास्महे। अवरभाग की अपेक्षा में यह होगा, और परभाग में अगले सूत्र से विधान करेंगे। अनहोरात्र ग्रहण से यहाँ न हुआ—योऽयं मास आगामी तस्य योऽवरःपञ्चदशरात्रस्तत्रयुक्ता अध्येतास्महे, योऽयं त्रिंशद्रात्र आगामी तस्य योऽवरोऽर्धमासस्तत्र युक्ता अध्येतास्महे, तत्र सक्तून् पातास्मः। सब प्रकार से अहोरात्र के स्पर्श में प्रतिषेध है।

७६९—परस्मिन् विभाषा ॥ ३ । ३ । १३८ ॥

समय की मर्यादा के विभाग में परभाग की अपेक्षा हो तो विकल्प करके अनद्यतनवत् प्रत्यय न हों। यदि वह मर्यादावचन अहोरात्र सम्बन्धी विभाग में न हो। योऽय संवत्सर आगामी तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्रयुक्ता अध्येष्यामहे, अध्येतास्महे। अनहोरात्र से अन्यत्र—योऽय त्रिंशद्रात्र आगामी तस्य य: पर: पञ्चदशरात्रस्तत्रयुक्ता अध्येतास्महे। भविष्यत् काल से [अन्यत्र—योऽयं संवत्सरो व्यतीतस्तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येष्महि। मर्यादा से अन्यत्र—योऽयमपरिमित काल आगामी तस्य यत्परं कार्तिक्यास्तत्र युक्ता अध्येतास्महे। कालविभाग से] अन्यत्र—योऽयमध्वा गन्तव्य आपाटलिपुत्रात् तस्य यत्परं कौशाम्ब्यास्तत्र अध्येतास्महे।

(९३) सूत्र में लृङ् विधान कर चुके हैं उसका विशेष व्याख्यान करते हैं। दक्षिणेन चेद्यास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत, यदि कमलकमाह्वास्यन्न शकट पर्याभविष्यत्, अभोक्ष्यत् भवान् घृतेन यदि मत्समीपमागमिष्यत्। यहां सर्वत्र भविष्यत्काल सम्बन्धी कार्य का न होना हेतुमान् और दक्षिणमार्गगमन आदि हेतु हैं तथा भविष्यत् काल विषयक हेतु और हेतुमान् की अतिपत्ति वाक्य में प्रतीत होती है।

७७०—भूते च ॥ ३ । ३ । १४० ॥

लिङ् निमित्त में क्रियातिपत्ति हो तो भूतकाल में भी लृङ् प्रत्यय हो। दृष्टो मया भवत्पुत्रोऽन्नार्थी चङ्क्रम्यमाण, अपरश्च द्विजो ब्राह्मणार्थी, यदि स तेन दृष्टोऽभविष्यत् तदाऽभोक्ष्यत, नतु भुक्तवान् अन्येन पथा स गत:।

७७१—वोताप्योः ॥ ३ । ३ । १४१ ॥

यहां से लेकर "उताप्योः समर्थयोर्लिङ्"[1] इस सूत्र पर्यन्त जो विधान करेंगे वहां भूतकाल में लिङ् के निमित्त में क्रियातिपत्ति हो तो लृङ् विकल्प करके होगा, यह अधिकार समझना चाहिये। "विभाषाकथमि०"[2] यह सूत्र आगे कहेंगे, इस के विषय में—कथं नाम तत्र भवान् वृषलमयाजयिष्यत्, याजयेद् वा ?

७७२—गर्हायां लडपिजात्वोः ॥ ३ । ३ । १४२॥

कुत्सा अर्थ में अपि और जातु उपपद हों तो धातु से लट् प्रत्यय हो सामान्य काल में। कालविशेष विहित जो प्रत्यय हैं उन को यह परत्व से बाँध लेता है। अपि तत्र भवान् वृषलं याजयति, जातु तत्र भवान् वृषलं याजयति, गर्हामहे अहो अन्याय्यमेतत्। लिङ्निमित्त के अभाव से यहां क्रियातिपत्ति में लृङ् नहीं होता है।

७७३—विभाषा कथमि लिङ् च ॥३।३।१४३॥

कथम् शब्द उपपद हो और निन्दा पाई जाय तो धातु से लिङ् और लट् प्रत्यय विकल्प करके हों। कथं नाम तत्र भवान् वृषलं याजयेत् ? कथं तत्र भवान् वृषलं याजयति ? विकल्प पक्ष में—कथं नाम तत्र भवान् वृषलं याजयिष्यति ? कथं नाम तत्र भवान् वृषलं याजयिता ? इत्यादि। यहां लिङ्निमित्त है इससे भूतकाल की क्रियातिपत्ति विवक्षा में विकल्प करके और भविष्यत्काल की में नित्य लृङ् होता है।

७७४—किंवृत्ते लिङ्लृटौ ॥ ३ । ३ । १४४ ॥

किम् शब्द का प्रयोग उपपद हो और गर्हा पाई जाय तो धातु से लिङ् और लृट् प्रत्यय हों। यहां लिङ् ग्रहण लट् की निवृत्ति के लिये है। को नाम वृषलो यं तत्र भवान् याजयेत् ? यं तत्र

1 आ० ७७६। २. आ० ७७३।

धातु से लिङ् हो । यह लुट् का अपवाद है । जातु तत्रभवान् गुरु निन्देत्, यन्नाम तत्र भवान गुरु निन्देत् नावकल्पयामि, न मर्पयामि । लृङ् पूर्ववत् ।

७७८—वा०—जातुयदोर्लिङ्विधाने यदायद्योरुपसंख्यानम् ॥

यदा भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत्, यदि भवद्विध क्षत्रिय याजयेत्, नावकल्पयामि, न मर्पयामि । भूत, भविष्यत् क्रियातिपत्ति विवक्षा मे पूर्ववत् लृङ् होगा ।

७७९—यच्चयत्रयोः ॥ ३ । ३ । १४८ ॥

यच्च वा यत्र उपपद हो और अनवक्लृप्ति तथा अमर्ष गम्यमान हो तो धातु से लिङ् प्रत्यय हो । यह लुट् का अपवाद है । यच्च तत्र भवान् गुरुं निन्देत्, यत्र तत्र भवान गुरु निन्देत्, नावकल्पयामि, न मर्पयामि । क्रियातिपत्ति मे पूर्ववत् लृङ् होता है ।

७८०—गर्हायां च ॥ ३ । ३ । १४९ ॥

गर्हा गम्यमान हो और यच्च, यत्र उपपद हों तो धातु से लिङ् प्रत्यय हो । यह सब लकारों का अपवाद है । यच्च यत्र वा तत्र भवान् वृपल याजयेत्, गर्हामहे, अन्याय्यमेतत् । क्रियातिपत्ति में पूर्ववत् लृङ् होता है ।

७८१—चित्रीकरणे च ॥ ३ । ३ । १५० ॥

यच्च यत्र उपपद हो और चित्रीकरण [अर्थ] गम्यमान हो तो धातु से लिङ् प्रत्यय हो । चित्रीकरण आश्चर्य अद्भुत विस्मय करने योग्य को कहते हैं । यच्च यत्र वा भवान् वृपलं याजयेत्, आश्चर्य्यमेतत् ॥ क्रियातिपत्ति मे यथाप्राप्त लृङ् होता है ।

७८२—शेषे लृडयदौ ॥ ३ । ३ । १५१ ॥

यदि शब्द भिन्न यच यत्र से अन्य उपपद हो और चित्रीकरण गम्यमान हो तो धातु से लृट् प्रत्यय हो। यह सब लकारों का अपवाद है। आश्चर्य चित्रमद्भुतम् अन्धो नाम पर्वतमारोक्ष्यति, बधिरो नाम व्याकरणमध्येष्यते। अयदिग्रहण से यहां न हुआ—आश्चर्यं यदि सोऽधीयीत। इस नियम में लिङ् निमित्त के अभाव से लृङ् नहीं होगा।

७८३—उताप्योः समर्थयोर्लिङ् ॥३।३।१५२॥

समानार्थक उत और अपि उपपद हों तो धातु से लिङ् प्रत्यय हो। अङ्गीकार अर्थ में उत, अपि समानार्थक हैं। उत कुर्य्यात्, अपि कुर्य्यात्, उताधीयीत, अप्यधीयीत। हां यह करेगा वा पढ़ेगा। समर्थग्रहण से यहां न हुआ—उत दण्डः पतिष्यति, अपि द्वारं धास्यति। दण्ड गिरेगा, द्वार को ढांप लेगा। यहां प्रश्न [और] प्रच्छादन गम्यमान है "वोताप्योः"। यह नियम पूरा होगया, अब यहां से लेकर भूतकाल में भी क्रियातिपत्ति में नित्य लृङ् होगा।

७८४—कामप्रवेदनेऽकच्चिति ॥ ३। ३। १५३ ॥

कच्चित् शब्द उपपद न हो तो अपने अभिप्राय के प्रकाश करने में धातु से लिङ् प्रत्यय हो। यह सब लकारों का अपवाद है। कामो मे भुञ्जीत भवान्, अभिलाषः इच्छा वा मम भुञ्जीत भवान्। अकच्चित् कहने से यहां न हुआ। कच्चिज्जीवति ते माता?

७८५—संभावनेऽलमिति चेत् सिद्धाप्रयोगे ॥ ३। ३। १५४ ॥

जो सिद्ध अलम् शब्द का प्रयोग न किया जाय तो सम्भावन अर्थ में वर्तमान धातु से लिङ् प्रत्यय हो। जहां वाक्य में अलम् शब्द का अर्थ परिपूर्णता अर्थात् प्रतिपन्न गम्यमान हो और उसका

प्रयोग न हो वहां सिद्ध अलम् का अप्रयोग तथा क्रियाओं में योग्यता का निश्चय करना सम्भावन समझना चाहिये। यह सब लकारों का अपवाद है। अपि पर्वतं शिरसा भिन्द्यात्, अपि द्रोणपाकं भुञ्जीत। अलम् ग्रहण से यहां न हुआ—विदेशस्थो देवदत्तः प्रायेण ग्रामं गमिष्यति। सिद्धाप्रयोग ग्रहण से यहां न हुआ—अलं कृष्णो हस्तिनं हनिष्यति। भूत वा भविष्यत्काल में क्रियातिपत्ति में नित्य लृङ् होता है।

७८३—विभाषा धातौ सम्भावनवचनेऽयदि ॥ ३ । ३ । १५५ ॥

इच्छा अर्थ वाले धातु उपपद हों तो धातु से लिङ् और लोट् प्रत्यय हों। यह सब लकारों का अपवाद है। इच्छामि भुञ्जीत भवान्, इच्छामि भुङ्क्तां भवान्, कामये, प्रार्थये, पठतु भवान्। कामप्रवेदने चेत्। महाभाष्य। ३। ३। १५७॥ जो अत्यन्त इच्छा विदित करना गम्यमान हो तो उक्त लिङ् प्रत्यय हो, यह कहना चाहिये अर्थात् यहां न हो—इच्छन् कटं करोति।

७८९—लिङ् च॥ ३। ३। १५९॥

समानकर्ता वाले इच्छार्थक धातु उपपद हों तो धातु से लिङ् प्रत्यय हो। भुञ्जीयेतीच्छति, अधीयीयेतीच्छति। क्रियातिपत्ति में लृङ् होता है।

७९०—इच्छार्थेभ्यो विभाषा वर्तमाने॥ ३। ३। १६०॥

इच्छार्थक धातुओं से वर्तमान काल में विकल्प करके लिङ् प्रत्यय होता है। इच्छति, इच्छेत्, कामयते, कामयेत, वष्टि, उश्यात्।

प्रथम (८९, ९१) से लिङ् और लोट् का विधान किया है। अब उस विषय के क्रम से उदाहरण देते हैं जैसे—विधि—भवान् पठेत, ग्रामं भवानागच्छेत्। निमन्त्रण—इह भवान् भुञ्जीत। आमन्त्रण—इह भवानासीत्। अधीष्ट—भवान् पुत्रमध्यापयेत्। सम्प्रश्न—किं भो वेदमधीयीय। प्रार्थन—अस्ति मे प्रार्थना व्याकरणमधीयीय। इसी प्रकार लोट् भी होगा। भवान् पठतु इत्यादि।

७९१—प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च॥ ३। ३। १६३॥

प्रैष = प्रेरणा करना, अतिसर्ग = इच्छानुकूल करने की स्वीकृति, प्राप्तकाल = कार्य करने के अनुकूल अवसर पाना इन अर्थों में धातु

प्रयोग न हो वहां सिद्ध अलम् का अप्रयोग तथा क्रियाओं में योग्यता का निश्चय करना सम्भावन समझना चाहिये। यह सब लकारों का अपवाद है। अपि पर्वतं शिरसा भिन्द्यात्, अपि द्रोणपाकं भुञ्जीत। अलम् ग्रहण से यहां न हुआ—विदेशस्थो देवदत्तः प्रायेण ग्रामं गमिष्यति। सिद्धाप्रयोग ग्रहण से यहां न हुआ—अलं कृष्णो हस्तिनं हनिष्यति। भूत वा भविष्यत्काल की क्रियातिपत्ति में नित्य लृङ् होता है।

७८६—विभाषा धातौ सम्भावनवचनेऽयदि ॥ ३ । ३ । १५५ ॥

यद्शब्द वर्जित सभावन अर्थ का कहने वाला धातु उपपद हो तो धातु से विकल्प करके लिङ् प्रत्यय हो, यदि सिद्ध अलम् का अप्रयोग हो। पूर्वसूत्र से नित्य लिङ् प्राप्त था विकल्प के लिये यह सूत्र है। संभावयामि भुञ्जीत भवान्, संभावयामि भोक्ष्यते भवान्। अयद् ग्रहण से यहां न हुआ—संभावयामि यद् भुञ्जीत भवान्।

७८७—हेतुहेतुमतोर्लिङ् ॥ ३ । ३ । १५६ ॥

हेतु कारण और हेतुमान् जिसमें कारण रहे अर्थात् फल, उनमें वर्तमान जो धातु हो उससे लिङ् प्रत्यय विकल्प करके हो। दक्षिणेन चेद् यायात् न शकटं पर्याभवेत्। यहां दक्षिणमार्ग से जाना हेतु और अपर्याभवन = न गिरना फल है। लिङ् वर्तमान था पुनर्लिङ् ग्रहण विशेष काल के सग्रह करने के लिये है। इससे यह लकार भविष्यत्काल में होता है। द्वितीय पक्ष में लृट्—दक्षिणेन चेद्यास्यति न शकटं पर्याभविष्यति। भविष्यत् के नियम से यहां न हुआ—हन्तीति पलायते, वर्षतीति धावति। क्रियातिपत्ति में लृङ् होता है

७८८—इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ ॥ ३ । ३ । १५७ ॥

इच्छा अर्थ वाले धातु उपपद हों तो धातु से लिङ् और लोट् प्रत्यय हों। यह उक्त लकारों का अपवाद है। इच्छामि भुञ्जीत भवान्, इच्छामि भुङ्क्तां भवान्, कामये, प्रार्थये, पठतु भवान्। कामप्रवेदने चेत् । महाभाष्य । ३।३।१५७॥ जो अत्यन्त इच्छा निदित करना गम्यमान हो तो उक्त लिङ् प्रत्यय हो, यह कहना चाहिये अर्थात् वहां न हो—इच्छन् कटं करोति।

७८९—लिङ् च ॥ ३ । ३ । १५९ ॥

समानकर्ता वाले इच्छार्थक धातु उपपद हों तो धातु से लिङ् प्रत्यय हो। भुञ्जीयेतीच्छति, अधीयीयेतीच्छति। क्रियातिपत्ति में लृङ् होता है।

७९०—इच्छार्थेभ्यो विभाषा वर्तमाने ॥

३ । ३ । १६० ॥

इच्छार्थक धातुओं से वर्तमान काल में विकल्प करके लिङ् प्रत्यय होता है। इच्छति, इच्छेत्, कामयते, कामयेत, वष्टि, उश्यात्।

प्रथम (७९, ६५) में लिङ् और लोट् का विधान किया है। अब उस विषय के क्रम से उदाहरण देते हैं जैसे—विधि—भवान् पठेत, ग्रामं भवानागच्छेत्। निमन्त्रण—इह भवान् भुञ्जीत। आमन्त्रण—इह भवानासीत्। अधीष्ट—भवान् पुत्रमध्यापयेत्। सम्प्रश्न—किं भो वेदमधीयीय। प्रार्थन—अस्ति मे प्रार्थना व्याकरणमधीयीय। इसी प्रकार लोट् भी होगा। भवान् पठतु इत्यादि।

७९१—प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च ॥

३ । ३ । १६३ ॥

प्रैष = प्रेरणा करना, अतिसर्ग = इच्छानुकूल करने की स्वीकृति, प्राप्तकाल = कार्य करने के अनुकूल अवसर पाना इन अर्थों में धातु

से कृत्य संज्ञक और लोट् ॐ प्रत्यय हो। कृत्य—भवता कटः करणीयः, कर्तव्यः कटः, कृत्यः कार्यं इत्यादि। लोट्—करोतु कटं भवानिह प्रेषितः, भवानतिसृष्टः, भवतः प्राप्तकालः कटकरणे।

७६२—लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके ॥३।३।१६४॥

प्रैषादि अर्थ गम्यमान हों तो दो घड़ी से ऊपर जो भविष्यत्-काल है उसमें वर्तमान धातु से लिङ् और यथाप्राप्त कृत्य और लोट् भी हों। मुहूर्तादुपरि भवता खलु कटः कर्तव्यः करणीय कार्यः, भवान् खलु कटं कुर्यात्, भवान् खलु कटं करोतु, भवानिह प्रेषित, अतिसृष्टः प्राप्तकालो वा।

७६३—स्मे लोट ॥ ३ । ३ । १६५ ॥

प्रैषादि अर्थ गम्यमान हों और स्म शब्द उपपद हो तो ऊर्ध्वमौहूर्तिक अर्थ में वर्तमान धातु से लोट् प्रत्यय हो। यह लिङ् और कृत्य प्रत्ययों का अपवाद है। मुहूर्तादूर्ध्वं भवान् कटं करोतु स्म, माणवकमध्यापयतु स्म।

ॐ "प्रैषातिसर्ग०" सूत्र की व्याख्या में जो कौमुदीकार ने लोट् का अनुकर्षण कर केवल उसको प्राप्तकाल अर्थ ही के लिये माना है यह उनका मानना असङ्गत है,[1] क्योंकि उक्त सूत्र की व्याख्या जो महाभाष्यकार ने की है उससे स्पष्ट विदित होता है कि प्रैषादि तीनों अर्थों में लोट् प्रत्यय होता है यथा—अयं प्रैषादिष्वर्थेषु लोट् विधीयते स विशेषविहितः सामान्यविहितान् कृत्यान् इत्यादि" महाभाष्य ३। ३। १६३॥

1. वस्तुतः पौर्वापर्य की सङ्गति को ध्यान में रखते हुए असङ्गत नहीं है। क्योंकि प्रैष का अर्थ विधि और अतसर्ग का अर्थ कामचारानुज्ञा है। इन अर्थों में लोट् का विधान पूर्व (आ० ६५) कर चुके हैं। अतः इस सूत्र में लोट् का अनुकर्षण केवल प्राप्तकाल के लिये है। कई आचार्य विधि और प्रैष में भेद मानते हैं उनके मत में प्रैष के लिये भी लोट् का अनुकर्षण समझना चाहिये।

७६४—अधीष्टे च ॥ ३ । ३ । १६६ ॥

सत्कारपूर्विका चेष्टा गम्यमान हो और स्म उपपद हो तो धातु से लोट् प्रत्यय हो। यह लिङ् का अपवाद है। अंग स्म राजन् माणवकमध्यापय।

७६५—लिङ् यदि ॥ ३ । ३ । १६८ ॥

काल, समय और वेला तथा यद् शब्द उपपद हो तो धातु से लिङ् प्रत्यय हो। यह तुमुन् प्रत्यय का अपवाद है। कालो यद् भुञ्जीत भवान्, समयो यद् भुञ्जीत भवान्, वेला यद् भुञ्जीत भवान्।

७६६—अर्हे कृत्यतृचश्च ॥ ३ । ३ । १६९ ॥

अर्ह कर्ता वाच्य वा गम्यमान हो तो धातु से कृत्य तृच् और लिङ् प्रत्यय हो। भवता खलु कन्या वोढव्या, वाह्या, वहनीया वा, भवान् खलु कन्याया वोढा, भवान् खलु कन्यां वहेत्।

७६७—शकि लिङ् च ॥ ३ । ३ । १७२ ॥

शकि अर्थ में धातु से लिङ् और कृत्य प्रत्यय हों। भवता खलु भारो वोढव्यः, वहनीयः, भवान् खलु वहेत् भारं, भवानिह शक्तः।

७६८—माङि लुङ् ॥ ३ । ३ । १७५ ॥

माङ् उपपद हो तो धातु से लुङ्[1] प्रत्यय हो। यह सब लकारों का अपवाद है। मा कार्षीत्।

७६९—स्मोत्तरे लङ् च ॥ ३ । ३ । १७६ ॥

स्म जिससे परे हो वह माङ् शब्द उपपद हो तो धातु से लङ्

---

1. महर्षि ने इस सूत्र के अष्टाध्यायी भाष्य में "आशिषि लिङ्लोटौ" इन पदों की अनुवृत्ति मानी है। देखो इस सूत्र का अष्टाध्यायी भाष्य और उस पर मेरी टिप्पणी।

और लुङ् प्रत्यय हों। मास्म करोत्, मास्म कार्षीत्, मास्म हरत्, मास्म हार्षीत्।

८००—धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः ॥ ३ । ४ । १ ॥

धात्वर्थ [के] सम्बन्ध में प्रत्यय हों। अर्थात् जिस जिस काल में प्रत्यय कहे हैं उन से अन्यत्र भी हों। अग्निष्टोमयाजी त्व पुत्रो जनिता, कृतः कटः श्वो भविता, भावि कृत्यमासीत्, अग्निष्टोमयाजी यह भूतकाल और जनिता यह भविष्यत्काल में है यहां भूतकाल जनिता के भविष्यत्काल का सम्बन्ध पाकर साधु होता है। अष्टाध्यायी के क्रम से प्रत्ययाधिकार वर्तमान था तथापि यहां प्रत्ययग्रहण का यह प्रयोजन है कि धात्वधिकार से अन्य भी प्रत्यय धातु सम्बन्ध काल में हो जावें। गोमानासीत्, गोमान् भविता। यहां "गावो विद्यन्तेऽस्य" इस विग्रह से वर्तमानकाल में भी क्रिया हुआ मतुप् "आसीत्, भविता" इन क्रियापदों के सम्बन्ध से भूत और भविष्यत्काल का कहने वाला होता है।

८०१—क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः ॥ ३ । ४ । २ ॥

क्रियासमभिहार (वार वार होना) अर्थ में धातु से लोट् और उस लोट् के स्थान में परस्मैपद हि और आत्मनेपद स्व आदेश हों, तथा त और ध्वम् भावी लोट् के स्थान में हि और स्व विकल्प करके हों। यह सब लकारों का अपवाद है क्योंकि सब लकारों के विषय में होता है।

८०२—समुच्चयेऽन्यतरस्याम् ॥ ३ । ४ । ४ ॥

अनेक क्रियाओं के अध्याहार में धातु से विकल्प करके लोट् और उस लोट् के स्थान में यथोक्त हि और स्व आदेश हों।

८०३—यथा विध्यनुप्रयोगः पूर्वस्मिन् ॥ ३ । ४ । ४ ॥

पूर्वोक्त लोट् विधान में यथाविधि अनुप्रयोग हो। अर्थात् जिस धातु से लोट् विहित हो। उसी धातु का संख्या, काल और पुरुष के नियम से पीछे प्रयोग हो।

८०४—समुच्चये सामान्यवचनस्य ॥३।४।५॥

समुच्चय अर्थ में लोट् विधान हो तो सामान्य अर्थ कहने वाले धातु का अनुप्रयोग हो।

८०५—वा०-क्रियासमभिहारे द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥

क्रियासमभिहारार्थविहित लोट् के विषय में द्विर्वचन हो। क्रियासमभिहार में परस्मैपद लट् लकार—स भवान् लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति, इमौ लुनीतः, इमे लुनन्ति, लुनीहीत्येव त्वं लुनासि, युवां लुनीथः, यूयं लुनीथ, लुनीहि लुनीहीत्येवाहं लुनामि, आवां लुनीवः, वयं लुनीमः, इत्यादि। आत्मनेपद—अधीष्वाधीष्वेत्येवायमधीते, इमावधीयाते, इमेऽधीयते, इत्यादि। इस प्रकार सब लकारों में उदाहरण जानना चाहिये। क्रियासमभिहार में—दुग्धं पिब, धाणकान् चर्व इत्यभ्यवहरति। अन्नं भुङ्क्ष्व दाधिकमास्वादस्वेत्यभ्यवहरते। त, ध्वम् के विषय में—दुग्धं पिब, धाणकाश्चर्वेत्यभ्यवहरत, अन्नं भुङ्क्ष्व, दाधिकमास्वादस्वेत्यभ्यवहरध्वे, दुग्धं पिबत धाणकाश्चर्वतेत्यभ्यवहरत, अन्नं भुङ्ग्ध्वं, दाधिकमास्वादध्वम्, इत्यवहरध्वे। इसी प्रकार क्रियासमभिहार और समुच्चय अर्थ में सब लकारों के विषय में लोट् होता है।

८०६—छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥ ३ । ४ । ६ ॥

छन्दोविषयक धातुसम्बन्ध होने पर सामान्यकाल में धातु से विकल्प करके लुङ् लङ् और लिट् प्रत्यय हों। लुङ्—शकलाङ्गुष्ठकोऽकरत्, अहं तेभ्योऽकरन्नमः। लङ्—अग्निमद्यहोतारमवृणीतायं यजमानः। लिट्—अद्य ममार, अद्य म्रियते [इत्यर्थ]।

॥ इति लकारार्थप्रक्रिया समाप्ता ॥

अथ षत्वप्रक्रियाऽरम्भः ॥

८०७—अपदान्तस्य मूर्धन्यः ॥ ८ । ३ । ५५ ॥

अपदान्त सकार को मूर्धन्य आदेश हो। यह अधिकार करते हैं। अष्टाध्यायी में इस पाद की समाप्ति पर्यन्त यह अधिकार है। सिषेव, सुष्वाप, अग्निषु, वायुषु। इत्यादि यहां सर्वत्र (५६) सूत्र से षत्व हुआ है। अपदान्त ग्रहण इसलिये है कि—"अग्निस्तत्र" यहां मूर्धन्य न हो। सकार को षकार कहते तो धकार वा ढकार भी कहना पड़ता, इसलिये मूर्धन्य शब्द पढ़ा है।

८०८—सहेः साडः सः ॥ ८ । ३ । ५६ ॥

साड् रूप सह धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश हो। जलाषाट्, तुराषाट्, पृतनाषाट्। साड्ग्रहण से "तुरासाहम्" यहां नहीं होता। स को इसलिये कहा कि आकार को न हो जावे।

८०९—इण्कोः ॥ ८ । ३ । ५७ ॥

यह भी अधिकार सूत्र है। अपदान्त सकार को मूर्धन्यादेश कहेंगे सो इण् कवर्ग से ही परे हो जैसे—कर्तृषु, हर्तृषु, वाक्+सु = वाक्षु, इण् कवर्ग से परे नियम इसलिए है कि 'दास्यति असौ' यहां न हो।

८१०—नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि ॥ ८।३।५८॥

नुम्, विसर्जनीय और शर् प्रत्याहार इन के व्यवधान में भी इण्

कवर्ग से परे अपदान्त सकार को मूर्धन्यादेश हो। जैसे नुम् के व्यवधान में—सर्पि+नुम्+स्+जस = सर्पींषि, हवींषि, यजूंषि, इत्यादि। विसर्जनीय के व्यवधान में—सर्पिः षु, धनुः षु, यजुः षु इत्यादि। शर्व्यवधान में—सर्पिष्षु, यजुष्षु, हविष्षु इत्यादि। इस सूत्र में नुम् आदि प्रत्येक के व्यवधान का पृथक् पृथक् ग्रहण है, इसलिये "निंस्से, निंस्स्व" यहां नुम् और शर् दो के व्यवधान में षत्व नहीं होता।

८११—स्तौतिण्योरेव षण्यभ्यासात् ॥८।३।६१॥

षणरूप सन् परे हो तो स्तु और णिजन्त धातुओं के इणन्त अभ्यास से परे जो आदेश का सकार उसको मूर्धन्य आदेश हो। स्तोतुमिच्छति तुष्टूषति। णिजन्त से—सेवयितुमिच्छति सिषेवयिषति, सुष्वापयिषति, सिषञ्जयिषति। इन धातुओं में इण कवर्ग से परे अन्य सूत्रों से षत्व हो जाता, फिर यह सूत्र नियमार्थ है कि [षणरूप] सन् के परे स्तु और णिजन्त के ही अभ्यास से परे षत्व हो। इस नियम से—"सिसिक्षति, सुसूषति" यहां षत्व नहीं होता। स्तौति और णिजन्त के साथ एव शब्द पढ़ने से यह नियम नहीं होता कि स्तौति और णिजन्त को सन् होने [पर ही] षत्व हो। इससे "तुष्टाव" आदि में षत्व हो जाता है और "सिसिक्षति" में षत्व नहीं होता।

८१२—सः स्विदिस्वदिसहीनां च ॥८।३।६२॥

षण रूप सन् परे हो तो स्विदि, स्वदि और सहि इन णिजन्त धातुओं के इणन्त अभ्यास से परे अपदान्त सकार को सकारादेश ही हो। स्वेदयितुमिच्छति, सिस्वेदयिषति, सिस्वादयिषति सिसाहयिषति। यहां सकार को सकार कहने से मूर्धन्य नहीं होता।

८१३—प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि ॥८।३।६३॥

छन्दोविषयक धातुसम्बन्ध होने पर सामान्यकाल में धातु से विकल्प करके लुङ् लङ् और लिट् प्रत्यय हों। लुङ्—शकलाङ्ष्टकोऽकरत्, अहं तेभ्योऽकरन्नमः । लङ्—अग्निमद्यहोतारमवृणी यजमानः । लिट्—अद्य ममार, अद्य म्रियते [इत्यर्थ] ।

॥ इति लकारार्थप्रक्रिया समाप्ता ॥

"परिनिविभ्यः सेवासित०" इस आगामी (८२०) सूत्र के सित् शब्द से पहिले पहिले अट् के व्यवधान में भी मूर्धन्य आदेश होता है। अपि शब्द के पढ़ने से अड्व्यवाय से अन्यत्र निषेध नहीं होता।

८१४—स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ॥

८। ३। ६४॥

"उपसर्गात् सुनो०" इस अगले (८१५) सूत्र में "परिनि-विभ्यः से०" आगामी (८२०) सूत्र [के सित् धातु] से पहिले पहिले इण् कवर्ग से परे अभ्यास के व्यवधान में और अभ्यास के सकार को मूर्धन्यादेश होता है।

८१५—उपसर्गात्सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौति-स्तोभतिस्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् ॥

८। ३। ६५॥

उपसर्गस्थ निमित्त इण् से परे सुनोति, सुवति, स्यति, स्तौति, स्तोभति, स्था, सेनय, सेध, सिच, सञ्ज और स्वञ्ज इन के सकार को मूर्धन्यादेश हो। सुनोति-अभिषुणोति, परिषुणोति, अभ्यषुणोत्, पर्यषुणोत्। सुवति-अभिषुवति, परिषुवति, अभ्यषुवत्, पर्यषुवत्। स्यति—अभिष्यति, परिष्यति, अभ्यष्यत्, पर्यष्यत्। स्तौति—अभिष्टौति, परिष्टौति, अभ्यष्टौत्, पर्यष्टौत्। स्तोभति—अभिष्टोभते, परिष्टोभते, अभ्यष्टोभत, पर्यष्टोभत। स्था—अभिष्ठास्यति, परिष्ठास्यति, अभ्यष्ठात्, पर्यष्ठात्। स्थादिकों में अभ्यास के व्यवधान में और अभ्यास के सकार को भी मूर्धन्य कह चुके हैं। अभितष्ठौ, अभितष्ठतुः, परितष्ठौ। यहां अभ्यास में सकार नहीं। सेनय—सेनया अभियाति अभिषेणयति, अभ्यषेणयत्, पर्यषेणयत्, अभिषेणयितुमिच्छति

अभिषिषेणयिषति, परिषिषेणयिषति । यहां अभ्यास के व्यवधान में और अभ्यास के सकार को भी मूर्धन्य होता है। सेध—अभिषेधति, परिषेधति, अभ्यषेधत्, अभिषिषेध। सिच—अभिषिञ्चति, परिषिञ्चति, पर्यषिञ्चत्, अभिषिषिक्षति । सञ्ज—अभिषजति, अभ्यषजत्, अभिषिषङ्क्षति। स्वञ्ज—अभिष्वजते, अभ्यष्वजत, पर्यष्वजत, परिषिष्वङ्क्षते । सिध धातु का गुण किया निर्देश है, इससे दिवादि के सिध धातु को षत्व नहीं होता—परिसिध्यति पर्यसिध्यत्। उपसर्ग ग्रहण इसलिये है कि—"दधि सिञ्चति" यहां षत्व न हो। निर्गतः सेचका अस्माद्ग्रामात्—निःसेचको ग्रामः। यहां निर् उपसर्ग का सम्बन्ध गमन क्रिया के साथ है सेचक शब्द के साथ नहीं।

८१६—सदिरप्रतेः ॥ ८ । ३ । ६६ ॥

प्रति भिन्न उपसर्गस्थ निमित्त से परे सद् धातु के सकार को मूर्धन्यादेश हो। निषीदति, विषीदति, न्यषीदत्, व्यषीदत्, निषसाद विषसाद। प्रति का निषेध होने से "प्रतिसीदति" यहां षत्व न हुआ।

८१७—स्तन्भेः ॥ ८ । ३ । ६७ ॥

उपसर्गस्थ इण् से परे स्तन्भ धातु के सकार को मूर्धन्यादेश होवे। अभिष्टभ्नाति, परिष्टभ्नाति, अभ्यष्टभ्नात्, अभितष्टम्भ, परितष्टम्भ। यहां प्रति के निषेध की अनुवृत्ति [नहीं] आती है। प्रतिष्टभ्नाति, प्रत्यष्टभ्नात्, प्रतितष्टम्भ। यहां स्तम्भ धातु को ही सूत्रकार ने नकारोपध पढ़ा है।

८१८—अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः ॥८।३।६८॥

आश्रय और युद्ध समीप होने अर्थ में अव उपसर्ग से परे स्तम्भ धातु के सकार को मूर्धन्यादेश हो। आलम्बन—अवष्टभ्यास्ते, अवष्टभ्य तिष्ठति। सामीप्य—अवष्टब्धा सेना, अवष्टब्धा शरत्।

आलम्बन और अविदूर्य अर्थ से अन्यत्र—"अवस्तब्धो वृषलः शीतेन" यहां षत्व नहीं होता। अव उपसर्ग इणन्त नहीं है इसीलिए यह सूत्र पढ़ा है, नहीं तो पूर्व सूत्र से षत्व हो ही जाता।

८१६—वेश्च स्वनो भोजने ॥ ८ । ३ । ६६ ॥

वि और अव उपसर्ग से परे भोजन अर्थ में स्वन धातु के सकार को मूर्धन्य हो। विष्वणति, व्यष्वणत्, विषष्वाण, अवष्वणति, अवाष्वणत्, अवषष्वाण। भोजन अर्थ से अन्यत्र—विस्वनति मृदङ्गः, अवस्वनति वीणा, यहां शब्द अर्थ में षत्व नहीं होता।

८२०—परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम् ॥ ८ । ३ । ७० ॥

परि, नि, वि उपसर्गों से परे सेव, सित, सय, सिवु, सह, सुट्, और स्वञ्ज के सकार को मूर्धन्यादेश होवे। [सेव—] परिषेवते निषेवते, विषेवते, पर्यषेवत, व्यषेवत, न्यषेवत, परिषिषेविषते, विषिषेविषते। सित—परिषितः, विषितः, निषितः। सय—परिषयः [विषयः] निषयः। सिवु—परिषीव्यति, विषीव्यति, निषीव्यति, पर्यषीव्यत्, [पर्यसीव्यत्,] व्यषीव्यत्, व्यसीव्यत्, न्यषीव्यत्, न्यसीव्यत्। यहां सिव आदि में अट् के व्यवधान में अगले सूत्र से षत्व विकल्प है। सह—परिषहते, निषहते, विषहते, पर्यषहत, न्यषहत, व्यषहत, पर्यसहत, न्यसहत, व्यसहत। सुट्—परिष्करोति, [पर्यष्करोत्] पर्यस्करोत्, स्तु—परिष्टौति, निष्टौति, विष्टौति, पर्यष्टौत्, पर्यस्तौत्। स्वञ्ज—परिष्वजते, विष्वजते, पर्यष्वजत पर्यस्वजत। स्तु और स्वञ्ज धातु पूर्व "उपसर्गात्सुनोति" (८१६) सूत्र में भी पढ़े हैं उससे षत्व हो जाता है। फिर यहां पढ़ने का यही प्रयोजन है कि अगले सूत्र से अट् के व्यवधान में विकल्प से षत्व होवे।

८२१—सिवादीनां वाऽड् व्यवायेऽपि ॥८।३।७१॥

अट् के व्यवधान में भी परि, नि, वि इन उपसर्गों से परे पूर्व सूत्रोक्त सिवादिकों के सकार को विकल्प से मूर्धन्य आदेश हो। इस सूत्र के उदाहरण पिछले सूत्र में दे चुके हैं। पर्यषहत, पर्यसहत इत्यादि।

८२२—अनुविपर्यभिनिभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु ॥ ८।३।७२॥

अप्राणी अभिधेय हो तो अनु, वि, परि अभि, नि इन उपसर्गों से परे स्यन्द धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश हो। अनुष्यन्दते, विष्यन्दते, परिष्यन्दते, अभिष्यन्दते, निष्यन्दते, तैलम् अनुस्यन्दते, विस्यन्दते, परिस्यन्दते, अभिस्यन्दते, निस्यन्दते। अप्राणिग्रहण से यहां न हुआ—अनुस्यन्दते मत्स्य उदके, अनुस्यन्दते हस्ती। "अप्राणिषु" यह पर्युदास प्रतिषेध है इससे जहां प्राणि अप्राणि दोनों का विषय है वहां भी मूर्धन्यादेश हो जाता है यहां ऐसा भाष्यकार का इङ्गित मालूम होता है। अनुष्यन्दते मत्स्योदके।

८२३—वेः स्कन्देरनिष्ठायाम् ॥ ८।३।७३॥

निष्ठा प्रत्यय परे न हो तो वि उपसर्ग से परे स्कन्द धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश विकल्प करके हो। विष्कन्ता, विस्कन्ता, विष्कन्तुम्, विस्कन्तुम्, विष्कन्तव्यम्, विस्कन्तव्यम्। अनिष्ठाग्रहण से यहां न हुआ—विस्कन्नः।

८२४—परेश्च ॥ ८।३।७४॥

परि उपसर्ग से परे स्कन्द धातु के सकार को मूर्धन्यादेश विकल्प करके हो। परिष्कन्ता, परिष्कन्तुम्, परिष्कन्तव्यम्, परिस्कन्ता, परि-

अग्नि शब्द से परे स्तुत्, स्तोम, सोम इनके सकार को मूर्धन्य आदेश हो समास में। अग्निष्टुत्, अग्निष्टोम, अग्नीषोमौ। दीर्घ अग्नि शब्द से परे मूर्धन्यादेश इष्ट है। इससे यहां न हुआ—अग्नि-सोमौ माणवकौ। समासग्रहण से यहां न हुआ—अग्निं सोम पश्य।

८३१—ज्योतिरायुषः स्तोमः ॥ ८।३।८३ ॥

समास में ज्योतिष् और आयुस शब्द से परे स्तोम शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश हो। ज्योतिष्टोम, आयुष्टोमः। समास-ग्रहण से यहां न हुआ—ज्योति स्तोम दर्शयति।

८३२—मातृपितृभ्यां स्वसा ॥ ८। ३। ८४ ॥

समास में मातृ और पितृ से परे स्वसृ शब्द के सकार को मूर्धन्यादेश हो। मातृष्वसा, पितृष्वसा।

८३३—मातुः पितुर्भ्यामन्यतरस्याम् ॥८।३।८५॥

समास में मातुर् और पितुर् से परे स्वसृ शब्द के सकार को मूर्धन्यादेश विकल्प करके हो। मातु ष्वसा, मातु स्वसा, पितु ष्वसा, पितु स्वसा। समासग्रहण से वाक्य म न हुआ—मातु स्वसा।

८३४—अभिनिसः स्तनः शब्दसंज्ञायाम् ॥

८।३।८६ ॥

शब्दसंज्ञा गम्यमान हो तो अभि निस से परे स्तन धातु के सकार का विकल्प करके मूर्धन्यादेश हो। अभिनिष्टानो वर्णः, अभिनिष्टानो विसर्जनीय, अभिनिस्तानो वर्णः, अभिनिस्तानो विसर्जनीय। शब्दसंज्ञा से अन्यत्र—अभिनिस्तनति मृदङ्ग.।

८३५—उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः ॥८।३।८७॥

उपसर्गस्थ निमित्त और प्रादुस् शब्द से परे यकार और अच्

स्कन्तुम्, परिस्कन्तव्यम् । यह सूत्र जो पिछले सूत्र से अलग किया है इससे जानना चाहिये कि पिछले सूत्र से यहां "अनिष्ठायाम्" इस पद की अनुवृत्ति नहीं आती है।

८२५—परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु ॥ ८ । ३ । ७५ ॥

प्राच्यभरत अभिधेय हो तो "परिस्कन्द" यहां मूर्धन्यादेश का अभाव निपातन है । परिस्कन्द । प्राच्यभरतों से अन्यत्र— "परिष्कन्द" यह होता है।

८२६—स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः ॥८।३।७६॥

निस्, नि, वि इनके उत्तर स्फुरति और स्फुलति के सकार को मूर्धन्यादेश विकल्प करके हो। स्फुरति—निष्ष्फुरति, निस्स्फुरति, निष्फुरति निस्फुरति, विष्फुरति विस्फुरति। स्फुलति—निष्ष्फुलति, निस्स्फुलति, निष्फुलति, निस्फुलति, विष्फुलति विस्फुलति ।

८२७—वेः स्कभ्नातेर्नित्यम् ॥ ८ । ३ । ७७ ॥

वि से परे स्कभ्नाति के सकार को नित्य मूर्धन्यादेश हो । विष्कभ्नाति, विष्कम्भिता विष्कम्भितुम्, विष्कम्भितव्यम् ।

८२८—समासेऽङ्गुलेः सङ्गः ॥ ८ । ३ । ८० ॥

समास में अङ्गुलि शब्द से परे सङ्ग शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश हो। अङ्गुले सङ्ग = अङ्गुलिषङ्ग समासग्रहण से यहां न हुआ—अङ्गुले सङ्ग पश्य।

८२९—भीरोः स्थानम् ॥ ८ । ३ । ८१ ॥

समास में भीरु शब्द से उत्तर स्थान शब्द के सकार को मूर्धन्यादेश हो । भीरुष्ठानम् । समासग्रहण से यहां न हुआ— भीरो स्थान पश्य ।

८३०—अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः ॥८।३।८२॥

अग्नि शब्द से परे स्तुत्, स्तोम, सोम इनके सकार को मूर्धन्य आदेश हो समास में। अग्निष्टुत्, अग्निष्टोम, अग्नीषोमौ। दीर्घ अग्नि शब्द से परे मूर्धन्यादेश इष्ट है। इससे यहां न हुआ—अग्नि-सोमौ माणवकौ। समासग्रहण से यहां न हुआ—अग्नि सोम पश्य।

८३१—ज्योतिरायुषः स्तोमः ॥ ८।३।८३ ॥

समास में ज्योतिस् और आयुस् शब्द से परे स्तोम शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश हो। ज्योतिष्टोमः, आयुष्टोमः। समास-ग्रहण से यहां न हुआ—ज्योतिः स्तोमं दर्शयति।

८३२—मातृपितृभ्यां स्वसा ॥ ८। ३। ८४ ॥

समास में मातृ और पितृ से परे स्वसृ शब्द के सकार को मूर्धन्यादेश हो। मातृष्वसा, पितृष्वसा।

८३३—मातुः पितुर्भ्यामन्यतरस्याम् ॥८।३।८५॥

समास में मातुर् और पितुर् से परे स्वसृ शब्द के सकार को मूर्धन्यादेश विकल्प करके हो। मातुःष्वसा, मातुःस्वसा, पितुःष्वसा, पितुःस्वसा। समासग्रहण से वाक्य में न हुआ—मातुः स्वसा।

८३४—अभिनिसः स्तनः शब्दसंज्ञायाम् ॥ ८। ३। ८६ ॥

शब्दसंज्ञा गम्यमान हो तो अभि निस से परे स्तन धातु के सकार को विकल्प करके मूर्धन्यादेश हो। अभिनिष्टानो वर्णः, अभिनिष्टानो विसर्जनीयः, अभिनिस्तानो वर्णः, अभिनिस्तानो विसर्जनीयः। शब्दसंज्ञा से अन्यत्र—अभिनिस्तनति मृदङ्गः।

८३५—उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः ॥८।३।८७॥

उपसर्गस्थ निमित्त और प्रादुस् शब्द से परे यकार और अच्

जिससे परे हो उस अस् धातु के सकार को मूर्धन्यादेश हो। अभिषन्ति, निषन्ति, विषन्ति, प्रादुःषन्ति, अभिष्यात्, निष्यात्, विष्यात्, प्रादुःष्यात्। उपसर्गग्रहण से यहां न हुआ—दधि स्यात्, मधु स्यात्। अस्ति ग्रहण से यहां न हुआ—अनुसूतम्। यच्परग्रहण से यहां न हुआ—निस्त, विस्त, प्रादुःस्त।

८३६—सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः॥ ८।३।८८॥

सु, वि, निर् और दुर् से परे सुपि, सूति और सम के सकार को मूर्धन्यादेश हो। "सुपि" यह सम्प्रसारण किये हुए स्वप् धातु का ग्रहण है। सुषुप्ति, सुषुप्त, विषुप्त, निःषुप्त, दुःषुप्त। सूति—सुषूति, विषूति, निःषूति, दुःषूति। सम—सुषमम, विषमम, निःषमम, दुःषमम्।

८३७—निनदीभ्यां स्नातेः कौशले ॥८।३।८९॥

कुशलता गम्यमान हो तो नि और नदी से परे स्नाति के सकार को मूर्धन्यादेश हो। निष्णात शिल्पशास्त्रे, नद्यां स्नातीति नदीष्णः *। कौशलग्रहण से यहां न हुआ—निस्नात, नद्यां स्नातो नदीस्नातः।

८३८—सूत्रं प्रतिष्णातम् ॥ ८। ३। ९०॥

सूत्र वाच्य हो तो प्रतिष्णात यह निपातन है। प्रतिष्णातं सूत्रम्। सूत्र शुद्ध है। यहां प्रति से स्ना धातु के सकार को मूर्धन्यादेश हुआ। सूत्र से अन्यत्र—"प्रतिस्नातम्" होगा।

८३९—कपिष्ठलो गोत्रे ॥ ८। ३। ९१॥

गोत्रविषयक कपिष्ठल शब्द के सकार को मूर्धन्यादेश निपातन

* "सुपिस्थः" (अ० १००४) इस सूत्र में योग विभाग किया है उससे "नदीष्णः" यहां क प्रत्यय होता है।

है। कपिष्ठल जिस का नाम है उसका कापिष्ठलि पुत्र है। अन्यत्र—कपेः स्थलं कपिस्थलम्।

८४०—प्रष्ठोऽग्रगामिनि ॥ ८। ३। ९२ ॥

अग्रगामी अभिधेय हो तो 'प्रष्ठ' यह निपातन है। प्रतिष्ठत इति प्रष्ठः। आगे चलता है। यहां प्र से परे स्था धातु के सकार को मूर्धन्यादेश निपातन किया है। अग्रगामीग्रहण से यहां न हुआ—प्रीहाना प्रस्थः।

८४१—वृक्षासनयोर्विष्टरः ॥ ८। ३। ९३ ॥

वृक्ष और आसन वाच्य हो तो वि उपसर्ग से परे स्तृणाति धातु के सकार को मूर्धन्यादेश निपातन है। विष्टरो वृक्षः, विष्टरम् आसनम्। वृक्षासनग्रहण से यहां न हुआ—वाक्यस्य विस्तरः।

८४२—छन्दोनाम्नि च ॥ ८। ३। ९४ ॥

छन्दोनामविषय में वि पूर्वक स्तृञ् धातु के सकार को मूर्धन्यादेश निपातन है। विष्टारपङ्क्तिः, विष्टारबृहती। छन्दोनामग्रहण से यहां न हुआ—पटस्य विस्तारः।

८४३—गवियुधिभ्यां स्थिरः ॥ ८। ३। ९५ ॥

गवि और युधि शब्द से परे स्थिर शब्द के सकार को मूर्धन्यादेश हो। गविष्ठिरः, युधिष्ठिरः। इस सूत्र में जो गवि, सप्तम्यन्त गो शब्द से मूर्धन्यादेश का विधान है इस ज्ञापन से समास में गो शब्द से सप्तमी का अलुक् होता है।

८४४–विकुशमिपरिभ्यः स्थलम् ॥ ८। ३। ९६ ॥

वि, कु, शमि, परि इन से परे स्थल शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश हो। विष्ठलम, कुष्ठलम, शमिष्ठलम, परिष्ठलम्। अन्यत्र—कुशस्थली, मरुस्थली,

८४५—अम्बाम्बगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्क्वङ्गुमञ्जिपुञ्जिपरमेबर्हिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः ॥ ८। ३। ९७॥

अम्ब, आम्ब, गो, भूमि, सव्य, अप, द्वि, त्रि, कु, शेकु, शङ्कु अङ्गु, मञ्जि, पुञ्जि, परमे, बर्हिस्, दिवि, और अग्नि इनसे परे स्थ शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश हो। अम्बष्ठः, आम्बष्ठः, गोष्ठः, भूमिष्ठः, सव्येष्ठः, अपष्ठः, द्विष्ठ, त्रिष्ठः, कुष्ठः, शेकुष्ठः, शङ्कुष्ठः, अङ्गुष्ठः, मञ्जिष्ठः, पुञ्जिष्ठः, परमेष्ठः, बर्हिष्ठः, दिविष्ठः, अग्निष्ठः।

८४६—वा-स्थास्थिनस्थॄणामिति वक्तव्यम्॥८।३।९७॥

सव्येष्ठा। परमेष्ठी। सव्यष्ठा।

८४७—सुषामादिषु च ॥ ८। ३। ९८॥

सुषामादिक शब्दों मे सकार को मूर्धन्यादेश होता है। शोभन साम यस्यासौ सुषामा ब्राह्मणः, निष्षामा, दुष्षेधः इत्यादि।

८४८—एति संज्ञायामगात् ॥ ८। ३। ९९॥

संज्ञाविषय में एकार परे हो तो इण् और गरहित कवर्ग से परे सकार को मूर्धन्य आदेश हो। हरिषेणः वारिषेणः, जानुषेणी। एकार से अन्यत्र—हरिसक्थम्। संज्ञा से अन्यत्र—पृथ्वी सेना यस्य स पृथुसेनो राजा। अगात् के ग्रहण से यहाँ न हुआ—विश्वक्सेनः। इण्, कु से अन्यत्र—सर्वसेनः।

८४९—नक्षत्राद्वा ॥ ८। ३। १००॥

१. यह सुषामादि का गणसूत्र है। अष्टाध्यायी का सूत्र नहीं है।

संज्ञा विषय में एकार परे हो तो इण् और ककार भिन्न कवर्ग वान् नक्षत्र वाची शब्द से परे सकार को मूर्धन्य आदेश विकल्प करके हो। रोहिणिषेणः, रोहिणिसेनः, भरणिषेणः, भरणिसेनः। गकार के निषेध से यहां न हुआ—शतभिषक्सेनः।

८४०—ह्रस्वात्तादौ तद्धिते ॥ ८। ३। १०१ ॥

तकारादि तद्धित परे हो तो ह्रस्व से परे सकार को मूर्धन्य आदेश हो। तकारादि तद्धित—तर, तम, तय, त्व, तल, तस, त्यप्। तर—सर्पिष्टरम्, यजुष्टरम्। तम—सर्पिष्टमम्, यजुष्टमम्। तय—चतुष्टयम्, चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः। त्व—सर्पिष्ट्वम्, यजुष्ट्वम्। तल्—सर्पिष्टा, यजुष्टा। तस्—सर्पिष्टः। त्यप्—आविष्ट्यः। ह्रस्व-ग्रहण से यहां न हुआ—भूस्तराम्, गीस्तरा। तादिग्रहण से यहां न हुआ—सर्पिस्साद्भवति। तद्धित से अन्यत्र—सर्पिस्तरति।

८४१—निसस्तपतावनासेवने ॥८।३।१०२॥

तप धातु परे हो तो अनासेवन अर्थ में निस् के सकार को मूर्धन्य आदेश हो। आसेवन—बार बार करना अर्थ न हो वह अनासेवन कहाता है। निष्टपति सुवर्णम्। अग्नि से सुवर्ण को एक बार तपाता है। अनासेवन ग्रहण से यहां न हुआ—निस्तपति पापं विष्णुनिष्टः।

८४२—युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तः पादम् ॥८।३।१०३॥

तकारादि युष्मत् तत् और ततक्षुस् परे हो तो सकार को मूर्धन्यादेश हो जो वह सकार पाद के मध्य में हो तो। तकारादि युष्मत्—त्वं, त्वा, ते, तव। त्वं—अग्निष्ट्वं नामासीत्। त्वा—अग्निष्ट्वा वर्धयामसि। ते—अग्निष्टे विश्वमानय। तव—अप्स्वग्ने

सधिष्टव । तत्—अग्निष्टद्विश्वमापृणाति । ततक्षुस्—द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः । अन्तःपादग्रहण से यहां न हुआ—नित्यमात्मनोविदाभूद्ग्निस्तत् पुनराह जातवेदो विचर्षणि ।

८५३—युजुष्येकेषाम् ॥ ८ । ३ । १०४ ॥

यजुर्वेद के विषय में तकारादि युष्मद्, तत् और ततक्षुस् परे हों तो *किन्हीं आचार्यों के मत से सकार को मूर्धन्यादेश हो ।* अर्चिभिष्ट्वम्, अर्चिभिस्त्वम्, अग्निष्टेयम्, अग्निस्तेयम्, अग्निष्टत्, अग्निस्तत्, अर्चिभिष्टतक्षुः, अर्चिभिस्ततक्षु ।

८५४—स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि ॥८।३।१०५॥

किन्हीं आचार्यों के मत से वेदविषय में इण् कवर्ग से परे स्तुत और स्तोम शब्द के सकार को मूर्धन्यादेश हो । त्रिभिष्टुतस्य, [त्रिभिस्तुतस्य] गोष्टोमं, षोडशिनम्, गोस्तोमं षोडशिनम् ।

८५५—पूर्वपदात् ॥ ८ । ३ । १०६ ॥

किन्हीं आचार्यों के मत से पूर्वपदस्थ निमित्त से परे वेदविषय में सकार को मूर्धन्यादेश हो । द्विषन्धिः, त्रिषन्धिः, द्विसन्धिः, त्रिसन्धिः, मधुष्ठानम्, मधुस्थानम्, द्विषाहस्रं चिन्वीत, द्विसाहस्रं चिन्वीत । इस सूत्र में पूर्वपदमात्र का ग्रहण किया है इससे असमास में भी पूर्वपद से परे सकार को मूर्धन्यादेश होता है । त्रिः षमृद्धत्वाय, त्रिः समृद्धत्वाय ।

८५६—सुञः ॥ ८ । ३ । १०७ ॥

वेदविषय में पूर्वपदस्थ निमित्त से परे सुञ् निपात के सकार को मूर्धन्यादेश हो । अभी षु णः सखीनाम्, ऊर्ध्व ऊ षु णः ।

८५७—सनोतेरनः ॥ ८ । ३ । १०८ ॥

इण् कवर्ग से परे नकारान्तभिन्न सन् धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश हो। गोषाः, नृषाः। नकार के निषेध से यहां न हुआ। गोपनिं वाचमुदीरयन्।

८५८—सहेः पृतनर्ताभ्यां च ॥ ८। ३। १०९ ॥

पृतना और ऋत से परे सह धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश हो। पृतनाषाहम्, ऋताषाहम्। अन्यत्र—त्रिसाट्। चकार अनुक्त समुच्चय के लिए है इससे 'ऋताषहम्' यहां भी मूर्धन्य होता है।

८५९—न रपरसृपिसृजिस्पृशिस्पृहिसवनादीनाम् ॥ ८। ३। ११० ॥

जिससे रेफ परे हो उस सकार को तथा सृपि, सृजि, स्पृशि, स्पृहि और सवनादिकों के सकार को मूर्धन्य आदेश न हो। [रपर] विस्रसिकायाः काण्ड जुहोति, विस्रब्धः कथयति। सृपि—पुरा क्रूरस्य विसृपः। सृजि—वाचो विसर्जनात्। स्पृशि—दिविस्पृशम्। स्पृहि—निस्पृहं कथयति। सवनादि—सवने सवने, सूते सूते, इत्यादि। इस सवनादि गण में जो "अश्वसनि" शब्द का ग्रहण किया है इस ज्ञापन से अनिणन्त से भी परे सकार को मूर्धन्यादेश होता है। जैसे—जलाषाहम्, अश्वषाः।

८६०—सात्पदाद्योः ॥ ८। ३। १११ ॥

सात् और पदादि सकार को मूर्धन्य आदेश न हो। सात्—अग्निसात्, दधिसात्, मधुसात्, पदादि—दधि सिञ्चति, मधु सिञ्चति।

८६१—सिचो यङि ॥ ८। ३। ११२ ॥

यङ् परे हो तो सिच् के सकार को मूर्धन्यादेश न हो। सेसिच्यते, अभिसेसिच्यते। यङ्ग्रहण से यहां न हुआ-अभिषिषिक्षति।

८६२—सेधतेर्गतौ ॥ ८ । ३ । ११३ ॥

गति अर्थ में वर्तमान सेधति के सकार को मूर्धन्यादेश न हो। अभिसेधयति गाः, परिसेधयति गाः। गतिग्रहण से यहां निषेध न हुआ—*प्रतिषेधयति गाः।*

८६३—प्रतिस्तब्धनिस्तब्धौ च ॥ ८ । ३ । ११४ ॥

प्रतिस्तब्ध और निस्तब्ध ये मूर्धन्यादेश प्रतिषेध के लिये निपातन हैं। प्रतिस्तब्धः, निस्तब्धः।

८६४—सोढः ॥ ८ । ३ । ११५ ॥

सोढ के सकार को मूर्धन्य आदेश न हो। 'सोढ्' यह सह धातु का होता है। परिसोढः, परिसोढुम्, परिसोढव्यम्। सोढग्रहण से यहां न हुआ—परिषहते।

८६५—स्तम्भुसिवुसहां चङि ॥ ८ । ३ । ११६ ॥

चङ् परे हो तो स्तम्भु, सिवु और सह के सकार को मूर्धन्यादेश न हो। स्तम्भुसिवुसहां चङ्युपसर्गात्। महाभाष्ये। ८।३।११६। स्तम्भु, सिवु, सह इनको उपसर्ग से जो प्राप्ति है उसका निषेध हो, *किंतु अभ्यास से जो प्राप्ति उसका निषेध न हो।* स्तम्भु—पर्यतस्तम्भत्, अभ्यतस्तम्भत्। सिवु—पर्यसीषिवत्, न्यसीषिवत्। सह—पर्यसीषहत्, न्यसीषहत्।

८६६—सुनोतेः स्यसनोः ॥ ८ । ३ । ११७ ॥

सुनोति के सकार को मूर्धन्यादेश न हो स्य और सन् परे हों तो। अभिसोष्यति, परिसोष्यति, अभ्यसोष्यत्, पर्यसोष्यत्। स्य सन् ग्रहण से यहां न हुआ—सुषाव।

८६७—सदेः*परस्य लिटि ॥ ८ । ३ । ११८ ॥

लिट् परे हो तो अभ्यास से परे सद् के सकार को मूर्धन्य आदेश न हो । अभिषसाद, परिषसाद, निषसाद, विषसाद ।

८६८—वा०—सदौ लिटि प्रतिषेधे स्वञ्जेरुपसङ्ख्यानम् ॥

लिट् परे हो तो सद् धातु के प्रतिषेध में स्वञ्ज के पर सकार को भी मूर्धन्यादेश का प्रतिषेध कहना चाहिये । परिषस्वजे, परिषस्वजाते ।

८६९—निव्यभिभ्योऽड्व्यवाये वा छन्दसि ॥ ८ । ३ । ११९ ॥

वेदविषय में नि, वि, अभि इन उपसर्गों से पर अट् का व्यवधान हो वा न हो तो सकार को मूर्धन्य आदेश विकल्प करके हो । न्यषीदत् पिता नः, व्यषीदत्, व्यसीदत्, अभ्यष्टौत्, अभ्यस्तौत् ।

इति षत्वप्रक्रिया समाप्ता ॥

अथ णत्वप्रक्रिया ॥

८७०—रषाभ्यां नो णः समानपदे ॥ ८ । ४ । १ ॥

रेफ और षकार से पर नकार को णकारादेश हो यदि निमित्त और निमित्ती एक पदस्थ हों तो । अवगीर्णेन, अवगूर्णेन, कुष्णाति, पुष्णाति, मुष्णाति । समानपद ग्रहण से यहां न हुआ—अग्निर्नयति,

---

* (सदेः) इस सूत्र में काशिकाकार ने स्वञ्ज धातु का भी मिलाकर मूल सूत्र का अन्यथा पाठ "सदिस्वञ्जोः परस्य लिटि" करके व्याख्यान किया है, यह उनका व्याख्यान अनादरणीय है, क्योंकि स्वञ्ज धातु के लिये तो महाभाष्य में वार्तिक हो पढ़ा है ।

वायुर्नयति। इस सूत्र में पकारग्रहण अगले सूत्रों के लिये है, क्योंकि पकार से परे नकार को णत्वादेश ष्टुत्व से भी हो जाता है। रषाभ्यां णत्व ऋकारग्रहणम्। महाभाष्यम् ८।४।१। र और ष से परे णत्वादेश विधान में ऋकार का भी ग्रहण करना चाहिये। मातॄणाम् पितॄणाम् अथवा क्षुभ्नादिगण में जो नृनमन और तृप्नु शब्द का पाठ है उस [क] ज्ञापन से भी ऋकार से परे नकार को णत्वादेश होता है।

८७१—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ॥८।४।२॥

अट्, कु, पु, आङ्, नुम् इन से व्यवधान में भी रेफ षकार से परे नकार को णकारादेश होता है। अट्—करुणा, गुरुणा, किरिणा, गिरिणा। कवर्ग—अर्केण, मूर्खेण। पवर्ग—दर्पेण, रेफेण, गर्भेण, कर्मणा, चर्मणा, वर्मणा। आङ्—पर्याणद्धम्। अट्ग्रहण से भी आङ् व्यवाय में सिद्ध था, फिर आङ् ग्रहण "पदव्यवायेऽपि" इस प्रतिषेध के बाधन के लिये है। नुम्—बृंहणम्, बृंहणीयम्। यहाँ नुम्ग्रहण अनुस्वार का उपलक्षणमात्र है। इससे उक्त 'बृहणम्, बृहणीयम्' उदाहरणों में नुम् के अभाव में भी अनुस्वार के व्यवधान से णत्वादेश होता है। नुम् के होते भी जहाँ अनुस्वार नहीं होता वहाँ नहीं होता है। प्रेन्वनम्, प्रेन्वनीयम्।

८७२—पूर्वपदात् संज्ञायामगः ॥ ८।४।३॥

संज्ञा विषय में पूर्वपदस्थ निमित्त से परे नकार को णकारादेश हो यदि पूर्वपद में गकार न हो तो। द्रुणसः, खरणसः, शूर्पणखा। संज्ञा से अन्यत्र—चर्मनासिकः। अगग्रहण से यहाँ न हुआ—ऋगयनम्।

८७३—वनं पुरगामिश्रकासिध्रकाशारिकाकोटराग्रेभ्यः ॥८।४।४॥

1. भा० ९११।

संज्ञाविषय में पुरगा, मिश्रका, सिध्रका, शारिका, कोटरा, अग्रे इन्हीं पूर्वपदों से परे वन शब्द के नकार को णकारादेश हो, औरों से न हो। पुरगावणम्, मिश्रकावणम्, सिध्रकावणम्, शारिकावणम्, कोटरावणम्, अग्रेवणम्। औरों से न हो, जैसे—कुबेरवनम्, शतधारवनम्, असिपत्रवनम्।

८७४—प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्यो संज्ञायामपि ॥ ८ । ४ । ५ ॥

संज्ञा वा असंज्ञा विषय में प्र, निर्, अन्तर्, शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खदिर, पीयूक्षा इनसे परे वन शब्द के नकार को णकारादेश हो। प्रवणे यष्टव्यम्, निर्वणे प्रतिधीयते, अन्तर्वणम्, शरवणम्, इक्षुवणम्, प्लक्षवणम्, आम्रवणम्, कार्ष्यवणम्, खदिरवणम्, पीयूक्षावणम्।

८७५—विभाषौषधि*वनस्पतिभ्यः ॥८।४।६॥

निमित्तवान् ओषधि और वनस्पति वाचक जो पूर्वपद उनसे परे वन शब्द के नकार को णकारादेश विकल्प करके हो। ओषधि—दूर्वावणम्, दूर्वावनम्, मूर्वावणम्, मूर्वावनम्। वनस्पति—शिरीषवणम्, शिरीषवनम्, बदरीवणम्, बदरीवनम्। द्व्यक्षरत्र्यक्षरेभ्य इति वक्तव्यम्। महाभाष्य ८।४।६। दो अक्षर और तीन अक्षर वाले ओषधि और वनस्पतियों से हो औरों से न हो। [जैसे] देवदारुवनम्, भद्रदारुवनम्।

---

* उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ १ ॥
अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥ २ ॥
मनुस्मृति अध्याय १ । श्लोक ४७ ॥

८७६—वा०—इरिकादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥ ८ । ४ । ६ ॥

इरिकादिकों से परे नकार के णत्वादेश का प्रतिषेध कहना चाहिये। इरिकावनम्, तिमिरिकावनम्।

८७७—अह्नोऽदन्तात् ॥ ८ । ४ । ७ ॥

निमित्तवान् अदन्त जो पूर्वपद उससे परे अह्न के नकार को णकारादेश हो। पूर्वाह्णः। अपराह्णः। अदन्तग्रहण से यहां न हुआ—निरह्नः। अह्न के ग्रहण से यहां न हुआ—दीर्घाह्नी।

८७८—वाहनमाहितात् ॥ ८ । ४ । ८ ॥

आहितवाची निमित्तवान् पूर्वपद से परे वाहन शब्द के नकार को णकारादेश हो। यहां गाडी आदि में भर के जो वस्तु ले जाई जावे उसका ग्रहण आहित शब्द से है। इक्षुवाहणम्, शरवाहणम्, दर्भवाहणम्। आहित ग्रहण से यहां न हुआ—"दाक्षिवाहनम्, गार्गवाहनम्" यहां गमनक्रिया विवक्षित नहीं है [1]।

८७९—पानं देशे ॥ ८ । ४ । ९ ॥

देश अभिधेय हो तो पूर्वपदस्थ निमित्त से परे पान शब्द के नकार को णकारादेश हो। पीयत इति * पानम्। जो पिया जाय वह पान कहावे। क्षीरं पानं येषान्ते क्षीरपाणाः उशीनराः, सुरापाणाः प्राच्याः, सौवीरपाणा वाह्लिकाः, कषायपाणा गान्धाराः। इन उदा-

---

1 अर्थात् यहां दाक्षि = दक्ष के अपत्यों का गाडी में भर के ले जाना विवक्षित नहीं है। अपितु दाक्षि = दक्षापत्यों की गाडी, यह स्वस्वामिसंबन्ध विवक्षित है।

* यहां "कृत्यल्युटो बहुलम्" अ० इस सूत्र से कर्म में ल्युट् है।

हरणों में मनुष्याभिधान से भी देशाभिधान की प्रतीति होती है। देशग्रहण से यहां न हुआ—दाक्षिपानम्।

८८०—वा०—भावकरणयोः ॥८।४।१०॥

पूर्वपदस्थ निमित्त से परे भाव और करण में जो पान शब्द उसके नकार को णकारादेश हो। भाव—क्षीरपाणम्, क्षीरपानम्, कषायपानम्, कषायपाणम्। करण—क्षीरपाणः, क्षीरपानः कमण्डलुः।

८८१—वा०—वाप्रकरणे गिरिनद्यादीनामुपसंख्यानम् ॥

वाप्रकरण में गिरिनद्यादिकों की गणना करना चाहिये। गिरिनदी, गिरिणदी। चक्रणितम्बा, चक्रनितम्बा।

८८२—प्रातिपदिकान्तनुम् विभक्तिषु च ॥८।४।११॥

पूर्वपदस्थ निमित्त से परे प्रातिपदिकान्त नुम् और विभक्तिस्थ नकार को णकारादेश हो। प्रातिपदिकान्त—माषवापिणौ, माषवापिनौ। नुम्—माषवापाणि, माषवापानि। विभक्ति—माषवापेण, माषवापेन, व्रीहिवापेण, व्रीहिवापेन। पूर्वपद के अधिकार से उत्तरपद का प्रातिपदिकस्थ अन्त्य जो नकार है उसको णत्वादेश विधान है। इससे यहां नहीं होता—गर्गाणां भगिनी गर्गभगिनी, दत्तभगिनी। और जब यह वाक्य हो। गर्गाणां भगः गर्गभगः, गर्गभगोऽस्या अस्तीति, गर्गभगिणी। तब (८८३) अगले सूत्र से नित्य णत्वादेश होता है। माषवापिणौ, माषवापिनौ। यहां भी णकार विकल्प से होता है क्योंकि "गतिकारकोपपदानां कृद्भिस्सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः"[1] इस परिभाषा से कृदन्त के साथ ही में समास होने से कृत्संज्ञक प्रत्यय का नकार प्रातिपदिकान्त ही माना जाता है। इसी हेतु से सूत्र में नुम् का ग्रहण अलग किया है क्योंकि नुम् समुदाय का अङ्ग है अन्त पर प्रातिपदिकान्त नहीं होता है।

१. परि० ६६।

८८३—वा०—युवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

प्रातिपदिकान्तादि नकार को णत्वविधान में युवादिकों का प्रतिषेध कहना चाहिये। आर्य्ययूना, क्षत्रिययूना,प्रपक्वानि,परिपक्वानि, दीर्घाह्नी शरत्।

८८४—एकाजुत्तरपदे णः ॥ ८ । ४ । १२ ॥

जिस मे एकाच् उत्तरपद है उस समास में पूर्वपदस्थ निमित्त से परे प्रातिपदिकान्त नुम् और विभक्ति के नकार को णकारादेश हो। [प्रातिपदिकान्त] वृत्रहणौ, वृत्रहणः । नुम्—क्षीरपाणि, सुरापाणि। विभक्ति—क्षीरपेण, सुरापेण। ण अनुवर्त्तमान था फिर णग्रहण पूर्वविकल्प के बाधने के लिये है।

८८५—कुमति च ॥ ८ । ४ । १३ ॥

कवर्गवान् उत्तरपदवाले समास म पूर्वपदनिमित्त से परे प्रातिपदिकान्त नुम् और विभक्तिस्थ नकार को णकारादेश हो। [प्रातिपदिकान्त] वस्त्रयुगिणौ, वस्त्रयुगिणः, स्वर्गकामिणी, वृषगामिणी। नुम्—वस्त्रयुगाणि, खरयुगाणि। विभक्ति—वस्त्रयुगेण, खरयुगेण।

८८६—उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य ॥८।४।१४॥

समास वा असमास में उपसर्गस्थ निमित्त से परे णोपदेश धातु के नकार को णकारादेश हो। प्रणमति, परिणमति, प्रणयनम्, प्रणायकः, परिणायक, उपसर्गग्रहण से यहां न हुआ—प्रगता नायका अस्माद्देशात् प्रनायको देशः। असमासग्रहण समास की निवृत्ति के लिये है, क्योंकि पूर्वपद के अधिकार से समास ही में प्राप्ति थी। णोपदेशग्रहण से यहां न हुआ—परिनर्दति, परिनृत्यति।

८८७—हिनुमीना ॥ ८ । ४ । १५ ॥

उपसर्गस्थ निमित्त से परे हिनु, मीना इनके नकार को णकारादेश हो। प्रहिणोति, प्रहिणुत, प्रमीणाति, प्रमीणीतः।

८८८—आनि लोट् ॥ ८।४।१६ ॥

उपसर्गस्थ निमित्त से परे लोट् लकार के आदेश आनि शब्द के नकार को णकारादेश हो। प्रवपाणि, परिवपाणि, प्रयाणि, परियाणि। लोट् ग्रहण से यहां न हुआ—प्रवपानि मांसानि।

८८९—नेर्गदनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोतिदेग्धिषु च ॥ ८।४।१७ ॥

गद, नद, पत, पद, घुसंज्ञक, (डुदाञ्, दाण्, दो, देङ्, डुधाञ्, धेट्) मा, (माङ्, मेङ्) सो, हन्, या, वा, द्रा, प्सा, डुवप्, वह, शमु, चिञ्, दिह ये धातु परे हों तो उपसर्गस्थ निमित्त से परे नि के नकार को णकारादेश हो। गद—प्रणिगदति, [परिणिगदति]। नद—प्रणिनदति, परिणिनदति। पत—प्रणिपतति, परिणिपतति। पद—प्रणिपद्यते, परिणिपद्यते। घु—प्रणिददाति, प्रणिदाता, प्रणियच्छति, प्रणिद्यति, प्रणिदयते, प्रणिदधाति, प्रणिधयति। मा—प्रणिमिमीते, प्रणिमयते। सो—प्रणिष्यति, परिणिष्यति। हन्—प्रणिहन्ति, या—प्रणियाति। वा—प्रणिवाति। द्रा—प्रणिद्राति। प्सा—प्रणिप्साति। डुवप—प्रणिवपति, परिणिवपति। वह—प्रणिवहति। शमु—प्रणिशाम्यति। चिञ्—प्रणिचिनोति। दिह—प्रणिदेग्धि। यहां (८६८) सूत्र से अड्व्यवाय का अनुवर्त्तन कर अट् के व्यवधान में भी नि के नकार को णकारादेश होता है—प्रण्यगदत्, प्रण्यागदात्।

८९०—शेषे विभाषा कखादावषान्त उपदेशे ॥ ८।४।१८ ॥

उपदेश अवस्था में क, ख जिसके आदि में और प अन्त में न हो ऐसा पूर्वोक्तों से शेष धातु परे हो तो उपसर्गस्थ निमित्त से परे नि के नकार को णकारादेश विकल्प करके हो। प्रणिपचति, प्रनिपचति, प्रणिभिनत्ति, प्रनिभिनत्ति। अकखादिग्रहण से यहां न हुआ—प्रनिकरोति, प्रनिखादति। अपान्तग्रहण से यहां न हुआ—प्रनिपिनष्टि। उपदेशग्रहण का यह फल है कि "प्रनिचखाद, प्रनिचकार, प्रनिपेक्ष्यति" इत्यादिकों में प्रतिषेध हो। तथा विश—'प्रणिवेष्टा, प्रणिवेक्ष्यति' यहां प्रतिषेध न हो।

८६१—अनितेरन्तः ॥ ८ । ४ । १९ ॥

अन्त [अर्थात्] समीपवर्ती जो उपसर्गस्थ रेफ उस से परे अन धातु के नकार का णकारादेश हो। हे प्राण, हे पराण, प्राणिति, पराणिति। यह (९१०) सूत्र का अपवाद है। अन्तग्रहण से यहां न हुआ—पर्यनिति। यहां दो वर्ण का व्यवधान है इससे नकार को णकारादेश नहीं होता, एकवर्ण का व्यवधान तो अन धातु का जो 'अ' अवयव है उसी से प्राप्त है।

८६२—उभौ साभ्यासस्य ॥ ८ । ४ । २० ॥

उपसर्गस्थ निमित्त से परे अभ्यासयुक्त अन धातु के दोनों नकारों को णकार आदेश हो। प्राणिणिषति। प्राणिणत्। पराणिणिषति। पराणिणत्।

८६३—हन्तेरत्पूर्वस्य ॥ ८ । ४ । २१ ॥

उपसर्गस्थ निमित्त से परे हन धातु के अकार पूर्वक नकार को णकारादेश हो। प्रहण्यत, परिहण्यन, प्रहणनम्, परिहणनम्। अत्पूर्वग्रहण से यहां न हुआ—प्रघ्नन्ति, परिघ्नन्ति। तपर करण से यहां न हुआ—प्राघानि, पराघानि। ये णिच् के परे प्रयोग हैं।

८६४—वमोर्वा ॥ ८ । ४ । २२ ॥

व, म परे हों तो उपसर्गस्थ निमित्त से परे हन धातु के नकार को णकारादेश विकल्प करके हो । प्रहण्व,प्रहन्व ,प्रहण्मः,प्रहन्मः।

८६५—अन्तरदेशे ॥ ८ । ४ । २३ ॥

देश न अभिधेय हो तो अन्तर् शब्द से परे हन धातु के अकार-पूर्वक नकार को णकारादेश हो । अन्तर्हणम् । अदेश ग्रहण से यहां न हुआ—अन्तर्हननो देशः । अत्पूर्व ग्रहण से यहां न हुआ—अन्तर्घ्नानि ।

८६६—अयनं च ॥ ८ । ४ । २४ ॥

देश न कहा जाय तो अन्तर् शब्द से परे अयन शब्द के नकार को णकारादेश हो । अन्तरयणम् । अदेशग्रहण से यहां न हुआ—अन्तरयनो देशः ।

८६७—छन्दस्यृदवग्रहात् ॥ ८ । ४ । २५ ॥

वेदविषय में अवग्रह [संज्ञक] ऋकार जिस के अन्त में हो उससे परे नकार को णकारादेश हो । जो विग्रह में उच्चारण करने से निरवकाश गृहीत हो वह अवग्रह कहाता है । नृमणा, पितृयाणम् । नृ, पितृ ये विग्रह में भिन्न २ भी पद हैं, तथापि यहां मकार और या के साथ ही ऋ, का उच्चारण होता है ।

८६८—नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः ॥ ८ । ४ । २६ ॥

वेदविषय में धातुस्थ निमित्त से तथा उरु और षु से परे नस् शब्द के नकार को णकारादेश हो । धातुस्थ—अग्ने रक्षा णः, शिक्षा णो अस्मिन् । उरु—उरु णस्कृधि । षु—अभी षु णः सखीनाम्, ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये ।

८६६—उपसर्गाद्बहुलम् ॥ ८ । ४ । २७ ॥

वेदविषय में उपसर्गस्थ निमित्त से परे नस् के नकार को णकारादेश बहुल करके हो । प्रणसः, प्रणो राजा । बहुलग्रहण से— "प्र नो मुञ्चतम्" यहां नहीं भी होता । भाषा में होता भी है— प्रणसं मुखम् ।

९००—कृत्यचः ॥ ८ । ४ । २८ ॥

उपसर्गस्थ निमित्त से परे अच् जिस के पूर्व उस कृत्स्थ नकार को णकारादेश हो । अन, मान, अनीय, अनि, इनि और निष्ठादेश में जो नकार उनको णकारादेश होता है । अन— प्रयाणम्, परियाणम्, प्रमाणम्, परिमाणम् । मान—प्रयायमाणम्, परियायमाणम् । अनीय—प्रयाणीयम्, परियाणीयम् । अनि—अपरियाणिः । इनि— प्रयायिणी, परियायिणी । निष्ठादेश—प्रहीणः, परिहीणः, प्रहीणवान्, परिहीणवान । अच् के ग्रहण से यहां न हुआ—प्रभुग्नः, परिभुग्नः । भुजो कौटिल्ये से निष्ठा के परे प्रयोग है ।

९०१—वा०—कृत्स्थस्य णत्वे निर्विण्णस्योपसंख्यानं कर्त्तव्यम् ॥

निर्विण्णोऽहमनेन वासेन ।

९०२—णेर्विभाषा ॥ ८ । ४ । २९ ॥

उपसर्गस्थ निमित्त से परे ण्यन्तधातु से विहित कृत्स्थ अच् पूर्वक जो नकार उसको णकारादेश विकल्प करके हो । प्रयापणम्, प्रयापनम्, परियापणम्, परियापनम् । विहितविशेषण से— "प्रयाप्यमाणम्" यहां यक् प्रत्यय के व्यवधान में नकार को णत्वादेश होता है ।

९०३—हलश्चेजुपधात् ॥ ८ । ४ । ३० ॥

उपसर्गस्थ निमित्त से और हलादि इजुपध धातु से परे कृत्स्थ अच्पूर्वक जो नकार उसको णकारादेश विकल्प करके हो। प्रकोपणम्, प्रकोपनम्। हल्ग्रहण से यहां न हुआ—प्रेहणम्। इजुपधग्रहण से यहां न हुआ—प्रवपणम्।

६०४—इजादेः सनुमः ॥ ८। ४। ३१॥

उपसर्गस्थनिमित्त से परे इजादि सनुम् हलन्त धातु उससे विहित जो कृत् प्रत्यय तत्स्थ अच्पूर्वक नकार को णकारादेश हो। प्रेङ्खणम्, प्रेङ्गणम्, प्रोम्भणम्। इस विषय में णकारादेश सिद्ध था फिर णत्वविधान इजादि सनुम् से नियम के लिये है। सनुम् से हो तो इजादि ही सनुम् से हो अन्य से न हो "प्रमङ्गनम्" यहां णत्व नहीं होता।

६०५—वा निंसनिक्षनिन्दाम् ॥ ८। ४। ३२॥

उपसर्गस्थ निमित्त से निंस, निक्ष और निन्द के नकार को णकारादेश विकल्प करके हो। प्रणिंसनम्, प्रनिंसनम्, प्रणिक्षणम्, प्रनिक्षणम्, प्रणिन्दनम्, प्रनिन्दनम्।

६०६—न भाभूपूकमिगमिप्यायिवेपाम् ॥८।४।३३॥

उपसर्गस्थनिमित्त से परे भा, भू, पू, कमि, गमि, प्यायि और वेप धातु के कृत्स्थ नकार को णकारादेश न हो। प्रभानम्, परिभानम्, प्रभवनम्, परिभवनम्, प्रपवनम्, परिपवनम्, प्रकमनम्, परिकमनम्, प्रगमनम्, परिगमनम्, प्रप्यायनम्, परिप्यायनम्, प्रवेपनम्, परिवेपनम्। भादिषु पूञ् ग्रहणम्। महाभाष्ये ८। ४। ३३। भादिकों में पूञ् धातु का ग्रहण करना चाहिये। किन्तु पूङ् से नित्य णत्व होता है। प्रपवणं सोमस्य।

६०७—वा०—ण्यन्तस्य चोपसंख्यानं कर्तव्यम् ॥ ८। ४। ३३॥

प्रभापनम् । परिभापनम् ।

९०८—षात् पदान्तात् ॥ ८ । ४ । ३४ ॥

पदान्त षकार से परे नकार को णकारादेश न हो । निष्पानम्, दुष्पानम्, सर्पिष्पानम् । पग्रहण से यहां निषेध न हुआ—निर्णयः । पदान्त ग्रहण से यहां निषेध न हुआ—कुष्णाति, पुष्णाति । "पदान्तात्" यहां 'पदे अन्तः' यह सप्तमी समास इष्ट है । इससे यहां निषेध न हुआ—सुसर्पिष्केण ।

९०९—नशेः षान्तस्य ॥ ८ । ४ । ३५ ॥

षकारान्त नश को णकारादेश न हो । प्रनष्टः, परिनष्टः । षान्तग्रहण से यहां निषेध न हुआ—प्रणश्यति । अन्तग्रहण भूतपूर्व षान्त से भी णत्व के प्रतिषेध के लिये है । प्रनङ्क्ष्यति, परिनङ्क्ष्यति ।

९१०—पदान्तस्य ॥ ८ । ४ । ३६ ॥

पदान्त नकार को णकारादेश न हो । वृक्षान्, प्लक्षान्, रामान् ।

९११—पदव्यवायेऽपि ॥ ८ । ४ । ३७ ॥

निमित्त और निमित्ती को पदव्यवधान भी हो तो नकार को णत्वादेश न हो । माषकुम्भवापेन, प्राक्नद्धम् ।

९१२—क्षुभ्नादिषु च ॥ ८ । ४ । ३८ ॥

क्षुभ्नादिक शब्दों में नकार को णकारादेश न हो । क्षुभ्नाति । अजादेश के स्थानिवद्भाव से यहां भी निषेध होता है—क्षुभ्नीतः, इत्यादि । अवहितलक्षण णत्वप्रतिषेध क्षुभ्नादिकों में देखना चाहिये ।

इति णत्वप्रक्रिया समाप्ता ॥

अथ कृदन्ते† कृत्यप्रक्रिया ॥

६१३—वासरूपोऽस्त्रियाम् ॥ ३ । १ । ९४ ॥

धात्वधिकार में स्त्री अधिकारके प्रत्ययों को छोड़कर असरूप = असमानरूप अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग का बाधक विकल्प करके हो।

६१४—कृत्याः ॥ ३ । १ । ९५ ॥

ण्वुलप्रत्यय से पूर्व जो २ प्रत्यय अब आगे कहें, वे सब कृत्य संज्ञक हों। धात्वधिकार में धातु से जिन २ प्रत्ययों का विधान होता है, वे प्रथम (३) सूत्र से कृत् संज्ञक होते हैं फिर उन की कृत्य संज्ञा भी होती है।

६१५—कर्तरि कृत् ॥ ३ । ४ । ६७ ॥

कृत् संज्ञक प्रत्यय कर्त्ता में हों। इससे [सब] कृत् संज्ञक प्रत्यय कर्त्ता में प्राप्त हुए इस अवस्था में —

६१६—तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ॥३।४।७०॥

कृत्यसंज्ञक क्त और खलर्थ प्रत्यय भाव और कर्म ही में हों। इससे कृत्य संज्ञक प्रत्ययों का भावकर्म में सामान्य नियम है। (७९१, ७९६, ७९७) सूत्रों से प्रैष, अतिसर्ग, प्राप्तकाल, अर्ह और शक्ति अर्थ में भी कृत्य प्रत्ययों का विधान है। इस विषय केउदाहरण भी उन्हीं सूत्रों पर दे चुके हैं वैसे यहां और भी उदाहरण समझने चाहियें।

---

† कृदन्त प्रकरण अर्थात् तृतीयाध्याय पर्यन्त दयानन्द कृत अष्टाध्यायी भाष्य में हमने अनेक उपयोगी टिप्पणियां लिखी हैं। उनका यहां पुनः लिखना पिष्टपेषणवत् होगा। अतः इस प्रकरण के साथ २ अष्टाध्यायी-भाष्य का अवलोकन भी अवश्य करना चाहिये।

९१७—तव्यत्तव्यानीयरः ॥ ३ । १ । ९६ ॥

धातु से तव्यत्, तव्य और अनीयर् प्रत्यय हों। तकार और रेफ स्वर के लिये है। भाव में उत्सर्गमात्र एक वचन और नपुंसक लिङ्ग होता है। एधितव्यम्, एधनीयमनेन, कथितव्यः, कथनीयो वा त्वया धर्मः। कथितुं योग्यः शक्यो वा इत्यादि।

९१८—वा०—केलिमर उपसंख्यानम् ॥३।१।९६॥

पचेलिमाः=पक्तव्या माषाः, भिदेलिमाः=भेत्तव्याः सरलाः। यह कर्म में प्रत्यय है।

९१९—वा०—वसेस्तव्यत् कर्त्तरि णिच्च ॥३।१।९६॥

वस धातु से कर्ता में तव्यत् प्रत्यय और वह णित् संज्ञक भी हो, यह कहना चाहिये। वसतीति वास्तव्यः।

९२०—कृत्यल्युटो बहुलम ॥ ३ । ३ । ११३ ॥

कृत्य संज्ञक और ल्युट् प्रत्यय बहुल करके हों। अर्थात् जहां २ कहे हैं वहां से अन्यत्र भी हों। जैसे कृत्यसंज्ञक प्रत्यय भावकर्म से अन्यत्र—स्नात्यनेनेति स्नानीयं चूर्णम्, दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः। ल्युट् प्रत्यय करण, अधिकरण और भाव में कहेंगे, उससे अन्यत्र जैसे—आच्छाद्यते आच्छादनं वासः, प्रस्कन्दनम्, प्रपतनम्। बहुल-ग्रहण से और भी कृत् यथाविधान से अन्यत्र भी होते हैं, जैसे—पादाभ्यां ह्रियते—पादहारकः, गले चोप्यते—गलेचोपकः।

९२१—अचो यत् ॥ ३ । १ । ९७ ॥

❀ (केलिमर्) इस प्रत्यय को कृत्कारादिक कोई कर्मकर्ता में मानते हैं, सो महाभाष्य से विरुद्ध है क्योंकि महाभाष्यकार ने तो उक्त प्रत्यय को कर्म ही में दिखलाया है।

अजन्त धातु से यत् प्रत्यय हो। चेयम्। जेयम्। अच् ग्रहण क्यों किया? हलन्त से तो ण्यत् विधान ही करेंगे प्रथम जो अजन्त धातु है उससे भी हो इसलिये। जैसे—लव्यम्, पव्यम्। यहां आगामी आर्धधातुक का विषय मानकर गुण और अवादेश किये पीछे हलन्त से यत् नहीं प्राप्त है। दित्स्यम्, धित्स्यम्। यहां आगामी आर्धधातुक विषय मान कर अकार लोप किये पीछे हलन्त से यत् नहीं प्राप्त है[1]।

९२२—ईद्यति ॥ ६। ४। ६५ ॥

यत् प्रत्यय परे हो तो आदन्त अंग को ईकारादेश हो। देयम्, गेयम्।

९२३-वा०-तकिशसिचतियतिजनीनामुपसंख्यानम् ॥ ३। १। ९७ ॥

तकि—तक्यम्, शसि—शस्यम्, चति—चत्यम्, यति—यत्यम्, जनि—जन्यम्। यहां जन धातु से यत् प्रत्यय का विधान केवल स्वर के लिये है क्योंकि यत् और ण्यत् में इसका एकसा प्रयोग होता है[2]।

९२४—वा०—हनो वध च ॥ ३। १। ९७ ॥

हन् धातु से यत् प्रत्यय और हन् को वध आदेश विकल्प करके

१. महाभाष्यकार ने यह प्रयोजन "आर्धधातुके" (६। ४। ४६ भा० १०१) सूत्र में विषय सप्तमी मानकर दिया है, जो कि एकदेशीय है। वस्तुतः यहां पर परसप्तमी पक्ष है। उस पक्ष में अनुप्रदन के बिना भी कार्य चल सकता है।

२. ण्यत् होने पर "जनिवध्योश्च" (भा० ४०३) से वृद्धि का प्रतिषेध हो जाता है।

कहना चाहिये । वध्य । दूसरे पक्ष में—घात्यः । यहां आगामी ण्यत् प्रत्यय हो जाता है ।

९२५—पोरदुपधात् ॥ ३ । १ । ९८ ॥

अकार जिसके उपधा में हो ऐसे पवर्गान्त धातु से यत् प्रत्यय हो । शप्यम्, लभ्यम् । पवर्गग्रहण से यहां न हुआ—पाक्यम्, वाक्यम् । अदुपधग्रहण से यहां न हुआ—कोप्यम्, गोप्यम् । तपरकरण दीर्घादिकों की निवृत्ति के लिये है—आप्यम् ।

९२६—शकिसहोश्च ॥ ३ । १ । ९९ ॥

शक्लृ और सह धातु से यत् प्रत्यय हो । शक्यम्, सह्यम् ।

९२७—गदमदचरयमश्चानुपसर्गे ॥३।१।१००॥

उपसर्ग पूर्व न हो तो गद, मद, चर और यम् धातु से यत् प्रत्यय हो । गद्यम्, मद्यम्, चर्यम्, यम्यम् । अनुपसर्गग्रहण से यहां न हुआ—प्रगाद्यम्, प्रमाद्यम् । इस सूत्र में यम धातु का ग्रहण केवल अनुपसर्ग के लिये है क्योंकि यम् धातु से यत् प्रत्यय (९२५) सूत्र से सिद्ध है । प्रयाम्यम् । यहां यत् न हुआ, वक्ष्यमाण ण्यत् प्रत्यय होगया ।

९२८—वा०—अनुपसर्गाच्चरेराङि चागुरौ ॥
३ । १ । १०० ॥

अनुपसर्ग चर धातु से यत् के विधान में गुरु अभिधेय न हो तो आङ्पूर्वक चर धातु से यत् प्रत्यय का विधान करना चाहिये । आचरितु योग्य आचर्यो देशः । अगुरुग्रहण से यहां न हुआ—आचार्य उपनयमान[1] ।

९२९—अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु ॥
३ । १ । १०१ ॥

[1] अथर्व ११ । ५ । ३ ॥

गर्ह्य=निन्द्य, पणितव्य=व्यवहार के योग्य, अनिरोध=न रोकना इन अर्थों में क्रम से अवद्य, पण्य, वर्या ये निपातन हैं। अवद्यं पापम्। गर्ह्य से अन्यत्र—अनुद्यं मनोद्यम्। वद धातु से क्यप् और यत् प्रत्यय का विधान करेंगे,[1] इनमें यत् के परे वद्य, इसी से नञ् समास में अवद्य सिद्ध होगा, यह गर्ह्य अर्थ में निपातन है। अन्यत्र क्यप् प्रत्ययान्त रहेगा जिससे नञ में अनुद्य होता है। पण्यं वस्त्रम्, पण्यः कम्बल, पण्या गौः। अर्थात् ये बेचने योग्य पदार्थ हैं। यहां पण धातु से यत् प्रत्यय है। वृतन वर्या। यहां वृङ् धातु से य है। अन्यत्र—वृत्या। स्त्रीलिंग निर्देश से यहां न हुआ—वार्या ऋत्विजः।

६३०—वह्यं करणम् ॥ ३ । १ । १०२ ॥

वह धातु से करणकारक में यत् प्रत्यय निपातन है। वहत्यनेनेति वह्यं शकटम्। करण ग्रहण से अन्यत्र—'वाह्यम्' होता है।

६३१—अर्यः स्वामिवैश्ययोः ॥ ३ । १ । १०३ ॥

स्वामी और वैश्य अभिधेय हों तो ऋ धातु से यत् प्रत्यय निपातन है। अर्यः=स्वामी वैश्यो वा। स्वामिन्यन्तोदात्तं च। महाभाष्ये। ३। १। १०३। स्वामी अभिधेय हो तो 'अर्य' शब्द को अन्तोदात्तत्व भी निपातन है।

६३२—उपसर्या काल्या प्रजने ॥३।१।१०४॥

प्रजन=प्रथम गर्भग्रहण में जो काल्या=समय को प्राप्त हुई वह अभिधेय हो तो उपसर्या यह निपातन हो। उपसर्या गौः, उपसर्या स्त्री। यहां उपपूर्व सृ धातु से यत् प्रत्यय निपातन किया है। काल्या प्रजन ग्रहण से यहां न हुआ—उपसार्या शरदि मथुरा।

1. भा० ६२४।

८३३—अजर्यं सङ्गतम् ॥ ३ । १ । १०५ ॥

संगत विशेष्य हो तो नञ् पूर्वक जृष् धातु से कर्ता में यत् प्रत्यय निपातन हो । न जीर्यति अजर्यम्, अजर्यमार्यसंगतम् । संगतग्रहण से यहां न हुआ—अजरिता कम्बलः ।

८३४—वदः सुपि क्यप् च ॥ ३ । १ । १०६ ॥

अनुपसर्गे[1] सुबन्त उपपद हो तो वद धातु से क्यप् और यत् प्रत्यय हो। ब्रह्मोद्यम्[2], ब्रह्मवद्यम् । वेद का कथन है । सत्योद्यम्, सत्यवद्यम् । सुप् के ग्रहण से यहां न हुआ—वाद्यम् । अनुपसर्ग ग्रहण से यहां न हुआ—प्रवाद्यम् ।

८३५—भुवो भावे ॥ ३ । १ । १०७ ॥

अनुपसर्गे सुबन्त उपपद हो तो भू धातु से भाव में क्यप् प्रत्यय हो । ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूयम्, देवभूयं गतः । भाव ग्रहण अगले सूत्रों के लिये है । क्योंकि सत्तार्थक भू धातु के अकर्मक होने से भाव में क्यप् सिद्ध है । सुप् के ग्रहण से यहां न हुआ—भव्यम् । अनुपसर्ग ग्रहण से यहां न हुआ—प्रभव्यम् ।

८३६—हनस्त च ॥ ३ । १ । १०८ ॥

अनुपसर्गे सुबन्त उपपद हो तो हन् धातु से भाव में क्यप् प्रत्यय और हन् को तकार अन्तादेश हो । ब्रह्मणो हननं ब्रह्महत्या, गोहत्या, श्वहत्या वर्त्तते । सुप् के ग्रहण से यहां न हुआ—घात । अनुपसर्ग ग्रहण से यहां न हुआ प्रघातो वर्त्तते । भाव ग्रहण से यहां न हुआ—श्वघात्यो वृषल ।

---

१. आ० ९२७ से अनुपसर्ग की अनुवृत्ति है ।

२ निर्गुण ब्रह्म के निरूपण को ब्रह्मोद्य कहते हैं । द०—ब्रह्मोद्यं वदन्ति प्रजापतेरगुणाख्यानम् । का० श्रौ० १२, ४, १९, २० ॥ ब्रह्मोद्यमाऽवदामहे । शत० ११ । ६ । २ । ५ ॥

९३७—वा०—हनस्तश्चित् स्त्रियां छन्दसि ॥

३ । १ । १०८ ॥

वेदविषयक प्रयोग में 'हनस्त च' इससे हन् धातु से विहित क्यप् प्रत्यय स्त्रीलिंग में चित् हो। यां भ्रूणहत्यां निगृह्णानुचरणम्, अस्यै स्त्री भ्रूणहत्यायै चतुर्थं प्रतिगृह्णाति। स्त्रीलिंग ग्रहण से यहां चित् नहीं होता है—आप्नते दस्युहत्याय। छन्दोग्रहण से यहां चित्त्व धर्म नहीं होता—श्वहत्या, दस्युहत्या वर्तते *।

९३८—एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् ॥३।१।१०९॥

इण्, ष्टुञ्, शास्, वृ, दृ, जुष् धातुओं से क्यप् प्रत्यय हो। इत्यः, स्तुत्यः, शिष्यः। यहां (२७१) सूत्र से इत् हो जाता है। वृत्यः, आदृत्यः, जुष्यः। क्यप् प्रत्यय वर्तमान था, फिर क्यप् के ग्रहण का यह प्रयोजन है कि "अवश्य स्तुत्य" यहां आवश्यक अर्थ में [illegible] जो ण्यत् प्राप्त है वह न हो। क्यब्विधौ वृञ्ग्रहणम्। महाभाष्ये ८।४।१०९। क्यब्विधि में वृञ् का ग्रहण है इससे यहां न हुआ—वार्या ऋत्विजः। "प्रशस्यस्य श्रः"[1] इस सूत्र में जो प्रशस्य शब्द का ग्रहण है इस ज्ञापन से शंसु धातु से भी क्यप् प्रत्यय होता है क्योंकि प्र उपसर्गपूर्वक शंसु धातु का क्यप् के परे प्रशस्य यह सिद्ध होता है।

९३९—वा०—अञ्जेश्चोपसङ्ख्यानं संज्ञायाम् ॥

३ । १ । १०९ ॥

---

* महाभाष्यकार के "महाया दस्युहत्यो" इन्हीं प्रयोगों से स्पष्ट है कि हन् धातु से पर क्यप् प्रत्यय लोक में नियम से स्त्रीलिंग में होता है।

१. सं० ८८१ ॥

संज्ञा गम्यमान हो तो अञ्जू धातु से क्यप् प्रत्यय का उपसंख्यान करना चाहिये। आनक्त्यनेनेति—आज्य घृतम्। यहां करण में क्यप् है। यह क्यप् आङ्पूर्वक ही से होता है। आङ्पूर्वस्य प्रयोगो भविष्यति। महाभाष्ये ३। १। १०९।

९४०—ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः ॥३।१।११०॥

क्लृपि और चृति धातुओं को छोड़कर ऋकारोपध धातु से क्यप् प्रत्यय होता है। वृत्यम्, वृध्यम्। अक्लृपिचृतिग्रहण से यहां न हुआ—कल्प्यम्, चर्त्यम्। तपर करण से यहां न हुआ—कीर्त्यम्। यहां ण्यत् होता है। यह कृत संशब्दन का प्रयोग है।

९४१—ई च खनः ॥ ३ । १ । १११ ॥

खन धातु से क्यप् प्रत्यय और खन को ईकारादेश हो। खेयम्। यहां ह्रस्व इकार भी आदेश महाभाष्यकार को इष्ट है क्योंकि (सन्धि १३३) सूत्र से ह्रस्व वा दीर्घ दोनों के परे पूर्वपर के स्थान में गुण एकारादेश हो जाता है ॐ।

गृहिणी। यहां तो ण्यत् होता है। "असंज्ञायाम्" इस प्रतिषेध से भार्या शब्द ण्यत् प्रत्ययान्त संज्ञाविषय में होता है उसके लिये कहते हैं—

का०-संज्ञायां पुंसि दृष्टत्वान्न ते भार्या प्रसिध्यति॥
स्त्रियां भावाधिकारोऽस्ति तेन भार्या प्रसिध्यति।१।
अथवा बहुलं कृत्याः संज्ञायामिति तत् स्मृतम्॥
यथा यत्यं यथा जन्यं यथा भित्तिस्तथैव सा॥२॥

प्र०—पुलिंग विषयक संज्ञा में ण्यत् प्रत्यय के देखने से तुम्हारा भार्या शब्द नहीं सिद्ध होता है। उ०—स्त्रीलिंग विषयक "सञ्ज्ञायां समज०" इस सूत्र में भाव का अधिकार है, उससे भार्या शब्द प्रसिद्ध होता है अर्थात् भाव का अधिकार मानकर स्त्रीलिंग में भाव-विषयक क्यप् प्रत्ययान्त भृत्या होगा तथा [कर्म में] ण्यत् प्रत्ययान्त भार्या हो जायगा॥ १॥ अथवा जो उक्त सूत्र में भावाधिकार न मानें तो कृत्य और ल्युट् बहुल करके होते हैं ऐसे ही संज्ञा में क्यप् भी नहीं होगा। जैसे यत्य, जैसे जन्य और जैसे भित्ति शब्द है वैसे ही यह भार्या शब्द भी सिद्ध हो जायगा ❀।

६४३—मृजेर्विभाषा॥ ३। १। ११३॥

मृज धातु से विकल्प करके क्यप् प्रत्यय हो। मृज्यः, [मृज+ण्यत्]।

❀ अजन्त से विहित यत् प्रत्यय [जैसे] यत नाम धातुओं से होता और इसी अधिकार में भिद् धातु से क्यप् विहित है तथापि बहुल भाव से फिर भी होता है, वैसे ही बहुल भाव में ण्यत् प्रत्ययान्त भार्या शब्द हो जायगा।

९४४—चजोः कु घिण्यतोः ॥ ७ । ३ । ५२ ॥

घित् और ण्यत् प्रत्यय परे हो तो चकार और जकार को कुत्व हो। मार्ग्य । यहां वक्ष्यमाण ण्यत् प्रत्यय होता और (३५५) से वृद्धि हो गई।

९४५—राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्या-
व्यथ्याः ॥ ३ । १ । ११४ ॥

राजसूय, सूर्य, मृषोद्य, रुच्य, कुप्य, कृष्टपच्य, अव्यथ्य ये क्यप् प्रत्ययान्त निपातन हैं। अभिषवद्वारा राज्ञा सोतव्यो राजानस्सूयन्तेऽस्मिन्निति वा राजसूयो यज्ञ । यहां राजन् शब्दपूर्वक 'षुञ् अभिषवे' धातु से क्यप् प्रत्यय और निपात से दीर्घादेश होता है। सरत्याकाशमार्गेण गच्छति वा सुवति लोक कर्मणि प्रेरयतीति सूर्यः। यहां 'सृ गतौ' वा 'षू प्रेरणे' धातु से क्यप् प्रत्यय और सृ को ऊकार आदेश वा षू [से परे प्रत्यय] को रुडागम निपातन है। मृषा उद्यत इति मृषोद्यम्। यहां मृषोपपद वद धातु को (९३४) सूत्र से क्यप् और यत् की प्राप्ति में क्यप् विहित है। रोचतेऽसौ रुच्य । यहां रुच धातु से कर्ता में क्यप् है। गुप्यते यत्तत् कुप्यम्। यहां सञ्ज्ञा में गुप धातु को कत्व निपातन है। गोप्यते यत्तत् कुप्यम्। सुवर्ण और रजत से भिन्न धन की सञ्ज्ञा है। अन्यत्र—"गोप्यम्" होगा। कृष्टे स्वयमेव पच्यन्त इति कृष्टपच्या । यहां कर्मकर्ता में पच से क्यप् प्रत्यय है। यो हि कृष्टे पक्तव्य स. कृष्टपाक्यो भवति। न व्यथत इति अव्यथ्य ।

सूर्यरुच्याव्यथ्याः कर्त्तरि। कुप्य सञ्ज्ञायाम्। कृष्टपच्यस्यान्तोदात्तत्व च कर्म कर्त्तरि च ॥ महाभाष्ये। ३। १। ११४ ॥

९४६—भिद्योद्ध्यौ नदे ॥ ३ । १ । ११५ ॥

नद अभिधेय हो तो भिद्य, उद्ध्य ये क्यप् प्रत्ययान्त निपातन हैं। भिनत्ति कूलमिति भिद्यः[1], उज्झत्युदकमिति उद्ध्यः[1]। यहां 'उज्झ त्यागे' धातु को धत्व भी निपातन है। नद से अन्यत्र—भेत्ता, उज्झिता।

९४७—पुष्यसिद्ध्यौ नक्षत्रे ॥ ३। १। ११६॥

नक्षत्र अभिधेय हो तो पुष्य, सिद्ध्य ये निपातन हैं। पुष्यन्त्यस्मिन् कार्याणीति पुष्यः, सिद्ध्यन्त्यस्मिन्नर्था इति सिद्ध्यः। अन्यत्र—पोषणम्, सेधनम्।

९४८—विपूयविनीयजित्या मुञ्जकल्कहलिषु ॥ ३। १। ११७॥

मुञ्ज, कल्क, हलि इन अर्थों में विपूय, विनीय, जित्य ये शब्द यथासङ्ख्य निपातन हैं। विपू, विनी तथा जि से यत् प्रत्यय की प्राप्ति में क्यप् प्रत्यय निपातन किया है। विपूयः मुञ्जः। रज्ज्वादि कर्म के लिये शोधने योग्य है। अन्यत्र—विपाव्यम्। निनेतु योग्यो विनीयः कल्कः। विनेयमन्यत्। जित्यः हलिः। जेयमन्यत्।

९४९—प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः ॥ ३। १। ११८॥

प्रति और अपि से परे ग्रह धातु से क्यप् प्रत्यय हो। प्रत्यपिभ्यां ग्रहेश्छन्दसि। महाभाष्ये ३। १। ११८॥ मत्तस्य [न] प्रतिगृह्यम्[2], अनृतं हि मत्तो वदति, तस्मान्नापि गृह्यम्[3]। लोक में—प्रतिग्राह्यम्, अपिग्राह्यम्।

---

1. आजकल इनके नाम क्रमशः "भिद्" और "उझ" हैं ये दोनों रावी की सहायक नदियां हैं पठानकोट से पश्चिम की ओर जम्मू जाने वाले मार्ग में पड़ती हैं।

2. तै० ब्रा० १। ३। ३। ७॥ 3. का० सं० १४। ५॥

९५०—पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च ॥३।१।११९॥

पद अस्वैरिन् बाह्या और पक्ष्य अर्थ में ग्रह धातु से क्यप् प्रत्यय हो। पदप्रगृह्यं पदम्। जिसकी प्रगृह्य संज्ञा करते हैं। अवगृह्यं पदम्। जिसका अवग्रह करते हैं। अस्वैरी = परतन्त्र—गृह्यकाः पक्षिणः। गृहीत हैं। बाह्या—ग्रामगृह्याः वाप्यः। ग्राम से बाहर बावडी है। नगरगृह्या सेना। नगर से बाहर सेना है यह प्रतीति होता है। स्त्रीलिङ्ग निर्देश से यहां न हुआ—ग्रामग्राह्याः पादपाः। पक्ष्य—पक्ष में जो हो वह "पक्ष्य" कहावे। आर्यगृहीतुंयोग्य आर्यगृह्याः पक्ष्यः, अर्जुनगृह्या, वासुदेव गृह्याः।

९५१—विभाषा कृवृषोः ॥ ३ । १ । १२० ॥

कृञ् और वृष धातु से क्यप् प्रत्यय विकल्प करके हो। कृत्यम्, कार्यम्, वृष्यम्, वर्ष्यम्।

९५२—युग्यं च पत्रे ॥ ३ । १ । १२१॥

पत्र = वाहन अभिधेय हो तो युग्य यह निपातन है। युग्योऽश्वः, युग्यो गौः। यहां युज् धातु से क्यप् और धातु को कुत्वादेश निपातन है। पत्रग्रहण से यहां न हुआ—योग्यम्।

**, ज्यापृच्छ्यप्रतिषीव्यब्रह्मवाद्य भाव्यस्ता-
व्योपचाय्यपृडानि ॥ ३ । १ । १२३ ॥**

निष्टर्क्य, देवहूय, प्रणीय, उन्नीय, उच्छिष्य मर्य, स्तर्या, ध्वर्य, खन्य, खान्य, देवयज्या, आपृच्छ्य, प्रतिषीव्य, ब्रह्मवाद्य, भाव्य, स्ताव्य और उपचाय्यपृड ये निपातन हैं। निष्टर्क्ये चिन्वीत पशुकाम.। यहां निस् पूर्वक कृती धातु से ण्यत् प्रत्यय, धातु का आद्यन्त विपर्यय और निस के स् को ष् आदेश निपातन है। स्पर्धन्ते वा उ देवहूये। यहां देवपूर्वक ह्वेञ् वा हु धातु से क्यप् प्रत्यय [ह्वेञ् का सम्प्रसारण (७८३)] धातु के उकार को दीर्घ और तुक का अभाव निपातन है। प्रणीय, उन्नीय । प्र और उद् इन से परे नी धातु से क्यप् । उच्छिष्य.। उत्पूर्वक शिष से क्यप् । मर्य—मृङ् से यत् । स्तर्या—स्तृञ् से यत् और स्त्रीलिङ्ग[1] में निपातन है। ध्वर्य—ध्वृ से यत् ।। खन्य, खान्य —खन से यत् और ण्यत्। शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै। देवपूर्वक यज धातु से यत् प्रत्यय और स्त्रीलिङ्ग में निपातन है। आपृच्छ्य धरुणं वाज्यर्षति। आङ्पूर्वक प्रच्छ धातु से क्यप् । प्रतिषीव्य —प्रतिपूर्वक सीव्यति से क्यप् और षत्व निपातन है। ब्रह्मवाद्यम्—ब्रह्मन् उपपद वद धातु से ण्यत्। भाव्य, स्ताव्य —भू और ष्टुञ् से ण्यत्। उपचाय्यपृडम्—यहां उपपूर्वक चिञ् धातु से पृड उत्तरपद के परे ण्यत् प्रत्यय और आयादेश निपातन है।

९५५–वा०—हिरण्य इति च महाभाष्ये ॥३।१।१२३॥

हिरण्य अर्थ में "उपचाय्यपृड" हो। हिरण्य से अन्यत्र—"उपचेयपृडम्" होगा।

1 यहां स्त्रीलिङ्ग निपातन अतन्त्र=गौण है। क्योंकि इसका पुंलिङ्ग में भी प्रयोग देखा जाता है। यथा—स्तर्याभूत्वा स्तर्यान् सपत्नान्। अत० २।२।२।१०॥

"निष्टर्क्य व्यत्यय विद्यानिसः परवं निपातनात् । ण्यदा यादेश इत्येतावुपचार्ये निपातितौ ॥ १ ॥ ण्यदेकस्माच्चतुर्भ्यः क्यप् चतुर्भ्यश्च यतो विधि । ण्यदेकस्माद्यशब्दश्च द्वौ क्यपौ ण्यद्विधिश्चतु" ॥ २ ॥ महाभाष्ये । ३ । १ । १२३ ।

इन कारिकाओं का अर्थ निष्टर्क्यादि प्रयोगों की व्याख्या में आगया है।

९५६—ऋहलोर्ण्यत् ॥ ३ । १ । १२४ ॥

ऋवर्णान्त और हलन्तों से ण्यत् प्रत्यय हो। धार्यम्, हार्यम्, वाक्यम्, पाक्यम्।

९५७—वा० - पाणौ सृजेर्ण्यद्विधिः ॥३।१।१२४॥

पाणि शब्द उपपद हो तो सृज धातु से ण्यत् प्रत्यय का विधान करना योग्य है। पाणिभ्यां सृज्यत इति पाणिसर्ग्या रज्जु । यहां (९४३) से कुत्व हो गया।

९५८—वा०—समवपूर्वाच्च ॥ ३ । १ । १२४ ॥

सम् अव पूर्व भी सृज धातु से ण्यत् प्रत्यय विधान करने योग्य है। समवसर्ग्या रज्जु ।

९५९—न क्वादेः ॥ ७ । ३ । ५९ ॥

कवर्ग जिसके आदि में है उस धातु के चकार और जकार को कुत्व न हो। कूज्यमनेन, खर्ज्यम्, गर्ज्यम्, कूजः, खर्जः, गर्जः।

९६०—अजिव्रज्योश्च ॥ ७ । ३ । ६० ॥

अज और व्रज धातु को कुत्व न हो। परिव्राज्यम्, परिव्राज, समाज, उदाज । यहां घञ् प्रत्यय है। ण्यत् प्रत्यय की विवक्षा में (१५५) सूत्र से वीभाव होने से अज धातु का ण्यत् प्रत्ययान्त प्रयोग नहीं होता।

९६१—वञ्चेर्गतौ ॥ ७ । ३ । ६३ ॥

गति अर्थ में वर्तमान वञ्च धातु को कवर्गादेश न हो। वञ्चितुं गन्तुं योग्यं वञ्च्यम्। गतिग्रहण से यहां न हुआ—वङ्क्यं काष्ठम्। काष्ठ टेढ़ा है।

९६२—ण्य आवश्यके ॥ ७ । ३ । ६५ ॥

आवश्यक अर्थ में ण्य प्रत्यय परे हो तो कवर्गादेश न हो। अवश्यपाच्यम्, अवश्यवाच्यम्। आवश्यक से अन्यत्र—पाक्यम, वाक्यम्।

९६३—यजयाचरुचप्रवचर्चश्च ॥७।३।६६॥

ण्य प्रत्यय परे हो तो यज, याच, रुच, प्रवच, ऋच इन धातुओं को कुत्वादेश न हो। याज्यम्, याच्यम्, रोच्यम्, प्रवाच्यम्। यह पाठ विशेष का नाम है। अर्च्यम्। यद्यपि ऋदुपधत्व मानकर ऋच धातु से क्यप् प्रत्यय प्राप्त है, तथापि ण्य के परे जो इस को कुत्व का निषेध किया है इस ज्ञापन से ण्यत् प्रत्यय इस से होगा।

९६४—वा०-ण्यप्रतिषेधे त्यजेरुपसंख्यानम्॥ ७ । ३ । ६६ ॥

ण्य के परे कुत्व प्रतिषेध में त्यज धातु का भी उपसंख्यान करना चाहिये। त्यक्तुं योग्यं त्याज्यम्।

९६५—भोज्यं भक्ष्ये ॥ ७ । ३ । ६९ ॥

भक्ष्य अर्थ में भोज्य यह निपातन हो। भोज्यमभ्यवहार्यमिति वक्तव्यम्। महाभाष्ये ७। ३। ६९॥ अभ्यवहार्यमात्र अर्थ हो तो भोज्य यह निपातन हो। भोज्यः सूपः, भोज्या यवागूः। अभ्यवहार से अन्यत्र—भोग्यः कम्बलः।

६६६—ओरावश्यके ॥ ३ । १ । १२५ ॥

आवश्यक अर्थ द्योत्य हो तो उवर्णान्त धातु से एयत् प्रत्यय हो। लाव्यम्, पाव्यम्। आवश्यक से अन्यत्र—लव्यम्, पव्यम्।

६६७—आसुयुवपिरपिलपित्रपिचमश्च ॥ ३ । १ । १२६ ॥

आङ्पूर्वक पुञ्, यु, डुवप्, रप्, लप्, त्रप और चम् धातु से एयत् प्रत्यय हो। यह यत् प्रत्यय का अपवाद है। आसाव्यम्, याव्यम्, वाप्यम्, राप्यम्, लाप्यम्, त्राप्यम्, आचाम्यम्।

६६८-वा०—लपिदम्भिभ्यां * चेति वक्तव्यम्॥ ३ । १ । १२६ ॥

लप और दभ धातु से भी एयत् प्रत्यय कहने योग्य है। अपलाप्यम्, अपदाभ्यम्।

६६६—आनाय्योऽनित्ये ॥ ३ । १ । १२७ ॥

अनित्य अर्थ अभिधेय हो तो आङ्पूर्वक णीञ् धातु से आनाय्य यह निपातन है।

"आनाय्यो नित्य इति चेद्दक्षिणाग्नौ कृतं भवेत्। एकयोनौ तु तं विद्यादानेयो ह्यन्यथा भवेत्।" महाभाष्ये ३। १। १२७। आनाय्यो दक्षिणाग्निः। यहां एयत् प्रत्यय और आयादेश निपातन है। जो गार्हपत्य अग्नि से लिया जाता और आहवनीय अग्नि के साथ एक योनि को प्राप्त है, उस विशेषदक्षिणाग्नि में यह शब्द रूढ़ि है, और जो वैश्य कुल से लिया जाता है उस में आनेय होगा।

---

* दभ धातु धातुपाठ में अपठित है तथापि वार्त्तिकबल से स्वीकार करना चाहिये।

८७०—प्रणाय्योऽसंमतौ ॥ ३। १। १२८ ॥

असमति अभिधेय हो तो प्रणाय्य यह निपातन हो । संमति (प्रीति का विषय और भाव में आदर बुद्धि) जिसमें न हो वह असमति कहावे। प्रणाय्यश्चोर, प्रणाय्याऽप्रिय, प्रणाय्योऽन्तेवासी। यह विरक्त है अर्थात् भोगों से इच्छा नहीं रखता है।

८७१—पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या मानहविर्निवाससामिधेनीषु ॥ ३ । १ । १२६ ॥

मान, हविष, निवास, सामिधेनी ये अभिधेय हों तो यथाक्रम से पाय्य, सान्नाय्य, निकाय्य, धाय्या ये निपातन हैं। मीयतेऽनेनेति पाय्य मानम्। यहां ण्यत् प्रत्यय, धातु के आदि म को प आदेश होता है। अन्यत्र—मेयम्। सम्यङ्नीयते होमार्थमग्निं प्रतीति सान्नाय्यम् हवि। ण्यत्, आयादेश और सम् के अकार को दीर्घ निपातन होता है। अन्यत्र—सन्नेयऽम्। निचीयते धान्यादिकमस्मिन्निति निकाय्य निवास। आय् और धातु के आदि का कुत्व निपातन है। अन्यत्र—[नि] चेयम्। धीयतेऽनया समिदिति धाय्या सामिधेनी ऋक्। ण्यत् प्रत्यय निपातन है। धाय्या शब्द ऋग्विशेष का वाचक है। [अत] धाय्या शंसत्यग्निर्नेता त्वं सोमक्रतुभिः [इत्यादि असामिधेनियों में भी व्यवहृत होता है]।

८७२—क्रतौ कुण्डपाय्यसञ्चाय्यौ ॥३।१।१३०॥

क्रतु अभिधेय हो तो कुण्डपाय्य और सञ्चाय्य निपातन हैं। कुण्डेन पीयतेऽस्मिन् सोम इति कुण्डपाय्य क्रतु। यहां तृतीयान्त कुण्डशब्द पूर्वक पिबति से यत् प्रत्यय और युगागम निपातन है। [सञ्चाय्य। यहां सम् पूर्वक चिनोति से ण्यत् और आयादेश का निपातन है।] क्रतुग्रहण से यहां न हुआ—कुण्डपानम्। तथा सञ्चेय।

९७३—अग्नौ परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः ॥ ३ । १ । १३१ ॥

अग्नि अभिधेय हो तो परिचाय्य, उपचाय्य और समूह्य ये निपातन हों। परिचेतुं योग्यः परिचाय्यः, उपचाय्यः। परि उप पूर्वक चिञ् धातु से ण्यत् और आयादेश निपातन है। समूह्यं चिन्वीत पशुकामः। सम् पूर्वक वह धातु से ण्यत् प्रत्यय धातु को संप्रसारण और दीर्घत्व निपातन है। अग्नि से अन्यत्र—परिचेयम्। उपचेयम्। संवाह्यम्।

९७४—चित्याग्निचित्ये च ॥ ३ । १ । १३२ ॥

अग्नि अभिधेय हो तो चित्य और अग्निचित्या निपातन हों। चीयतेऽसौ चित्योऽग्निः। [यहां क्यप् प्रत्यय का निपातन है।] अग्निचयनमेव अग्निचित्या। यहां भाव में प्रत्यय [गुण का अभाव] अन्तोदात्तत्व[1] और तुगागम [का] निपातन होता है। अग्निचित्येत्यन्तोदात्तत्वं भावे। महाभाष्ये ३। १। १३२॥

९७५—भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा ॥ ३ । ४ । ६८ ॥

भव्य आदि कृत्य प्रत्ययान्त कर्ता में विकल्प करके निपातन हैं। द्वितीय पक्ष में यथाप्राप्त भाव कर्म में होंगे। भवत्यसौ भव्यः, भव्यमनेन वा, गेयो माणवकः साम्नाम्, गेयानि माणवकेन सामानि,

1. यहां अन्तोदात्तत्व का निपातन मानना ठीक नहीं है 'य' प्रत्यय होने पर प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्तत्व स्वतः सिद्ध है। वस्तुतः 'अग्निचित्येत्यन्तोदात्तत्वं भावे' इस वार्त्तिक से ध्वनित होता है कि यहां ण्यत् प्रत्यय वृद्धि का अभाव, तुगागम और अन्तोदात्तत्व का निपातन है। अन्तोदात्तत्व का निपातन ण्यत् पक्ष में ही उपपन्न होता है।

नन्द्यादिक, ग्रहादिक और पचादिक धातुओं से यथाक्रम ल्यु, णिनि और अच् प्रत्यय हों। अर्थात् नन्द्यादिकों से ल्यु, ग्रहादिकों से णिनि और पचादिकों से अच् होता है। नन्दयतीति नन्दनः, जनानर्दयतीति जनार्दनः,मधुसूदन, विशेषेण भीषयतीति विभीषणः, वामनः, सदन, दूषणः, लवणः। यहां गणपाठ के निपातन से णत्वादेश है। ग्राही, स्थायी, मन्त्री, विशयी। यहां वृद्धि का अभाव निपातन है। विषयी। यहां षत्व निपातन है। परिभावी, परिभवी। यहां विकल्प करके वृद्धि का अभाव है। पचतीति पच । अजपि सर्वधातुभ्यः। महाभाष्ये ३। १। १३४। सब धातुओं से अच् प्रत्यय कहना चाहिये। भवतीति भवः, सव। यह अच् प्रत्यय धातुमात्र से इष्ट है इससे पचादिगण का कथन शब्दों के साथ अनुबन्ध लगाने और बाधकों के बान्धने के लिये है। जैसे—नदट्, चोरट्, देवट्। इत्यादि टित् माने हैं। नदः, चोरः, देवः। स्त्रीलिंग में—नदी, चोरी, देवी। यहां इगुपधत्व मान कर दिवु धातु से क प्रत्यय प्राप्त था, उसको बाध कर अच प्रत्यय हुआ। जारभरा, श्वपचा। इन में अगला (९९९) अण् प्राप्त था। चेक्रिय, लोलुव, पोपुव, मरीमृजः।

६७८—इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः ॥३।१।१३५॥

इक् जिसके उपधा में हो और ज्ञा प्री तथा कृ धातु से क प्रत्यय हो। बुध, विक्षिप, ज्ञ, प्रीणातीति प्रियः, किरतीति किरः।

६७६—आतश्चोपसर्गे ॥ ३। १। १३६॥

उपसर्ग पूर्व हो तो आदन्त धातु से क प्रत्यय हो। आगे ण प्रत्यय कहेंगे उस का यह अपवाद है। प्रस्थ, प्रज्ञ

६८०—पाघ्राध्माधेट्दृशः शः ॥३।१।१३७॥

पा, घ्रा, ध्मा, धेट् और दृश धातु से श प्रत्यय हो। पिबतीति पिब:, उत् पिबतीति उत्पिब:, विपिब:, जिघ्र, धम:, धय:, विधय:, पश्यतीति पश्य ।

९८१—वा०—जिघ्रः संज्ञायां प्रतिषेधः ॥
३ । १ । १३७ ॥

व्याजिघ्रतीति व्याघ्रः ।

९८२—अनुपसर्गाल्लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च ॥ ३ । १ । १३८ ॥

उपसर्गरहित लिम्प, विन्द, धारि, पारि, वेदि, उदेजि, चेति, साति, साहि, इन धातुओं से श प्रत्यय हो। लिम्पतीति लिम्प:, विन्दतीति विन्द, धारयतीति धारय, पारयतीति पारयः, वेदयतीति वेदय:, उदेजयतीति उदेजय, चेतयतीति चेतयः। साति सुखार्थक सौत्र धातु है। सातयतीति सातयः, साहयतीति साहय । अनुपसर्गग्रहण से यहां न हुआ—प्रलिपः ।

९८३—वा०—अनुपसर्गान्नौ लिम्पेः ॥३।१।१३८॥

"अनुपसर्गात्०" (९८२) इस विषय में निपूर्वक लिम्प धातु से श प्रत्यय कहना चाहिये। निलिम्पा नाम देवाः ।

९८४—वा०—गवादिषु विन्देः संज्ञायाम् ॥
३ । १ । १३८ ॥

गवादिक उपपद हो तो विद्लृ धातु से श प्रत्यय संज्ञा में कहना चाहिये । गोविन्दः, अरविन्दः ।

९८५—ददातिदधात्योर्विभाषा ॥३।१।१३९॥

उपसर्गरहित डुदाञ् और डुधाञ् धातु से श प्रत्यय विकल्प करके हो । यह (९८८) सूत्र का अपवाद है। ददातीति ददः, दायः, दधः, धायः। अनुपसर्ग ग्रहण से यहां न हुआ—प्रददातीति प्रदः, प्रधः। यहां (९७८) सूत्र से क प्रत्यय हो गया।

९८६—ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः ॥ ३ । १ । १४० ॥

उपसर्गरहित ज्वल आदि कस पर्यन्त धातुओं से विकल्प करके ण प्रत्यय हो। यहां इति शब्द आदि शब्द के लिये है । ज्वलतीति ज्वालः, ज्वलः, चालः, चलः। दूसरे पक्ष में अच् प्रत्यय हो जाता है। अनुपसर्गग्रहण से यहां न हुआ—प्रज्वलः।

९८७—वा०—तनोतेरुपसंख्यानम् ॥ ३ । १ । १४० ॥

तनु धातु से ण प्रत्यय का उपसंख्यान [करना] चाहिये। अवतनातीत्यवतान ।

९८८—श्याद्व्यधास्रुसंस्रवतीणवसावहृलिह-श्लिषश्वसश्च ॥ ३ । १ । १४१ ॥

श्यैङ्, आकारान्त, व्यध, आस्रु, संस्रु, अतीण्, अवसा, अवहृ, लिह, श्लिष, श्वस इन धातुओं से ण प्रत्यय हो। आकारान्त ग्रहण से श्यैङ् और अनुपूर्वक सा धातु से ण हो जाता तथापि इनका अलग ग्रहण सोपसर्ग लक्षण क प्रत्यय के बाधने के लिये है। अवश्यायः, प्रतिश्यायः, दायः, धायः, शायः, व्याधः, आस्रावः, संस्रावः, अत्यायः, अवसायः, अवहारः, लेहः, श्लेषः, श्वासः ।

९८९—दुन्योरनुपसर्गे ॥ ३ । १ । १४२ ॥

उपसर्ग पूर्व न हो तो दु और नी धातु से ण प्रत्यय हो। दुनोतीति दावः, नयतीति नायः । अनुपसर्गग्रहण से यहां न हुआ—प्रदवः, प्रणयः ।

९९०—विभाषा ग्रहः ॥ ३ । १ । १४३ ॥

ग्रह धातु से विकल्प करके ण प्रत्यय हो। यह अच् का अपवाद है। गृह्णातीति ग्राहः, ग्रहः। यह व्यवस्थित विभाषा है। इससे जलचर में 'ग्राहः' नित्य होता और ज्योति. में 'ग्रहः' यही होता है *।

९९१—गेहे कः ॥ ३ । १ । १४४ ॥

गेह=घर कर्त्ता हो तो ग्रह धातु से क प्रत्यय हो। गृह्णन्ति धान्यादिकमिति गृहम्, गृह्णन्ति पदार्थानिति गृहाणि वेश्मानि। तात्स्थ्योपाधि से स्त्री जनों को भी गृह कहते हैं। गृहाः दाराः।

९९२—शिल्पिनि ष्वुन् ॥ ३ । १ । १४५ ॥

शिल्पी कर्त्ता हो तो धातु से ष्वुन् प्रत्यय हो। नृतिखनिरञ्जिभ्य इति वक्तव्यम्। महाभाष्ये ३।१।१४५। शिल्प=क्रिया करने की चतुराई जिसमें विद्यमान है वह शिल्पी कहावे। नृत्यतीति नर्तकः, खनकः, नर्तकी, खनकी, रञ्जकः, रञ्जकी †।

---

* इस सूत्र के विवरण में जो काशिकाकार ने "भवतश्चेति,वक्तव्यम्" यह वार्त्तिक पढ़ा है सो महाभाष्यकार के मत से विरुद्ध है। महाभाष्य में इस का मूल नहीं है। इससे प्राप्त्यर्थक भू धातु से अच् प्रत्ययान्त 'भाव' और सत्तार्थक से 'भव' समझ लेना चाहिये। भाव पदार्थों का नाम और भव महादेव और संसार आदि का नाम है।

† रजकः, रजकी। यहां शिल्पी कर्त्ता में उणादिस्थ क्वुन् प्रत्यय होता है। इस विषय में जो कौमुदीकार ने लिखा कि भाष्यमत से नृति खनि इन्हीं से ष्वुन् और रञ्जि से क्वुन् होता है। यह उनका कथन अशुद्ध है क्योंकि जो रञ्जि से ष्वुन् नहीं होता है तो महाभाष्यकार ने रञ्जि का परिगणन क्यों किया? महाभाष्य के परिगणन से नृति खनि और रञ्जि इन तीनों से ष्वुन् प्रत्यय होगा। इस विषय में काशिकाकार

९९३—गस्थकन् ॥ ३ । १ । १४६ ॥

शिल्पी कर्त्ता हो तो गै धातु से थकन् प्रत्यय हो। गायतीति गायकः। स्त्रीलिंग में—गाथिका।

९९४—एयुट् च ॥ ३ । १ । १४७ ॥

शिल्पी कर्त्ता में गै धातु से एयुट् प्रत्यय भी हो। गायतीति गायन.। स्त्री—गायनी।

९९५—हश्च व्रीहिकालयोः ॥ ३ । १ । १४८ ॥

व्रीहि और काल कर्त्ता हों तो ओहाक् और ओहाङ् धातु से एयुट् प्रत्यय हो। जहाति जल, जिहीते प्राप्नोति वा हायन =व्रीहि। जहाति भावान्, जिहीत प्राप्नोति वा हायनः=वत्सर.।

९९६—प्रुसृल्वः समभिहारे वुन् ॥३।१।१४९॥

समभिहार = वार २ होने अर्थ में प्रु सृ लू इन धातुओं से वुन् प्रत्यय हो। प्रुसृल्वः साधुकारिणि वुनविधानम्। महाभाष्ये। ३।१।१४९॥ साधुकारी अर्थात् अच्छे प्रकार क्रिया करने वाला कर्त्ता अभिधेय हो तो प्रु सृ लू इन से वुन का विधान करना चाहिये। प्रवत इति प्रवक, सरक, लवक। साधुकारित्व अर्थ में वुन् विधान से जहां एक वार भी अच्छे प्रकार काम करना हो वहाँ वुन् प्रत्यय हो और वार २ भी काम का अच्छा करना न हो वहा न हो।

ने ष्वुन् प्रत्यय का विधान करके भी नकार का लोप माना, यह उनका मानना असङ्गत है क्योंकि न लोप तो क्ति ङित् के परे होता है और महाभाष्यकार भी रजक शब्द को उणादिस्थ ष्वुन् प्रत्यय ही मानते हैं। रजकरजनरज.सु क्त्विान् सिद्धम्, क्ति एवैते औणादिकाः। महाभाष्ये। ६।४।२४॥

९९७—आशिषि च ॥ ३ । १ । १५० ॥

आशीर्वाद अर्थ गम्यमान हो तो धातु से वुन् प्रत्यय हो। जीवतात्—जीवकः, नन्दतात्—नन्दकः।

९९८—कर्मण्यण् ॥ ३ । २ । १ ॥

कर्म उपपद हो तो धातु से अण् प्रत्यय हो। कर्म तीन प्रकार का है अर्थात् निर्वर्त्य, विकार्य्य, प्राप्य *। निर्वर्त्य—कुम्भकारः। विकार्य्य—काण्डलावः, शरलावः। प्राप्य—वेदाध्यायः, चर्चापारः, शमनीपारः, सूत्रपाठः। यहां सर्वत्र उपपद समास होता है। आदित्यं पश्यति, हिमवन्तं शृणोति, ग्रामं गच्छति, इत्यादिकों में अनभिधान से नहीं होता अर्थात् लोक में अर्थप्रतिपादन करने के लिये 'आदित्यदर्श' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं करते हैं।

९९९–वा०–अत्रादायेति च कृतां व्यत्यपरछन्दसि ॥ ३ । २ । १ ॥

वेदविषय में अत्रादाय इत्यादिक प्रयोगों के लिये कृत् संज्ञक

---

* जिसका उपादान कारण विद्यमान न हो वह निर्वर्त्य कहाता है जैसे—संयोगं करोति। अथवा जिसका विद्यमान भी उपादान कारण न विवक्षित हो वह भी निर्वर्त्य कहाता है जैसे—घटं करोति। जब उपादान कारण ही परिणामी माना जाय तो निर्वर्त्य कर्म भी विकारी हो जाता है जैसे—मृदं घटं करोति। और जब भेदविवक्षा है तब वही निर्वर्त्य कर्म रहता है जैसे—मृदा घटं करोति। विकार्य्य कर्म दो प्रकार का है। अर्थात् एक तो प्रकृति के विनाश से जो कुछ विकार उत्पन्न हो जैसे—काष्ठादि भस्म और दूसरा गुणान्तर में जो उत्पन्न हो जैसे—सुवर्णादि विकार कुण्डलादि। जिसमें प्रत्यक्ष वा अनुमान से क्रियाकृत विशेष न पाया जाय अर्थात् प्रथम से न हो वह प्राप्य कर्म कहाता है।

९९३—गस्थकन् ॥ ३ । १ । १४६ ॥

शिल्पी कर्ता हो तो गै धातु से थकन् प्रत्यय हो। गायतीति गाथकः। स्त्रीलिंग में—गाथिका।

९९४—ण्युट् च ॥ ३ । १ । १४७ ॥

शिल्पी कर्ता में गै धातु से ण्युट् प्रत्यय भी हो। गायतीति गायन। स्त्री—गायनी।

९९५—हश्च व्रीहिकालयोः ॥ ३ । १ । १४८ ॥

व्रीहि और काल कर्ता हों तो ओहाक् और ओहाङ् धातु से ण्युट् प्रत्यय हो। जहाति जल, जिहीते प्राप्नोति वा हायन=व्रीहि। जहाति भावान्, जिहीते प्राप्नोति वा हायन=वत्सर।

९९६—प्रुसृल्वः समभिहारे वुन् ॥३।१।१४९॥

प्रत्ययों का व्यत्यय देखना चाहिये। अत्तीति अन्न.[1], अन्नस्यादः अन्नादः तस्मै अन्नादाय। आदायान्नपतये, य आहुतिमन्नादां हुत्वा "अन्नमत्ति" इस विग्रह में कर्मोपपद अद धातु से अण् की प्राप्ति में प्रत्यय का विधान है।

१०००—वा०—शीलिकामिभक्ष्याचारिभ्यो णः पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्वञ्च ॥ ३ । २ । १ ॥

शीलि, कामि, भक्षि और आङ्पूर्वक चर इन धातुओं से ण प्रत्यय और पूर्वपद को प्रकृतिस्वर कहना चाहिये। मांसशीलः, मांसशीला, मांसकामः, मांसकामा, मांसभक्षः, मांसभक्षा, कल्याणाचारः, कल्याणाचारा।

१००१—वा०—ईक्षिक्षमिभ्यां च ॥ ३ । २ । १ ॥

सुखप्रतीक्षः, सुखप्रतीक्षा, कल्याणक्षमः, कल्याणक्षमा।

१००२—ह्वावामश्च ॥ ३ । २ । २ ॥

कर्म उपपद हो तो ह्वेञ्, वेञ् और माङ् धातु से अण् प्रत्यय हो। स्वर्गह्वायः, तन्तुवायः, धान्यमायः।

१००३—आतोऽनुपसर्गे कः ॥ ३ । २ । ३ ॥

उपसर्ग रहित कर्म उपपद हो तो आकारान्त धातुओं से क प्रत्यय हो। यह अण् का अपवाद है। गोदः, कम्बलदः, पार्ष्णित्रम्। अनुपसर्गग्रहण से यहां न हुआ—गोसदायः।

१००४—सुपि स्थः ॥ ३ । २ । ४ ॥

---

१. जब अन्न शब्द ईश्वर का वाचक होता है (अहमन्नमहमन्नम्—तै० उ०) तब उपर्युक्त व्युत्पत्ति होगी। जब भोज्य का वाचक होगा तब "अद्यत इत्यन्नम्" कर्म में व्युत्पत्ति होगी।

सुबन्त उपपद हो तो स्था धातु से क प्रत्यय हो *। कूटस्थः, समस्थः, विषमस्थः। इस सूत्र में महाभाष्यकार ने योगविभाग भी माना है। जैसे—"सुपि" सुबन्त उपपद हो तो आकारान्त धातु से क प्रत्यय हो। कच्छेन पिबतीति कच्छपः, कटाहेन पिबतीति कटाहपः, द्वाभ्यां पिबतीति द्विपः, पादपः। "स्थः" सुबन्त उपपद हो तो स्था धातु से क प्रत्यय हो। आखूनामुत्थानमाखूत्थः, शलभोत्थः। "सुपि" इस अंश में कर्ता में क प्रत्यय होगा। "स्थः" भाव में होने के लिये है। अब अगले सूत्रों में "कर्मणि, सुपि" इन दोनों पदों की अनुवृत्ति है, अर्थात् यथायोग्यता से दोनों उपस्थित होते हैं।

१००५—तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः ॥३।२।५॥

तुन्द और शोक कर्म उपपद हों तो परिपूर्वक मृज और अपपूर्वक नुद धातु से क प्रत्यय हो।

१००६—आलस्यसुखाहरणयोः। महाभाष्ये ३।२।५॥

"तुन्दशोकयोः०" इस विषय में आलस्य, सुखाहरण और कहना चाहिये अर्थात् आलस्य गम्यमान हो और सुखोत्पत्ति अर्थ हो तो उक्त धातुओं से क प्रत्यय हो। तुन्दं परिमार्ष्टि तुन्दपरिमृजोऽलस आस्ते। अन्यत्र—तुन्दपरिमार्जः। शोकापनुदः पुत्रो जातः। अन्यत्र—शोकापनोदः। अर्थात् जो संसार की अनित्यता आदि दिखा कर शोकमात्र की निवृत्ति करता किन्तु सुख नहीं उत्पन्न करता।

१००७—वा०—कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् ॥ ३ । २ । ५ ॥

---

* स्था धातु से भी कर्ता में क प्रत्यय हुए हो तो इसका पृथक् 'क' विधान न करते, इसलिये पृथक् विधान सामर्थ्य से स्था से भाव में क होगा। परन्तु यह भावस्थ क प्रत्यय कर्ता वाले क प्रत्यय की बाधा नहीं करता, क्योंकि "स्थः" इस अंश में भाव का ग्रहण नहीं है।

मूलानि विमुजति मूलविमुजो रथः। नखानि मुञ्चन्ति नखमुच्चानि धनूंषि, काकगुहास्तिलाः, सरसिरुहं कुमुदम्।

१००८—प्रे दाज्ञः ॥ ३ । २ । ६ ॥

कर्म उपपद हो तो प्रपूर्वक दा और ज्ञा धातु से क प्रत्यय हो। धनं प्रददाति धनप्रदः, शास्त्रप्रज्ञः, पथिप्रज्ञः। प्र से अन्यत्र—धनसंप्रदायः।

१००९—समि ख्यः ॥ ३ । २ । ७ ॥

कर्म उपपद हो तो सम्पूर्वक ख्या धातु से क प्रत्यय हो। शास्त्रसंख्य, गोसंख्य।

१०१०—गापोष्टक् ॥ ३ । २ । ८ ॥

कर्म उपपद हो तो उपसर्ग रहित गा, पा धातुओं से टक् प्रत्यय हो। सामगायतीति सामगः, स्त्री—सामगी।

१०११—सुराशीध्वोः पिबतेः ॥ महाभाष्ये ३।२।८॥

सुरापः, सुरापी, शीधुपी। इन से अन्यत्र—क्षीरपा ब्राह्मणी। पिबति से अन्यत्र—सामसंगायः।

१०१२—वा०—बहुलं तणि ॥ ३ । २ । ८ ॥

तण्—संज्ञा, छन्द विषय में पिबति से बहुल करके टक् प्रत्यय हो। या ब्राह्मणी सुरापी भवति नैना देवाः पतिलोकं नयन्ति, या ब्राह्मणी सुरापा भवति नैना देवाः पतिलोकं नयन्ति।

१०१३—हरतेरनुद्यमनेऽच् ॥ ३ । २ । ९ ॥

कर्म उपपद हो तो अनुद्यमन अर्थ में वर्तमान हृञ् धातु से अच् प्रत्यय हो। उद्यमन उद्यम को कहते हैं, उससे अन्य अनुद्यमन कहाता है। अंशं हरति अंशहरः, भागहरः, रिक्थहरः। अनुद्यमन ग्रहण से यहां न हुआ—भारहारः।

१०१४—वा०—अच्प्रकरणे शक्तिलाङ्गलाङ्कुशयष्टितोमरघटघटीधनुष्षु ग्रहेरुपसंख्यानम् ॥ ३ । २ । ९ ॥

अच् प्रकरण में शक्ति, लाङ्गल, अङ्कुश, यष्टि, तोमर, घट, घटी, धनुष् ये उपपद हों तो ग्रह धातु से अच् प्रत्यय का उपसंख्यान करना चाहिये। शक्तिग्रहः, लाङ्गलग्रहः, अंकुशग्रहः, यष्टिग्रहः, तोमरग्रहः, घटग्रहः, घटीग्रहः, धनुर्ग्रहः।

१०१५—वा०—सूत्रे च धार्येऽर्थे ॥ ३ । २ । ९ ॥

तथा सूत्र उपपद हो तो धारणार्थक ग्रह धातु से उपसंख्यान करना चाहिये। सूत्रग्रहः। सूत्र को धारण करता है। धार्यर्थ से अन्यत्र—सूत्रग्राहः। अर्थात् जो सूत्र का ग्रहण करता है।

१०१६—वयसि च ॥ ३ । २ । १० ॥

वयस् यौवनादिभाव गम्यमान हो तो कर्मोपपद हृञ् धातु से अच् प्रत्यय हो। यह उद्यमन के लिये है। कवचहरः कुमारः, शस्त्रहरः वृषभः।

१०१७—आङि ताच्छील्ये ॥ ३ । २ । ११ ॥

ताच्छील्य = तत्स्वभावता अर्थ गम्यमान हो और कर्म उपपद हो तो आङ् पूर्वक हृञ् धातु से अच् प्रत्यय हो। पुष्पाणि आहरति तच्छीलः पुष्पाहरः, फलाहरः। स्वभाव से निष्प्रयोजन भी पुष्प और फलों को लेता है। ताच्छील्य से अन्यत्र—भारमाहरतीति भाराहारः।

१०१८—अर्हः ॥ ३ । २ । १२ ॥

कर्म उपपद हो तो अर्ह धातु से अच् प्रत्यय हो। वेदार्हः, स्त्री—वेदार्हा।

१०१९—स्तम्बकर्णयो रमिजपोः ॥३।२।१३॥

स्तम्ब और कर्ण ये सुबन्त यथासंख्य उपपद हों तो रम और जप धातु से अच् प्रत्यय हो। रम अकर्मक और जप शब्दकर्मक है इससे यहां कर्म शब्द की अनुवृत्ति नहीं होती है।

१०२०—स्तम्बकर्णयोर्हस्तिसूचकयोः ॥ महाभाष्ये ॥ ३ । २ । १३ ॥

"स्तम्बकर्णयो०" यहां हस्तिन्, सूचक और कहना चाहिये अर्थात् हस्ती और सूचक अभिधेय हो तो उक्त अच् प्रत्यय हो। स्तम्बे रमते स्तम्बेरम हस्ती, कर्णे जपति कर्णेजप सूचक। हस्ति सूचक से अन्यत्र—स्तम्बेरन्ता, कर्णेजपिता मशक।

१०२१—शमि धातोः संज्ञायाम् ॥३।२।१४॥

शम् उपपद हो तो संज्ञाविषय में धातु मात्र से अच् प्रत्यय हो। शङ्कर, शम्भव, शंवद। यहां धातुग्रहण हेत्वादि अर्थों में जो ट प्रत्यय का विधान करेंगे उसके बाधन के लिये है अर्थात् उन अर्थों में भी शम् पूर्वक कृञ् धातु से अच् प्रत्यय हो। शङ्करा नाम परिव्राजिका, शङ्करा नाम शकुनिका तच्छीला च।

१०२२—अधिकरणे शेते ॥ ३ । २ । १५ ॥

सुबन्त उपपद हो तो अधिकरण में शीङ् धातु से अच् प्रत्यय हो। खशेत खशय, गर्तशय।

१०२३—वा०—अधिकरणे शेतेः पार्श्वादिषूपसंख्यानम् ॥ ३ । २ । १५ ॥

"अधिकरणे शेते" यहां पार्श्वादि पूर्व हो तो भी उपसंख्यान करना चाहिये। पार्श्वाभ्यां शेते पार्श्वशय, पृष्ठशय, उदरशय।

१०२४—वा०—दिग्धसहपूर्वाच्च ॥ ३ । २ । १५ ॥

दिग्धसहपूर्वक भी शीङ् धातु से अच् प्रत्यय कहना चाहिये। दिग्धेन सह शेते दिग्धसहशयः। यहां "दिग्धसह" इतना समुदाय पूर्व इष्ट है किन्तु प्रत्येक शब्द पूर्व इष्ट नहीं है।

१०२५—वा०—उत्तानादिषु कर्त्तृषु ॥३।२।१५॥

कर्तृवाचक उत्तानादिक शब्द उपपद हों तो शीङ् धातु से अच् प्रत्यय हो। उत्तानः शेते उत्तानशयः, अवनतो मूर्धा यस्य स अवमूर्धा, अवमूर्धा शेते अवमूर्धशयः।

१०२६—वा०—गिरौ डश्छन्दसि ॥३।२।१५॥

गिरि शब्द उपपद हो तो वेदविषय में शीङ् धातु से ड प्रत्यय कहना चाहिये। गिरौ शेते गिरिशः। लोक में 'गिरिशः' यह शब्द (उणा० ६८२) सूत्र से वेदितविषय में होता है।

१०२७—चरेष्टः ॥ ३ । २ । १६ ॥

अधिकरणवाची सुबन्त उपपद हो तो चर धातु से ट प्रत्यय हो। खे चरतीति खेचरः, खेचरी, निशाचरः, निशाचरी, कुरुचरः, कुरुचरी, मद्रचरः, मद्रचरी, दिवाचरः, दिवाचरी। अधिकरण ग्रहण से यहां न हुआ—कुरूँश्चरतीति, पञ्चालाँश्चरतीति *।

१०२८—भिक्षासेनादायेषु च ॥ ३ । २ । १७ ॥

भिक्षा, सेना और आदाय शब्द उपपद हों तो चर धातु से ट प्रत्यय हो। भिक्षां चरतीति भिक्षाचरः, सेनाचरः। आदाय यह ल्यबन्त है। आदाय चरतीति आदायचरः, 'सहचरः' यह तो पचादिगण में जो चरट् शब्द का पाठ है उससे बनेगा।

---

* कुरु देश में भ्रमण करता है इस अर्थ की अपेक्षा से "कुरूँश्चरति" यह विग्रह होता और अन्य देश से कुरुदेश को प्राप्त होता है इस विचार से "कुरूँश्चरति" यह विग्रह होता है।

१०२९—पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्त्तेः ॥ ३ । २ । १८ ॥

पुरस् अग्रतस् अग्रे ये उपपद हों तो सृ धातु से ट प्रत्यय हो। पुरस्सरति पुरस्सर, अग्रतस्सरः, अग्रम् अग्रेण अग्रे वा सरति अग्रेसरः। यहां अग्रे शब्द एकारान्त निपातन से है।

१०३०—पूर्वे कर्त्तरि ॥ ३ । २ । १९ ॥

कर्तृवाचक पूर्व शब्द उपपद हो तो सृ धातु से ट प्रत्यय हो। पूर्वः सरतीति पूर्वसर। कर्त्तृ से अन्यत्र—पूर्वं देशं सरतीति पूर्वसारः।

१०३१—कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु ॥३।२।२०॥

हेतु, ताच्छील्य और आनुलोम्य अर्थ गम्यमान और कर्म उपपद हो तो कृञ् धातु से ट प्रत्यय हो। हेतु=कारण, ताच्छील्य=तत्स्वभावता, आनुलोम्य=अनुकूलपना। हेतु—यशस्करी विद्या, शोककरी कन्या, दुःखकरं पापम्। ताच्छील्य—श्राद्धकरः, अर्थकरः। आनुलोम्य—वचनकरः। इनसे अन्यत्र—कुम्भकारः, नगरकारः।

१०३२—दिवाविभानिशाप्रभाभास्कारान्तानन्तादिबहुनान्दीकिंलिपिलिबिबलिभक्तिकर्त्तृचित्रक्षेत्रसंख्याजङ्घाबाह्वहर्यत्तद्धनुररुष्षु ॥ ३ । २ । २१ ॥

दिवादिक शब्द उपपद हों तो कृञ् धातु से ट प्रत्यय हो। दिवा करोति दिवाकरः, विभा करोति विभाकरः, निशाकरः, प्रभाकरः, भास्करः। यहां (सन्धि० २०१) से सत्व। कारकर, अन्तकरः, अनन्तकरः, आदिकरः, बहुकरः। संख्या से पृथक् बहु शब्द का ग्रहण वहुत्व की अपेक्षा से है। नान्दीकरः, किंकरः। लिपि लिबि एकार्थक हैं। लिपिकरः, लिबिकरः, बलिकरः। [भक्तिकरः, कर्त्तृकरः, चित्रकरः, क्षेत्रकरः] संख्या—एककरः, द्विकरः, त्रिकरः,

जङ्घाकरः, बाहुकरः, अहस्करः, यत्करः, तत्करः। चोर अभिधेय हो तो "तस्करः" होगा, (सन्धि० २२८) से सुडागम और तलोप। धनुष्करः, अरुष्करः। यहां (सन्धि० २७८) से षत्व।

१०३३—किंयत्तद्बहुषु कृञोऽज् विधानम् ॥ महाभाष्ये ३।२।२१॥

पूर्वोक्त शब्दों में किं यद् तद् और बहु उपपद हों तो अच् प्रत्यय का विधान करना चाहिये। अन्यत्र ट होगा। किंकरा, यत्करा, तत्करा, बहुकरा। किंकरी, तत्करी आदि ङीबन्त तो पुंयोग से होते हैं।

१०३४—कर्मणि भृतौ ॥ ३।२।२२॥

कर्मवाचक कर्मशब्द उपपद हो तो कृञ् धातु से ट प्रत्यय हो। भृति = वेतन अर्थ गम्यमान हो तो। कर्माणि करोति कर्मकरः भृत्यः। भृति से अन्यत्र—कर्मकारः।

१०३५—न शब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदेषु ॥ ३।२।२३॥

शब्द, श्लोक, कलह, गाथा, वैर, चाटु, सूत्र, मन्त्र, पद, ये उपपद हों तो कृञ् धातु से ट प्रत्यय न हो। हेत्वादि अर्थों में प्राप्त ट प्रत्यय का प्रतिषेध है। शब्दकारः, श्लोककारः, कलहकारः, गाथाकारः, वैरकारः, चाटुकारः, सूत्रकारः, मन्त्रकारः, पदकारः।

१०३६—स्तम्बशकृतोरिन् ॥ ३।२।२४॥

स्तम्ब और शकृत् उपपद हों तो कृञ् धातु से इन् प्रत्यय हो।

१०३७—स्तम्बशकृतोर्व्रीहिवत्सयोः॥ महाभाष्ये ३।२।२४॥

उक्त सूत्र में व्रीहि, वत्स और कहना चाहिये । स्तम्बकरिः व्रीहिः, शकृत्करिः वत्सः । अन्यत्र—स्तम्बकार', शकृत्कारः ।

१०३८—हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ ॥ ३ । २ । २५ ॥

दृति और नाथ कर्म उपपद हो और पशु कर्ता हो तो हृञ् धातु से इन् प्रत्यय हो । दृतिं चर्ममयं पात्रं हरति दृतिहरिः, नाथं नासारज्जुं हरति नाथहरिः पशुः । अन्यत्र—दृतिहारः, नाथहारः ।

१०३९—फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च ॥ ३ । २ । २६ ॥

फलेग्रहि और आत्मम्भरि ये दोनों शब्द निपातन हैं । फलानि गृह्णाति फलेग्रहिः । यहां उपपद को एकार और धातु से इन् प्रत्यय निपातन है ।

१०४०—भृञः कुक्ष्यात्मनोर्मुम् च ॥ महाभाष्ये ॥ ३ । २ । २६ ॥

भृञ् धातु से इन् प्रत्यय के विधान में कुक्षि और आत्मन् शब्द को मुम् आगम निपातन होना चाहिये । कुक्षिं बिभर्त्ति कुक्षिम्भरिः, आत्मम्भरिश्चरति यूथमसेवमानः । यहां चकार अनुक्त समुच्चय के लिये है इससे 'उदरम्भरिः' यह भी निपातन जानना चाहिये ।

१०४१—छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् ॥३।२।२७॥

कर्म उपपद हो तो वेदविषय में वन, षण, रक्ष, मथे इन धातुओं से इन् प्रत्यय हो । ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिम्[1], गोसनिम्[2] यौ पथिरक्षी श्वानौ[3], हविर्मथीनाम्[4] ।

१०४२—एजेः खश् ॥ ३ । २ । २८ ॥

---

१. यजुः १ । १७ ॥ २. अथ० ५ । २० । १० ॥
३. अथ० ८ । १ । १० ॥ ४. ऋ० ७ । १०४ । २० ॥

कर्म उपपद हो तो णिजन्त एज् धातु से खश् प्रत्यय हो। जनान् एजयतीति = "जन—एजि—शप्—खश्" यहां—

१०४३—अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् ॥६।३।६७॥

खिदन्त उत्तरपद परे हो तो अरुष् द्विषत् और अव्ययभिन्न अजन्त शब्दों को मुमागम हो। मुम् होकर—जन+म्—एज्—अ—अ = जनमेजयः।

१०४४–वा०–खश्प्रकरणे वातशुनीतिलशर्धेष्व-जधेट्तुदजहातिभ्यः ॥ ३ । २ । २८ ॥

खश् प्रत्यय के प्रकरण में वात शुनी तिल शर्ध ये यथाक्रम उपपद हों तो अज धेट् तुद और जहाति से खश् प्रत्यय का विधान करना चाहिये। वातमजा मृगाः, शुनीं धयति यहां—

१०४५—खित्यनव्ययस्य ॥ ६ । ३ । ६६ ॥

खिदन्त उत्तरपद परे हो तो अव्ययरहित पूर्वपद को ह्रस्व आदेश हो। शुनिंधयः। तिलंतुदः। शर्धमपानशब्दं जहति, जाहयन्ति वा शर्धञ्जहाः माषाः। यहां हा धातु अन्तर्भावितण्यर्थ है।

१०४६—नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः ॥३।२।२९॥

नासिका और स्तन कर्म उपपद हों तो ध्मा और धेट् धातुओं से खश् प्रत्यय हो।

१०४७—स्तने धेटः।

१०४८—नासिकायां ध्मश्च धेटश्च ॥ महाभाष्ये ३ । २ । २९ ॥

स्तनं धयति स्तनन्धयः, नासिकन्धमः, नासिकन्धयः। स्त्रीलिंग में—स्तनन्धयी। यहां धेट् के टित् होने से (वैकवा० ३५) से ङीप् प्रत्यय हो जाता है। सूत्र में यह्वच् नासिका शब्द का भी पूर्वनिपात अल्पाच् तर पूर्वनिपात के अनित्यत्व के लिये है।

१०४९—नाडीमुष्ट्योश्च ॥ ३ । २ । ३० ॥

नाडी और मुष्टि कर्म उपपद हो तो ध्मा और धेट् धातु से खश् प्रत्यय हो। यहां मुष्टि इस घिसंज्ञकान्त का अपूर्वनिपात है इससे संख्यातानुदेश नहीं होता है। नाडीं धयति नाडिन्धयः, नाडीं धमति नाडिन्धमः, मुष्टिन्धयः, मुष्टिन्धमः। चकार अनुक्त समुच्चय के लिये है इससे वातन्धयः, वातन्धमः पर्वतः। ये भी जानने चाहियें।

१०५०-वा०—नासिकानाडीमुष्टिघटीखारीष्विति वक्तव्यम् ॥ ३ । २ । ३० ॥

घटिन्धयः, घटिन्धमः, खारिन्धयः, खारिन्धमः। नासिका, नाडी और मुष्टि शब्दों के विषय में उदाहरण दे चुके हैं।

१०५१—उदि कूले रुजिवहोः ॥ ३ । २ । ३१ ॥

कूलकर्म उपपद हो तो उत्पूर्वक रुज और वह धातु से खश् प्रत्यय हो। कूलमुद्रुजतीति कूलमुद्रुजो रथः, कूलमुद्वहः।

१०५२—वहाभ्रे लिहः ॥ ३ । २ । ३२ ॥

वह और अभ्र कर्म उपपद हो तो लिह धातु से खश् प्रत्यय हो। वहं स्कन्धं लेढीति, वह—मुम्—लिह—शप्—खश्=वहंलिहो गौः। यहां अदादित्व से शप् का लुक् हो जाता है। [अभ्रंलिहः प्रासादः]।

१०५३—परिमाणे पचः ॥ ३ । २ । ३३ ॥

परिमाणवाचक कर्म उपपद हो तो पच धातु से खश् प्रत्यय हो। प्रस्थंपचति प्रस्थंपचा स्थाली, द्रोणम्पचः कटाहः।

१०५४—मितनखे च ॥ ३ । २ । ३४ ॥

मित और नख ये कर्म उपपद हों तो पच धातु से खश् प्रत्यय हो। मितं पचति मितम्पचा ब्राह्मणी, नखम्पचा यवागूः। यहां पच

धातु ताप अर्थ [का] वाचक है।

१०५५—विध्वरुषोस्तुदः ॥ ३ । २ । ३५ ॥

विधु और अरुष् कर्म उपपद हों तो तुद धातु से खश् प्रत्यय हो। विधुन्तुदः। अरूंषि मर्मस्थलानि तुदति अरुन्तुदः। यहां मुम् किये पीछे अरुष् के सकार का संयोगान्तलोप हो जाता है।

१०५६—असूर्यललाटयोर्दृशितपोः ॥३।२।३६॥

असूर्य और ललाट शब्द यथाक्रम से उपपद हों तो दृशि और तप धातु से खश् प्रत्यय हो। सूर्यं न पश्यन्ति असूर्यंपश्या राजदाराः। यहां नञ् का दृश से सम्बन्ध है इससे यह असमर्थ समास हुआ "असूर्य०" निर्देश से होता है। अनिवार्य सूर्य का भी दर्शन नहीं करने वाली राजदारा हैं। ललाटंतपः सूर्यः।

१०५७—उग्रम्पश्येरम्मदपाणिन्धमाश्च ॥३।२।३७॥

उग्रम्पश्य, इरम्मद और पाणिन्धम ये शब्द निपातन किये हैं। उग्र शब्द यहां क्रियाविशेषण है। उग्रं यथा स्यात् तथा पश्यति उग्रम्पश्यः, इरया जलेन माद्यति इरम्मदः, पाणयो ध्मायन्तेऽस्मिन्निति पाणिन्धमः पन्थाः। जो अन्धकारयुक्त मार्ग होता है उस में सर्पादिक क्षुद्र जीवों की निवृत्ति के लिये कभी हाथ से ताली भी देते हैं।

१०५८—प्रियवशे वदः खच् ॥ ३ । २ । ३८ ॥

प्रिय और वश ये कर्म उपपद हों तो वद् धातु से खच् प्रत्यय हो। प्रियं वदतीति प्रियंवदः, वशंवदः।

१०५९—वा०—खच्प्रकरणे गमेः सुपि उपसंख्यानम् ॥ ३ । २ । ३८ ॥

खच् के प्रकरण में सुबन्त पूर्वक गम धातु से भी उपसंख्यान करना चाहिये। मितंगमो हस्ती, मितंगमा हस्तिनी।

१०६०—वा०—विहायसो विह च ॥३।२।३८॥

इस प्रकरण में विहायस् शब्द जो गम धातु के पूर्व हो तो उसको विह आदेश भी हो। विहायसाऽऽकाशमार्गेण गच्छति विहंगमः पक्षी।

१०६१—वा०—खच्च डिद्वा ॥ ३ । २ । ३८ ॥

विहायस् शब्द को विह आदेश होने में गम् से परे खच् प्रत्यय विकल्प करके डित्वत् हो। विहंगः।

१०६२—वा०—डे च ॥ ३ । २ । ३८ ॥

गम् से ड प्रत्यय परे हो तो भी विहायस् को विह आदेश हो। विहगः। यहां गम् धातु से (१०७९) इससे ड प्रत्यय होता है।

१०६३—द्विषत्परयोस्तापेः ॥ ३ । २ । ३९ ॥

द्विषत् और पर कर्म उपपद हो तो णिजन्त तप धातु से खच् प्रत्यय हो। द्विषन्तं तपति=“द्विषत्—ताप्—णिच्—खच्” इस अवस्था में—

१०६४—खचि ह्रस्वः ॥ ६ । ४ । ९४ ॥

खच्परक णि परे हो तो अङ्ग की उपधा को ह्रस्वादेश हो। इससे ह्रस्वादेश होकर—“द्विषन्तपः” सिद्ध होता है। ऐसे ही—परन्तपः। “द्विषतीं तापयति” यहां लिङ्गविशिष्टपरिभाषा का अनित्यत्व ※ मान कर खच् नहीं होता है। अथवा ‘द्विषत्परयो०’ यहां द्विषत् [दो त] कारकनिर्देश मान कर तकारान्त द्विषत् शब्द का ग्रहण है।

१०६५—वाचि यमो व्रते ॥ ३ । २ । ४० ॥

※ वा०—नासिकानाडी० [आ० १०५०] यहां घट शब्द के साथ घटी शब्द के ग्रहण से लिङ्गविशिष्टपरिभाषा अनित्य है।

व्रत (नियम) अर्थ में वाच् कर्म उपपद हो तो यम् धातु से खच् प्रत्यय हो। वाचं यच्छति="वाच्—अम्—यम्—खच्" यहां—

१०६६—वाचंयमपुरंदरौ च ॥ ६ । ३ । ६९ ॥

वाचंयम और पुरन्दर ये निपातन किये हैं। अर्थात् वाच् और पुर् शब्द को अमन्तत्व निपातन है। इससे वाच् शब्द को अमन्तत्व होकर "वाचंयमः" होता है। नियम से अन्यत्र [जहां] असामर्थ्य से वचन न निकले वहां—"वाग्यामः" होगा।

१०६७—पूःसर्वयोर्दारिसहोः ॥ ३ । २ । ४१ ॥

पुर्, सर्व ये कर्म यथाक्रम से उपपद हों तो दारि, सह धातुओं से खच् प्रत्यय हो। पुरं दारयति पुरन्दरः। यहां भी अमन्तत्व हो गया। सर्वंसहः। कृत् संज्ञकों में (९२०) सूत्र के बहुल नियम से भगपूर्वक दारि धातु से भी खच् प्रत्यय होता है—भगन्दरः।

१०६८—सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः ॥३।२।४२॥

सर्व, कूल, अभ्र, करीष ये कर्म उपपद हों तो कष धातु से खच् प्रत्यय हो। सर्वं कषति, सर्वंकषः खलः, कूलंकषा नदी, अभ्रंकषो गिरिः, करीषंकषा वात्या।

१०६९—मेघर्त्तिभयेषु कृञः ॥ ३ । २ । ४३ ॥

मेघ, ऋति, भय ये कर्म उपपद हों तो कृञ् धातु से खच् प्रत्यय हो। मेघंकरः, ऋतिंकरः, भयंकरः। यहां भय शब्द के साथ तदन्त-विधि भी है[1]। अभयंकरः।

---

1. उपपदविधौ भयाढ्यादिग्रहणम्। महा० १।१।७२॥ इस नियम से यहां तदन्तविधि होती है। अभयङ्कर, अभयंकरः, आढ्यंकरणम्, स्वाढ्यंकरणम्।

१०७०—क्षेमप्रियमद्रेऽण् च ॥ ३ । २ । ४४ ॥

क्षेम, प्रिय, मद्र ये कर्म उपपद हों तो कृञ् धातु से अण् और खच् प्रत्यय हो। क्षेमं करोति क्षेमकारः, क्षेमंकरः, प्रियकारः, प्रियंकरः, मद्रकारः, मद्रंकरः। यहां 'वा' ग्रहण करने से दूसरे पक्ष में (९९८) सूत्र से अण् प्रत्यय हो जाता है। फिर अण् ग्रहण हेत्वादिक अर्थों में जो कृञ् से ट प्रत्यय विहित है उसके बाधने के लिये है। क्षेमकरः। यह तो कर्म का शेषत्वविवक्षा मानकर कृञ् से पृथक् 'पचाद्यच्'[1] होता है।

१०७१—आशिते भुवः करणभावयोः ॥३।२।४५॥

आशित शब्द सुबन्त उपपद हो तो भू धातु से करण और भाव में खश् प्रत्यय हो। करण—आशितो भवत्यनेनेति आशितम्भव ओदनः। भाव—आशितस्य भवनं आशितंभवं वर्तते।

१०७२—संज्ञायां भृतॄवृजिधारिसहितपिदमः ॥ ३ । २ । ४६ ॥

कर्म वा अन्य सुबन्त उपपद हो तो भृ, तॄ, वृ, जि, धारि, सहि, तपि, दम इन धातुओं से संज्ञा विषय में खच् प्रत्यय हो। यहां यथासम्भव कर्म और सुप् उक्त धातुओं से संबद्ध होते हैं। विश्वं बिभर्त्ति विश्वम्भरा वसुन्धरा, रथेन तरति रथन्तरं साम, पतिंवरा कन्या, शत्रुंजयो हस्ती, युगन्धरः पर्वतः, शत्रुंसहः, शत्रुंतपः, अरिंदमः। संज्ञा ग्रहण से यहां न हुआ—कुटुम्ब बिभर्तीति कुटुम्बभारः।

१०७३—गमश्च ॥ ३ । २ । ४७ ॥

सुबन्त उपपद हो तो संज्ञा में गम् धातु से खच् प्रत्यय हो। सुतं गच्छति, सुतंगमः। पृथक् सूत्र उत्तरार्थ है।

१. अ० ९७७ ॥

१०७४—अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः ॥ ३ । २ । ४८ ॥

अन्त, अत्यन्त, अध्वन, दूर, पार, सर्व, अनन्त ये कर्म उपपद हों तो गम् धातु से ड प्रत्यय हो। अन्तगः, अत्यन्तगः, अध्वगः, दूरगः, पारगः, सर्वगः, अनन्तगः। यहा डकार टि लोप के लिये है, इससे ड प्रत्यय के परे भसंज्ञा के बिना भी टिलोप होजाता है[1]।

१०७५—वा०—डप्रकरणे सर्वत्रपन्नयोरुपसंख्यानम् ॥ ३ । २ । ४८ ॥

गम् धातु से ड प्रत्यय के प्रकरण में सर्वत्र और पन्न शब्द का भी उपसंख्यान करना चाहिये। सर्वत्र गच्छति सर्वत्रगः, पन्नं पतित गच्छति पन्नगः।

१०७६—वा०—उरसो लोपश्च ॥ ३ । २ । ४८ ॥

ड प्रकरण म गम् धातु से उरस् पूर्व हो तो उसके अन्त्य सकार का लोप भी हो। उरसा गच्छति उरगः।

१०७७—वा०—सुदुरोरधिकरणे ॥३।२।४८॥

सु और दुर् उपपद हो तो गम् धातु से अधिकरण में ड प्रत्यय कहना चाहिये। सुखेन गच्छत्यस्मिन्निति सुगः, दु खेन गच्छत्यस्मिन्निति दुर्गो मार्गः।

१०७८—वा०—निरो देशे ॥ ३ । २ । ४८ ॥

देश अभिधेय हो तो निर् से परे गम् धातु से ड प्रत्यय कहना चाहिये। निरधयेन गच्छत्यस्मिन्निति निर्गो देशः।

१०७९—वा०—अपर आह—डप्रकरणे अन्येष्वपि दृश्यते ॥ ३ । २ । ४८ ॥

1. डित्वसामर्थ्यादभुक्तस्य सामर्थ्यात्।

इस प्रकरण में और भी उपपद हो तो ड प्रत्यय देखा गया है। तत्र स्त्र्यगारगः, अस्तुत यावदन्नाय ग्रामग, ध्वसते गुरुतल्पगं ।

१०८०—आशिषि हनः ॥ ३ । २ । ४९ ॥

आशीर्वाद अर्थ गम्यमान और कर्म उपपद हो तो हन धातु से ड प्रत्यय हो। शत्रुं वध्यात् शत्रुह तव पुत्रो भूयात्, तिमिहः। आशीः = अन्यत्र—शत्रुघात ।

१०८१-वा०-दाराघाहनोऽणन्तस्य च टः संज्ञायाम् ॥ ३ । २ । ४९ ॥

संज्ञाविषय में दारु शब्द पूर्वक हन धातु से अण प्रत्यय और अन्त्य को टकारादेश कहना चाहिये। दारु आहन्ति दार्वाघाट, दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्[1] ।

१०८२—वा०—चारौ वा ॥ ३ । २ । ४९ ॥

चारु शब्द उपपद हो तो आङ्पूर्वक हन धातु से अण प्रत्यय नित्य और अन्त्य को टकारादेश विकल्प करके कहना चाहिये। चार्वाघाट, चार्वाघात।

१०८३-वा०-कर्मणि समि च ॥३।२।४९॥

कर्म उपपद हो तो सम्पूर्वक हन धातु से अण प्रत्यय और उसको टकारादेश विकल्प करके कहना चाहिये। वर्णान् संहन्ति वर्णसंघाट, वर्णसंघात, पदानि संहन्ति पदसंघाट, पदसंघात ।

१०८४—अपे क्लेशतमसोः ॥ ३ । २ । ५० ॥

क्लेश, तमस् कर्म उपपद हो तो अपपूर्वक हन धातु से ड प्रत्यय हो। क्लेशमपहन्ति क्लेशापह पुत्र, तमोऽपहन्ति तमोपह सूर्य ।

१०८५—कुमारशीर्षयोर्णिनिः ॥३।२।५१॥

---

1. यजु २४ । ३५ ॥

कुमार और शीर्ष कर्म उपपद हों तो हन धातु से णिनि प्रत्यय हो। कुमारं हन्ति कुमारघाती, शीर्षघाती। यह शीर्ष शब्द शिरस् शब्द को शीर्षभाव निपातन के लिये है।

१०८६—लक्षणे जायापत्योष्टक् ॥३।२।५२॥

जाया और पति ये कर्म उपपद हों और लक्षणवान कर्ता अभिधेय हो तो हन धातु से टक् प्रत्यय हो। जायां हन्ति जायाघ्नो ब्राह्मणः, पतिघ्नी वृषली।

१०८७—अमनुष्यकर्तृके च ॥ ३ । २ । ५३ ॥

कर्म उपपद हो तो मनुष्यभिन्न कर्ता में हन धातु से टक् प्रत्यय हो। जायां हन्ति जायाघ्नस्तिलकालकः, पतिं हन्ति पतिघ्नी पाणिरेखा, शशघ्नी शकुनी, श्लेष्माणं हन्ति श्लेष्मघ्नं मधु, पित्तं हन्ति पित्तघ्नं घृतम्। अमनुष्यकर्तृक ग्रहण से यहां न हुआ—आखुघातः शूद्रः, नगरघातो हस्ती। यहां टक् प्रत्यय प्राप्त भी है तथापि कृत्संज्ञकों के बहुलभाव से कर्मोपपद लक्षण अण् होता है। प्रलम्बघ्नः, शत्रुघ्नः, कृतघ्नः, इत्यादिक तो मूलविभुजादि क प्रत्यय से होते हैं।

१०८८—शक्तौ हस्तिकपाटयोः ॥ ३ । २ ।५४॥

शक्ति गम्यमान हो और हस्ति, कपाट कर्म उपपद हों तो हन धातु से टक् प्रत्यय हो। यह मनुष्यकर्तृक विषय के लिये सूत्र है। हस्तिनं हन्तुं शक्तः हस्तिघ्नः मनुष्यः, कपाटघ्नश्चोरः। शक्तिग्रहण से यहां न हुआ—'विषेण हस्तिनं हन्ति हस्तिघातः' यहां अण् होता है।

१०८९—पाणिघताडघौ शिल्पिनि ॥३।२।५५॥

शिल्पी कर्ता अभिधेय हो तो पाणिघ, ताडघ ये दोनों शब्द निपातन हैं। पाणिं हन्ति पाणिघः, ताडघः। यहां पाणि और ताड

-कर्मोपपद हन धातु से टक् प्रत्यय के परे धातु को टि लोप और घकारादेश निपातन है।

१०६०—वा०—राजघ उपसंख्यानम् ॥३।२।५५॥

उक्त निपातनों में 'राजघ' यह भी उपसंख्यान करना चाहिये। राजानं हन्ति राजघः।

१०६१—आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन् ॥३।२।५६॥

च्विरहित च्व्यर्थ आढ्य, सुभग, स्थूल, पलित, नग्न, अन्ध, प्रिय ये कर्म उपपद हों तो कृञ् धातु से करण में ख्युन् प्रत्यय हो। अनाढ्यमाढ्यमनेन कुर्वन्ति आढ्यंकरणम्, सुभगंकरणम्, स्थूलंकरणम्, पलितंकरणम्, नग्नंकरणम्, अन्धंकरणम्, प्रियंकरणम्। च्व्यर्थग्रहण से यहां न हुआ—आढ्यं घृतेन कुर्वन्ति, घृतेनाभ्यञ्जयन्त्ये। 'अच्वौ' यह प्रतिषेध आगे के लिये है क्योंकि यहां च्व्यन्त विषय में ख्युन् के प्रतिषेध में ल्युट् हो जायगा। ल्युट् में समान रूप समान ही स्वर आदि कार्य हैं। आढ्यीकरणम् *।

१०६२—कर्त्तरि भुवः खिष्णुच्खुकञौ ॥३।२।५७॥

च्विरहित च्व्यर्थ आढ्यादिक सुबन्त उपपद हों तो भू धातु से कर्त्ता में खिष्णुच् और खुकञ् प्रत्यय हों। अनाढ्य आढ्या भवति

---

* ख्युनि प्रतिषेधानर्थक्यं ल्युट्ख्युनोरविशेषात्। ख्युनि च्वि प्रतिषेधोऽनर्थक। किं कारणम्? ल्युट्ख्युनोरविशेषात् ख्युना मुक्ते ल्युटा भवितव्यम् नचैवास्तिविशेष। च्व्यन्त उपपदे ख्युनो वा ल्युटो वा। तदेव रूप स एव स्वर। महाभाष्ये ३। २। ५६॥ स्त्रीलिङ्ग में (ग्रेन० १६) ख्युन् प्रत्ययान्त से भी ङीप् हो जायगा। आढ्यंकरणी। काशिकाकार ने जो इस विषय में अर्थतः ल्युट् प्रत्यय का भी प्रतिषेध माना है सो असंगत है।

आढ्यम्भविष्णुः, आढ्यम्भावुकः, सुभगंभविष्णुः, सुभगंभावुकः, स्थूलंभविष्णुः, स्थूलंभावुकः, पलितंभविष्णुः, पलितंभावुकः, नग्नंभविष्णुः, नग्नंभावुकः, अन्धंभविष्णु, अन्धंभावुकः, प्रियंभविष्णुः, प्रियंभावुकः । कर्तृग्रहण से करण में नहीं होते हैं । च्व्यर्थ मात्र से अन्यत्र—आढ्यो भविता । अच्विग्रहण से यहां नहीं होता—आढ्यी भविता ।

१०६३—स्पृशोऽनुदके क्विन् ॥ ३ । २ । ५८ ॥

अनुदक सुबन्त उपपद हो तो स्पृश धातु से क्विन् प्रत्यय हो । घृतं स्पृशति घृतस्पृक्, मन्त्रेण स्पृशति मन्त्रस्पृक्, जलेन स्पृशति जलस्पृक् । अनुदकग्रहण से यहां न हुआ—उदकस्पर्शः । कर्म की अनुवृत्ति नहीं है किन्तु निवृत्ति हो गई ।

१०६४—ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च । ३ । २ । ५९ ॥

ऋत्विज, दधृष, स्रज्, दिश, उष्णिज् ये क्विन् प्रत्ययान्त निपातन और अञ्चु, युजि, क्रुञ्चु धातुओं से क्विन् प्रत्यय हो । ऋतौ यजति ऋतुं यजति वा ऋतुप्रयुक्तो यजति वा ऋत्विक् । यहां ऋतु शब्द-पूर्वक 'यज' धातु से क्विन् प्रत्यय है । धृष्णोतीति दधृक् । यहां 'ञिधृषा' धातु से क्विन् प्रत्यय, धातुद्विर्वचन और अन्तोदात्तत्व भी निपातन है । सृज्यते या सा स्रक् । यहां 'सृज' से कर्म में क्विन् प्रत्यय और अमागम निपातन है । दिश्यते जनैर्या सा दिक् । यहां 'दिश्' से कर्म में क्विन् है । ऊर्ध्वं स्निह्यति उष्णिक् । यहां उत्पूर्वक 'स्निह' धातु से क्विन् पर और उपसर्गान्त लोप निपातन है । निपातनशब्दों के साथ जो अञ्चु आदि धातुओं से क्विन् का विधान किया है इससे उन में कुछ अलाक्षणिक कार्य भी होता है । जैसे सोपपद अञ्चु से क्विन्—प्राङ्मुखं प्राञ्चति प्राक्, प्रत्यक्, उदक् ।

युज और क्रुञ्च से निरुपपद से होता है—युङ्, युञ्जौ, युञ्ज.। क्रुङ्, क्रुञ्चौ, क्रुञ्च । यहां निपातन से न लोप नहीं होता । इन क्विन् प्रत्ययान्तों में (नामि० ११३) से सर्वत्र पदान्त में कुत्व होता है।

१०६५—त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ॥ ३ । २ । ६० ॥

त्यदादिक उपपद हों तो अनालोचन अर्थ में वर्तमान 'दृश' धातु से कञ् और क्विन् प्रत्यय हों । तमिवेमं पश्यन्ति जनाः सोऽयं स इव दृश्यमानस्तमिवात्मानं पश्यति तादृक्, तादृशः, यादृक्, यादृशः। स्त्री—तादृशी, यादृशी । यहां (स्त्रैण० ३५) सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो जाता है । अनालोचनग्रहण से यहां न हुआ—तं पश्यति तद्दर्शः । तादृगादिक शब्द रूढि शब्दों के समान हैं, दर्शनक्रिया के अर्थ को नहीं कहते हैं।

१०६६–वा०–दृशेः समानान्ययोश्च ॥ ३ । २ । ६० ॥

समान और अन्य शब्द भी उपपद हों और अनालोचन गम्यमान हो तो 'दृश' धातु से क्विन् और कञ् प्रत्यय हों। सदृक्, सदृश, अन्यादृक्, अन्यादृश।

१०६७—सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेपि क्विप् ॥ ३ । २ । ६१ ॥

उपसर्ग वा अनुपसर्ग सुबन्त उपपद हो तो सदादिक धातुओं से क्विप् प्रत्यय हो। द्विष के साहचर्य से अदादि षूङ् धातु का ग्रहण है। युज से युजिर् और युज दोनों का ग्रहण है । विद इसको अकारान्त पढ़ने से विद जाने । विद सत्तायाम् । विद विचारणे । इन तीनों का ग्रहण है किन्तु विदॢ का नहीं है । सत्—शुचिषत्, द्युषत्,

परिषत्। सू—वीरसूः, शतसूः, प्रसूः। द्विष—मित्रद्विट्, परिद्विट्, प्रद्विट्। द्रुह—मित्रध्रुक्, मित्रध्रुग्, प्रध्रुक्। दुह—गोधुक्, परिधुक्। युज्—अश्वयुक्, प्रयुक्। विद्—वेदवित्, प्रवित्, ब्रह्मवित्। भिद्—काष्ठभित्, प्रभित्। छिद्—रज्जुच्छित्, प्रच्छित्। जि—शत्रुजित्, परिजित्। नी—सेनानीः, ग्रामणीः, प्रणीः। 'ग्रामणी' में (सू० ६६६) सूत्र में ग्रामणी शब्द के निर्देश का मान कर (८०२) से णत्व हो जाता है। राज्—विराट्, सम्राट्।

१०९८—भजो ण्विः ॥ ३। २। ६२ ॥

उपसर्ग वा अनुपसर्ग सुबन्त उपपद हों तो भज धातु से ण्वि प्रत्यय हो। विश्वं भजति विश्वभाक्, सुखभाक्, प्रभाक्।

१०९९—छन्दसि सहः ॥ ३। २। ६३ ॥

वेदविषय में सुबन्त उपपद हो तो सह धातु से ण्वि प्रत्यय हो। तुराषाट्। यहां (८०८) से षत्व होता है।

११००—वहश्च ॥ ३। २। ६४ ॥

वेदविषय में सुबन्त उपपद हो तो वह धातु से ण्वि प्रत्यय हो। प्रष्ठवाट्।

११०१—कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट् ॥३।२।६५॥

वेदविषय में कव्य, पुरीष, पुरीष्य ये उपपद हों तो वह धातु से ञ्युट् प्रत्यय हो। कव्यवाहनः, पुरीषवाहनः, पुरीष्यवाहनः।

११०२—हव्येऽनन्तःपादम् ॥ ३। २। ६६ ॥

वेदविषय में हव्य शब्द उपपद हो तो वह धातु से ञ्युट् प्रत्यय हो जो वह पाद के मध्य में न हो। अग्निरच हव्यवाहनः। अनन्त-पादग्रहण से यहां न हुआ—हव्यवाडग्निरजरः पिता नः।

११०३—जनसनखनक्रमगमो विट् ॥३।२।६७॥

वेदविषय में सुबन्त उपपद हो तो जन आदि धातुओं से विट् प्रत्यय हो। जन—अब्जा, गोजा। सन—गोषा इन्द्रो नृषा असि। खन—बिसखा, कूपखा। क्रम—दधिक्राः। गम—अग्रेगा उन्नेतृणाम्।

११०४—अदोऽनन्ने ॥ ३ । २ । ६८ ॥

अद धातु से अन्नभिन्न सुबन्त [उपपद] हो तो विट् प्रत्यय हो। आममत्ति आमात्, सस्यात्। अनन्नग्रहण से यहां न हुआ—अन्नाद।

११०५—क्रव्ये च ॥ ३ । २ । ६९ ॥

क्रव्य शब्द उपपद हो तो अद धातु से विट् प्रत्यय हो। क्रव्यात्। यहां भी पूर्वसूत्र से विट् प्रत्यय होजाता फिर यह सूत्र असरूप प्रत्यय के बाध के लिये है, इससे क्रव्योपपद अद धातु से अण् प्रत्यय नहीं होता है।

११०६—दुहः कब्घश्च ॥ ३ । २ । ७० ॥

सुबन्त उपपद हो तो दुह धातु से कप् प्रत्यय और धातु को घकारान्तादेश हो। कामान् दोग्धि कामदुघा, अर्थदुघा।

११०७—मन्त्रेश्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन् ॥ ३ । २ । ७१ ॥

मन्त्र विषय में श्वेतवह, उक्थशस, पुरोडाश इन से ण्विन् प्रत्यय हो। कर्तृवाचक श्वेत शब्दोपपद वह धातु से कर्मकारक में ण्विन् प्रत्यय हो—श्वेता यं वहन्ति स श्वेतवाः। कर्मवाचक वा करणवाचक उक्थ शब्दपूर्वक शसु धातु से ण्विन्—उक्थानि शसति उक्थैर्वा शसति उक्थशाः। पुरः पूर्वक दाश को डकारादेश कर्म में ण्विन्—पुर दाशन्त इमनिति पुरोडा। इस विषय में पदान्त में (नामि० ११९, १२१) से डस् आदि कार्य होते हैं।

११०८—अवे यजः ॥ ३ । २ । ७२ ॥

मन्त्रविषय में अव उपपद हो तो यज धातु से ण्विन् प्रत्यय हो। अवयजति अवयाः, त्वं यज्ञे वरुणस्यावया असि।

११०९—विजुपे छन्दसि ॥ ३ । २ । ७३ ॥

वेद विषय में उप उपपद हो तो यज धातु से विच् प्रत्यय हो। उपयड्भिरूर्ध्वं वहन्ति। यहां छन्दोग्रहण ब्राह्मण विषय के लिए भी है।

१११०—आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च ॥३।२।७४॥

वेदविषय में सुबन्त उपपद हो तो आकारान्त धातु से मनिन्, क्वनिप्, वनिप् और विच् प्रत्यय हों। मनिन्—शोभनं ददाति सुदामा, अश्वत्थामा। क्वनिप्—सुधीवा, सुपीवा। वनिप्—भूरिदावा, घृतपावा। विच्—कीलालपाः।

११११—अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ॥ ३ । २ ।७५ ॥

आकारान्तों से अन्य धातुओं से भी मनिन्, क्वनिप्, वनिप्, विच् प्रत्यय देखे जाते हैं।

१११२—नेड्वशि कृति ॥ ७ । २ । ८ ॥

वशादि कृत् संज्ञक प्रत्यय परे हो तो इट् न हो। इससे इट् का निषेध होकर—

मनिन्—शोभनं शृणाति सुशर्मा। क्वनिप्—प्रातरित्वा, प्रातरित्वानौ। वनिप्—विजावा, अग्रेगावा। विच्—रेडसि पर्णं नये.। यहां[1] अपि शब्द सर्वोपाधिनिवृत्ति के लिये है, इससे लोक में भी होता है—धीवा, पीवा।

१११३—क्विप् च ॥ ३ । २ । ७६ ॥

---

1 सूत्र ११११ में।

११**१८—स्थः क च ॥ ३ । २ । ७७ ॥**

उपसर्ग वा अनुपसर्ग सुबन्त उपपद हो तो स्था धातु से क और क्विप् प्रत्यय हों। इस सूत्र में यथासंख्य निवृत्ति अर्थ, शंस्थः। यद्यपि "क, क्विप्" प्रत्यय (१००८, १११३) सूत्रों से हो जाते, तथापि यह सूत्र बाधकों के बाधने के लिये है इससे 'शंस्थ' आदि में (१०२१) सूत्र से प्राप्त अच् को बाधता है।

१११९—सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ॥३।२।७८॥

अजातिवाची सुबन्तमात्र उपपद और ताच्छील्य अर्थ गम्यमान हो तो धातु से णिनि प्रत्यय हो। उष्णं भोक्तुं शीलमस्य उष्णभोजी, शीतभोजी, कटुभोजी, मिष्टभोजी, न्यायकारी, उदासत्तुं शीलमस्य उदासारिणौ, उदासारिण्यौ, उदासारिणम्, प्रत्यासारिणः, अनुयायी, निसारी, अनुगामी। अजाति ग्रहण से यहां न हुआ—[illegible]। ताच्छील्य ग्रहण से यहां न हुआ—[illegible] करोति।

११२०—वा०—णिन्विधौ साधुकारिण्युपसंख्यानम् ॥ ३ । २ । ७८ ॥

साधु करोति साधुकारी, साधु ददाति साधुदायी।

११२१—वा०—ब्रह्मणि वदः ॥ ३ । २ । ७८ ॥

ब्रह्म उपपद हो तो वद धातु से णिनि प्रत्यय हो। ब्रह्म वदति ब्रह्मवादी, ब्रह्मवादिनो वदन्ति। ये दोनों वार्तिक ताच्छील्य से अन्यत्र के लिये हैं।

११२२—कर्त्तर्युपमाने ॥ ३ । २ । ७९ ॥

उपमानवाची कर्ता उपपद हो तो धातु से णिनि प्रत्यय हो। उष्ट्र इव क्रोशति उष्ट्रक्रोशी, ध्वाङ्क्षरावी। अजाति ताच्छील्यार्थ का यह सूत्र है। कर्तृग्रहण से यहां न हुआ—अपूपानिव माषान् भ-

धातु [illegible] क्विप् प्रत्यय हो । उखायाः स्रस्ते उखास्रत्, पर्णध्वत् । वाहाद् भ्रश्यति वाहभ्रट् । यह क्विप् प्रत्यय सोपपद वा निरुपपद धातु से लोक वेद में सर्वत्र होता है ।

१११४—ह्रस्मन्त्रन्क्विपु च ॥ ६ । ४ । ९७ ॥

इस, मन्, त्रन्, कि, ये परे हों तो छादि धातु की उपधा को ह्रस्व आदेश हो । तनुं छादयति तनुच्छत् ।

ज्वरतीति जूः, जूरौ, जूरः, तूः, स्रूः, जनानवतीति जनौः, जनावौ, जनावः, मवतीति मूः । यहां सर्वत्र (५५९) से ऊठ् । मूर्च्छतीति मूः, मुरौ, मुरः, धूर्वतीति धूः, धुरौ, धुरः, (५६०) से छ और व लोप होता है ।

१११५—गमः क्वौ ॥ ६ । ४ । ४० ॥

क्वि परे हो तो गम के अनुनासिक का लोप हो । अङ्गान् गच्छति अङ्गगत्, कश्मीरगत्, कलिङ्गगत् ।

१११६—वा०—गमादीनामिति वक्तव्यम् ॥ ६ । ४ । ४० ॥

क्वि के परे गमादिकों के अनुनासिक का लोप हो । परितन्वीतीति परीतत्, परीतत् सह कुण्डिकया, संयच्छतीति संयत् । शोभनं नमति सुनत् ।

१११७—वा०—ऊङ् च ॥ ६ । ४ । ४० ॥

लोपविषय में गमादिकों को ऊङ्[1] भी हो । अग्रे गच्छति अग्रेगूः, अग्रे भ्राम्यति अग्रेभ्रूः ।

---

१. अग्रे+गम्+क्विप्—इस व्यवस्था में क्विप् का लोप और सूत्र १११६ से मकार का लोप होने पर ऊङ् आदेश होता है । ङित् होने से गकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान में होता है । इसी प्रकार 'अग्रेभ्रूः' में भी समझना चाहिये ।

१११८—स्थः क च ॥ ३ । २ । ७७ ॥

उपसर्ग वा अनुपसर्ग सुबन्त उपपद हों तो स्था धातु से क और क्विप् प्रत्यय हों। शं सुखे यथास्यात्तथा तिष्ठति शंस्थः, शंस्थाः। यद्यपि "क, क्विप्" प्रत्यय (१००४, ११२३) सूत्रों से हो जाते, तथापि यह सूत्र बाधकों के बाधने के लिये है इससे 'शंस्थः' आदि में (१०२१) सूत्र से प्राप्त अच् को बाधता है।

१११९—सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ॥३।२।७८॥

अजातिवाची सुबन्त उपपद और ताच्छील्य अर्थ गम्यमान हों तो धातु से णिनि प्रत्यय हो। उष्णं भोक्तुं शीलमस्य उष्णभोजी, शीतभोजी, कटुभोजी, मिष्टभोजी, न्यायकारी, उदासर्तुं शीलमस्या उदासारिणी, उदासारिण्यौ, उदासारिण्यः, प्रत्यासारिण्यः, अनुयायी, निसारी, अनुजीवी। अजाति ग्रहण से यहां न हुआ—गवां दोग्धा। ताच्छील्य ग्रहण से यहां न हुआ—कदाचिन्न्यायं करोति।

११२०—वा०—णिन्विधौ साध्वकारिण्युपसंख्यानम् ॥ ३ । २ । ७८ ॥

यति। उपमानग्रहण से यहां न हुआ—उष्ट्रः क्रोशति।

११२३—व्रते ॥ ३ । २ । ८० ॥

शास्त्रोक्त नियम गम्यमान हो और सुबन्त उपपद हो तो धातु से णिनि प्रत्यय हो। स्थण्डिलस्थायी, स्थण्डिलशायी। नियम से स्थण्डिल ही पर सोता है। व्रत ग्रहण से यहां न हुआ—कदाचित् स्थण्डिले शेते देवदत्त। यह जाति के अर्थ वा ताच्छील्य से अन्य अर्थ में होने के लिये सूत्र है।

११२४—बहुलमाभीक्ष्ण्ये ॥ ३ । २ । ८१ ॥

आभीक्ष्ण्य=वार वार होना अर्थ गम्यमान हो और सुबन्त उपपद हो तो धातु से णिनि प्रत्यय हो। कषायपायिणो गान्धाराः, क्षीरपायिण उशीनराः, सौवीरपायिणो वाह्लीकाः। बहुल ग्रहण से यहां न हुआ—कुल्माषखादः।

११२५—मनः ॥ ३ । २ । ८२ ॥

सुबन्त उपपद हो तो मन् धातु से णिनि प्रत्यय हो। दर्शनीय मन्यते दर्शनीयमानी, शोभनमानी, बहुमानी। सामान्य मन् के ग्रहण से मन् मात्र का ग्रहण प्राप्त है तथापि पूर्व सूत्र से 'बहुल' शब्द की अनुवृत्ति करके किसी मन से णिनि नहीं भी होता, इससे यहां मन्यति का ग्रहण है, किंतु तनादिस्थ मनु धातु का ग्रहण नहीं है।

११२६—आत्ममाने खश्च ॥ ३ । २ । ८३ ॥

आत्ममान=अपने को मानना अर्थ गम्यमान हो तो मन धातु से णिनि और खश प्रत्यय हो। आत्मनं पण्डितं मन्यते पण्डित-मन्य, पण्डितमानी। 'आत्ममान' ग्रहण से यहां खश प्रत्यय न हुआ—विष्णुमित्र पण्डितं मन्यते पण्डितमानी।

११२७—इष एकाचोऽम् प्रत्ययवच्च ॥६।३।६८॥

खिदन्त उत्तरपद परे हो तो इजन्त एकाच् को अम् आगम हो और वह अम् विभक्ति के तुल्य हो। गां मन्य। यहां (नामि० १०९) से ओकार को आकारादेश होता है। स्त्रींमन्य, श्रियंमन्य ? यहां (नामि० ८८) से इयङ् विकल्प करके होता है। इच्ग्रहण से यहां न हुआ—स्वमन्यः। एकाच् ग्रहण से यहां न हुआ लेखाभ्रुंमन्यः।

११२८—भूते ॥ ३। २। ८४ ॥

यहां से जो प्रत्यय विधान करें सो भूतकाल में हों। यह अधिकार वर्तमानाधिकार से पूर्व पूर्व है।

११२९—करणे यजः ॥ ३। २। ८५ ॥

करण उपपद हो तो भूतकाल में यज धातु से णिनि प्रत्यय हो। सोमेनेष्टवान् सोमयाजी, अग्निष्टोमेनायाक्षीत् अयष्ट वा अग्निष्टोमयाजी। भूतकाल से अन्यत्र—अग्निष्टोमेन यजते।

११३०—कर्मणि हनः ॥ ३। २। ८६ ॥

कर्म उपपद हो तो हन धातु से भूतकाल में णिनि प्रत्यय हो। पितृव्यघाती। मातुलघाती। [कुत्सितग्रहणं कर्तव्यम्। महाभाष्य ३। २। ८७ ॥ इससे यहां न हुआ—चोरं हतवान्।] यहां से सह[1] पर्यन्त कर्माधिकार है।

११३१—ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् ॥ ३। २। ८७ ॥

ब्रह्मन्, भ्रूण, वृत्र ये कर्म उपपद हों तो भूतकाल में [illegible] धातु से क्विप् प्रत्यय हो। ब्रह्माणमवधीत् ब्रह्महा, भ्रूणहा, वृत्रहा। धातुमात्र से क्विप् प्रत्यय का विधान कर चुके हैं इससे यह ब्रह्मादि विषय क्विप् प्रत्यय नियमार्थ है। वह यहां दो प्रकार का नियम है—प्रथम भूतकाल में ब्रह्मादिक ही उपपद हों तो हन धातु से क्विप्

1. सू० ११३७ पर्यन्त।

हो, अन्योपपद हो तो न हो। इससे—'पुरुषं हतवान्' यहां क्विप् न हुआ। दूसरा—भूतकाल में ब्रह्मादिक उपपद हों तो हन से क्विप् ही हो, किन्तु और प्रत्यय न हो। इससे —'वृत्रमवधीत्' यहां कर्मोपपद अण् भी नहीं होता।

११३२—बहुलं छन्दसि ॥ ३ । २ । ८८ ॥

वेदविषय में कर्म उपपद हो तो हन धातु से बहुल करके क्विप् प्रत्यय हो। मातृहा सप्तमं नरकं प्रविशेत्, पितृहा, भ्रातृहा। कहीं नहीं भी होता—अमित्रघातः।

११३३—सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः ॥३।२।८९॥

स्वादिक कर्म उपपद हों तो कृञ् धातु से भूतकाल में क्विप् प्रत्यय हो। शोभनं कृतवान् सुकृत्, कर्मकृत्, पापकृत्, मन्त्रकृत्, पुण्यकृत्। यहां तीन[1] प्रकार का नियम है। प्रथम—स्वादिक उपपद हों तो कृञ् से क्विप् ही हो और प्रत्यय न हो। इससे—'कर्म कृतवान्' यहां अण् नहीं होता। दूसरा—स्वादिक उपपद हों तो कृञ् ही से क्विप् हो, इससे—'मन्त्रमधीतवान्' यहां क्विप् न हुआ। [तीसरा]—स्वादिक उपपद हों तो भूतकाल ही में कृञ् से क्विप् हो, अन्यकाल मे न हो। इससे 'मन्त्रङ्करोति, करिष्यति वा' यहां क्विप् नहीं होता। स्वादिकों का नियम नहीं है, इससे अन्योपपद में भी सामान्य क्विप् होता है। भाष्यकृत्, शास्त्रकृत्।

११३४—सोमे सुञः ॥ ३ । २ । ९० ॥

सोम कर्म उपपद हो तो भूतकाल में षुञ् धातु से क्विप् प्रत्यय हो। सोमं सुतवान् सोमसुत्।

---

१. अष्टाध्यायी भाष्य में दो प्रकार का नियम कहा है। यह लेख काशिकानुसारी है।

११३५—अग्नौ चेः ॥ ३ । २ । ९१ ॥

अग्नि कर्म उपपद हो तो चिञ् धातु से भूतकाल में क्विप् प्रत्यय हो। अग्नि चितवान् अग्निचित्, अग्निचितौ, अग्निचितः।

११३६—कर्मण्यग्न्याख्यायाम् ॥ ३ । २ । ९२ ॥

कर्म उपपद हो तो भूतकाल में चिञ् धातु से कर्म कारक में क्विप् प्रत्यय हो, जो धातु उपपद और प्रत्यय के समुदाय से अग्न्याधारस्थल विशेष की आख्या पाई जाय। श्येन इव चित· श्येनचित्, कङ्कचित्। अग्नि के लिये जो ईंटों का चयन करना है उसकी संज्ञा है।

११३७—कर्मणीनिर्विक्रियः ॥ ३ । २ । ९३ ॥

कुत्सानिमित्तक कर्म उपपद हो तो विपूर्व डुक्रीञ् धातु से भूतकाल में इनि प्रत्यय हो। सोमं विक्रीतवान् सोमविक्रयी, रसविक्रयी। कर्म वर्तमान था फिर कर्मग्रहण शुद्ध कर्म से अन्य कर्म को ग्रहण करने के लिए है, इससे यहां कुत्सानिमित्तक कर्म का ग्रहण होता है। अत एव यहां न हुआ—धान्यविक्रायः।

सह शब्द उपपद हो तो युधि कृञ् धातुओं से भूतकाल में क्वनिप् प्रत्यय हो। सहायौत्सीत् सहयुध्वा, सहाकार्षीत् सहकृत्वा।

११४१—सप्तम्यां जनेर्डः ॥ ३ । २ । ९७ ॥

सप्तम्यन्त उपपद हो तो भूतकाल में जन धातु से ड प्रत्यय हो। उपसरे जात उपसरज, सरसिज। यहां (सामा० तत्पुरुषे कृति० १२२) सूत्र से सप्तमी का अलुक् भी होता है। लुक् पक्ष में सरोजः।

११४२—पञ्चम्यामजातौ ॥ ३ । २ । ९८ ॥

जाति भिन्न पञ्चम्यन्त उपपद हो तो जन धातु से भूतकाल में ड प्रत्यय हो। संस्काराज्जातः संस्कारजः, पङ्कजः, दुःखजः। अजाति ग्रहण से यहां न हुआ—हस्तिनो जातः, अश्वाज्जातः।

११४३—उपसर्गे च संज्ञायाम् ॥ ३ । २ ।९९॥

उपसर्ग उपपद हो तो भूतकाल में जन धातु से ड प्रत्यय संज्ञा विषय में हो। प्रकर्षेण जाता प्रजाः।

११४४—अनौ कर्मणि ॥ ३ । २ । १०० ॥

कर्म उपपद हो तो अनूपसर्गपूर्वक जन धातु से भूतकाल में ड प्रत्यय हो। राममनुजातो रामानुजः, भरतानुजः।

११४५—अन्येष्वपि दृश्यते ॥ ३ । २ । १०१ ॥

अन्य भी उपपद हों तो भूतकाल में जन धातु से ड प्रत्यय देखा जाता है। सप्तम्यन्तोपपद में कहा है उससे अन्यत्र जैसे—नाजनीति अजः, द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जाता द्विजाः। अजातिविषयक पञ्चम्यन्तोपपद में कहा है उससे अन्यत्र जाति विषय में जैसे—ब्राह्मणजो धर्मः, क्षत्रियजं युद्धम्, वैश्यजो व्यापारः। उपसर्गोपपद से संज्ञा विषय में कहा है उससे अन्यत्र असंज्ञा में—अभिजाः, परिजाः, केशाः। अनुपूर्वक से कर्मोपपद में कहा है, अन्यत्र—

अनुजात, अनुज । अपि शब्द सर्वोपाधिनिवृत्ति के लिये है, इससे यहां भी होता है—परित खाता परिखा[1], आखा[1] ।

११४६—क्तक्तवतू निष्ठा ॥ १ । १ । ४० ॥

क्त क्तवतु ये निष्ठा संज्ञक हों ।

११४७—निष्ठा ॥ ३ । २ । १०२ ॥

भूतकाल में धातु से निष्ठा संज्ञक प्रत्यय हों । अकारीति कृत, अकार्षीदिति कृतवान्, भुक्तम्, भुक्तवान् । यह क्त प्रत्यय कर्म (९१६) में और क्तवतु कर्ता (९१४) में होता है ।

११४८—निष्ठायामण्यदर्थे ॥ ६ । ४ । ६० ॥

ण्यदर्थ जो भाव कर्म * उससे अन्य अर्थ (कर्ता आदि) में निष्ठा परे हो तो क्षि धातु को दीर्घादेश हो ।

११४९—क्षियो दीर्घात् ॥ ८ । २ । ४६ ॥

दीर्घ क्षि धातु से परे निष्ठा के तकार को नकारादेश हो । अक्षैषीदिति क्षीणवान् । भाव में—क्षितमनेन । कर्म में—क्षित. कामोऽनया ।

११५०—रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ॥८।२।४२॥

रेफ और दकार से परे निष्ठा के तकार को नकारादेश तथा उस निष्ठा से पूर्व धातु के दकार को भी नकारादेश हो । शीर्ण, विस्तीर्णम् । यहां (७६१) सूत्र से ऋकार का इकारादेश (संधि०

---

1. महाभाष्य और अष्टाध्यायीभाष्य में "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" इस वार्तिक से इनकी सिद्धि दर्शाई है । यह लेख काशिकानुसारी है ।

* ण्यत कृत्यसंज्ञक प्रत्यय है । कृत्यप्रत्यय (९१६) सूत्र से भाव कर्म में होते हैं इससे ण्यदर्थ भाव कर्म हैं ।

११६४—निर्वाणोऽवाते ॥ ८ । २ ५० ॥

अवात अर्थ में निर्वाण शब्द निपातन है। निर्वाणो मुनि। निवृत्तसुख को मुनि प्राप्त है। यहां वात=पवन से अन्य कर्ता में निर् पूर्वक वा धातु से [पर] निष्ठा तकार को नकारादेश होता है। वात में तो—'निर्वात.' होगा।

११६५—शुषः कः ॥ ८ । २ । ५१ ॥

शुष धातु से परे निष्ठा के तकार को ककारादेश हो। शुष्कः, शुष्कवान्, शुष्कवन्तौ, शुष्कवन्त।

११६६—पचो वः ॥ ८ । २ । ५२ ॥

पच धातु से निष्ठा के तकार को वकारादेश हो। पक्व, पक्ववान्।

११६७—क्षायो मः ॥ ८ । २ । ५३ ॥

क्षै धातु से परे निष्ठा के तकार को मकारादेश हो। क्षाम, क्षामवान्।

११६८—स्त्यः प्रपूर्वस्य ॥ ६ । १ । २३ ॥

निष्ठा परे हो तो प्र पूर्वक स्त्यै धातु को सम्प्रसारण हो।

११६९—प्रस्त्योऽन्यतरस्याम् ॥८।२।५४॥

प्रपूर्वक स्त्य धातु से परे निष्ठा के तकार को मकारादेश विकल्प करके हो। प्रस्तीम, प्रस्तीमवान्, प्रस्तीत, प्रस्तीतवान्।

११७०—आदितश्च ॥ ७ । २ । १६ ॥

आकार जिसका इत्संज्ञक हो उससे परे निष्ठा को इट् न हो।

निष्ठा परे हो तो प्रति से परे श्यैङ् धातु को संप्रसारण हो। प्रतिशीन, प्रतिशीनवान्।

११६०—विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य ॥६।१।२६॥

निष्ठा परे हो तो अभि अव पूर्वक श्यैङ् धातु को विकल्प करके सम्प्रसारण हो। अभिशीनम्, अभिश्यानम्। अवशीनम्, अवश्यानम्। द्रवमूर्तिस्पर्शनिवृत्ति में भी विकल्प होता है। अभिशीनम्, अभिश्यानम्, अवशीनम्, अवश्यानम् वा घृतम्, अभिशीतः, अभिश्यान, अवशीत, अवश्यानो वा वायु। यह व्यवस्थित विभाषा है इससे अभि, अव और किसी के साथ न हो तो संप्रसारण नहीं होता। समवश्यान। समभिश्यान।

११६१—अञ्चोऽनपादाने ॥ ८ । २ । ४८ ॥

अनपादान में अञ्चु धातु से परे निष्ठा के तकार को नकारादेश हो।

११६२—यस्य विभाषा ॥ ७ । २ । १५ ॥

जिस धातु के विषय में कहीं विकल्प करके इट् कहा है उससे निष्ठा में इडागम न हो। सम्+अञ्चु+त=समक्न, न्यक्न। उदित् धातु से क्त्वा प्रत्यय को विकल्प करके इडागम कहेंगे[1]। इससे यहां इट् (४७) न हुआ। अनपादान ग्रहण से यहां न हुआ—उदक्तमुदकं कूपात्।

११६३—दिवोऽविजिगीषायाम् ॥८।२।४९॥

अविजिगीषा=न जीतने की इच्छा अर्थ में दिवु धातु से परे निष्ठा के तकार को नकारादेश हो। आद्यून। अविजिगीषाग्रहण से यहां न हुआ—द्यूतं वर्तते।

---

१ उदितो वा। अ० १५४४।

११६४—निर्वाणोऽवाते ॥ ८ । २ । ५० ॥

अवात अर्थ में निर्वाण यह निपातन है। निर्वाणो मुनि। निर्वृत्तसुख को मुनि प्राप्त है। यहां वात=पवन से अन्य कर्ता में निर् पूर्वक वा धातु मे [पर] निष्ठा तकार को नकारादेश होता है। वात में तो—'निर्वातः' होगा।

११६५—शुषः कः ॥ ८ । २ । ५१ ॥

शुष धातु से परे निष्ठा के तकार को ककारादेश हो। शुष्कः, शुष्कवान्, शुष्कवन्तौ, शुष्कवन्त।

११६६—पचो वः ॥ ८ । २ । ५२ ॥

पच धातु से निष्ठा के तकार का वकारादेश हो। पक्व, पक्ववान्।

११६७—क्षायो मः ॥ ८ । २ । ५३ ॥

क्षै धातु से परे निष्ठा के तकार को मकारादेश हो। क्षामः, क्षामवान्।

११६८—स्त्यः प्रपूर्वस्य ॥ ६ । १ । २३ ॥

निष्ठा परे हो तो प्र पूर्वक स्त्यै धातु को सम्प्रसारण हो।

११६९—प्रस्त्योऽन्यतरस्याम् ॥८।२।५४॥

प्रपूर्वक स्त्यै धातु से परे निष्ठा के तकार को मकारादेश विकल्प करके हो। प्रस्तीम, प्रस्तीमवान्, प्रस्तीत, प्रस्तीतवान्।

११७०—आदितश्च ॥ ७ । २ । १६ ॥

आकार जिसका इत्संज्ञक हो उससे परे निष्ठा को इट् आगम न हो।

११७१—ति च ॥ ७ । ४ । ८९ ॥

तकारादि कित् परे हो तो चर, फल धातुओं के अकार को उकारादेश हो।

११७२—अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः ॥ ८ । २ । ५५ ॥

उपसर्ग से न परे हों तो फुल्ल, क्षीब, कृश और उल्लाघ ये निपातन हैं। फुल्ल। यहां 'त्रिफला विशरणे' धातु से निष्ठा के त को लत्व निपातन और (११७०) से इट् निषेध तथा (११७१) से चकार होता है। इस धातु से निष्ठा को लकार एकदेश में भी इष्ट है। फुल्लवान्। क्षीबृ मदे—क्षीब¹। मत्त का नाम है। कृश तनूकरणे—कृश। दुबलशरीर। उत् पूर्व 'लाघ सामर्थ्ये' से—उल्लाघ। नीरोग कहाता है। इन प्रयोगों में निष्ठा के तकार का लोप और उस के असिद्ध (सन्धि० ११८) होने से प्राप्त इट् का निषेध निपातन है। उपसर्ग से परे उक्त निपातन नहीं होते हैं जैसे—प्रफुल्लित, प्रक्षीबित, प्रकृशित प्रोल्लाघितः। प्रफुल्लशब्द तो फुल्ल विकसने धातु से (९७७) सूत्र से होगा।

११७३—वा०—उत्फुल्लसंफुल्लयोरिति वक्तव्यम् ॥ ८ । २ । ५५ ॥

त्रिफला धातु से निष्ठा के तकार को लकारादेश विधान में उत्फुल्ल संफुल्ल इन शब्दों का भी उपसंख्यान करना चाहिये। उत्फुल्ल, संफुल्ल।

११७४—नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम् ॥ ८ । २ । ५६ ॥

१ 'क्षीब पद में दो प्रकार से निपातन माना है। प्रथम—'क्षीव इ त' इस अवस्था में इट् भाग का लोप (इस पक्ष में 'त प्रत्यय का 'अ' प्रकार में मिल जाता है)। दूसरा—इट् करने से पूर्व तकार का लोप। देखो सन्धिविषय सूत्र १२४ पृष्ठ ६१ की टिप्पणी ५॥

नुद, विद, उन्द, त्रा, घ्रा, ह्री इन धातुओं से परे निष्ठा के तकार और पूर्व दकार को नकारादेश विकल्प करके हो। नुद—नुन्न, नुत्तः। विद—विन्न, वित्तः। यहां रुधादिगणस्थ 'विद विचारणे' धातु का ग्रहण है। उन्दी—उन्द+त, यहां—

११७५—श्वीदितो निष्ठायाम् ॥ ७। २। १४॥

श्वि और ईदित् धातु से परे निष्ठा को इट् आगम न हो। इससे इट् का निषेध होकर—उन्नः, उत्तः। त्रा—त्राणः, त्रातः। घ्रा—घ्राणः, घ्रातः। ह्री—ह्रीणः, ह्रीतः।

११७६—न ध्याख्यापृमूर्छिमदाम् ॥८।२।५७॥

ध्या ख्या पृ मूर्छि मद इनसे परे निष्ठा को नकारादेश न हो। ध्यातः, ध्यातवान्, ख्यातः, ख्यातवान्, पूर्तः, पूर्तवान्, मूर्तः, (५६०) मूर्तवान्, मत्तः, मत्तवान्।

११७७—वित्तो भोगप्रत्यययोः ॥८।२।५८॥

भोग और प्रत्यय=प्रतीत अर्थ में 'वित्त' यह निपातन हो। भोग—बहुवित्तमस्य। इसके बहुत धन है। सब प्रकार धन ही भोगते हैं इससे भोग अर्थ प्रकाशित होता है। प्रत्यय—वित्तोऽयं पुरुषः। पुरुष प्रतीत हुआ है। यहां विदॢ का ग्रहण है। उक्त अर्थों से अन्यत्र—'विन्नः' होगा।

वेत्तेस्तु विदितो निष्ठा विद्यतेर्विन्न इष्यते। विन्तेर्विन्नश्च वित्तश्च भोगे वित्तश्च विन्दतेः। महाभाष्य ८।२।५८॥ 'विद ज्ञाने' से निष्पन्न—विदितः। और 'विद सत्तायाम्' से निष्पन्न—विन्न। तथा 'विद विचारणे' से निष्पन्न—(११७४) विन्न, वित्तः। और भोग वा प्रत्यय में 'विदॢ लाभे' से—वित्तः, इष्ट है। यहां कारिका में 'भोग' उपलक्षण मात्र है इससे 'प्रत्यय' का भी ग्रहण है।

११७८—भित्तं शकलम् ॥ ८। २। ५९ ॥

शकल (टुकड़ा) वाच्य हो तो भित्त यह निपातन है। भिदिर्—भित्तं शकलम्। अन्यत्र—भिन्नम्।

११७९—ऋणमाधमर्ण्ये ॥ ८। २। ६० ॥

आधमर्ण्य—ऋण का लेना अर्थ मे ऋण यह निपातन हो। ऋणं धारयति। यहां ऋ धातु से निष्ठा के तकार का नकारादेश निपातन है। आधमर्ण्य ग्रहण से यहां न हुआ—ऋतं वक्ष्यामि। ऋणे अधमः अधमर्णः, अधमर्णस्य भावः आधमर्ण्यम्। ऋण में जो लेने वाला है वह अधम कहाता है। यहां समास में सप्तम्यन्त ऋण शब्द का अपूर्वनिपात "आधमर्ण्य" इस निर्देश को देखकर होता है तथा यह 'आधमर्ण्य' उपलक्षण भी है इससे 'उत्तमर्ण' यह भी होता है।

११८०—नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्तसूर्तगूर्त्तानि छन्दसि ॥ ८। २। ६१ ॥

वेदविषय में नसत्त, निषत्त, अनुत्त, प्रतूर्त, सूर्त, गूर्त ये निपातन हैं। नसत्तमञ्जसा। निषत्तमस्य चरतः। इन में नञ् और निपूर्वक सद् धातु से निष्ठा तकार का नकारादेश का अभाव निपातन है। लोक में—'असन्न निषण्ण' होंगे। अनुत्तमा ते मघवन्। यहां नञ् पूर्वक उन्दी से निष्ठा को नत्वाभाव निपातन है। अनुन्न। यह लोक में होगा। प्रतूर्त्तं वाजिनम्। यहां त्वर वा तुर्वी धातु से निष्ठा का नत्वाभाव। लोक में—प्रतूर्णम्। सूर्त्ता गावः। यहां सृ धातु से निष्ठा को नत्वाभाव [और धातु का उत्त्व निपातन है।] लोक में—सृता गूर्त्ता अमृतस्य। यहां गूरी से निष्ठा को नत्वाभाव। लोक में—गूर्णम्।

११८१—स्फायः स्फी निष्ठायाम् ॥६।१।२२॥

निष्ठा परे हो तो स्फाय धातु को स्फी आदेश हो । स्फायी—स्फीत, स्फीतवान । निष्ठाग्रहण से यहां न हुआ—स्फाति । यहां क्तिन् प्रत्ययान्त है ।

११८२—इण् निष्ठायाम् ॥ ७ । २ । ४७ ॥

निर् से परे जो कुष धातु उससे निष्ठा परे हो तो इसको इडागम हो । निष्कुषित ।

११८३—वसतिक्षुधोरिट् ॥ ७ । २ । ५२ ॥

वस और क्षुध धातु से परे क्त्वा और निष्ठा को इट् का आगम हो । वस—उषित, उषितवान् । क्षुध—क्षुधित, क्षुधितवान् ।

११८४—अञ्चेः पूजायाम् ॥ ७ । २ । ५३ ॥

पूजार्थ में अञ्चु से क्त्वा और निष्ठा को इडागम हो । अञ्चिता अस्य गुरव । पूजा से अन्यत्र—उदक्तमुदकं कूपात् ।

११८५—लुभो विमोहने ॥ ७ । २ । ५४ ॥

विमोहन=व्याकुल करना अर्थ में वर्तमान लुभ धातु से परे क्त्वा और निष्ठा को इट् आगम हो । विलुभित, विलुभितानि पदानि । विमोहन ग्रहण से यहां न हुआ—लुब्धा भूपल ।

११८६—क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः ॥७।२।५०॥

क्लिश धातु से परे क्त्वा और निष्ठा को विकल्प करके इट् आगम हो । क्लिष्ट, क्लिष्टवान्, क्लिशित, क्लिशितवान् । यहां 'क्लिश उपतापे' और 'क्लिशू विबाधने' इन दोनों का ग्रहण है ।

११८७—पूङश्च ॥ ७ । २ । ५१ ॥

पूङ् धातु से क्त्वा और निष्ठा को इडागम विकल्प करके हो । पू + इ + त । यहां—

११६३—मृषस्तितिक्षायाम् ॥ १ । २ । २० ॥

मृष धातु से परे तितिक्षा=सहन अर्थ में इट् सहित निष्ठा कित् न हो। मर्षित, मर्षितवान्। तितिक्षाग्रहण से यहां न हुआ—अपमृषितं वाक्यम्। स्पष्टाक्षर वाक्य नहीं है।

११६४—उदुपधाद्भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम् ॥ १ । २ । २१ ॥

उकारोपध धातु से परे भाव और आदिकर्म में जो सेट् निष्ठा सो विकल्प करके कित् न हो। प्रद्युतितम्, प्रद्योतितं वाऽनेन, प्रद्योतितः, प्रद्युतितः साधुः, प्रमुदितम्, प्रमोदितमनेन, प्रमुदित, प्रमोदितः साधुः। उदुपधग्रहण से यहां न हुआ—लिखितमनेन, विदितमनेन। भावादिकर्मग्रहण से यहां न हुआ—रुचितं कार्षापणं ददाति। सेट्ग्रहण से यहां न हुआ—प्रभुक्त ओदनः। यहां शब्विकरण धातुओं का ग्रहण इष्ट है।

११६५—शब् विकरणेभ्य एवेष्यते। महाभाष्ये। १ । २ । २१ ॥

इससे यहां न हुआ—गुधितः, गुधितवान्।

११६६—निष्ठायां सेटि ॥ ६ । ४ । ५२ ॥

सेट् निष्ठा परे हो तो णि प्रत्यय का लोप हो। भावितः, भावितवान्।

गुहू—गूढः, गूढवान्। वनु—वतः। तनु—ततः (३०३)। पत्लृ—पतितः। यद्यपि पत् धातु को विकल्प करके इट् (५१९) से विहित है, इससे निष्ठा में इट् निषेध भी (११६२) से प्राप्त है, तथापि (सामा० द्वितीया० ७५) सूत्र में पतित शब्द के ग्रहण से 'पतित' यहां इडागम (४७) स होता है।

११८८—पूङः क्त्वा च ॥ १ । २ । २२ ॥

पूङ् धातु से परे [सेट्] क्त्वा और निष्ठा कित् न हो। पवितः। इट् विकल्प में—पूत ।

११८९—निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः ॥ १ । २ । १९ ॥

शीङ्, ञिष्विदा, ञिमिदा, ञिक्ष्विदा, ञिधृषा इन से परे सेट् निष्ठा कित् न हो। शीङ्-शयित, शयितवान्। यहां ङकारोच्चारण यङ्लुगन्त की निवृत्ति के लिये है[1]। शेशीत., शेशीतवान्।

११९०—वा०—आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या ॥ ३ । २ । १०२ ॥

आदिकर्म=क्रिया के प्रारम्भ में धातु से निष्ठा संज्ञक प्रत्यय कहना चाहिये।

११९१—आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च ॥३।४।७१॥

आदिकर्म में जो क्त प्रत्यय विहित है वह कर्ता और भाव कर्म में हो।

११९२—विभाषा भावादिकर्मणोः ॥७।२।१७॥

आकार जिसका इत् संज्ञक हो उस धातु से परे भाव और आदिकर्म में जो निष्ठा उसको विकल्प करके इट् आगम न हो। प्रस्वेदितम् मैत्रेण। मैत्र ने प्रस्वेद किया। प्रस्वेदितश्चैत्र। चैत्र प्रस्वेद को प्राप्त हुआ। प्रस्वेदितवान्, प्रमदितम्, प्रमेदितः, प्रमेदितवान्, प्रक्ष्वेदितम्, प्रक्ष्वेदितः, प्रक्ष्वेदितवान्, प्रधर्षितम्, प्रधर्षितवान्, प्रधर्षितवान्।

1. श्तिपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद्गणेन च ।
यत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि ॥
इसकी व्याख्या पूर्व कर चुके हैं।

११६३—मृषस्तितिक्षायाम् ॥ १ । २ । २० ॥

मृष धातु से परे तितिक्षा—सहन अर्थ में इट् सहित निष्ठा कित् न हो। मर्षितः, मर्षितवान्। तितिक्षाग्रहण से यहां न हुआ—अपमृषितं वाक्यम्। स्पष्टाक्षर वाक्य नहीं है।

११६४—उदुपधाद्भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम् ॥ १ । २ । २१ ॥

उकारोपध धातु से परे भाव और आदिकर्म में जो सेट् निष्ठा सो विकल्प करके कित् न हो। प्रद्युतितम्, प्रद्योतितं वाऽनेन, प्रद्योतितः, प्रद्युतितः साधुः, प्रमुदितम्, प्रमोदितमनेन, प्रमुदितः, प्रमोदितः साधुः। उदुपधग्रहण से यहां न हुआ—लिखितमनेन, स्विदितमनेन। भावादिकर्मग्रहण से यहां न हुआ—रुचितं कार्षापणं ददाति। सेट्ग्रहण से यहां न हुआ—प्रभुक्त ओदनः। यहां शप्विकरण धातुओं का ग्रहण इष्ट है।

११६५—शप् विकरणेभ्य एवेष्यते। महाभाष्ये। १ । २ । २१ ॥

इससे यहां न हुआ—गुधितः, गुधितवान्।

११६६—निष्ठायां सेटि ॥ ६ । ४ । ५२ ॥

सेट् निष्ठा परे हो तो णि प्रत्यय का लोप हो। भावितः, भावितवान्।

गुह—गूढः, गूढवान्। वनु—वतः। तनु—ततः (३०२)। पतॢ—पतितः। यद्यपि पत् धातु को विकल्प करके इट् (५११) से विहित है, इससे निष्ठा में इट् निषेध भी (११६२) से प्राप्त है, तथापि (सामा॰ द्वितीया॰ ७५) सूत्र में पतित शब्द के ग्रहण से 'पतित' यहां इडागम (४०) से होता है।

११६७—क्षुब्धस्वान्तध्वान्तलग्नम्लिष्टविरिब्धफाण्टबाढानि मन्थमनस्तमःसक्ताऽविस्पष्टस्वरानायासभृशेषु ॥ ७ । २ । १८ ॥

मन्थ, मनस्, तमस्, सक्त, अविस्पष्ट, स्वर, अनायास, भृश इन अर्थों में यथासंख्याकरके क्षुब्ध, स्वान्त, ध्वान्त, लग्न, म्लिष्ट, विरिब्ध, फाण्ट, बाढ ये इट् रहित निपातन हैं । क्षुभ संचलने—क्षुब्धो मन्थः । मन्थ यह मथनी आदि जो मन्थनदण्ड है उन का नाम है । मन्थ से अन्यत्र—क्षुभितम् । स्वन ध्वन शब्दे—स्वान्तं मनः, ध्वान्तं तमः । अन्यत्र—स्वनितम्, ध्वनितम् । लगे सङ्गे—लग्नं सक्तम् । जो किसी में लग रहा है । यहां निष्ठा को नकारादेश भी निपातन है । अन्यत्र—लगितम् । म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे—म्लिष्टम् अविस्पष्टम् । जो अच्छे प्रकार स्पष्ट न हो । रेभृ शब्दे—विरिब्धः स्वरः । इन दोनों प्रयोगों में एकार को इकार भी निपातन है । अन्यत्र—म्लेच्छितम्, विरेभितम् । फण गतौ—फाण्टम् अनायाससाध्य क्वाथम् । बिना परिश्रम से सिद्ध होने वाले काढ़े को कहते हैं अर्थात् जो औषधि पकाई वा पीसी न जाय किन्तु जल में भिगोने से उससे जो रस उत्पन्न हो और उस को पीछे से कुछ उष्ण कर लिया जाय वह अनायाससाध्य काढा फाण्ट कहाता है । अन्यत्र—फाणितम् । बाहृ प्रयत्ने—बाढं भृशम् । अतिशय को कहते हैं । अन्यत्र—बाहितम् ।

११६८—धृषिशसी वैयात्ये ॥ ७ । २ । १९ ॥

निष्ठा परे हो तो वैयात्य=अविनय * अर्थ में निधृषा और

* विरूपं यातं गमनं चेष्टनं यस्य स वियातस्तस्य भावो वैयात्यमविनयः । जिसका विरूप गमन = चेष्टा है वह वियात कहाता है, उसका होना वैयात्य अर्थात् अविनय कहाता है ॥

शसु अनिट् हों अन्यत्र न हों। निघृष्टः—अयं धृष्टः पुरुषः। यह ढीठ पुरुष है। शस्तः—अयं विशस्तः पुरुषः। यह हिंसक पुरुष है। 'विघृषा' से निष्ठा को इट् निषेध (११७०) सूत्र से सिद्ध तथा 'शसु' से (११६२) सूत्र से सिद्ध है इससे वैयात्य अर्थ में यह अनिट् विधान करना नियमार्थ है अर्थात् वैयात्य ही अर्थ में धृषि, शसि, अनिट् हों अन्यत्र न हों। वैयात्य से अन्यत्र—धर्षित, विशसित।

११९९—दृढः स्थूलबलयोः ॥ ७ । २ । २० ॥

स्थूल और बलवान् ये अर्थ वाच्य हों तो 'दृढ' यह निपातन है। दृढः स्थूलः। दृढो बलवान्। यहां 'दृह, दृहि वृद्धौ' इन दोनों धातुओं से क्त प्रत्यय को इट् का अभाव और ढकारादेश तथा धातु के हकार का लोप और दृहि के इदित्‌भाव से (११८) हुए नकार का लोप निपातन है स्थूल और बल से अन्यत्र—दृहितं, दृंहितं।

१२००—प्रभौ परिवृढः ॥ ७ । २ । २१ ॥

प्रभु वाच्य हो तो 'परिवृढ' यह निपातन है। परिवृढः कुटुम्बी। यहां "वृह, वृहि वृद्धौ" इनसे दृढ शब्द के तुल्य समस्त कार्य होते हैं। प्रभु अर्थ से अन्यत्र—परिवृहितं, परिवृंहितं।

१२०१—कृच्छ्रगहनयोः कषः ॥७।२।२२॥

कृच्छ्र=दुःख वा दुःख का निमित्त और गहन=सघन अर्थ में कष धातु से निष्ठा को इडागम न हो। कृच्छ्रे—कष्टं दुःखम्, कष्टो रोगः। दुःख तथा दुःख का निमित्त रोग आदि कष्ट कहाता है। गहन—कष्टाः पर्वताः, कष्टानि वनानि। कृच्छ्रगहन से अन्यत्र—कषितं सुवर्णम्।

अध्ययन अर्थ में एयन्त वृतु धातु से निष्ठा को इट् का अभाव और णिच् का लोप निपातन है। वृत्तं व्याकरणमनेन। इसने व्याकरण का संपादन कर लिया। अध्ययन से अन्यत्र—वर्त्तिता॰ रज्जुः। वर्त्ती [=बटी] हुई डोरी है।

१२०६—शृतं पाके ॥ ६ । १ । २७ ॥

क्तप्रत्यय के परे पाक अर्थ में णिजन्त वा णिच् रहित श्रा धातु को शृभाव निपातन है।

१२०७—वा॰—क्षीरहविषोरिति वक्तव्यम् ॥
६ । १ । २७ ॥

उक्त शृभाव क्षीरहविर्विषयक पाक अर्थ में कहना चाहिये। श्रा पाके—शृतं क्षीरं स्वयमेव, शृतं हविः स्वयमेव। णिजन्त—शृतं क्षीरं देवदत्तेन। अन्यत्र—श्राणा (११५१) श्रपिता वा यवागूः। श्रा धातु अकर्मक है इससे कर्मकर्त्तृ विषयक पच धातु के अर्थ में वर्तमान है णिजन्त श्रा धातु से फिर प्रयोजकव्यापार में णिच् किया जाय। जैसे–श्रा+पुक्+णिच्+णिच्+क्त+सु–यहां—

१२०८—वा॰—श्रपेः शृतमन्यत्र हेतोरिति
वक्तव्यम् ॥ ६ । १ । २७ ॥

णिजन्त श्रा=श्रपि धातु से जो हेतु अर्थात् प्रयोजक व्यापार उससे अन्यत्र शृभाव निपातन करना चाहिये। शृभाव का निषेध होकर—अश्रपि क्षीरं देवदत्तेन यज्ञदत्तेन, श्रपितं क्षीरं देवदत्तेन यज्ञदत्तेनेति।

१२०६—वा॰-दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टछन्नज्ञप्ताः ॥
७ । २ । २७ ॥

१२०२—घुषिरविशब्दने ॥ ७ । २ । २३ ॥

निष्ठा परे हो तो अविशब्दन=विशब्दन प्रतिज्ञा उससे अन्य अर्थ में घुषिर् धातु अनिट् हो । घुष्टा रज्जुः । अविशब्दनग्रहण से यहां न हुआ—अवघुषितं वाक्यमाह । अर्थात् प्रतिज्ञातवाक्य कह रहा है । चुरादिगणस्थ घुषिर् धातु से * जो णिच् होता है उस की अनित्यता में अविशब्दन निषेध ज्ञापक है ।

१२०३—अर्देः संनिविभ्यः ॥ ७ । २ । २४ ॥

सम् नि वि इन से परे जो अर्द धातु उससे परे निष्ठा को इट् आगम न हो । समर्णः (११५०), न्यर्णः, व्यर्णः । अर्दग्रहण से यहां न हुआ—समेधितः । सन्निविग्रहण से—"अर्दितः" यहां न हुआ ।

१२०४—अभेश्चाविदूर्ये ॥ ७ । २ । २५ ॥

आविदूर्य=जो बहुत दूर न हो वा अति समीप हो उस अर्थ में अभि से परे जो अर्द धातु उससे परे निष्ठा को इट् न हो । अभ्यर्णम् (११५०) । अन्यत्र—शीतेनाभ्यर्दितो वृषभः । वृषभ शीत से पीड़ित हो रहा है ।

१२०५—णेरध्ययने वृत्तम् ॥ ७ । २ । २६ ॥

---

* घुषिर् धातु पिछले दो गणों में पढ़ा है अर्थात् भ्वादिगण में "घुषिर् अविशब्दने" तथा चुरादिगण में "घुषिर् विशब्दने" इन दोनों में से अविशब्दन अर्थ में निष्ठा के परे घुषिर् धातु अनिट् है । विशब्दन में अनिट् नहीं है । यहां यह शंका है कि विशब्दन में इट् निषेध क्यों किया अर्थात् विशब्दन में चुरादि णिच् होकर घोषि हो जाता है, किन्तु घुष नहीं रहता है इससे (अविशब्दने) यह ज्ञापक है कि चुरादि णिच् उक्त धातु से अनित्य है ।

अध्ययन अर्थ में एयन्त वृतु धातु से निष्ठा को इट् का अभाव और णिच् का लोप निपातन है। वृत्तं व्याकरणमनेन। इसने व्याकरण का सपादन कर लिया। अध्ययन से अन्यत्र—वर्त्तिता रज्जु.। वर्त्ती [=वटी] हुई डोरी है।

१२०६—शृतं पाके ॥ ६ । १ । २७ ॥

क्तप्रत्यय के परे पाक अर्थ में णिजन्त वा णिच् रहित श्रा धातु को शृभाव निपातन है।

१२०७—वा०—क्षीरहविषोरिति वक्तव्यम् ॥
६ । १ । २७ ॥

उक्त शृभाव क्षीरहविर्विषयक पाक अर्थ में कहना चाहिये। श्रा पाके—शृतं क्षीरं स्वयमेव, शृतं हविः स्वयमेव। णिजन्त— शृतं क्षीरं देवदत्तेन। अन्यत्र—श्राणा (११४१) श्रपिता वा यवागू। श्रा धातु अकर्मक है इससे कर्मकर्तृ विषयक पच धातु के अर्थ में वर्त्तमान है णिजन्त श्रा धातु से फिर प्रयोजकव्यापार में णिच् किया जाय। जैसे श्रा+पुक्+णिच्+णिच्+क्त+सु=यहा—

१२०८—वा०—श्रपेः शृतमन्यत्र हेतोरिति
वक्तव्यम् ॥ ६ । १ । २७ ॥

णिजन्त श्रा=श्रपि धातु से जो हेतु अर्थात् प्रयोजक व्यापार उससे अन्यत्र शृभाव निपातन करना चाहिये। शृभाव का निषेध होकर—श्रपितं क्षीरं देवदत्तेन यज्ञदत्तेन, श्रपितं क्षीरं देवदत्तेन यज्ञदत्तेनेति।

१२०९—वा०—दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टछन्नज्ञप्ताः ॥
७ । २ । २७ ॥

णिच् विषय में दान्त, शान्त, पूर्ण, दस्त, स्पष्ट, छन्न, ज्ञप्त ये विकल्प करके निपातन हैं। दमु—दान्तः (५८८), पक्ष में—दमितः। शमु—शान्तः, शमित। पूरी—पूर्णः, पूरितः। दसु—दस्तः, दासितः। स्पश—स्पष्टः, स्पाशितः। छद—छन्नः, छादितः। इन दान्तादिकों में णिलुक् और इट् का अभाव निपातन है। ज्ञप—ज्ञप्तः, ज्ञापितः। ज्ञप्त का ग्रहण विकल्पार्थ इट् विधान के लिए है क्योंकि ज्ञप से (५१५) सूत्र से इट् विकल्प विधान है इससे (११६२) सूत्र से नित्य इट् प्रतिषेध प्राप्त है।

१२१०—रुष्यमत्वरसंघुषास्वनाम् ॥७।२।२८॥

रुष अम त्वर संघुष् आस्वन—इन धातुओं से निष्ठा को इट् आगम विकल्प करके हो। रुष—रुष्टः, रुषितः। (२१२) से इट् विकल्प, (११६२) सूत्र से निषेध प्राप्त था। अम—आन्तः, (५८८) अमितः। ञित्वरा—तूर्णः, त्वरित। (११७०) इट् प्रतिषेध प्राप्त था। संघुषिर्—संघुष्ट, संघुषित। आस्वन—आस्वान्त, आस्वनितः।

१२११—हृषेर्लोमसु ॥ ७ । २ । २९ ॥

लोम विषय में वर्तमान हृष धातु से परे निष्ठा को विकल्प करके इट् आगम हो।

१२१२-वा०-हृषेर्लोमकेशकर्तृकस्येति वक्तव्यम् ॥ ७ । २ । २९ ॥

उक्त इट् विकल्प लोम और केशकर्तृक हृष धातु से कहना चाहिये। हृष्टानि लोमानि, हृषितानि लोमानि। हृष्टं लोमभिः, हृषितं लोमभिः। हृष्टाः केशाः, हृषिताः केशाः। हृष्टं केशैः, हृषितं केशैः। 'हृषु अलीके' तथा "हृष तुष्टौ" दोनों का ग्रहण है। उनमें हृषु उदित् होने से निष्ठा में (११६२) से अनिट तथा हृष सेट् है। लोम से अन्यत्र—हृषु—हृष्टो देवदत्त हृष—हृषितो देवदत्तः।

१२१३-वा०-विस्मितप्रतिघातयोरिति वक्तव्यम् ॥ ७ । २ । २६ ॥

विस्मित—विस्मय को प्राप्त, प्रतिघात ताडना को प्राप्त इन अर्थों में हृष् धातु को इट् विकल्प करके कहना चाहिये। विस्मित—हृष्टो देवदत्तः, हृषितो देवदत्तः। प्रतिघात—हृष्टा दन्ताः, हृषिता दन्ताः।

१२१४—अपचितश्च ॥ ७ । २ । ३० ॥

अपचित यह विकल्प करके निपातन है। अपचितः, अपचायितो वाऽनेन गुरुः। इसने गुरु सत्कार युक्त किया। यह अपपूर्वक चाय् धातु से निष्ठा को इडभाव और धातु को चिभाव निपातन है।

१२१५—प्यायः पी ॥ ६ । १ । २८ ॥

निष्ठा परे हो तो आप्याय धातु को विकल्प करके पी आदेश हो। आप्यायी वृद्धौ—पानं मुखम्, पानमुख।

१२१६—वा०—आङ्पूर्वादन्धूधसोः ॥६।१।२८॥

आङ्पूर्वक आप्यायी धातु का यदि अन्धु और ऊधस् वाच्य हो तो निष्ठा के परे पी आदेश कहना चाहिए। आपीनोऽन्धुः, आपीन-मूधः। पूर्व सूत्र से सर्वत्र पी आदेश सिद्ध है फिर भी जो आङ्-पूर्वक इत्यादि विधान है सो नियमार्थ है अर्थात् आङ् पूर्वक से निष्ठा के परे अन्धु और ऊधस् ही वाच्य हो तो 'पी' आदेश हो, अन्यत्र न हो—आप्यानश्चन्द्रमाः। तथा यह उभयतोनियम भी है अन्धु ऊधस् वाच्य हों तो आङ्पूर्वक ही से निष्ठा के परे पी आदेश हो। अन्य-पूर्व से न हो—प्रप्यानोऽन्धुः, प्रप्यानमूधः।

१२१७—ह्लादो निष्ठायाम् ॥ ६ । ४ । ६५ ॥

निष्ठा परे हो तो ह्लाद अङ्ग को ह्रस्वादेश हो। प्रह्लन्नः, प्रह्लन्नवान्। निष्ठा ग्रहण से यहां न हुआ—प्रह्लादयति।

१२१८—द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति ॥७।४।४०॥

- तादि कित् परे हो तो द्यति, स्यति, मा, स्था इन अङ्गों को इकारादेश हो। द्यति—दो अवखण्डने—दितः, दितवान्। स्यति—षो अन्तकर्मणि—सित, सितवान्। मा—मा माने, माङ् माने, मेङ् प्रणिदाने'—मितः, मितवान्। स्था—ष्ठा गतिनिवृत्तौ—स्थित, स्थितवान्।

१२१९—शाच्छोरन्यतरस्याम् ॥ ७ । ४ । ४१ ॥

तादि कित् परे हो तो शा, छा अङ्गों को इकारादेश विकल्प करके हो। निशितम्, निशातम्, निशितवान्, निशातवान्, अवच्छि-तम्, अवच्छातम्, अवच्छितवान्, अवच्छातवान्। यह व्यवस्थित विभाषा है इससे व्रतविषय में श्यति को नित्य इकारादेश होता है-संशितं व्रतम्। सम्यक् प्रकार से संपादन किया [हुआ] व्रत है संशितो ब्राह्मण। व्रतविषयक यत्नवान् ब्राह्मण है।

१२२०—दधातेर्हिः ॥ ७ । ४ । ४२ ॥

तादि कित् परे हो तो डुधाञ् धातु को हि आदेश हो। अ हितम्, निहितम्। निहितम्।

लोक में— 'धत्स्व' होता [है], तथा 'धिषीय' आशीर्लिङ् के उत्तमैकवचन म है, लोक में—'धासीय' होता है।

१२२२—दो दद् घोः ॥ ७ । ४ । ४६ ॥

तादि कित् परे हो तो घु संज्ञक दा धातु को दथ् आदेश हो। डुदाञ्—दत्त, दत्तवान्। दा ग्रहण से यहां न हुआ—'धेट् पाने'—धीत, धीतवान्। यहां (३४८) से इकारादेश होता है। घुग्रहण से यहां न हुआ। दैप् शोधने—अवदात मुखम्। उक्त आदेश को दत्, दद्, दध्, दथ्, इनमें कौनसा मानना चाहिए—

का०—तान्ते दोषो दीर्घत्वं स्याद् दान्ते दोषो निष्ठानत्वम्।
धान्ते दोषो धत्वमासिस्थान्तेऽदोषस्तस्मात्थान्तः॥

यदि उसका तान्त अर्थात् "दत्" मानें तो विदत्त, यहां अगले (१२२५) सूत्र से उपसर्ग के इक् को दीर्घादेश * प्राप्त है। दान्त "दद्" मानें तो दद्+त+सु—दत्त.। यहां [११५०] सूत्र से निष्ठा को तथा पूर्व द को नकारादेश प्राप्त है। धान्त "दध्" मानें तो (१४१) सूत्र से निष्ठा तकार को धकार प्राप्त है इससे थान्त 'दथ्' मानना चाहिए क्योंकि थान्त में दोष नहीं है उपसर्ग से परे प्र+दा+त+सु=यहां—

१२२३—अच उपसर्गात्तः ॥ ७ । ४ । ४७ ॥

अजन्त उपसर्ग से परे घु संज्ञक दा धातु को त आदेश हो। आदेश होकर प्रद्त्+त+सु=प्रत्तम्, अवत्तम्।

दस्ति) इस सूत्र का जब यह अर्थ हो कि डुदाञ् धातु का जो तकारान्त आदेश उसके विषय में इगन्तोपसर्ग को दीर्घ हो। तब दीर्घादेश प्राप्त है।

दान्त धान्त पक्ष में भी पारिभाषिकस्य सन्निपात परिभाषा के विरोध से इत्व धत्व नहीं प्राप्त हैं।

१२१८—द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति ॥७।४।४०॥

- तादि कित् परे हो तो द्यति, स्यति, मा, स्था इन अङ्गों को इकारादेश हो। द्यति—दो अवखण्डने—दितः, दितवान्। स्यति—षो अन्तकर्मणि—सितः, सितवान्। मा—मा माने, माङ् माने, मेङ् प्रणिदाने[1]—मितः, मितवान्। स्था—ष्ठा गतिनिवृत्तौ—स्थितः, स्थितवान्।

१२१९—शाच्छोरन्यतरस्याम् ॥ ७ । ४ । ४१ ॥

तादि कित् परे हो तो शा, छा अङ्गों को इकारादेश विकल्प करके हो। निशितम्, निशातम्, निशितवान्, निशातवान्, अवच्छितम्, अवच्छातम्, अवच्छितवान्, अवच्छातवान्। यह व्यवस्थित विभाषा है इससे व्रतविषय में श्यति को नित्य इकारादेश होता है—संशितं व्रतम्। सम्यक् प्रकार से संपादन किया [हुआ] व्रत है। संशितो ब्राह्मणः। व्रतविषयक यत्नवान् ब्राह्मण है।

१२२०—दधातेर्हिः ॥ ७ । ४ । ४२ ॥

तादि कित् परे हो तो डुधाञ् धातु को हि आदेश हो। अभिहितम्, निहितम्। विहितम्।

१२२१—सुधितवसुधितनेमधितधिष्वधिषीय च ॥ ७ । ४ । ४५ ॥

वेदविषय में सुधित, वसुधित, नेमधित, धिष्व, धिषीय ये निपातन हैं। गर्भं माता सुधितं वक्षणासु, वसुधितमग्नौ जुहोति, नेमधिता बाधन्ते। इनमें सु, वसु, नेमपूर्वक "डुधाञ्" धातु को इकारादेश निपातन है। लोक में—सुहित, वसुहित और नेमहित होगा। धिष्व सोमम्, सुरेता रेतो धिषीय। इन दोनों में 'डुधाञ्' को इत्व वा प्रत्यय को इडागम निपातन है। 'धिष्व' लोट् मध्यमैकवचन में है,

---

1. गामादाग्रहणेष्वविशेषः। परि० ९२।

लोक में—'धत्त्व' होता [है], तथा 'धिषीय' आशीर्लिङ् के उत्तमैकवचन में है, लोक में—'धासीय' होता है।

१२२२—दो दद्घोः॥ ७ । ४ । ४६ ॥

तादि कित् परे हो तो घु संज्ञक दा धातु को दथ् आदेश हो। डुदाञ्—दत्त, दत्तवान्। दा ग्रहण से यहां न हुआ—'धेट् पाने'—धीतः, धीतवान्। यहा (३४६) से इकारादेश होता है। घुग्रहण से यहा न हुआ। दैप् शोधने—अवदातं मुखम्। वक्त आदेश को दत्, दद्, दध्, दथ्, इनमें कौनसा मानना चाहिए—

का०—तान्ते दोषो दीर्घत्वं स्याद् दान्ते दोषो निष्ठानत्वम्।
धान्ते दोषो धत्वप्राप्तिस्थान्तेऽदोषस्तस्मात्थान्तः॥

यदि उसको तान्त अर्थात् "दत्" मानें तो विदत्त, यहां अगले (१२२५) सूत्र से उपसर्ग के इक् को दीर्घादेश * प्राप्त है। दान्त "दद्" मानें तो दद्+त+सु=दत्तः। यहा [११५०] सूत्र से निष्ठा को तथा पूर्व द को नकारादेश प्राप्त है। धान्त "दध्" मानें तो (१४१) सूत्र से निष्ठा तकार को धकार प्राप्त है इससे थान्त 'दथ्' मानना चाहिये क्योंकि थान्त में दोष नहीं है उपसर्ग से परे प्र+दा+त+सु=यहा—

१२२३—अच उपसर्गात्तः ॥ ७ । ४ । ४७ ॥

अजन्त उपसर्ग से परे घु संज्ञक दा धातु को त आदेश हो। आदेश होकर प्रद्त्+त+सु=प्रत्तम्, अवत्तम्।

दस्ति) इस सूत्र का जब यह अर्थ हो कि डुदाञ् धातु का जो तकारान्त आदेश उसके विषय में इगन्तोपसर्ग को दीर्घ हो। तब दीर्घादेश प्राप्त है।

दान्त धान्त पक्ष में भी पारिभाषिकस्य सन्निपात परिभाषा के विरोध से दत्त धात्व नहीं प्राप्त हैं।

१२२४—का०—अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तं चादिकर्मणि ।
सुदत्तमनुदत्तं च निदत्तमिति चेष्यते ॥
७ । ४ । ४७ ॥

अवदत्त, विदत्त, आदिकर्म में प्रदत्त, सुदत्त, अनुदत्त तथा निदत्त ये भी इष्ट हैं अर्थात् इन सबों में दा को तकारादेश प्राप्त है सो न हुआ, किन्तु त्थ आदेश होता है। 'चेष्यते' यहां चकारग्रहण से यह जानना चाहिये कि एक पक्ष में तकार आदेश होता भी है[1]।

१२२५—दस्ति ॥ ६ । ३ । १२४ ॥

घुसंज्ञक धातु का जो तकारादि आदेश सो परे हो तो इगन्त उपसर्ग को दीर्घादेश हो। नीत्तम्, वीत्तम्, परीत्तम्। इन में दा के आकार के स्थान में यद्यपि (१२२३) से त आदेश होता है तथापि (सन्धि० २३५) सूत्र से पूर्व द् को चर् होकर तकारादि आदेश हो जाता है। आश्रयात् सिद्धत्वं भविष्यति। महाभाष्ये ६। ३। १२४। चर्त्व के आश्रय से चर् का सिद्धभाव हो जायगा अर्थात् "दस्ति" यहां जो तकारादि का आश्रय किया है इससे चर् (सन्धि० ११८) असिद्ध नहीं होगा।

१२२६—अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति ॥२।४।३६॥

ल्यप् और तादि कित् परे हो तो अद धातु को जग्धि आदेश हो। अद्—जग्धः, जग्धवान्। यहां क्त प्रत्यय के परे अद को जग्धि आदेश इकार की (नामि० ११) इत् संज्ञा, निष्ठा तकार को (१४१) धकार और पूर्वधकार का (सन्धि० २४३) से लोप हो जाता है।

स कटं प्रकृतः,प्रकृतः कटस्तेन। यहां (११९१) सूत्र से आदिकर्म विषयक क्त प्रत्यय कर्ता में होता है। प्रक्षीणः तपस्वी। यहां भी कर्ता

1 'चेष्यते' .... भी है—यह पङ्क्ति असमञ्जस प्रतीत होती है।

में होता और (११४८) से चि धातु को दीर्घ (११४९) सूत्र से निष्ठा को नत्वादेश होता है।

१२२७—वाऽऽक्रोशदैन्ययोः ॥ ६ । ४ । ६१ ॥

भावकर्म से अन्य अर्थ में निष्ठा परे हो तो आक्रोश=कोसना और दैन्य=दीनता अर्थ में चि धातु को विकल्प करके दीर्घादेश हो। आक्रोश—क्षीणायुर्भव। यहां चि को दीर्घादेश होकर (११५९) से निष्ठा को नत्व हो जाता है। द्वितीय पक्ष में—क्षितायुर्भव। दैन्य—क्षितः क्षीणोऽयं वा तपस्वी।

१२२८—वा०—निष्ठादेशः षत्वस्वरप्रत्ययेड्विधिषु सिद्धो वक्तव्यः ॥ ८ । २ । ६ ॥

षत्वविधि, स्वरविधि, प्रत्ययविधि तथा इड्विधि में निष्ठादेश सिद्ध हैं यह कहना चाहिये। षत्व—वृक्णः। वृक्णवान्। यहां (११५६) से निष्ठा को नकारादेश, उसके असिद्ध (सन्धि ११८) होने से च् को (२३३) से षत्व प्राप्त है सो नकारादेश के सिद्ध होने से झल् के अभाव से नहीं होता किन्तु (सन्धि० १९६) कुत्व[1] होता है स्वर आदि विषयों की आवश्यकता न होने से उन के उदाहरण नहीं दिये[2]।

१२२९—गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च ॥ ३ । ४ । ७२ ॥

गति जिन का अर्थ है उनसे तथा अकर्मक, श्लिष, शीङ्, स्था, आस, वस, जन, रुह, जॄ इन धातुओं से विहित जो क्त प्रत्यय सो

१. कुत्व करने में नत्व असिद्ध हो जाता है इसलिए झल् परे कुत्व हो जाता है।

२. इस वार्त्तिक की पूरी व्याख्या सन्धि० क्रमाङ्क १२४ में देखें।

१२३१—ञीतः क्तः ॥ ३ । २ । १८७ ॥

ञि जिसका इत्संज्ञक हो उससे वर्तमान काल में क्त प्रत्यय हो। ञिक्ष्विदा—क्ष्विण्णः, क्ष्विण्णवान्।

१२३२—मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च ॥३।२।१८८॥

मति=इच्छा, बुद्धि=ज्ञान, पूजा=सत्कार इन अर्थों वाले धातुओं से वर्तमान काल में क्त प्रत्यय हो। राज्ञां मतः, राज्ञामिष्टः, राज्ञां बुद्धः, राज्ञां ज्ञातः, राज्ञां पूजितः, राज्ञामर्चितः। 'राज्ञाम्' यह षष्ठी (का० १२०) से होती है। चकार अनुक्त शब्दों के संग्रह करने के लिए है इससे अगले प्रयोग भी जानने चाहियें।

१२३३—का०—

शीलितो रक्षितःक्षान्त आक्रुष्टो जुष्ट इत्यपि।
रुष्टश्च रुषितश्चोभावभिव्याहृत इत्यपि ॥१॥
हृष्टतुष्टौ तथा क्रान्तस्तथोभौ संयतोद्यतौ।
कष्टं भविष्यतीत्याहुरमृताः पूर्ववत्स्मृताः ॥ २ ॥

शीलित, रक्षित, क्षान्त, आक्रुष्ट, जुष्ट, रुष्ट, रुषित, अभिव्याहृत, हृष्ट, तुष्ट, क्रान्त तथा संयत और उद्यत ये भी वर्तमानकाल में जानने चाहियें। 'कष्ट' इस शब्द का भविष्यत्काल में कहते हैं और अमृत शब्द का पूर्ववत् (शीलित आदि के तुल्य वर्तमानकाल में) स्मरण करना चाहिये। न म्रियन्ते अमृताः।

१२३४—नपुंसकेभावे क्तः ॥ ३ । ३ । ११४ ॥

भाव का प्रकाश करना हो तो नपुंसकलिङ्ग में धातु से क्त प्रत्यय हो। हसितम्, शयितम्, जल्पितं देवदत्तेन।

१२३५—सुयजोर्ङ्वनिप् ॥ ३ । २ । १०३ ॥

कर्ता और यथाप्राप्त भावकर्म में हो। गत्यर्थ, गम्लृ—ग्रामं गतो देवदत्तः, ग्राम को देवदत्त गया। गतो ग्रामो देवदत्तेन। देवदत्त से ग्राम प्राप्त किया गया। अकर्मक, ग्लै—ग्लानो देवदत्तः, ग्लानं देवदत्तेन। श्लिष—पत्नीम् आश्लिष्टो पतिः, आश्लिष्टा पत्नी पत्या। शीङ्—खट्वामधिशयितः, खट्वाऽधिशयिता। स्था—गुरुमुपस्थितः, गुरुरुपस्थितस्तेन। आस—उपासितः परमेश्वरं भवान्, उपासितः परमेश्वरो भवता। वस—गुरुमनूषितो भवान्, अनूषितो गुरुर्भवता। जन—राममनुजातो लक्ष्मणः, अनुजातो लक्ष्मणेन रामः। रुह—अश्वमारूढो देवदत्तः, आरूढोऽश्वो देवदत्तेन। जृष—शुनीमनुजीर्णः श्वा, शुनानुजीर्णा शुनी। उक्त प्रयोगों में (९१६) सूत्र से प्राप्त भावकर्म में भी "क्त" होता है। श्लिष आदि अकर्मक भी हैं तथापि सोपसर्ग सकर्मक हो जाते हैं इससे इनका पृथक् ग्रहण है।

१२३०—क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः ॥ ३ । ४ । ७६ ॥

ध्रौव्य=स्थिरता, गति=गमन और प्रत्यवसान=भक्षण अर्थ वाले धातुओं से विहित जो क्त प्रत्यय सो अधिकरण और यथाप्राप्त भावकर्म में हो। जो ध्रौव्यार्थक अकर्मक हैं उनसे कर्ता, भाव, अधिकरण में, गत्यर्थकों से कर्ता, कर्म, अधिकरण में तथा प्रत्यवसानार्थकों से कर्म और अधिकरण में 'क्त' होता है। ध्रौव्यार्थ—आसितो यज्ञदत्तः, आसितं यज्ञदत्तेन, आसितं यज्ञदत्तस्य वा। गत्यर्थ—देवदत्तो ग्रामं गतः, गतो देवदत्तेन ग्रामः। देवदत्त से ग्राम प्राप्त किया गया। गतं देवदत्तस्य। यहां देवदत्त का गमन हुआ है। प्रत्यवसानार्थ—भुक्त ओदनो देवदत्तः, देवदत्तेन भुक्तम्, देवदत्तस्य भुक्तम्। उक्त उदाहरणों में (९१६, १८६) सूत्रों के अनुसार कर्म और कर्ता में भी क्त प्रत्यय होता है।

१२३१—ञीतः क्तः ॥ ३ । २ । १८७ ॥

ञि जिसका इत्संज्ञक हो उससे वर्तमान काल में क्त प्रत्यय हो। ञिक्ष्विदा—क्ष्विण्णः, क्ष्विण्णवान्।

१२३२—मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च ॥३।२।१८८॥

मति=इच्छा, बुद्धि=ज्ञान, पूजा=सत्कार इन अर्थों वाले धातुओं से वर्तमान काल में क्त प्रत्यय हो। राज्ञां मतः, राज्ञामिष्टः, राज्ञां बुद्धः, राज्ञां ज्ञातः, राज्ञां पूजितः, राज्ञामर्चितः। 'राज्ञाम्' यह षष्ठी (का० १२०) से होती है। चकार अनुक्त शब्दों के संग्रह करने के लिए है इससे अगले प्रयोग भी जानने चाहियें।

१२३३–का०—

शीलितो रक्षितःक्षान्त आक्रुष्टो जुष्ट इत्यपि ।
रुष्टश्च रुषितश्चोभावभिव्याहृत इत्यपि ॥१॥
हृष्टतुष्टौ तथा कान्तस्तथोभौ संयतोद्यतौ ।
कष्टं भविष्यतीत्याहुरमृताः पूर्ववत्स्मृताः ॥ २ ॥

शीलित, रक्षित, क्षान्त, आक्रुष्ट, जुष्ट, रुष्ट, रुषित, अभिव्याहृत, हृष्ट, तुष्ट, कान्त तथा संयत और उद्यत ये भी वर्तमानकाल में जानने चाहियें। 'कष्ट' इस शब्द को भविष्यत्काल में कहते हैं और अमृत शब्द को पूर्ववत् (शीलित आदि के तुल्य वर्तमानकाल में) स्मरण करना चाहिये। न म्रियन्ते अमृताः।

१२३४—नपुंसके भावे क्तः ॥ ३ । ३ । ११४ ॥

भाव का प्रकाश करना हो तो नपुंसकलिङ्ग में धातु से क्त प्रत्यय हो। हसितम्, शयितम्, जल्पितं देवदत्तेन।

१२३५—सुयजोर्ङ्वनिप् ॥ ३ । २ । १०३ ॥

पुञ् और यज धातु से भूतकाल में ङ्वनिप् प्रत्यय हो। असावीत् असोष्ट वा सुत्वा, सुत्वानौ, सुत्वान। अयाक्षीत् अयष्ट वा—यज्वा, यज्वानौ, यज्वान।

१२३६—जीर्यतेरतृन् ॥ ३ । २ । १०४ ॥

जॄष् धातु से भूतकाल में अतृन् प्रत्यय हो। अजरत् अजारीद् वा—जरन्, जरन्तौ, जरन्त.। वासरूपविधि (९१३) से निष्ठा संज्ञक भी होते हैं। जीर्णः, जीर्णवान्।

१२३७—छन्दसि लिट् ॥ ३ । २ । १०५ ॥

वेद विषय में भूतकाल में धातु से लिट् प्रत्यय हो। अहं सूर्यमुभयतो ददर्श, अहं द्यावापृथिवी आततान।

१२३८—लिटः कानज्वा ॥ ३ । २ । १०६ ॥

पूर्वविहित (१२३७) वेदविषयक लिट् के स्थान में कानच् आदेश विकल्प करके हो। अग्निमचैषीत् अग्निं चिक्यानः, सोमं सुषुवाणः। इनमें चिञ् वा पुञ् धातु से लिट् के स्थान में कानच् आदेश है। विकल्प के ग्रहण से कहीं नहीं भी होता जैसे पूर्वोक्त उदाहरण – अहं सूर्यमुभयतो ददर्श, इत्यादि।

१२३९—क्वसुश्च ॥ ३ । २ । १०७ ॥

पूर्वविहित (१२३७) वेद विषयक लिट् के स्थान में क्वसु आदेश भी हो।

१२४०—वस्वेकाजाद्घसाम् ॥ ७ । २ । ६७ ॥

द्विर्वचन किये हुए एकाच्, आकारान्त, घस्लृ इन्हीं धातुओं से परे जो वसु उस को इट् आगम हो। एकाच्–अशकदिति शेकिवान्। यहां शक्लृ धातु से लिट् (१२३७) के स्थान में क्वसु (१२३९) और धातुद्विर्वचन (२८) तथा एत्वाभ्यास लोप (१२६) होकर

जो एकाच् "शेष" हो जाता है उससे परे वसु को इडागम हो जाता है। आद्—पपिवान्। घस्लृ—जक्षिवान्। यहां (२१४) सूत्र से उपधालोप और उसको (सन्धि० ९६) रूपातिदेश होकर द्वित्व (३८) और षत्व (२८४) हो जाता है। क्वसु तो लिट् के स्थान में ही होता है और लिड्विषय में क्रादिनियम (१९८) से वलादित्व से इट् प्राप्त ही है। फिर भी जो इट् का विधान किया इससे यह सूत्र नियमार्थ है अर्थात् वसु को इट् एकाच् आदि ही से परे हो अन्य से न हो, इससे "बिभिद्वान बभूवान्" इत्यादि में इट् नहीं होता।

१२४१—भाषायां सदवसश्रुवः ॥३।२।१०८॥

भाषा अर्थात् लोक में सद, वस, श्रु इन धातुओं से परे भूत-काल में विकल्प करके लिट् और उसके स्थान में क्वसु आदेश नित्य हो। षद्लृ—उपसेदिवान् कौत्स पाणिनिम्। विकल्पपक्ष में अपने अपने विषय में यथोक्त प्रत्यय होते हैं। जैसे भूतसामान्य काल में लुङ्—उपासदत्। अनद्यतन भूत में लङ्—उपासीदत्। परोक्ष-भूत में लिट्—उपससाद। वस निवासे—अनूषिवान् (२८३) कौत्स पाणिनिम्। [पक्ष में] अन्ववात्सीत्, अन्ववसत्, अनु-वास। श्रु—उपशुश्रुवान् कौत्स पाणिनिम्। [पक्ष में] उपाश्रौषीत्, उपाशृणोत्, उपशुश्राव।

१२४२—उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च ॥३।२।१०९॥

उपेयिवान्, अनाश्वान्, अनूचान् ये भाषा में निपातन हैं। उपेयिवान्—यहां उपपूर्वक "इण गतौ" धातु से लिट् विकल्प करके और उसको नित्य क्वसु, द्विर्वचन (३८) अभ्यास दीर्घ (३४०) और अभ्यासदीर्घसामर्थ्य से एकादेश (स० १३७) का प्रतिबन्ध होकर अनेकाच् उप+ई+इ+वसु=से इट् [धातु के इकार को

यणादेश] निपातन है। उपेयुषा, उपेयुषे, उपेयुष, उपेयुषि। इत्यादिकों में निपातन इट् नहीं होता, क्योंकि 'उपेयिवान' यहां क्रादिनियम (१४८) से प्राप्त भी इट् था पर (१०४०) सूत्र के नियम से अनेकाच् से नहीं होता था, उसी इट् का प्रादुर्भाव मात्र किया, किन्तु अपूर्व इट् विधान नहीं किया, इससे अजादिका में जहां वसु को (नामि० १४४) सूत्र से सम्प्रसारण होता वहां इट् नहीं होता है। यहां उप अविवक्षित है। जैसे समीयिवान्, ईयिवान्। लिट् के विकल्प पक्ष में पूर्ववत् लुङादि होते हैं। उपागात्, उपैत्, उपेयाय। अनाश्वान्—यहां नञ् पूर्वक "अश भोजने" धातु से पूर्ववत् लिट् क्वसु और इट् अभाव निपातन है। विकल्प पक्ष में—अनाश्वान्, नाशीत्, नाश्नात्, नाश। अनूचान कर्त्तरि। महाभाष्ये ३। २। १०९॥ अनूक्तवान् अनूचान। यहां अनुपूर्वक वच से कर्ता में पूर्ववत् लिट् उसके स्थान में कानच् आदेश निपातन है। दूसरे पक्ष में—अनूचान, अन्ववोचत्, अन्वब्रवीत्, अनूवाच।

१२४३—विभाषा गमहनविदविशाम् ॥७।२।६८॥

गम, हन, विद, विश इनसे परे वसु को इट् विकल्प करके हो। गम्लृ—जग्मिवान (२१४), जगन्वान्। हन—जघ्निवान्, जघन्वान। विद—विविदिवान्, विविद्वान। विश—विविशिवान्, विविश्वान्। विश के साहचर्य से यहां विद करके "विद्लृ लाभे" का ग्रहण है। जो इस ग्रन्थ में (२७७) संख्या पर सूत्र लिखा है उससे अष्टाध्यायी के क्रम से मस्जदृक्प्रच्छितम् दृश का अनुवर्तन[1] कर दृशिर् से "ददृशिवान्। ददृश्वान्" ये भी समझने चाहियें।

१२४४—सनिंससनिवांसम् ॥ ७। २। ६९॥

वसु के इट् प्रकरण में 'सनिंससनिवांसम्' यह निपातन है।

---

1 द्र० महाभाष्य ७। २। ६८॥

अञ्जित्वाग्ने सनिमसनिरांसम्। यहां सनिङ्पूर्वक "षुञ् अभिषवे" वा "षन संभक्तौ" से वसु को इट् आगम तथा एत्व और अभ्यास लोप का अभाव निपातन है यह निपातन वेद ही में आता है।

१२४५—लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे॥ ३। २। १२४॥

जब प्रथमान्त के साथ लट् (४) प्रत्यय का समानाधिकरण न हो तो उसके स्थान में शतृ और शानच् प्रत्यय विकल्प से हों। ये दोनों प्रत्यय शित् हैं, इससे इनकी सार्वधातुक संज्ञा (१८) से होकर इनके परे शप् (१९) आदि प्रत्यय भी होते हैं। जैसे—पच्+शप्+शतृ+अम=पचन्तं चैत्रं पश्य। यहां लट् जिसका वाचक है वह कर्तृ-कारक चैत्र शब्द द्वितीयान्त है, (७५४) इस संख्या पर जो सूत्र लिखा है उससे विभाषा पद की अनुवृत्ति यहां आती है, उसको व्यवस्थित विभाषा[1] मान कर प्रथमासमानाधिकरण में लट् के स्थान में शतृ शानच् विकल्प करके होते हैं यह समझना चाहिये। पचन् मैत्रः, पचति मैत्रो वा। मैत्र किसी के लिए पका रहा है। प्रथमासमानाधिकरण में तो नित्य होते हैं।

१२४६—आने मुक्॥ ७। २। ८२॥

आन परे हो तो अङ्ग के अकार को मुक् का आगम हो। पचमानं चैत्रं पश्य। यहां लट् के स्थान में शानच् आदेश है। पचमानो मैत्रः, पचते मैत्रः। मैत्र अपने लिये पकाता है।

१२४७—वा०—माङ्याक्रोशे॥

माङ् उपपद हो तो आक्रोश=निन्दा अर्थ में उक्त विषयक शतृ शानच् हों। मा पचन्, मा पचमान। मत पका रे।

---

१. यह व्याख्या काशिकानुसारी है। इस सूत्र के अष्टाध्यायी भाष्य में महाभाष्यानुसारी व्याख्या की है।

१२४८—संबोधने च ॥ ३ । २ । १२५ ॥

संबोधनविषय में लट् के स्थान में शतृ शानच् प्रत्यय विकल्प करके हों । हे पचन्, हे पचमान, हे कुर्वन्, हे कुर्वाण ।

१२४९—लक्षणहेत्वोः क्रियायाः ॥ ३ । २ । १२६ ॥

क्रिया के लक्षण—परिचय कराने और हेतु=कारण अर्थ में वर्तमान धातु से परे लट् के स्थान में शतृ शानच् आदेश विकल्प करके हों । लक्षण—शयाना भुञ्जते यवनाः । शयाना भुञ्जते यवनाः । हेतु—धनमर्जयन् वसति, अधीयानो वसति । लक्षणहेतुग्रहण से यहां न हुए—अधीते, भुङ्क्ते । क्रियाग्रहण से द्रव्य और गुण के परिचयादि में न हुए—य: कम्पते स वट:, य: स्थिरो भवति स गुरु:।

१२५०—ईदासः ॥ ७ । २ । ८३ ॥

आस् धातु से आन को ईकारादेश हो । आसीन, आस्ते । आसीनं पश्य, आसीनेन कृतम्, इत्यादि ।

१२५१—विदेः शतुर्वसुः ॥ ७ । १ । ३६ ॥

विद=विद ज्ञाने से परे शतृ को वसु आदेश विकल्प करके हो । विद्वान्, विदन् । विदुषी (नामि० १५४) ।

१२५२—तौ सत् ॥ ३ । २ । १२७ ॥

पूर्वोक्त शतृ और शानच् सत्संज्ञक हों ।

१२५३—लृटः सद्वा ॥ ३ । ३ । १४ ॥

लृट् के स्थान में सत्संज्ञक प्रत्यय विकल्प करके हों । यहां भी यह विकल्प व्यवस्थित विभाषा है इससे जैसे लट्स्थानी शतृ शानच् प्रथमासमानाधिकरण में विकल्प करके और द्वितीयादिकों में नित्य होते हैं वैसे यहां भी हों । करिष्यन्तं करिष्यमाणं मैत्रं पश्य, करिष्यमाण ,करिष्यति,हे करिष्यन्,हे करिष्यमाण,अर्जयिष्यमाणो वसति ।

१२५४—पूङ्यजोः शानन् ॥ ३ । २ । १२८ ॥

वर्तमानकाल में पूङ् और यज धातु से शानन् प्रत्यय हो। पूङ्—पवमानः । यज—यजमानः ।

१२५५—ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् ॥ ३ । २ । १२९ ॥

वर्तमानकाल में ताच्छील्य=स्वभाव, वयोवचन=अवस्थासंपन्धीवचन, शक्ति=सामर्थ्य इन अर्थों में धातु से चानश् प्रत्यय हो। ताच्छील्य—भूतं भुञ्जानः । वयोवचन—कवचं बिभ्राणः । शक्ति—शत्रु निघ्नानः ।

१२५६—इङ्धार्योः शत्रकृच्छ्रिणि ॥३।२।१३०॥

कष्टसाध्य जिसका क्रियाफल न हो वह कर्ता वाच्य हो तो वर्तमानकाल में इङ् और णिजन्त धृञ् धातु से शतृ प्रत्यय हो। अधीयन् पारायणम्, धारयन्नुपनिषदम् । अकृच्छ्रिन् ग्रहण से यहां न हुआ—कृच्छ्रेणाधीते, कृच्छ्रेण धारयति ।

१२५७—द्विषोऽमित्रे ॥ ३ । २ । १३१ ॥

अमित्र (शत्रु) कर्ता वाच्य हो तो वर्तमान काल में द्विष धातु से शतृ प्रत्यय हो। द्वेष्टीति द्विषन्, द्विषन्तौ, द्विषन्तः। अमित्रग्रहण से यहां न हुआ—पिता पुत्रं द्वेष्टि।

१२५८—सुञो यज्ञसंयोगे ॥ ३ । २ । १३२ ॥

वर्तमानकाल में यज्ञसंयोग=अभिषव अर्थ में वर्तमान षुञ्

धातु से शतृ प्रत्यय हो। सर्वे सुन्वन्त[1]। यहां संयोगग्रहण प्रधान कर्ताओं के ग्रहण करने के लिए है अर्थात् साधारण यज्ञ करने कराने वालों के ग्रहण में नहीं होता। याजकाः सुन्वन्ति। यज्ञ का ही संयोग ग्रहण क्यों किया—'सुरां सुनोति' यहां न हो।

१२५९—अर्हः प्रशंसायाम् ॥ ३ । २ । १३३ ॥

प्रशंसा अर्थ में वर्तमानकाल में अर्ह धातु से शतृ प्रत्यय हो। भवान् विद्यामर्हन्। प्रशंसाग्रहण से यहां न हुआ—तस्करो वधमर्हति।

१२६०—आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु ॥ ३ । २ । १३४ ॥

यहां से लेकर क्विप प्रत्यय पर्यन्त जो प्रत्यय कहे वे वर्तमान काल में तच्छील=जो फल को न चाह कर स्वभाव से कर्म में प्रवृत्त हो, तद्धर्मा=जो विना भी शील मेरा धर्म है ऐसा मान कर कर्म में प्रवृत्त हो, तत्साधुकारी (क्रिया को सुन्दरता से करे) इन कर्ताओं में हो।

१२६१—तृन् ॥ ३ । २ । १३५ ॥

---

[1] सत्र सोमयज्ञों का एक भेद है। सोमयज्ञ में प्राय १६ ऋत्विक् और १ यजमान होता है परन्तु सत्रों में जो यजमान हैं वे ही ऋत्विक् होते हैं (ये यजमानास्त ऋत्विजः। द० मी० ५। १। ३)। अर्थात् सत्रह परिवार मिलकर सत्र का सम्पादन करते हैं उनमें १ यजमान बनता है और १६ ऋत्विक् परन्तु वे होते हैं यजमान ही, अतएव सत्रों में दक्षिणा नहीं दी जाती। सबका यज्ञ के साथ समान सम्बध होने से सबको समान फल होता है।

तच्छीलादि कर्ताओं में धातुमात्र से तृन् प्रत्यय हो। तच्छील—कटं करोति तच्छील, कट कर्ता, जनापवादान् वदिता। तद्धर्मा—उन्नयन्ति तद्धर्मिणः, उन्नेतारः तौल्वलायनाः पुत्रे जाते। तत्साधु-कारी—साधु कटं करोति, कर्ता कटम्।

१२६२–वा०–तृन्विधावृत्विक्षु चानुपसर्गस्य ॥ ३ । २ । १३५ ॥

तृन् प्रत्यय के विधान करने में ऋत्विज् आदि कर्ता हों तो उपसर्गरहित धातु से तृन् प्रत्यय कहना चाहिये। जुहोतीति होता। पुनातीति पोता। अनुपसर्ग ग्रहण से यहां न हुआ—प्रतिहर्ता। यहां तृच् होता है।

१२६३–वा०–त्विषेर्देवतायामकारश्चोपधाया अनिट्त्वं च ॥ ३ । २ । १३५ ॥

देवता अर्थ में त्विष धातु से तृन् प्रत्यय तथा उपधा को अकार और इट् का अभाव भी कहना चाहिये। त्विष—त्वेषितुं शीलमस्य त्वष्टा।

१२६४–वा०–क्षदेश्च नियुक्ते ॥ ३।२।१३५॥

नियुक्त (जो कहीं अधिकार पाये हो उस) कर्ता में क्षद धातु से तृन् प्रत्यय कहना चाहिये। क्षद सौत्र धातु है इसको आच्छादन अर्थ में मानते हैं। क्षत्ता सारथि का नाम है।

१२६५–वा०–छन्दसि तृच ॥ ३ । २ । १३५॥

वेदविषय में क्षद धातु से तृच् और तृन् प्रत्यय हों। क्षत्तृभ्यः संगृहीतृभ्यः [स्वर में भेद होता है]।

१२६६—अलंकृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृतुवृधुसहचर इष्णुच् ॥ ३ । २ । १३६ ॥

तच्छीलादि कर्त्ताओं में अलंकृञ्, निराकृञ्, प्रजन, उत्पच, उत्पत, उन्मद, रुच, अपत्रप, वृतु, वृधु, सह, चर इन धातुओं से इष्णुच् प्रत्यय हो। अलंकृञ्—अलंकर्त्तुं शीलमस्य, अलं कर्त्तुं धर्मोऽस्य, साध्वलं करोति वा अलंकरिष्णु । निराकृञ्—निराकरिष्णुः । प्रजन—प्रजनिष्णु । उत्पच—उत्पचिष्णुः । उत्पत—उत्पतिष्णु । उन्मद—उन्मदिष्णु । रुच—रोचिष्णुः । अपत्रप—अपत्रपिष्णु । वृतु—वर्तिष्णुः । वृधु—वर्धिष्णु । सह—सहिष्णुः । चर—चरिष्णुः ।

१२६७—णेश्छन्दसि ॥ ३ । २ । १३७ ॥

वेदविषय में तच्छीलादि कर्त्ताओं में णिजन्त धातु से इष्णुच् प्रत्यय हो। दृषदं धारयिष्णवः, वीरुधः पारयिष्णवः ।

१२६८—भुवश्च ॥ ३ । २ । १३८ ॥

वेदविषय में तच्छीलादि कर्त्ताओं में भू धातु से इष्णुच् प्रत्यय हो। भविष्णुः । चकार अनुक्त के ग्रहण करने के लिये है। इससे टुभ्राज् से "भ्राजिष्णुः" भी समझ लेना चाहिये।

१२६९—ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः ॥ ३ । २ । १३९ ॥

तच्छीलादि कर्त्ताओं में ग्ला, जि, स्था और भू इन धातुओं से ग्स्नु प्रत्यय हो। ग्लै—ग्लास्नु, जि—जिष्णुः, ष्ठा—स्थास्नु, भू—भूष्णुः । यहां चर्त्व होकर 'ग' को 'क' हो गया है, (३४) सूत्र में 'ग' के निर्देश से उक्त प्रयोगों में गुणादेश नहीं होता तथा (२५५) सूत्र में 'ग' के निर्देश से 'भूष्णुः' यहां इडागम भी नहीं होता है।

१२७०—वा०—स्यादंशिभ्यां स्नुश्छन्दसि ॥

३ । २ । १३९ ॥

वेद में स्था और दश धातु से स्नु प्रत्यय हो। स्थास्नु जङ्गमं, दंक्ष्णवः पशवः।

१२७१—त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः ॥३।२।१४०॥

तच्छीलादि कर्ताओं में त्रसी, गृधु, ञिधृषा और क्षिप् धातुओं से क्नु प्रत्यय हो। त्रसी—त्रस्नुः। गृधु—गृध्नुः। ञिधृषा—धृष्णुः। क्षिप—क्षिप्नुः।

१२७२—शमित्यष्टाभ्यो घिनुण् ॥३।२।१४१॥

तच्छीलादि कर्ताओं में शमु * आदि आठ धातुओं से घिनुण् प्रत्यय हो। 'घिनुण्' यहां घकार कुत्व के लिए, उकार उगित् कार्य के लिये, णकार वृद्धि के लिये है। शमितुं शीलं धर्मो वाऽस्य, साधु शाम्यति वा, शमी, शमिनौ, शमिनः। यहां उगित् कार्य नुम् (नामि० १११) नहीं होगा। नुम् विधि में अष्टाध्यायी के क्रम से (नामि० ४३) सूत्र से झल् का अपकर्षण कर झलन्त उगित् को नुम् आगम हो ऐसा अर्थ वहां जानेंगे। यहां वृद्धि (१२७) प्राप्त है उसी की निवृत्ति (७७७) से हो जाती है। तमी, दमी, श्रमी, भ्रमी, क्षमी, क्लमी, प्रमादी। आठ का ही ग्रहण क्यों किया? असु—असिता, यहां न हो।

१२७३—संपृचानुरुधाङ्यमाङ्यसपरिसृसंसृजपरिदेविसंज्वरपरिक्षिपपरिरटपरिवदपरिदहपरिमुहदुषद्विषद्रुहदुहयुजाक्रीडविविचत्यजरजभजातिचरापचरामुषाभ्याहनश्च ॥ ३ । २ । १४२ ॥

* शमु उपशमे, तमु काङ्क्षायाम्, दमु उपशमे, श्रमु तपसि खेदे च, भ्रमु अनवस्थाने, क्षमूष् सहने, क्लमु ग्लानौ, मदी हर्षे, ये आठ शमादि धातु हैं।

तच्छीलादि कर्ताओं में सम्पृचादि धातुओं से घिनुण् प्रत्यय हो। सम्पृच यहां रुधादि "पृची संपर्के" इसका ग्रहण है। सम्पृणक्ति तच्छीलः, संपर्की। अनुरुध—अनुरुध्यते तच्छीलः, अनुरोधी। आङ्यम—आयच्छति तच्छील, आयामी। आयस—आयस्यति आयसति वा तच्छीलः, आयासी। परिसृ—परिसरति तच्छीलः, परिसारी। संसृज—संसृज्यते तच्छीलः, संसर्गी। परिदेवि यहां "देवृ देवने" इस भ्वादिस्थ का ग्रहण है। परिदेवते तच्छीलः, परिदेवी। जो विलाप करता है उसके जैसा स्वभाव वाला पुरुष है। संज्वर—संज्वरति तच्छीलः, संज्वारी। परिक्षिप—"क्षिप" प्रेरणे दिवादि व तुदादि दोनो का ग्रहण है। परिक्षिप्यति परिक्षिपति परिक्षिपते वा तच्छील, परिक्षेपी। परिरट—परिरटति तच्छीलः, परिराटी। परिवद—परिवदति तच्छील,परिवादी। परिदह—परिदहति तच्छील, परिदाही। परिमुह—परिमुह्यति तच्छीलः, परिमोही। दुष—दुष्यति तच्छील, दोषी। द्विष—द्वेष्टि तच्छील, द्वेषी। द्रुह—द्रुह्यति तच्छीलः, द्रोही। दुह—दोग्धि तच्छील, दोही। युज—यहां "युज समाधौ" दिवादि "युजिर् योगे" रुधादि इन दोनों का ग्रहण है। युज्यते युनक्ति युङ्क्ते वा तच्छील', योगी। आक्रीड—आक्रीडते तच्छीलः, आक्रीडी। विविचिर्—विविनक्ति विविनक्ते वा तच्छीलः, विवकी। त्यज—त्यागी (९४४)। रञ्ज—रागी। भज—भागी। अति चर—अतिचारी। अप चर—अपचारी। आमुष—आमुष्णाति तच्छीलः,आमोषी। अभि आङ् हन—अभ्याहन्ति तच्छीलः,अभ्याघाती (३०४, ५०२) इन सूत्रों से कुत्व और तकारादेश होता है।

१२७४—वी कषलसकत्थस्रम्भः ॥३।२।१४३॥

तच्छीलादि कर्ताओं में विपूर्वक कष, लस, कत्थ, स्रम्भु इन धातुओं से घिनुण् प्रत्यय हो। कष हिंसायाम्—विकाषी। लस

लस्पृह्नक्रीडनयोः—विलासी। कत्थ श्लाघायाम्—विकत्थी, स्रम्भु विश्वासे—विस्रम्भी।

१२७५—अपे च लषः ॥ ३ । २ । १४४ ॥

अप और वि पूर्व हो तो लष धातु से घिनुण् प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थों में। लष कान्तौ—अपलाषी, विलाषी।

१२७६—प्रे लपसृद्रुमथवदवसः ॥३।२।१४५॥

तच्छीलादिकों में प्र पूर्वक लप, सृ, द्रु, मथ, वद, वस इन धातुओं से घिनुण् प्रत्यय हो। प्रलप—प्रलापी। प्रसृ—प्रसारी। प्रद्रु—प्रद्रावी। प्रमथे—प्रमाथी। प्रवद—प्रवादी। प्रवस—वस निवासे—प्रवासी।

१२७७—निन्दहिंसक्लिशखादविनाशपरिक्षिप-परिरटपरिवादिव्याभाषासूयो वुञ् ॥ ३ । २ । १४६ ॥

तच्छीलादि कर्त्ताओं में निन्द आदि धातुओं से वुञ् प्रत्यय हो। णिदि—निन्दकः। हिंसि—हिंसकः। "क्लिश उपतापे, क्लिशू विबाधने" दोनों का ग्रहण है। क्लेशकः। खाद—खादकः। विनाश-वि-णश-णिच् विनाशयति तच्छीलः, विनाशकः। परिक्षिप—परिक्षेपकः। परिरट—परिराटकः। परिवद—परिवादकः। वि—आङ्—भाष-व्याभाषकः। ण्वुल् (९७६) प्रत्यय से भी उक्त प्रयोग सिद्ध हैं फिर वुञ् प्रत्यय का यह प्रयोजन है कि तच्छीलादिकों में वासरूपन्याय (९१३) से तृच् आदि अन्य प्रत्यय नहीं होते हैं[1]।

---

1. ताच्छीलिकेषु सर्व एव तृजादयो वा रूपेण न भवन्ति। कारि० ५८।

१२७८—देविक्रुशोश्चोपसर्गे ॥ ३ । २ । १४७॥

उपसर्ग पूर्व हो तो देव और क्रुश धातु से वुञ् प्रत्यय हो तच्छीलादि अर्थों में। आदेवयति तच्छील—आदेवक, परिदेवक, परिक्रोशक। उपसर्गग्रहण से यहां न हुआ—देवयिता, क्रोष्टा। यहां तृन् हो जाता है।

१२७९—चलनशब्दार्थादकर्मकाद्युच् ॥३।२।१४८॥

तच्छीलादि कर्ताओं में चलन और शब्द अर्थ वाले अकर्मक धातुओं से युच् प्रत्यय हो। चल कम्पने—चलन। कपि चलने—कम्पन। चुप मन्दायां गतौ—चोपन। शब्दार्थ—शब्दन, रवण। अकर्मक ग्रहण से यहां न हुआ—विद्या पठिता, शास्त्र वदिता। यहां तृन् हो जाता है।

१२८०—अनुदात्तेतश्च हलादेः ॥३।२।१४९॥

अनुदात्त जिसका इत् संज्ञक हो ऐसा जो हलादि अकर्मक धातु उससे भी युच् प्रत्यय हो तच्छीलादि अर्थों में। वृतु—वर्तन, वृधु—वर्धन। अनुदात्तेत् के ग्रहण से यहां न हुआ—भविता। हलादि ग्रहण से यहां न हुआ—एधिता। अकर्मक ग्रहण से यहां न हुआ—वस्त्र वसिता। यहां [सर्वत्र] तृन् हो जाता है।

१२८१—जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधिज्वलशुचल-पपतपदः ॥ ३ । २ । १५० ॥

तच्छीलादि कर्ताओं में जु आदि धातुओं से युच् प्रत्यय हो। 'जु' यह सौत्र धातु है इस का गति वा वेग अर्थ में मानते हैं। जवन। चङ्क्रम्य—क्रमु+यङ्—चङ्क्रम्यते तच्छील=चङ्क्रमण। दन्द्रम्य—द्रमु+यङ-दन्द्रमण। सृ—सरण। गृधु—गर्धन। ज्वल—ज्वलन। शुच—शोचन। लष—लषण। पतॢ—पतन। पद—पदन। यद्यपि (१२८०) सूत्र से पद धातु से युच् प्रत्यय हो जाता

तथापि पद का ग्रहण इसलिये है कि इससे सामान्य युच् प्रत्यय को बाध के विशेष [विहित] उकञ् (१२८५) प्रत्यय न हो जाय, क्योंकि तच्छीलादिकों में (९१३) सूत्र के अनुसार परस्पर प्रत्यय नहीं होते हैं, इस अंश में यही पदग्रहण ज्ञापक है। असरूपनिवृत्त्यर्थं तर्हि पदग्रहणं क्रियते एतज्ज्ञापयत्याचार्यः। ताच्छीलिकेषु ताच्छीलिका वासरूपन्यायेन न भवन्ति । महाभाष्ये ३।२।१५० ॥

१२८२—क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च ॥ ३ । २ । १५१ ॥

तच्छीलादिकों में कोप और भूषण अर्थ वाले धातुओं से युच् प्रत्यय हो । कोपार्थ—क्रोधनः, रोषणः । मण्डार्थ—मण्डनः, भूषणः।

१२८३—न यः ॥ ३ । २ । १५२ ॥

यकारान्त धातु से युच् प्रत्यय न हो। क्नूयी शब्दे उन्दे च—क्नूयिता। क्ष्मायी विधूनने—क्ष्मायिता। इन में (१२८०) सूत्र से युच् प्रत्यय प्राप्त है सो नहीं होता, किन्तु तृन् (१२६१) प्रत्यय हो जाता है।

१२८४—सूददीपदीक्षश्च ॥ ३ । २ । १५३ ॥

सूद, दीप, दीक्ष इन धातुओं से युच् प्रत्यय न हो। षूद क्षरणे—सूदयति तच्छील.=सूदिता (१२६१)। दीपी—दीपिता। दीक्ष—दीक्षिता। इन सबों में (१२७९) सूत्र से युच् प्राप्त है। यहां दीप ग्रहण क्यों किया, क्योंकि दीप् धातु से विशेष विहित र (१२९९) प्रत्यय, सामान्य युच् (१२८०) प्रत्यय को बाध के हो जाता इसलिए दीपि ग्रहण ज्ञापक है वासरूपन्याय (९१३) से र प्रत्यय के साथ युच् का समावेश होता है। इस ज्ञापन से यह प्रयोजन है कि—"कम्रा कन्या, कमना कन्या" इत्यादि सिद्ध हों।

१२८५—लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशृभ्य उकञ् ॥ ३ । २ । १५४ ॥

तच्छीलादि कर्ताओं मे लष, पत, पद, स्था, भू, वृष, हन, कम, गम, शृ इन धातुओं से उकञ् प्रत्यय हो। लष—अपलाषुकः। पत्लृ—प्रपातुकः। पद—पादुकः। ष्ठा—उपस्थायुकः। भू—भावुकः। वृष—प्रवर्षुकः पर्जन्यः। हन—घातुकः। कमु—कामुकः। गम्लृ—आगामुकः। शॄ हिंसायाम—शृणाति तच्छील—शारुकः, किंशारुकं तीक्ष्णम्।

१२८६—जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृङः षाकन् ॥ ३ । २ । १५५ ॥

तच्छीलादि कर्ताओं मे जल्प, भिक्ष, कुट्ट, लुण्ट, वृङ् इन धातुओं से षाकन् प्रत्यय हो। जल्प—जल्पाकः। भिक्ष—भिक्षाकः। कुट्ट—कुट्टाकः। लुटि ॐ स्तेये—लुण्टाकः। वृङ्—वराकः। स्त्रीलिङ्ग में जल्पाकी। (सू० ७०) से ङीष् हो जाता है।

१२८७—प्रजोरिनिः ॥ ३ । २ । १५६ ॥

तच्छीलादि कर्ताओं मे प्रपूर्वक जु धातु से इनि प्रत्यय हो। प्रजवी, प्रजविनौ, प्रजविनः।

१२८८—जिदृक्षिविश्रीण्वमाव्यथाभ्यमपरिभूप्रसूभ्यश्च ॥ ३ । २ । १५७ ॥

तच्छीलादि कर्ताओं मे जि, दृ, क्षि, विश्रि, इण, टुवमु, अव्यथ, अभ्यम, परिभू और प्रसू इन धातुओं से इनि प्रत्यय हो। जि—जेतुं शीलमस्य जयी। दृङ्—दरी। क्षि क्षये, क्षि निवासगत्योः—क्षयी। विश्रिञ्—विश्रयी। इण—अत्ययी। टुवमु—वमी। नञ् व्यथ—अव्यथी। अभि अम—अभ्यमी। परि भू—परिभवी। प्र सू—प्रसवी।

ॐ इस धातु को कोई आचार्य लुटि कोई लुडि भी पढ़ते हैं।

१२८९—स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच् ॥ ३ । २ । १५८ ॥

तच्छीलादि कर्ताओं में स्पृह आदि धातुओं से आलुच् प्रत्यय हो। स्पृह ईप्सायाम्—स्पृहयालुः। ग्रह ग्रहणे—गृहयालुः। पत गतौ—पतयालुः। ये चुरादि अदन्तों में हैं। दय-दयालुः। निद्रा द्रा कुत्सायाम्—निद्रालुः। तद् द्रा—तन्द्रालुः। यहां तद् के द् को नकारादेश निपातन है। श्रत् डुधाञ्—श्रद्धालुः।

१२९०—वा०—आलुचि शीङ्ग्रहणम् ॥३।२।१५८॥

आलुच् प्रत्यय के विषय में शीङ् का भी ग्रहण करना चाहिये। शयितुं शीलमस्य शयालुः।

१२९१—दाधेट्सिशदसदो रुः ॥३।२।१५९॥

दा, धेट्, सि, शद और सद धातुओं से रु प्रत्यय हो तच्छीलादि अर्थों में। दातुं शीलमस्य दारुः। धातुं शीलमस्य धारुः। सीव्यति तच्छीलः सेरुः। शीयते तच्छीलः शद्रुः। सीदति तच्छीलः सद्रुः।

१२९२—सृघस्यदः क्मरच् ॥ ३ । २ । १६० ॥

सृ घस अद् इन धातुओं से क्मरच् प्रत्यय हो तच्छीलादि अर्थों में। सृ—सृमरः। घसॢ—घस्मरः। अद—अद्मरः।

१२९३—भञ्जभासमिदो घुरच् ॥३।२।१६१॥

भञ्ज, भास और मिद इन धातुओं से घुरच् प्रत्यय हो तच्छीलादि अर्थों में। भञ्जो—भङ्गुरः (९४४)। भासृ—भासुरः। ञिमिदा—मेदुरः।

१२९४—विदिभिदिच्छिदेः कुरच् ॥३।२।१६२॥

तच्छीलादि कर्ताओं में विद आदि धातुओं से कुरच् प्रत्यय हो।

१३००—सनाशंसभिक्ष उः ॥ ३ । २ । १६८ ॥

तच्छीलादि कर्त्ताओं मे सन्नन्त, आशंस, भिक्ष इन धातुओं से उ प्रत्यय हो। सन्नन्त—पिपठिषितुं शीलमस्य पिपठिषुः, चिकीर्षुः। आशंस, "आङः शसि इच्छायाम्"—भ्वादि—आशंसते तच्छीलः आशंसुः भिक्षुः।

१३०१—विन्दुरिच्छुः ॥ ३ । २ । १६९ ॥

तच्छीलादि कर्त्ताओं में विन्दु और इच्छु ये निपातन हों। वेत्ति तच्छीलो—विन्दु। यहां "विद ज्ञाने" धातु से उ प्रत्यय और नुमागम निपातन है। इच्छति तच्छील—इच्छुः। यहां "इषु इच्छायाम्" से उ प्रत्यय और छकारादेश निपातन है।

१३०२—आदृगमहनजनः-किकिनौ लिट् च ॥ ३ । २ । १७१ ॥

वेदविषय मे आकारान्त, ऋवर्णान्त, गम, हन और जन इन धातुओं से कि और किन् प्रत्यय हों और वे लिट् प्रत्यय के तुल्य हों। आ—पा पाने—पपी तच्छीलः पपिः सोमम्। ददातेः—ददिर्गाः। इनमें लिड्वद्भाव मानकर (३८) सूत्र से धातु को द्विर्वचन हो जाता है। ऋ—कृ—चक्रिर्यज्ञम्। तॄ—मित्रावरुणौ ततुरि। गॄ शब्दे—दूरे ह्यध्वा जगुरिः। गम्लृ—जग्मिर्युवा। हन—जघ्निर्वृत्रम्। जन—जज्ञिर्बीजम्। इन मे उपधालोप (२१४) सूत्र से होता है यद्यपि (४६) से कित् संज्ञा सिद्ध भी है तथापि लिट् के कित्व विषय मे भी जो गुणविधान (२५८) किया है उसके प्रतिषेध के लिये 'कि किन्' इन प्रत्ययो मे ककार पढ़ा है "आदृ०" यहां आ, ऋ का अलग अलग मुख से उच्चारण होने के लिए दृ पढ़ा किन्तु तपरकरण नहीं है।

विद—विद्ज्ञाने, वेत्ति तच्छीलः—विदुरः । भिदिर्—भिदुरः । छिदिर्—छिदुरः ।

१२६५—इण्नशजिसर्त्तिभ्यः क्वरप् ॥३।२।१६३॥

तच्छीलादि कर्ताओं में इण, नश, जि, सर्ति इन धातुओं से क्वरप् प्रत्यय हो। इण—इत्वरः। णश—नश्वरः। जि—जित्वरः। सृ—सृत्वर (सं० २०६) से तुक्। स्त्रीलिङ्ग मे इत्वरी (स्त्रैण० ३५) जित्वरी, इत्यादि।

१२६६—गत्वरश्च ॥ ३ । २ । १६४ ॥

तच्छीलादि कर्ताओं मे गत्वर यह निपातन है। गन्तुं शीलमस्य, गत्वरः। स्त्री गत्वरी। यहां गमलृ से क्वरप् और अनुनासिकलोप निपातन है।

१२६७—जागरूकः ॥ ३ । २ । १६५ ॥

तच्छीलादिकों में जागृ धातु से ऊक प्रत्यय हो। जागृ निद्राक्षये—जागरूक.।

१२६८—यजजपदंशां यङः ॥ ३ । २ । १६६ ॥

तच्छीलादि कर्ताओं में यज, जप, दंश इन के यङ् से परे ऊक प्रत्यय हो। यायज्य—यायजितुं शीलमस्य यायजूकः। जञ्जप्य—जञ्जपूक.। दंदश्य—दंदशूकः।

१२६९—नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः ॥ ३ । २ । १६७ ॥

तच्छीलादि कर्ताओं में नम आदि धातुओं से परे र प्रत्यय हो। णम्—नम्रम् काष्ठम्। कपि—कम्प्रा शाखा। ष्मिङ्—स्मेरम् मुखम्। अजस—"जसु मोक्षणे" नञ्पूर्वक है—अजस्रं निरन्तरम्। कमु—कम्रा कन्या। हिसि—हिंस्रं रक्तः। दीपी—दीपितुं शीलमस्य—दीप्रो वन्हिः।

१३००—सनाशंसभिक्ष उः ॥ ३ । २ । १६८ ॥

तच्छीलादि कर्ताओं में सन्नन्त, आशंस, भिक्ष इन धातुओं से उ प्रत्यय हो। सन्नन्त—पिपठिषितुं शीलमस्य पिपठिषुः, चिकीर्षुः। आशंस, "आङः शसि इच्छायाम्"—आशिः—आशासते तच्छीलः आशंसुः भिक्षुः।

१३०१—विन्दुरिच्छुः ॥ ३ । २ । १६९ ॥

तच्छीलादि कर्ताओं में विन्दु और इच्छु ये निपातन हों। वेत्ति तच्छीलो—विन्दु। यहां "विद ज्ञाने" धातु से उ प्रत्यय और नुमागम निपातन है। इच्छति तच्छील.—इच्छुः। यहां "इषु इच्छायाम्" से उ प्रत्यय और छकारादेश निपातन है।

१३०२—आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च ॥ ३ । २ । १७१ ॥

वेदविषय में आकारान्त, ऋवर्णान्त, गम, हन और जन इन धातुओं से कि और किन् प्रत्यय हों और वे लिट् प्रत्यय के तुल्य हों। आ—पा पाने—पपी तच्छील: पपिः सोमम्। ददिगाः। इनमें लिड्वद्भाव मानकर (३८) सूत्र से धातु को द्विर्वचन हो जाता है। ऋ—भृ—बभ्रिर्वज्रम्। तृ—मित्रावरुणौ ततुरिः। गॄ शब्दे—दूरे ह्यध्वा जगुरिः। गम्लृ—जग्मिर्युवा। हन—जघ्निर्वृत्रम्। जन—जज्ञिर्बीजम्। हन में उपधालोप (२१४) सूत्र से होता है यद्यपि (४६) से कित् संज्ञा सिद्ध भी है तथापि लिट् के कित्व विषय में भी जो गुणनिषेध (२५८) किया है उसके प्रतिषेध के लिये 'कि किन्' इन प्रत्ययों में ककार पढ़ा है "आदृ०" यहां आ, ऋ का अलग अलग मुख से उच्चारण होने के लिए तृ पढ़ा किन्तु तपरकरण नहीं है।

१३०३-वा०—उत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात् ॥
३ । २ । १७१ ॥

वेदविषय में सद आदि धातुओं से कि, किन् प्रत्ययों का दर्शन है इससे ये उत्सर्गमात्र हैं ऐसा कहना चाहिये अर्थात् आकारान्तों से अन्यत्र भी होते हैं।

१३०४-वा०—सदिमनिरमिनमिविचीनाम् ॥
महाभाष्ये ॥ ३ । २ । १७१ ॥

षद्लृ—सेदि. । मन—मेनि । रम—रेमि । णम—नेमिश्चक्र-मिवाभवन् । विचिर्—विविचिं रत्नधातमम् ।

१३०५-वा०—भाषायां धाञ्कृसृजनिनमिभ्यः ॥
३ । २ । १७१ ॥

भाषा में धाञ्, कृ, सृ, जन, नम इन धातुओं से कि, किन् प्रत्यय कहना चाहिये तच्छीलादि अर्थों में। डुधाञ्—दधि । कृ—चक्रि । सृ—सस्रि । जन—जज्ञि । णम—नेमि ।

१३०६-वा०—सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः
किकिनौ वक्तव्यौ ॥ ३ । २ । १७१ ॥

तच्छीलादि कर्त्ताओं में यङन्त सहादि धातुओं से कि किन् प्रत्ययों को कहना चाहिये। सह+यङ्—वृषा सहमान सासहिः । वह+यङ्—वावहि । चल+यङ्—चाचलि । पत्लृ+यङ्—पापति । यहाँ नीक् (५८३) का अभाव निपातन है।

१३०७—स्वपितृषोर्नजिङ् ॥ ३ । २ । १७२ ॥

तच्छीलादि कर्ताओं में स्वप् और तृष् धातु से नजिङ् प्रत्यय हो। ञिष्वप्—स्वप्नक्। ञितृषा—तृष्णक्।

१३०८—शॄवन्द्योरारुः ॥ ३ । २ । १७३ ॥

तच्छीलादि कर्ताओं में शॄ और वन्दि धातु से आरु प्रत्यय हो। शॄ हिंसायाम्—शरारुः। वदि अभिवादनस्तुत्योः—वन्दारुः।

१३०९—भियः क्रुक्लुकनौ ॥ ३ । २ । १७४ ॥

तच्छीलादि कर्ताओं में भी धातु से क्रु और क्लुकन् प्रत्यय हो। ञिभी भये—बिभेति तच्छीलो—भीरुः भीलुकः।

१३१०—वा०—भियः क्रुकन्नपि वक्तव्यः ॥
३ । २ । १७४ ॥

भी धातु से क्रुकन् प्रत्यय भी कहना चाहिये। भीरुकः।

१३११—स्थेशभासपिसकसो वरच् ॥३।२।१७५॥

तच्छीलादि कर्ताओं में स्था आदि धातुओं से वरच् प्रत्यय हो। ष्ठा गतिनिवृत्तौ—स्थातुं शीलमस्य स्थावरः। ईश ऐश्वर्ये—ईशितुं शीलमस्य ईश्वरः। भासृ दीप्तौ—भास्वरः। पिसृ, पेसृ गतौ—पेस्वरः। कस गतौ—निकस्वरः।

१३१२—यश्च यङः ॥ ३ । २ । १७६ ॥

तच्छीलादि कर्ताओं में यङन्त या धातु से वरच् प्रत्यय हो। याया+य+वर+सु=यहां पर यकार के अकार का लोप (१७२) किये पीछे उसको स्थानिवद्भाव (सन्धि० ९१) जो प्राप्त है उसका यलोपविधि के प्रति प्रतिषेध (सन्धि० ९२) से होकर यलोप हो जाता है—यायावरः।

१३१३—भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः
क्विप् ॥ ३ । २ । १७७ ॥

तच्छीलादि कर्त्ताओं में भ्राज आदि धातुओं से क्विप् प्रत्यय हो। टुभ्राजृ—विभ्राजत तच्छील विभ्राट्, विभ्राड्, विभ्राजौ, विभ्राज। भासृ—भा॰,भासौ, भास। धुर्वि—धू, धुरौ,धुर (५६०)। द्युत्—विद्युत्। ऊर्ज बलप्राणनयो—ऊर्क् ऊर्ग्। पृ—पू, पुरौ। यहां (३८०) [स उत्]। जु—यह सौत्र धातु गति और वेग में वर्तमान है। जू, जुवौ। यहां उत्तरसूत्र (१३१५) में जो वार्त्तिक पढ़ा है उससे दीर्घादेश जानना चाहिये। ग्रावस्तु—ग्राव—ष्टुञ्, ※ ग्रावस्तुत्, ग्रावस्तुतौ, ग्रावस्तुत।

१३१४—अन्येभ्योऽपि दृश्यते ॥ ३। २। १७८ ॥

तच्छीलादि कर्त्ताओं में और धातुओं से भी क्विप् प्रत्यय देखा जाता है। पचति तच्छील—पक्। भिनत्ति—भित्। छिनत्ति—छित्। यहां "दृश्यते" यह दृशि ग्रहण [यथा प्रयोग] विशेष विधान करने के लिए है अर्थात् उक्त क्विप् के परे कहीं दीर्घ, कहीं द्विर्वचन, कहीं सम्प्रसारण, कहीं सम्प्रसारण का अभाव आदि कार्य होते हैं, जैसे—

१३१५-वा०-क्विब् वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसंप्रसारणं च ॥ ३। २। १७८ ॥

वच, प्रच्छ, आयतस्तु, कटप्रु, जु, श्रिञ इन धातुओं से क्विप् प्रत्यय, दीर्घ तथा सम्प्रसारण का अभाव कहना चाहिये। वक्ति—वाक्। पृच्छति—प्राट्। आयतं स्तौति—आयतस्तू। कटं प्रवते—कटप्रू। जवते—जू। यहां जु का ग्रहण केवल दीर्घ के लिए है। श्रयति—श्री, लक्ष्मी।

※ यहां ग्राव शब्द का स्तु धातु के साथ निपातन से समास कर पीछे क्विप प्रत्यय होता है॥

१३१६-वा०-द्यु तिगमिजुहोतीनां द्वे च ॥३।२।१७८॥

द्युत्, गम्लृ, हु इनसे क्विप् और इनका द्वित्वादेश हो। [द्युत्-] दिद्युत्—यहां द्युत् धातु को क्विप के परे द्विर्वचन और उक्त दृशि ग्रहण से पूर्व की अभ्यास संज्ञा (३९) से तथा उस अभ्यास को संप्रसारण (२१८) से हो जाता है। गम्लृ—जगत् (१११५) से अनुनासिक लोप होता है।

१३१७-वा०-जुहोतेर्दीर्घश्च ॥ ३ । २ । १७८ ॥

हु धातु को दीर्घ भी होना चाहिये जुहूः।

१३१८-वा०-जुहोतेर्ह्वयतेर्वा ॥ महा० ।३।२।१७८॥

"हु दानादानयोः" अथवा "ह्वेञ् स्पर्द्धायां शब्दे च" इन से "जुहू" सिद्ध होता है।

१३१९-वा०-दृणातेर्ह्रस्वश्च द्वे च क्विप्चेति वक्तव्यम् ॥ ३ । २ । १७८ ॥

दृणाति—'दृ विदारणे' से क्विप् प्रत्यय धातु को द्विर्वचन और ह्रस्वादेश भी कहना चाहिये। ददृत्।

१३२०-वा०-दृणातेर्दीर्यतेर्वा ॥ महा० ३।२।१७८॥

दृ से कर्ता वा कर्म में ददृत् होता है। दृणाति वा दीर्यते या सा ददृत्।

१३२१-वा०-ध्यायतेः सम्प्रसारणं च ॥

'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से क्विप् और उसको सम्प्रसारण हो। धी।

१३२२-वा०-ध्यायते र्धातेर्वा ॥ महा० ।३।२।१७८॥

'धी' यह 'ध्यै' से वा 'डुधाञ्' से सिद्ध होता है।

१३२३—सुवः संज्ञान्तरयोः ॥३ । २ । १७९ ॥

संज्ञा वा अन्तर गम्यमान हो तो भू धातु से क्विप् प्रत्यय हो। संज्ञा—मित्रभूः। यह संज्ञा है। अन्तर—प्रतिभूः। धन के लेने देने वालों के बीच जो विश्वास कराने को स्थिर हो जाता है वह; प्रतिभू कहाता है।

१३२४—विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम् ॥३।२।१८०॥

संज्ञा न गम्यमान हो तो वि, प्र, सम् इन उपसर्गों से उत्तर जो भू धातु उससे डु प्रत्यय हो। विभुः, जो सर्वगत है। प्रभुः, स्वामी। संभुः, जिसका संभव है। असंज्ञा ग्रहण से जहां 'विभूः' किसी का नाम हो वहां न हो।

१३२५—वा०—डुप्रकरणे मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानं धातुविधितुक् प्रतिषेधार्थम् ॥३।२।१८०॥

डु प्रत्यय के प्रकरण में धातुविधि = धातुग्रहण से जो विधान किया जाय और तुक् के प्रतिषेध के लिये मितद्रु आदि शब्दों का उपसंख्यान करना चाहिये। मितं द्रवति प्राप्नोति मितद्रुः, मितद्रू, मितद्रवः। यहां [यदि क्विप् करते तो सूत्र १५९ से उवङ् और 'मितद्रु' में तुक् की प्राप्ति होती, डु करने से] धातु को विहित उवङ् [नामि० ९०] नहीं होता तथा "मितद्रु" यहां (सं० २०६) तुक् नहीं होता। शं कल्याणं भावयति शम्भूः। यहां अन्तर्भावितण्यर्थ माना जाता है।

१३२६—धः कर्मणि ष्ट्रन् ॥ ३। २। १८१ ॥

कर्मकारक में धेट् और डुधाञ् धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय हो। धयन्ति बालाः स्तन्यार्थिनो यां सा, धात्री [स्त्रै० ७०] उपमाता। दधति वा भैषज्यार्थं यां सा, धात्री (आमलकी) आंवले का नाम है।

१३२७—दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे ॥ ३। २। १८२ ॥

करण कारक में दाप् आदि धातुओं से ष्ट्रन् प्रत्यय हो। दाप् लवने—दात्यनेन दात्रम्। णीञ् प्रापणे—नयत्यनेन व्यवहारानिति नेत्रम्। शसु हिंसायाम्—शस्त्रम्। यु मिश्रणेऽमिश्रणे च—योत्रम्। युजिर् योगे—योक्त्रम्। ष्टुञ् स्तुतौ—स्तोत्रम्। तुद व्यथने—तोत्रम्। षिञ् बन्धने—सेत्रम्। षिच क्षरणे—सेक्त्रम्। मिह सेचने—मेढ्रम्। पत्लृ गतौ—पतति गच्छत्यनेनेति पत्त्र वाहनम्। दंश दंशने—दंष्ट्रा। (कैय० २) अनुनासिक लोप के साथ जो दश का निर्देश है सो यह ज्ञापक के लिए है अर्थात् नलोप जिनके परे (१३९) कहा है उनसे अन्यत्र भी होता है इससे 'दशनम्' यहां ल्युट् के परे भी होता है। णह बन्धने—नद्ध्रम्।

१३२८—हलसूकरयोः पुवः ॥ ३ । २ । १८३ ॥

करण कारक में पूङ् धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय हो। जो वह करण हल और सूकर का अवयव हो। पवते पुनाति वाऽनेन तत् पोत्रम्, हलमुखं सूकरमुखं वा।

१३२९—अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः ॥३।२।१८४॥

करण कारक में ऋ आदि धातुओं से इत्र प्रत्यय हो। ऋ गतौ—अरित्रम्। लूञ् छेदने—लवित्रम्। धू विधूनने—धवित्रम्। षू प्रेरणे—सवित्रम्। खनु अवदारणे—खनित्रम्। षह मर्षणे—सहित्रम्। चर गतिभक्षणयोः—चरित्रम्।

१३३०—पुवः संज्ञायाम् ॥ ३ । २ । १८५ ॥

करण कारक में पूङ् वा पूञ् धातु से इत्र प्रत्यय हो जो समुदाय से संज्ञा गम्यमान हो तो—पवित्रम्। कुशा वा ग्रन्थियुक्त कुशा [पैंती] आदि को कहते हैं।

१३३१—कर्तरि चर्षिदेवतयोः ॥३।२।१८६॥

उण् आदि प्रत्ययों का भी प्राय † = बहुल करके समुच्चय = समूह किया है अर्थात् उणादिगण में वे प्रत्यय भी निःशेष नहीं पढ़े हैं और कार्यों का सशेषविधि ‡ (उणादिगण के सूत्रों में समस्त कार्य नहीं कहे अर्थात् निःशेष नहीं कहे) देखने से वह बहुल शब्द पढ़ा है, तथापि वैदिक और रूढिभर = (संज्ञावाचक) शब्द अच्छे प्रकार सिद्ध करने हो हैं इससे पाणिनि आचार्य ने प्रकृतियों की बहुता [प्रत्ययों का प्रायिक समुच्चय तथा कार्यों की सशेषविधि को] देखकर बहुल शब्द पढ़ा है ॥ १ ॥

इस विषय में और आचार्यों का ऐसा सिद्धान्त है कि वे प्रकृत्यादिविभाग से शब्दों का साधन मानते हैं, किन्तु रूढिप्रकार से नहीं मानते जैसे—

नाम च—निरुक्तकार निरुक्तग्रन्थ में शब्दों को धातुज अर्थात् प्रकृतिप्रत्यय के विभाग से [बना हुआ] कहते [हैं] और व्याकरणविषय में शकट ऋषि के तोक = सन्तान = शाकटायन वैयाकरण शब्दों को धातुज कहते हैं। इससे जो [शब्द] विशेष + प्रकृति प्रत्यय के विभाग से न जाना जाय वह प्रकृति और प्रत्यय से

† बहुलवचन से यह समझना चाहिये कि जो उणादिगण में प्रत्यय नहीं कहे हैं वे भी होते हैं। जैसे महाभाष्यकार ने 'प्रत्ययः' (अष्टा० ३।१।१) सूत्र के भाष्य में ऋ धातु से फिड, फिड्ड प्रत्यय मानकर 'ऋफिड', 'ऋफिड्ड' प्रयोग दिखलाये हैं।

‡ उणादिगण में जो अनुक्त कार्य हैं वे भी बहुलवचन से होते हैं जैसे "दण्ड" यहां दम धातु के मूर्धन्य ण को णत्वादि का अभाव वा णत्वादि करके मूर्धन्यादेश हो जाता है।

+ विशिष्यते यः स विशेषः, यदसत् प्रयोजनं यस्य व्युत्पादनम् स पदार्थः, विशेषश्चासौ पदार्थो विशेषपदार्थस्तस्मात् यत्र सम्यक् विशिष्टपदार्थस्योपादानेन न व्युत्पादितमिति यावत्।

ऋषि और देवता वाच्य सज्ञा हो तो करण वा कर्त्ता कारक में पूङ् वा पूञ् धातु से इत्र प्रत्यय हो। यहां यथासंख्य ऋषि, देवता से सम्बन्ध है अर्थात् ऋषि वाच्य हो तो करण में और देवता वाच्य हो तो कर्ता में 'इत्र' होता है। पूयतेऽनेनेति पवित्रोऽयमृषिर्वेदः। अग्निः पवित्रं स मा पुनातु।

१३३२—उणादयो बहुलम् ॥ ३ । ३ । १ ॥

वर्तमानकाल और सज्ञा विषय में धातु से उण् आदि प्रत्यय बहुल करके हों। डुकृञ्—करोतीति कारु, शिल्पिनः संज्ञेयम्। वा—वातीति वायुः, पवन। इत्यादि। प्रकृति प्रत्यय के अनुसार उणादिगणस्थ उदाहरण जानने चाहियें। बहुल ग्रहण से कहे हुए कारक आदि के नियम से अन्यत्र भी शिष्ट प्रयोग के अनुसार प्रकृति प्रत्यय की कल्पना से उणादिगण से और भी प्रयोग बनते हैं। इस विषय में महाभाष्यकार ने कहा है कि—

का०—बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्।

कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु ॥१॥

नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।

यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ॥२॥

सञ्ज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।

कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥ ३ ॥

उणादि सूत्रों में प्रकृतियों की तनुदृष्टि=तनुता देखने से बाहुलक * (बहुलमेव बाहुलकम्) [अर्थात् बहुल] का ग्रहण तथा

---

* बहुलग्रहण से यह समझना चाहिये कि जो उणादिगण में अपठित प्रकृति हैं उनसे भी उणादि प्रत्यय होते हैं जैसे हृष धातु से 'उलच्' प्रत्यय कहा है वह 'शकि शङ्कायाम्' से भी होता है—"शङ्कुला"।

उण् आदि प्रत्ययों का भी प्राय † = बहुल करके समुच्चय = समूह किया है अर्थात् उणादिगण में वे प्रत्यय भी निःशेष नहीं पढ़े हैं और कार्यों की सशेषविधि ‡ (उणादिगण के सूत्रों में समस्त कार्य नहीं कहे अर्थात् निःशेष नहीं कहे) इसने से यह बहुल शब्द पढ़ा है, तथापि वैदिक और रूढिभव = (संज्ञावाचक) शब्द अच्छे प्रकार सिद्ध करने ही हैं इससे पाणिनि आचार्य ने प्रकृतियों की बहुता [प्रत्ययों का प्रायिक समुच्चय तथा कार्यों की सशेषविधि को] देखकर बहुल शब्द पढ़ा है ॥ १ ॥

इस विषय में और आचार्यों का ऐसा सिद्धान्त है कि वे प्रकृत्यादिविभाग से शब्दों का साधन मानते हैं, किन्तु रूढिप्रकार से नहीं मानते जैसे—

नाम च—निरुक्तकार निरुक्तग्रन्थ में शब्दों को धातुज अर्थात् प्रकृतिप्रत्यय के विभाग से [बना हुआ] कहते [हैं] और व्याकरणविषय में शकट ऋषि के तोक = पुत्र = शाकटायन वैयाकरण शब्दों को धातुज कहते हैं। इससे जो [शब्द] विशेष + प्रकृति प्रत्यय के विभाग से न जाना जाय वह प्रकृति और प्रत्यय से

---

† बहुलवचन से यह समझना चाहिये कि जो उणादिगण में प्रत्यय नहीं कहे हैं वे भी होते हैं। जैसे महाभाष्यकार ने 'ऋलृक्' (अष्टा० १।१।२) सूत्र के भाष्य में ऋफ धातु से फिड, फिड्ड प्रत्यय मानकर 'ऋफिड', ऋफिड्ड' प्रयोग दिखलाए हैं।

‡ उणादिगण में जो अनुक्त कार्य हैं वे भी बहुलवचन से होते हैं जैसे "दण्ड" यहाँ दम धातु के मूर्धन्य ण को सत्वादेश का अभाव या सत्वादेश करके मूर्धन्यादेश हो जाता है।

+ विशिष्यते च स विशेषः, तदर्थं प्रयोजनं यस्य व्युत्पादनेन स पदार्थः, विशेषपदार्थो पदार्थो विशेषपदार्थस्तस्माद् यच्च समुच्च विशिष्टप्रकृतिप्रत्ययोपादानेन न व्युत्पादितमिति यावत्।

कल्पनीय है अर्थात् उसकी सिद्धि के लिए प्रकृति को देखकर उसके कार्य के अनुसार प्रत्यय और प्रत्यय को देखकर प्रकृति की कल्पना करनी चाहिये ॥२॥

यह कल्पना सर्वत्र नहीं होती किन्तु—

संज्ञासु०—संज्ञा आदि शब्दों में धातुरूप और उन धातुओं से परे प्रत्यय तथा वृद्धि, गुण, उदात्तस्वर आदि कार्य के अनुसार प्रत्ययों के अनुबन्ध जानना चाहिये । उणादिकों में यही शिक्षा करने योग्य है ॥३॥

१३३३—भूतेऽपि दृश्यन्ते ॥ ३ । ३ । २ ॥

भूतकाल में भी उणादि प्रत्यय देखे जाते हैं। जैसे—वृत्तमिदं वर्त्म, चरितमिति चर्म । जो वर्त्त गया वह वर्त्म और जो चरित हो गया वह चर्म कहाता है। यह वृतु और चर धातु से भूतकाल में उणादिगणस्थ मनिन् प्रत्यय होता है।

१३३४—भविष्यति गम्यादयः ॥ ३ । ३ । ३ ॥

भविष्यत्काल में 'गमिन्' आदि उणादि प्रत्ययान्त शब्द देखे जाते हैं। ग्रामं गमी। यहां गम्लृ से उणादिस्थ इनि प्रत्यय भविष्यत्काल में होता है।

१३३५-वा०—भविष्यतीत्यनद्यतन उपसंख्यानम् ॥ ३ । ३ । ३ ॥

भविष्यत्काल में गम्यादिकों के विधान में अनद्यतन का उपसंख्यान करना चाहिये। श्वो ग्रामं गमी। कल के दिन ग्राम को जाने वाला है।

१३३६—दाशगोघ्नौ संप्रदाने ॥ ३ । ४ । ७३ ॥

दाश और गोघ्न ये उणादिप्रत्ययान्त शब्द संप्रदान कारक में निपातन हैं। दाशन्ति यच्छन्ति यस्मै स दाश ,गौर्हन्यते[1] यस्मै स गोघ्नः

१३३७—भीमादयोऽपादाने ॥ ३ । ४ । ७४ ॥

भीम आदि उणादिप्रत्ययान्त शब्द अपादान कारक में जानने चाहिये। निभेत्यस्मादिति भीमः, भीष्मः इत्यादि।

१३३८—ताभ्यामन्यत्रोणादयः ॥३।४।७५॥

सम्प्रदान अपादान से अन्यत्र अर्थात और कारकों में उण् आदि प्रत्यय हों। जि—जयतीति जायु इत्यादि।

१३३९—तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ॥
॥ ३ । ३ । १० ॥

क्रियार्थो क्रिया उपपद हो तो भविष्यत्काल में धातु से तुमुन् और ण्वुल् प्रत्यय हों। भुज+तुमुन+सु+गच्छति=यहां तुमुन् के "उ, न" इनकी इत् संज्ञा और लोप होकर—

१३४०—कृन्मेजन्तः ॥ १ । १ । ५३ ॥

मान्त और एजन्त जो कृत्प्रत्यय तदन्त जो शब्द सो अव्यय संज्ञक हों। इस से अव्यय संज्ञा हो जाती है। भोक्तु गच्छति, पठितु गच्छति, सभा द्रष्टुं गच्छति।

---

1 यहां गौ शब्द आसन का पर्यायवाची है। हन धातु गति और हिंसा अर्थ में पढ़ी है। गति के तीन अर्थ हैं—गमन, प्राप्ति और ज्ञान। यहां प्राप्ति अर्थ है। इसका शब्दार्थ है जिसके बैठने के लिए आसन आदि प्राप्त कराया जावे। यह व्यवहार अर्थात् अभ्यागत के लिए आसनादि देना प्रत्येक सभ्य परिवारों में होता है। इस सामान्य अर्थ को छोड़कर 'गाय मारना' रूपी अर्थ की कल्पना करना क्लिष्ट और अव्यवहारिक है। गो शब्द के अनेक अर्थ प्रसिद्ध हैं, तब केवल गाय अर्थ करना नितान्त अनुचित है।

यहां (१३३९) सूत्र में जो ण्वुल् प्रत्यय का ग्रहण किया है इससे जानना चाहिये कि तुमुन् के विषय में वासरूप विधि से तृजादिक नहीं होते हैं[1], क्योंकि जो तृजादिक होवे तो वासरूप विधि से ण्वुल् (९७६) हो ही जाता।

१३४१—समानकर्त्तृकेषु तुमुन् ॥३।३।१५८॥

इच्छा अर्थ वाले समानकर्तृक धातु समीपवर्ती हों तो धातु से तुमुन् प्रत्यय हो। इच्छति भोक्तुम्, कामयते भोक्तुम्, भोक्तुं वाञ्छति। समानकर्तृकग्रहण से यहां न हुआ—पठन्तं देवदत्तमिच्छति विष्णुमित्रः। अक्रियार्थोपपद के लिए यह सूत्र है, इससे "इच्छन्करोति भोक्तुम्" यहां भी तुमुन् होता है।

१३४२—शकधृषज्ञाग्लाघटरभलभक्रमसहार्हा-
स्त्यर्थेषु तुमुन् ॥ ३ । ४ । ६५ ॥

शक आदि धातु उपपद हों तो धातु से तुमुन् प्रत्यय हो। शक्लृ—शक्नोति भोक्तुम्। ञिधृषा—धृष्णोति भोक्तुम्। ज्ञा—जानाति भोक्तुम्। ग्लै—ग्लायति भोक्तुम्। घट—घटते भोक्तुम्। रभ—भोक्तुमारभते। लभ—लभते भोक्तुम्। क्रम—भोक्तुं क्रमते। षह—भोक्तुं सहते। अर्ह—भोक्तुमर्हति। अस्त्यर्थ—अस, भू, विद—भोक्तुमस्ति, भोक्तुम् भवति, विद्यते भोक्तुम्। यह भी अक्रियार्थोपपद के लिये सूत्र है—"शक्यन्करोति भोक्तुम्" यह भी तुमुन् होता है।

१३४३—पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु ॥३।४।६६॥

१. वासरूपेण तुमुन्ण्वुलोर्णेषु वासरूपविधि नास्ति। पारि॰ ५९॥

परिपूर्णता को कहने वाले अलमर्थ = सामर्थ्यवचन उपपद हों तो धातु से तुमुन् प्रत्यय हो। पर्याप्तो भोक्तुम्, अलं भोक्तुम्, भोक्तुं पारयति, भोक्तुं कुशलः। पर्याप्तिवचनग्रहण से यहां न हुआ—अलं कृत्वा। अलमर्थग्रहण से यहां न हुआ—पर्याप्तं भुङ्क्ते। यहां भोजन करने वाले की प्रभुता गम्यमान है।

१३४४—कालसमयवेलासु तुमुन् ॥३।३।१६७॥

काल, समय और वेला ये शब्द उपपद हों तो धातु से तुमुन् प्रत्यय हो। कालो भोक्तुम्, भोक्तुम् वेला, भोक्तुं समयः। यहां अष्टाध्यायी के क्रम से (७९१) सूत्र में से प्रैष, अतिसर्ग, प्राप्तकाल इन अर्थों का भी सम्बन्धानुवर्तन है, अर्थात् प्रैषादि अर्थों के ही विषय में यह तुमुन् होता है। इससे यहां न हुआ—कालः पचति, भूतानि कालः संहरति प्रजाः।

१३४५—भाववचनाश्च ॥ ३ । ३ । ११ ॥

क्रियार्थो क्रिया उपपद हो तो धातु से भविष्यत्-काल में भाववचन = भावाधिकार १२४६ विहित घञ् आदि प्रत्यय हों। यागाय याति, पाठाय गच्छति, पुष्टय प्रयतते। यज्ञ करने को वा पठन को जाता और पुष्टि के लिए उत्तम यत्न करता है। यहां कर्म में चतुर्थी (कारकीय ६१) उ होती है। वचनग्रहण इसलिये है कि जिस जिस प्रकृति और नियम से जो जो प्रत्यय भावाधिकार में कहा है वह वह इस विषय में उन्हीं नियमों से हो। यद्यपि सामान्य विहित भाववचन क्रियार्थ क्रिया के विषय में हो जाते, परन्तु यहां वासरूपविधि के न होने से[1] क्रियार्थोपपद विषयक तुमुन् के बाधने से नहीं होने हैं इसलिये यह (१३४५) सूत्र कहा।

---

1. द्रष्टव्य पृ० ५७२ पञ्च । तथा टिप्पणी १।

१३४६—अण् कर्मणि च ॥ ३ । ३ । १२ ॥

क्रियार्था क्रिया और कर्म उपपद हो तो धातु से भविष्यत्काल में अण प्रत्यय हो। यहा चकार कर्म [के] सन्नियोग के लिए है अर्थात् जहां कर्म और क्रियार्थाक्रिया साथ रहे वहां यह अण हो। काण्डानि लवितुं गच्छति—काण्डलावो गच्छति, अश्वं दातुं व्रजति-अश्वदायो व्रजति। परत्व से यह कादिकों (१००२) को बाधता है।

१३४७—पदरुजविशस्पृशो घञ् ॥३।३।१६॥

पद आदि धातुओं से घञ् प्रत्यय हो। यहां से तीनों काल में प्रत्यय होते हैं। अर्थात् भविष्यत्काल की निवृत्ति है। पद्यतेऽसौ पाद, रुजत्यसौ रोगः, विशत्यसौ वेशः। इसी प्रकार 'परस्पते अपादि वा पादः' इत्यादि जानना चाहिये।

१३४८-वा०-स्पृश उपतापे ॥ ३ । ३ । १६ ॥

उक्त घञ् प्रत्यय स्पृश धातु से उपताप अर्थ में हो यह कहना चाहिये। स्पृशतीति स्पर्श उपतापः। कष्ट को कहते हैं। उपतापग्रहण से यहां न हुआ—कम्बलस्य स्पर्श कम्बलस्पर्शः। यहां पचाद्यच् (९७७) हो जाता है।

१३४९—सृ स्थिरे ॥ ३ । ३ । १७ ॥

सृ धातु से स्थिर कर्ता में घञ् प्रत्यय हो। स्थिर शब्द से चिरकालस्थायी का ग्रहण है। यश्चिरं तिष्ठन् कालान्तरं सरति प्राप्नोति स सारः। जो चिरकाल ठहरा हुआ कालान्तर को प्राप्त होता है वह सार कहाता है स्थिर ग्रहण से यहा न हुआ—सर्ता, सारक. (९७६)।

१३५०—वा०—व्याधिमत्स्यबलेष्विति

वक्तव्यम् ॥ ३ । ३ । १७ ॥

व्याधि, मत्स्य और बल अर्थ में सृ धातु से घञ् प्रत्यय कहना चाहिये। अत्यन्त सरति अतिसारो व्याधिः। त्रिविधं सरति इतस्ततो जलेऽटति विसारो मत्स्यः। शाल इव सरति शालसारः, खादिरसारः बलम्।

१३५१—भावे ॥ ३ । ३ । १८ ॥

भाव वाच्य हो तो धातु से घञ् प्रत्यय हो। यहां यह जानना चाहिये कि क्रियासामान्यवाची भू धातु है इसमें अर्थ निर्देश किया हुआ सर्वधातुविषयक होता है। भाव अर्थात् धात्वर्थ सो भी धातु से ही कहा जायगा इसलिये धातु के सिद्ध प्रयोग से जो धात्वर्थ निष्पन्न होता है वह वाच्य हो तो घञ् होता है। जैसे—कारः, हारः इत्यादि।

१३५२—स्फुरतिस्फुलत्योर्घञि ॥६।१।४७॥

घञ् प्रत्यय परे हो तो स्फुर, स्फुल इन धातुओं के एच् के स्थान में आकारादेश हो। स्फार, स्फाल।

१३५३—इकः काशे ॥ ६ । ३ । १२३ ॥

काश उत्तरपद परे हो तो इगन्त उपसर्ग को दीर्घादेश हो। नीकाश, अनूकाशः। यहां "काशृ दीप्तौ" धातु से घञ् हुआ है। इगन्त ग्रहण से यहां दीर्घ नहीं होता—प्रकाशः।

१३५४—स्यदो जवे ॥ ६ । ४ । २८ ॥

घञ् प्रत्यय परे हो और जव=वेग अभिधेय हो तो 'स्यद' यह निपातन है। गोस्यदः। यहां "स्यन्दू प्रस्रवणे" धातु से घञ् प्रत्यय, नलोप और (१२६) से प्राप्त वृद्धि का अभाव निपातन है। 'जव' ग्रहण से "घृतस्यन्दः" यहां नलोप नहीं होता।

१३५५—अवोदैधौद्मप्रश्रथहिमश्रथाः ॥

६ । ४ । २९ ॥

बहुलम्[1]" सूत्र पर्यन्त "भावे, अकर्त्तरि, कारके"—इन पदों का अधिकार है।

१३५८—परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः ॥३।३।२०॥

परिमाण का कथन हो तो सब धातुओं से घञ् प्रत्यय हो। चिञ्—एकस्तण्डुलनिचायः, तण्डुलानां निचायस्तण्डुलनिचायः ❀। शूञ्—द्वौ शूर्पनिष्पावौ, कॄ विक्षेपे—द्वौ कारौ, त्रयः काराः। परिमाणाख्या ग्रहण से यहां न हुआ—निश्चयः।

१३५९—वा०—दारजारौ कर्त्तरि णिलुक् च ॥ ३ । ३ । २० ॥

दार, जार ये दोनों प्रयोग कर्त्ता में कहने चाहियें, और इनके विषय में णिच् प्रत्यय का लुक् भी कहना चाहिये। दॄ विदारणे—दारयन्तीति दाराः। जॄ वयोहानौ—जारयन्तीति जाराः।

१३६०—वा०—करणे वा ॥ ३ । ३ । २० ॥

अथवा करण कारक में दार जार शब्द कहने चाहियें। इस पक्ष में णिलुक् नहीं है। दीर्यन्ते तैर्दाराः, जीर्यन्ते तैर्जाराः।

१३६१—इङश्च ॥ ३ । ३ । २१ ॥

इङ् धातु से घञ् प्रत्यय हो। यह वक्ष्यमाण अच् का अपवाद है। उपेत्यस्मादधीत इत्युपाध्यायः। यहां [इङ्] धातु से अपादान में घञ् प्रत्यय है।

---

1. भा० ९२०।

❀ यह धान्यों की ढेरी अर्थात् मन आदि परिमाण से पूर्ण है। जितना एक बार शूर्प से शुद्ध किया जावे उतना परिमाण शूर्पनिष्पाव कहाता है। दो शूर्पनिष्पाव अर्थात् दो बार शूर्प से जितना शुद्ध हो सके उतना धान्य है, दो कार अर्थात् दो बार शूर्प आदि से किया जाय उतना धान्य है।

नलोपविषय में अवोद, एध, ओद्म, प्रश्रथ, हिमश्रथ ये निपातन हैं। अवोद। यहां अवपूर्वक "उन्दी क्लेदने" धातु से घञ् प्रत्यय के परे नलोप निपातन है। एध। यहां "ञिइन्धी दीप्तौ" से घञ् प्रत्यय के परे नलोप और गुणादेश निपातन है। अन्यथा (५५४) सूत्र से गुणप्रतिषेध प्राप्त है। ओद्मः, "उन्दी" धातु का नलोप और गुणादेश उणादिगणस्थ मन् प्रत्यय के परे निपातन है। प्रश्रथ—यहां श्रन्थ धातु के नकार का लोप और वृद्धि का न होना निपातन है इसी प्रकार हिमपूर्वक श्रन्थ से "हिमश्रथः" सिद्ध होता है।

१३५६—अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् ॥ ३।३।१९॥

कर्त्ताभिन्न कारक में भी संज्ञाविषय में घञ् प्रत्यय हो। प्रसीव्यत इति प्रसेवः। आहरन्ति रसं यस्मात् स आहारः। अकर्तृ-ग्रहण से यहां न हुआ—"मिष स्पर्धायाम्—मिषत्यसौ मेषः" मेढा का नाम है। यहां अच हो जाता है[1]। संज्ञाग्रहण से यहां न हुआ—कर्त्तव्यः कटः, गन्तव्यो मार्गः। संज्ञा से अन्यत्र भी घञ् होने के लिए चकार[2] है इससे यहां भी होता है—को लाभो भवता लब्धः।

१३५७—घञि च भावकरणयोः ॥६।४।२७॥

भावकरणवाची घञ् प्रत्यय परे हो तो रञ्ज धातु के उपधा नकार का लोप हो। भाव में—रञ्जनं रागः। करण में—रज्यतेऽनेनेति रागः। भावकरणग्रहण से यहां नलोप न हुआ—रञ्जत्यस्मिन्निति रङ्गः। यहां से आगे अष्टाध्यायी के क्रम से "कृत्यल्युटो

१. यद्यपि घञ् और अच् में रूपभेद नहीं होता, तथापि घञ् होने से आद्युदात्त और अच् होने से अन्तोदात्त होता है।

२. अर्थात् चकार से भाव का समुच्चय होता है।

बहुलम्[1]" सूत्र पर्यन्त "भावे, अकर्त्तरि, कारके"—इन पदों का अधिकार है।

१३५८—परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः ॥३।३।२०॥

परिमाण का कथन हो तो सब धातुओं से घञ् प्रत्यय हो। चिञ्—एकस्तण्डुलनिचायः, तण्डुलानां निचायस्तण्डुलनिचायः *। पूञ्—द्वौ शूर्पनिष्पावौ, कॄ विक्षेपे—द्वौ कारौ, त्रयः काराः। परिमाणाख्या ग्रहण से यहां न हुआ—निश्चयः।

१३५९—वा०—दारजारौ कर्तरि णिलुक् च ॥ ३ । ३ । २० ॥

दार, जार ये दोनों प्रयोग कर्ता में कहने चाहियें, और इनके विषय में णिच् प्रत्यय का लुक् भी कहना चाहिये। दॄ विदारणे—दारयन्तीति दाराः। जॄ वयोहानौ—जारयन्तीति जाराः।

१३६०—वा०—करणे वा ॥ ३ । ३ । २० ॥

अथवा करण कारक में दार जार शब्द कहने चाहियें। इस पक्ष में णिलुक् नहीं है। दीर्यन्ते तैर्दाराः, जीर्यन्ते तैर्जाराः।

१३६१—इङश्च ॥ ३ । ३ । २१ ॥

इङ् धातु से घञ् प्रत्यय हो। यह वक्ष्यमाण अच् का अपवाद है। उपेत्यस्मादधीत इत्युपाध्यायः। यहां [इङ्] धातु से अपादान में घञ् प्रत्यय है।

---

1. भा० १२०।

* यह चावलों की ढेरी अर्थात् मन आदि परिमाण से पूर्ण है। जितना एक बार सूप से शुद्ध किया जाय के उतना परिमाण शूर्पनिष्पाव कहाता है। दो शूर्पनिष्पाव अर्थात् दो बार सूप से जितना शुद्ध हो सके उतना धान्य है, दो कार अर्थात् दो बार सूप आदि से किया जाय उतना धान्य है।

१३६२—वा०—इङश्चेत्यपादाने स्त्रियामुपसंख्यानं तदन्ताच्च वा ङीप् ॥ ३ । ३ । २१ ॥

"इङश्च" इस विषय मे स्त्रीलिङ्ग में [अपादान कारक में] घञ् प्रत्यय का उपसंख्यान करना [चाहिये] और उस घञ् प्रत्ययान्त से विकल्प करके ङीप् प्रत्यय कहना चाहिये । उपेत्याधीयतेऽस्या उपाध्यायी, उपाध्याया (कौमु० ८९)।

१३६३—वा०—शॄ वायुवर्णनिवृतेषु ॥३।३।२१॥

"शॄ" इस धातु से वायु, वर्ण, निवृत (आवरण-आच्छादन) इन अर्थों में घञ् प्रत्यय कहना चाहिये । शॄ हिंसायाम्—शृणात्यनेनेति शारो वायुः । करण में घञ् है । शीर्यते चित्रीक्रियतेऽनेनेति शारो वर्णः । गौरिवाकृतनीशारः प्रायेण शिशिरे कृशः । निशीर्य्यते निम्रियते आच्छाद्यतेऽनेनेति नीशार । निवृतम्—अकृतनीशारः। जिसने छप्पर आदि नहीं छवाया [या कपड़ा आदि नहीं ओढता] वह पुरुष प्रायः करके शिशिर ऋतु में गौ के तुल्य दुबला हो जाता है ।

१३६४—उपसर्गे रुवः ॥ ३ । ३ । २२ ॥

उपसर्ग उपपद हो तो रु धातु से घञ् प्रत्यय हो । संरावः। उपसर्ग ग्रहण से यहा न हुआ—रवः । यहा (१४०३) अप हो जाता है ।

१३६५—समि युद्रुदुवः ॥ ३ । ३ । २३ ॥

सम् उपपद हो तो यु, द्रु, दु इन धातुओं से घञ् प्रत्यय हो । सं यूयते मिश्रीक्रियते गुडादिभिरिति संयावः । मीठी पूड़ी आदि का नाम है । सन्द्रावः, सन्दावः ।

१३६६—श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे ॥३।३।२४॥

उपसर्ग उपपद हो तो श्रि, णि, भू इन धातुओं से घञ् प्रत्यय हो। श्राय, नाय, भावः। उपसर्ग निषेध से यहां न हुआ—श्रयः, नय', भवः। 'प्रभावः' यह तो प्रादिसमास से होता है तथा "नय, पृथिवीपते:" यह कृत् संज्ञकों के बहुलभाव से होता है।

१३६७—वौ क्षुश्रुवः ॥ ३ । ३ । २५ ॥

वि उपपद हो तो क्षु, श्रु इन धातुओं से घञ् प्रत्यय हो। विक्षाव, विश्रावः। वि ग्रहण से यहां न हुआ—क्षवः, श्रवः।

१३६८—अवोदोर्नियः ॥ ३ । ३ । २६ ॥

अव, उद ये उपसर्ग उपपद हों तो नी धातु से घञ् प्रत्यय हो। अवनाय। नीचे को पहुँचाना। उन्नायः। ऊपर को पहुँचाना।

१३६९—प्रे द्रुस्तुस्रुवः ॥ ३ । ३ । २७ ॥

प्र उपपद हो तो द्रु, स्तु, स्रु इन धातुओं से घञ् प्रत्यय हो। प्रद्राव, प्रस्ताव, प्रस्रावः। प्र ग्रहण से यहां न हुआ—द्रवः, स्तवः, स्रवः। यहां वक्ष्यमाण अप् (१४०३) से हो जाता है।

१३७०—निरभ्योः पूल्वोः ॥ ३ । ३ । २८ ॥

निर् अभि ये यथासंख्य उपपद हों तो पू लू इन धातुओं से घञ् प्रत्यय हो। "पू" यह सामान्य 'पूङ् पूञ्' दोनों का ग्रहण है। निर् पू—निष्पूयते शूर्पादिभिर्ये स निष्पावः। यह किसी धान्यविशेष का नाम है। अभिलाव.।

१३७१—उन्न्योर्ग्रः ॥ ३ । ३ । २९ ॥

उद् और नि उपपद हो तो गॄ धातु से घञ् प्रत्यय हो। गॄ शब्दे, गॄ निगरणे—उद्+गॄ—उद्गारः समुद्रस्य। नि+गॄ—निगारो मनुष्याणाम्। उद्, नि ग्रहण से यहां न हुआ—गरः। अप् (१४०३) हो जाता है।

१३७२—कॄ धान्ये ॥ ३ । ३ । ३० ॥

धान्य अर्थ में वर्तमान जो उद् नि पूर्वक कॄ धातु उससे घञ् प्रत्यय हो । कॄ विक्षेपे—उत्कारो निकारो वा धान्यस्य । धान्य का ऊपर को किराना वा एक तार किराना । धान्य से अन्यत्र-भैक्ष्योत्कर, पुष्पनिकर । फूलों का समूह ।

१३७३—यज्ञे समि स्तुवः ॥ ३ । ३ । ३१ ॥

यज्ञ अर्थ में सम् पूर्वक स्तु धातु से घञ् प्रत्यय हो । समेत्य स्तुवन्ति छन्दोगा यस्मिन् देशे स देश संस्ताव. । यहां अधिकरण में घञ् प्रत्यय है । यज्ञ से अन्यत्र—संस्तवः परिचय ।

१३७४—प्रे स्त्रोऽयज्ञे ॥ ३ । ३ । ३२ ॥

प्र उपपद हो तो यज्ञभिन्न अर्थ में स्तॄञ् धातु से घञ् प्रत्यय हो । स्तॄञ् आच्छादने—छन्दसा प्रस्तार, मणिप्रस्तारः । अयज्ञग्रहण से यहां न हुआ—बर्हिष प्रस्तरः । कुशों की मूठी ।

१३७५—प्रथने वावशब्दे ॥ ३ । ३ । ३३ ॥

अशब्दविषयक प्रथन = विस्तीर्णता गम्यमान हो और वि उपपद हो तो स्तॄञ् धातु से घञ् प्रत्यय हो । पटस्य विस्तारः । प्रथन ग्रहण से यहां न हुआ—अथ तृणविस्तर । यह तृण अर्थात् कुश आदि का बिछावना है । अशब्दग्रहण से यहां न हुआ—वचसा विस्तर, ग्रन्थविस्तर । इन में अगला अप् प्रत्यय (१४०३) स हो जाता है ।

१३७६—छन्दोनाम्नि च ॥ ३ । ३ । ३४ ॥

छन्दोनाम वाच्य हो तो विपूर्वक स्तॄञ् धातु स घञ् प्रत्यय हो । यहां छन्दस् शब्द से गायत्री आदि छन्दों का ग्रहण है । विस्तीर्यन्ते-

ऽस्मिन्नस्तीति वा विष्टारः, विष्टारं च तत् पङ्क्तिश्छन्दः विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः । विष्टारबृहती छन्दः । यहां (८४२) सूत्र से षत्व होता है ।

१३७७—उदि ग्रहः ॥ ३ । ३ । ३५ ॥

उद् उपपद हो तो ग्रह धातु से घञ् प्रत्यय हो । उद्ग्राहः ।

१३७८—वा०—उद्ग्राभनिग्राभौ च छन्दसि स्रुगुद्यमननिपातनयोः ॥ ३ । ३ । ३५ ॥

स्रुच् (हवन करने के पात्र) का उठाना [और] धरना अर्थ हों तो [यथासंख्य] उद्ग्राभ, निग्राभ ये निपातन हैं। यहां उद् नि पूर्वक ग्रह धातु से भाव में घञ् और उसके हकार को भकार आदेश हुआ है।

१३७९—समि मुष्टौ ॥ ३ । ३ । ३६ ॥

सम् उपपद हो तो मुष्टिविषय = पञ्जा लड़ाने अर्थ में ग्रह धातु से घञ् प्रत्यय हो । अहो मल्लस्य संग्राहः, अहो मुष्टिकस्य संग्राहः । मुष्टिग्रहण से यहां न हुआ—द्रव्यस्य संग्रहः ।

१३८०—परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः ।३।३।३७॥

द्यूत अर्थ में परिपूर्वक णीञ् और अभ्रेष = उचित करने अर्थ में निपूर्वक इण् धातु से घञ् प्रत्यय हो । द्यूत—परिणयनं परिणायः, परिणायेन शारान् हन्ति । सब ओर से हेर फेर से पाशाओं को छीनता झपटता है । अभ्रेष—एषोऽत्र न्यायः । द्यूताभ्रेष से अन्यत्र—परिणयो विवाहः, न्ययो नाशः ।

१३८१—परावनुपात्यय इणः ॥ ३ । ३ । ३८ ॥

अनुपात्यय अर्थ में परिपूर्वक इण धातु से घञ् प्रत्यय हो। तव पर्यायः, मम पर्यायः। अनुपात्यय ग्रहण से यहां न हुआ—कालस्य पर्ययः। काल का व्यतीत होना।

१३८२—व्युपयोः शेतेः पर्याये ॥३।३।३९॥

पर्याय गम्यमान हो तो वि, उप पूर्वक शीङ् धातु से घञ् प्रत्यय हो। तव विशायः = तुम्हारा जागना। मम विशायः = मेरा जागना। तव राजोपशायः = तुम्हारा राजा के समीप सोना। मम राजोपशायः = मेरा राजा के समीप सोना। पर्यायग्रहण से यहां न हुआ—विशय, उपशयः।

१३८३—हस्तादाने चेरस्तेये ॥ ३ । ३ । ४० ॥

अस्तेय अर्थात् चोरी से अन्यत्र जो हाथ से ग्रहण करना उस अर्थ में चिञ् धातु से घञ् प्रत्यय हो। पुष्पप्रचायः, फलप्रचायः = पुष्प, फलों का हाथ से इकट्ठा करना। हस्तादान से अन्यत्र—दण्डेन फलसचयं करोति। यहां घञ् नहीं होता। अस्तेयग्रहण से यहां नहीं होता—चौर्येण फलप्रचयः।

१३८४—निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः ॥ ३ । ३ । ४१ ॥

निवास = अच्छे प्रकार जिसमें वसें, चिति = चिनी जाना शरीर, उपसमाधान = ढेर लगाना इन अर्थों में चिञ् धातु से घञ् प्रत्यय और धातु के आदि चकार को ककार आदेश हो। निवास—निवसत्यस्मिन्निति निकायः। कश्मीरनिकायः। चिति—आचीयतेऽसावित्याकायः। जो अच्छे प्रकार चिना जाय वह आकाय कहाता है। आकायमग्निं चिन्वीत। शरीर—चीयतेऽस्मिन् सङ्ख्यादिकमिति कायः। उपसमाधान—धान्यनिकायः।

१३८५—सङ्घे चानौत्तराधर्ये ॥३।३।४२॥

अनौत्तराधर्य ऊपर नीचे न होना विषयक जो सघ=प्राणियों का एकत्र होना उस अर्थ मे चित्र् धातु से घञ् प्रत्यय और उसके आदिभूत चकार का क आदेश हो। ब्राह्मणनिकाय, भिक्षुनिकाय, वैयाकरणनिकाय। अनौत्तराधर्य ग्रहण से यहाँ न हुआ—सूकरनिचय। क्याय सूकर सोते हुए एक दूसरे के ऊपर भी हो रहते हैं। प्राणिविषयकसघ लने से यहा न हुआ—ज्ञानकर्मसमुच्चय।

१३८६—कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम् ॥३।३।४३॥

कर्मव्यतिहार=क्रिया का परस्पर होना गम्यमान हो तो स्त्रीलिङ्ग में धातु से णच् प्रत्यय हो। यह भाव में होता है। 'वि+अव+क्रुश+णच्' यहा (सं० ८२२) सूत्र से स्वार्थ म तद्धित अञ् प्रत्यय होकर "व्यवक्रुश+अ+अ" इस अवस्था म (सं० ९११) सूत्र से ऐच् प्राप्त हुआ उसका (सं० ९२२) निषेध होकर (स्त्रै० १६७) सूत्र से वृद्धि तथा (स्त्रै० ३१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो जाता है। व्यावक्रोशी, व्यावहासी। स्त्रीग्रहण से यहा न हुआ—व्यतिपाको वर्त्तते। कर्मव्यतिहार से अन्यत्र—क्रोशो वर्तते।

१३८७—अभिविधौ भाव इनुण् ॥३।३।४४॥

अभिविधि (अभिव्याप्ति अर्थात् क्रिया और गुणो से परिपूर्ण सम्बन्ध) अर्थ हो तो धातु से भाव में इनुण् प्रत्यय हो। समन्ताद् रवण, समन्ताद् रूयत इति वा सांराविणम्। यहा सम्पूर्वक रु' धातु से इनुण् और उसके पर धातु को वृद्धि (६१) तदनन्तर 'सराविन्' शब्द से स्वार्थ में अण् और अण् के परे आदि अच् को (स्त्रै० १६७) वृद्धि और अण् के पूर्व को प्रकृतिभाव (स्त्रै० ९०१) सूत्र से हो जाता है। सांराविणं वर्त्तते। अभिविधिग्रहण से यहा न

हुआ—संरावः। इत्यादिकों में घञ् हो जाता है। भाव वर्तमान था फिर भाव इसलिये है कि वासरूपविधि से अभिविधिविषयक भाव में घञ् न हो, परन्तु वक्ष्यमाण ल्युट् प्रत्यय तो होता है।

१३८८—आक्रोशेऽवन्योर्ग्रहः ॥ ३ । ३ । ४५ ॥

आक्रोश=अच्छे प्रकार कोसना अर्थ गम्यमान हो तो अव, नि पूर्वक ग्रह धातु से घञ् प्रत्यय हो। अवग्राहो वृषल ते भूयात्, निग्राहो हन्त ते वृषल ! भूयात्। आक्रोशग्रहण से यहां न हो—अवग्रहः पदस्य, पद का विग्रह। निग्रहश्चोरस्य, चोर का बाधना।

१३८९—प्रे लिप्सायाम् ॥ ३ । ३ । ४६ ॥

लाभ की इच्छा गम्यमान हो तो प्रपूर्वक ग्रह धातु से घञ् प्रत्यय हो। पात्रप्रग्राहेण चरति भिक्षुः। लिप्सा ग्रहण से यहां न हुआ—प्रग्रह' पात्राणाम्।

१३९०—परौ यज्ञे ॥ ३ । ३ । ४७ ॥

परि उपसर्ग उपपद हो तो ग्रह धातु से यज्ञ अर्थ में घञ् प्रत्यय हो। उत्तर—परिग्राहः, स्फ्येन वेदेर्भवति[1]। यज्ञ से अन्यत्र—परिग्रहो देवदत्तस्य।

१३९१—नौ वृ धान्ये ॥ ३ । ३ । ४८ ॥

धान्य अभिधेय हो और नि उपसर्ग उपपद हो तो वृञ् वा वृङ् धातु से घञ् प्रत्यय हो। नीवाराः व्रीहयः। यहां "उपसर्गस्य

१. वेदि का स्थान नापकर 'स्फ्य' से उस नपी हुई भूमि पर चिह्न करना परिग्राह कहाता है। काण्व शतपथ में परिग्राह के स्थान पर परिग्रह का प्रयोग करता है।

यज्ञमनुष्ये बहुलम्"[1] इस सूत्र से नि को दीर्घ हो गया। धान्य से अन्यत्र—निवरा कन्या। यहां अगला अप् (१४०३) प्रत्यय हो जाता है।

१३६२—उदि श्रयतियौतिपूद्रुवः ॥३।३।४६॥

उद् उपपद हो तो श्रिञ् यु पू द्रु इन धातुओं से घञ् प्रत्यय हो। श्रिञ्—उच्छ्रायः। यु—उद्यावः। पूञ्, पूङ्—उत्पावः। द्रु—उद्द्रावः।

१३६३—विभाषाङि रुप्लुवोः ॥३।३।५०॥

आङ् उपपद हो तो रु और प्लु धातु से विकल्प करके घञ् प्रत्यय हो। आरावः, आरवः, आप्लावः, आप्लवः।

१३६४—अवे ग्रहो वर्षप्रतिबन्धे ॥३।३।५१॥

वर्षा का प्रतिबन्ध अभिधेय हो और अव उपपद हो तो ग्रह धातु से विकल्प करके घञ् प्रत्यय हो। अपने समय में हो रही जो वर्षा है उसका किसी कारण से जो अभाव होना उसको वर्षप्रतिबन्ध कहते हैं। अवग्राहो देवस्य, अवग्रहो देवस्य। वर्षप्रतिबन्धग्रहण से यहां न हुआ—अवग्रह पदस्य।

१३६५—प्रे वणिजाम् ॥ ३ । ३ । ५२ ॥

वणिज् सम्बन्धी प्रत्ययार्थ हो तो प्रपूर्वक ग्रह धातु से विकल्प करके घञ् प्रत्यय हो। तुलाप्रग्राहेण चरति तुलाप्रग्रहेण वा चरति। यहां वणिक् सम्बन्धी तुलासूत्र का ग्रहण है अर्थात् तुला=तखरी—तक आदि जिससे ग्रहण करी जाय उस सूत्र को पकड़कर चलता है। वणिग्ग्रहण से यहां न हुआ—प्रग्रहो धनस्य।

१३६६—रश्मौ च ॥ ३ । ३ । ५३ ॥

---

[1] अष्टा० ६। ३। १२२॥

रश्मि अभिधेय हो और प्र शब्द उपपद हो तो ग्रह् धातु से विभाषा घञ् प्रत्यय हो। प्रग्रह, प्रग्राह। रथ में जुड़े हुए घोड़ों की बागों (लगामों) को कहते हैं।

१३९७—वृणोतेराच्छादने ॥ ३ । ३ । ५४ ॥

प्र उपपद हो तो वृञ् धातु से आच्छादन अर्थ में घञ् प्रत्यय हो। प्रवार, प्रवर। आच्छादन ग्रहण से यहां न हुआ—प्रवरा (१४०३) गौ।

१३९८—परौ भुवोऽवज्ञाने ॥ ३ । ३ । ५५ ॥

परि उपपद हो तो अवज्ञान=तिरस्कार अर्थ में भू धातु से घञ् प्रत्यय हो। परिभवः, परीभाव. 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्'[1] इससे दीर्घ। परिभवः। अवज्ञान से अन्यत्र—परितः सर्वतो भवनं परिभवः। यहां अप् हो जाता है।

१३९९—एरच् ॥ ३ । ३ । ५६ ॥

इवर्णान्त धातु से अच् प्रत्यय हो। चिञ्—चय। जि—जयः। चि—चय। भाव और कर्तृभिन्न कारक का अधिकार है, इसलिए प्रकरण के उक्त अनुक्त सब प्रत्यय भाव वा कर्तृभिन्न कारकों में प्राय होते हैं।

१४००—वा०—भयादीनामिति वक्तव्यम् ॥ ३ । ३ । ५६ ॥

भयादि शब्दों की सिद्धि अच् प्रत्यय से कहनी चाहिये। ञिभी—भयम्। वृषु—वर्षम्। नपुंसकलिङ्ग भाव में क्त प्रत्यय कहेंगे उसकी

1. अष्टा० ६ । ३ । १२२ ॥

निवृत्ति के लिए यह वार्तिक है, परन्तु 'वृषभो वर्षणात्'[1] इस भाष्यवचन से वर्षण शब्द तो भाव में होता ही है।

१४०१—वा०—कल्प्यादिभ्यः प्रतिषेधः ॥३।३।५६॥

कल्पि आदि धातुओं से अच् प्रत्यय का प्रतिषेध कहना चाहिये। 'कल्पि' यह णिजन्त 'कृपू' सामर्थ्ये है। कृपू+णिच्+घञ्+सु—कल्प, अर्थ, मन्त्र। ये भी णिजन्तों से हैं। णिजन्त सब इवर्णान्त हो जाते हैं इसलिये कल्पि आदि से अच् * प्राप्त था उसके प्रतिषेध में घञ् हो जाता है।

१४०२—वा०—जवसवौ छन्दसि वक्तव्यौ ॥

३।३।५६॥

वेदविषय में जव, सव ये अच् प्रत्ययान्त कहने चाहियें। 'जु' सौत्र धातु है, इससे 'जु+अच्+सु=जव' होता है। ऊर्वोरस्तु मे जव। षु' वा 'षू' धातु से अच् होकर—'सव' होता है। अर्थ में पञ्चौदन सवः। यह अच् विधान अन्तोदात्त (सौवर ३४) स्वर के लिए है क्योंकि 'जव, सव' प्रयोग अप् से भी सिद्ध थे।

१४०३—ऋदोरप् ॥ ३ । ३ । ५७ ॥

ऋकारान्त और उवर्णान्त धातुओं से अप् प्रत्यय हो। कृ—कर। शृ—शर। यु—यव। लू—लव। पू—पव। 'ऋदो०' यहां ऋ और उकार का अलग २ उच्चारण होने के लिए दकार के साथ निर्देश है किन्तु तपर करण [क लिये] नहीं है।

---

१ महाभाष्य अ० १ पाद १ आ० १॥

* किन्हीं नवीनपन्था वालों का यह भी सिद्धान्त है कि 'एरच्' यह अण्यन्त से होता है ण्यन्तों से नहीं होता। सो उनका कथन भाष्यविरुद्ध है।

१४०४—ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च ॥ ३ । ३ । ५८ ॥

ग्रह्, वृ, दृ, निश्चि, गमलृ इनसे अप् प्रत्यय हो। यह घञ् और अच् का अपवाद है। ग्रह्—ग्रहः। वृ—वरः। दृ—दरः। निस्+चि=निश्चयः। गमलृ—गम।

१४०५—वा०—वशिरण्योश्चोपसंख्यानम् ॥ ३ । ३ । ५८ ॥

अप् प्रत्यय के विधान में वश और रण धातु की भी गणना करनी चाहिये। वशनं वशः, सवश सैन्धवम्, रणऽन्त्यस्मिन्निति, रणः, धनजय रणे रणे।

१४०६—वा०—घञर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम् ॥ ३ । ३ । ५८ ॥

स्था, स्ना, पा, व्यध, हन, युध आदि धातुओं के लिये घञर्थे भाव, कर्तोभिन्न कारक) में क प्रत्यय का विधान करना चाहिये। प्रतिष्ठन्तऽस्मिन् धान्यानीति प्रस्थः, प्रस्थे हिमवतः शृङ्गे, प्रस्नान्ति अस्मिन्निति प्रस्नः, प्रपिबन्त्यस्यामिति प्रपा, आविध्यन्ति तनाविधः, विघ्नन्ति तस्मिन्मनांसि विघ्नः, आयुध्यन्त तेनायुधम्।

१४०७—वा०—द्विर्वचनप्रकरणे कृञादीनां क उपसंख्यानम् ॥ ६ । १ । ११ ॥

क प्रत्यय के परे द्विर्वचनप्रकरण में कृञ् आदि धातुओं की गणना करनी चाहिये। अर्थात् क प्रत्यय के कृञादिकों को द्वित्व हो। यह वार्तिक ६।१।११ सूत्र के व्याख्यान में पढ़ा है। कृञ्+क+सु=चक्रम्, क्लिदू+क+सु=चिक्लिदम्, क्नसु ह्वरणदीप्त्योः—क्नसु+क+सु=चक्नस।

१४०८—उपसर्गेऽदः ॥ ३ । ३ । ५९ ॥

उपसर्ग उपपद हो तो अद धातु से अप् प्रत्यय हो। 'प्र+अद्+अप्+सु' इस अवस्था में—

१४०९—घञपोश्च ॥ २ । ४ । ३८ ॥

घञ् और अप् प्रत्यय परे हो तो अद धातु को घस्लृ आदेश हो। घस्लृ आदेश होकर—प्रघस। जहां उपसर्ग पूर्व नहीं है वहां भी 'अद्+घञ्+सु=घास' घञ् के परे घस्लृ आदेश हो जाता है।

१४१०—नौ ण च ॥ ३ । ३ । ६० ॥

नि उपपद हो तो अद धातु से ण और अप् प्रत्यय हो। नि+अद+ण+सु=न्याद, नि+अद+अप्+सु=निघस।

१४११—व्यधजपोरनुपसर्गे ॥ ३ । ३ । ६१ ॥

उपसर्गभिन्न जो व्यध और जप धातु उन से अप् प्रत्यय हो। व्यध, जप। अनुपसर्गग्रहण से यहां न हुआ—आव्याध, आजाप। यहां घञ् प्रत्यय (१३५१) से हो जाता है।

१४१२—स्वनहसोर्वा ॥ ३ । ३ । ६२ ॥

उपसर्ग उपपद न हो तो स्वन और हस धातु से विकल्प करके अप् प्रत्यय हो। स्वन, स्वान, हस, हास। विकल्पपक्ष में घञ् हो जाता है। अनुपसर्ग ग्रहण से यहां अप् नहीं होता—प्रस्वान, प्रहास।

१४१३—यमः समुपनिविषु च ॥ ३।३।६३॥

सम्, उप, नि, वि उपसर्ग उपपद हों वा न हों तो यम् धातु से विकल्प करके अप् प्रत्यय हो। संयमः, संयामः, उपयमः, उपयामः, नियमः, नियामः, वियमः, वियामः, यमः, यामः। विकल्प पक्ष में घञ् हो जाता है। [अनुपसर्ग में यमः, यामः]।

१४१४—नौ गदनदपठस्वनः ॥ ३ । ३ । ६४ ॥

नि उपसर्ग उपपद हो तो गद, नद, पठ, स्वन इन धातुओं से विकल्प करके अप् प्रत्यय हो। निगदः, निगादः, निनद, निनादः, निपठः, निपाठः, निस्वनः, निस्वान।

१४१५—क्वणो वीणायां च ॥ ३ । ३ । ६५ ॥

नि उपसर्ग उपपद हो वा न हो तो क्वण धातु से तथा वीणार्थविषयक जो क्वण धातु उससे अप् प्रत्यय विकल्प करके हो और भी उपसर्गों के ग्रहण के लिये वीणा अर्थविषयक से विधान है। क्वण—निक्वणः, निक्वाण, क्वणः, क्वाणः। वीणा अर्थ में—प्रक्वणः, प्रक्वाण। इन सब से अन्यत्र—अतिक्वाणो वर्त्तते।

१४१६—नित्यं पणः परिमाणे ॥३।३।६६॥

परिमाण गम्यमान हो तो पण धातु से नित्य अप् प्रत्यय हो। पण व्यवहारे स्तुतौ च—मूलकपणः, शाकपणः। बेचने आदि के लिए परिमाण से मूली वा शाक आदि की जो गड्डिया बांधना उसको कहते हैं। परिमाण से अन्यत्र—पाण।

१४१७—मदोऽनुपसर्गे ॥ ३ । ३ । ६७ ॥

उपसर्ग उपपद न हो तो मद धातु से अप् प्रत्यय हो। विद्यामदः, धनमदः, कुलमद। अनुपसर्ग ग्रहण से यहां न हुआ—उन्मादः, प्रमादः।

१४१८—प्रमदसंमदौ हर्षे ॥ ३ । ३ । ६८ ॥

प्रमद, समद ये दोनों हर्ष अर्थ में निपातन हैं। मदी हर्षे–प्रमद, समद.। हर्षग्रहण से यहां न हुआ—प्रमाद, समाद।

१४१९—समुदोरजः पशुषु ॥ ३ । ३ । ६९ ॥

सम् और उद् उपसर्ग उपपद हों तो पशुविषय में वर्तमान अज धातु से अप् प्रत्यय हो। अज गतिक्षेपणयोः—सम् पूर्वक अज धातु समुदाय अर्थ को कहता है। पशूना समज। पशुओं का समुदाय। पशूनामुदज। पशुओं का प्रेरणा देना अर्थात् हांकना आदि। पशुग्रहण से यहां नहीं होता—ब्राह्मणाना समाज, आर्यसमाज, क्षत्रियाणामुदाज।

१४२०—अक्षेषु ग्लहः ॥ ३ । ३ । ७० ॥

अक्षविषय में ग्रह धातु से अप् प्रत्ययान्त 'ग्लह' यह निपातन है। अक्षस्य ग्लह। पासाओं का ग्रहण करना। ग्रह धातु (१४१४) से अप् प्रत्यय सिद्ध है। तथापि उसके रेफ को लकारादेश करने के लिए यह निपातन किया है। अक्ष ग्रहण से यहां न हुआ—केशग्रह।

१४२१—प्रजने सर्त्तेः ॥ ३ । ३ । ७१ ॥

प्रजन (प्रथम गर्भधारण) विषय में सृ धातु से अप् प्रत्यय हो। गवामुपसर। प्रथम गर्भधारण कराने के लिए गौ के समीप बैल का जाना। अवसर, प्रसरः। इत्यादि तो (१४९३) सूत्र से होंगे।

१४२२—ह्वः संप्रसारणं च न्यभ्युपविषु ॥३।३।७२॥

नि, अभि, उप, वि ये उपपद हों तो ह्वेञ् धातु से अप् प्रत्यय और उसको सम्प्रसारण हो। नि+ह्वेञ्+अप्+सु–निहव, अभि+ह्वेञ्+अप्+[illegible] अभिहव, उप+ह्वेञ्+अप्+सु=उपहव, वि+

ह्वेञ्+अप्+सु=विह्वः। अन्यत्र—प्र+ह्वेञ्+घञ्+सु=प्रह्वायः। घञ् हो जाता है।

१४२३—आङि युद्धे ॥ ३ । ३ । ७३ ॥

युद्ध अभिधेय हो तो आङ् पूर्वक ह्वेञ् धातु से अप् प्रत्यय और उसको संप्रसारण हो। आहूयन्ते स्पर्धया भटा अस्मिन्निति आहवः। युद्ध से अन्यत्र—आह्वाय।

१४२४—निपानमाहावः ॥ ३ । ३ । ७४ ॥

जो निपान अभिधेय हो तो 'आहाव' यह निपातन है। निपिबन्त्यस्मिन् जलमिति निपानम्=जल पीने का स्थान। यहां आङ् पूर्वक ह्वेञ् धातु से अप् प्रत्यय तथा उसको संप्रसारण और वृद्धि निपातन है [आ+ह्वेञ्+अप्+सु=आहावः]।

१४२५—भावेऽनुपसर्गस्य ॥ ३ । ३ । ७५ ॥

भाव वाच्य हो तो उपसर्गरहित ह्वेञ् धातु से अप् प्रत्यय और उसको संप्रसारण हो। हानं हवः, हवे हवे शूरमिन्द्रम्। यहां भावग्रहण से प्रकृत कर्त्ता भिन्न कारक की अनुवृत्ति नहीं होती है।

१४२६—हनश्च वधः ॥ ३ । ३ । ७६ ॥

उपसर्गरहित हन् धातु से भी अप् प्रत्यय और उस प्रत्यय के साथ हन् को वध आदेश भाव में हो। यहां चकार का सम्बन्ध आदेश के साथ नहीं है। किंतु आदेश तो अप् से द्वितीय विधान है सो हो ही जायगा, इससे चकारग्रहण से प्रकरण के अनुसार दूसरा घञ् प्रत्यय भी होता है। हन्+अप्+सु=वधः। वध आदेश अन्तोदात्त है इसस अनुदात्त (सौवर २९) से अप प्रत्यय के साथ एकादेश (सन्धि॰ १५३) भी उदात्त ही (सौवर ८९) से होता है। हन्+घञ्+सु=घात, वधो दस्यूनाम्, घातः शत्रूणाम।

१४२७—मूर्त्तौ घनः ॥ ३ । ३ । ७७ ॥

मूर्त्ति=कठिनपन वाच्य हो तो हन् धातु से अप प्रत्यय और हन को घन आदेश हो। अभ्रघन। बद्लों का सघनता। दधि घन। दधि का कठिनाई अर्थात् उसका अत्यन्त जमना। घन शब्द जब मूर्त्ति—कठिनाई मात्र म होता है तो—'घन सैन्धवम्, घन दधि' इत्यादि प्रयोग कैसे होंग? क्योंकि घन यह सैन्धव वा दधि का गुण हुआ। इसलिए [यहा] गुण से गुणी की विवक्षा=घन शब्द से तद्गुणविशिष्ट दधि आदि का कथन होने से उक्त प्रयोग होंगे।

१४२८—अन्तर्घनो देशे ॥३। ३। ७८॥

देश अभिधेय हो तो अन्तर् पूर्वक हन् धातु से अप् प्रत्यय और उसको घन आदेश हो। अन्तर्घन यह बाहीक[1] नामक देशों म किसी देश का नाम है। इस शब्द का पाठान्तर से भी मानते हैं, जैसे—अन्तर्घण। देश स अन्यत्र—अन्तर्घात।

१४२९—अगारैकदेशे प्रघणः प्रघाणश्च ॥३।३।७९॥

अगार (गृह) क एक देश म प्रघण, प्रघाण ये निपातन हैं। गृह के द्वार देश में दो कोठे होने चाहियें। एक भीतर, दूसरा बाहर, इनमें से जो बाहर का कोठा है इस अर्थ में ये निपातन हैं[2]। प्रविशद्भिर्जनैः प्रकर्षेण हन्यते इति प्रघण, प्रघाण। यहा

---

१ महाभारत कर्णपर्व में बाहीक देश का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

पञ्चानां सिन्धुषष्ठानामन्तरं ये समाश्रिताः।

वाहीका नाम ते देशा

२ कई लोग इस का अर्थ बाहर का चबूतरा मानते हैं।

कर्म में अप् तथा घञ् प्रत्यय और हन् को घन आदेश निपातन है। अगारैकदेश से अन्यत्र—प्रघातः।

१४३०—उद्घनोऽत्याधानम् ॥ ३ । ३ । ८० ॥

अत्याधान = ऊपर स्थापन करना गम्यमान हो तो उद्घन यह निपातन है। ऊर्ध्वं हन्तऽस्मिन् काष्ठानीति उद्घनः। यह जिस काठ पर धर के दूसरे काठ को घड़ते हैं उसका नाम है। यहां उद्पूर्वक हन् धातु से अप् और उसको घन आदेश निपातन है।

१४३१—अपघनोऽङ्गम् ॥ ३ । ३ । ८१ ॥

अङ्ग अभिधेय हो तो अपघन यह निपातन है, अङ्ग शरीर के अवयवमात्र का नाम है परन्तु यहां हाथ पैर का ग्रहण है। अपहन्त्यनेनेति अपघन पाणिः पादो वा। यहा अपपूर्वक हन् से करण में अप् प्रत्यय और हन् को घन आदेश निपातन है। अन्यत्र—अपघातः।

१४३२—करणेऽयोविद्रुषु ॥ ३ । ३ । ८२ ॥

अयस्, वि, द्रु उपपद हों तो हन् धातु से करण में अप् प्रत्यय और हन् को घन आदेश हो। अय. = लोहो हन्यतेऽननेति अयोघन, विघन, द्रुघनः। इस शब्द का पाठान्तर [illegible] भी मानते हैं। द्रुघणः (८७२) से णत्व हो जाता है।

१४३३—स्तम्बे क च ॥ ३ । ३ । ८३ ॥

स्तम्ब शब्द उपपद हो तो हन् धातु से करण में क और अप् प्रत्यय और अप् के सनियोग में हन् को घन आदेश हो। क—स्तम्बो हन्यतऽनेन स्तम्बघ्न। अप्—स्तम्बघनः। करण से अन्यत्र—स्तम्बस्य हनन स्तम्बघात.।

१४३४—परौ घः ॥ ३ । ३ । ८४ ॥

परि उपपद हो तो हन् धातु से करण में अप् प्रत्यय और हन् को घ आदेश हो। परितः सर्वतो हन्यतेऽनेनेति परिघः ।

१४३५—परेश्च घाङ्कयोः ॥ ८ । २ । २२ ॥

घ और अङ्क शब्द परे हों तो परि के रेफ का विकल्प करके लकारादेश हो । पलिघ, पलिघ, पर्यङ्कः, पल्यङ्कः । यहां (परिभाषा० १) परिभाषा के अनुसार "घ" इस स्वरूप का ग्रहण है, घसंज्ञा का ग्रहण नहीं है।

१४३६—उपघ्न आश्रये ॥ ३ । ३ । ८५ ॥

आश्रय अर्थ में उपघ्न यह निपातन है। आश्रय शब्द से यहां सामीप्य का ग्रहण है। पर्वतेनोपहन्यते तत्सामीप्येन गम्यत इति पर्वतोपघ्न, ग्रामोपघ्न । पर्वत के निकट निकट जाना। यहां उपपूर्वक हन् धातु से अप् प्रत्यय और हन् की उपधा का लोप निपातन और कुत्व (३०४) सूत्र से होता है।

१४३७—संघोद्घौ गणप्रशंसयोः ॥३। ३।८६॥

गण=समूह और प्रशंसा अर्थ में यथासंख्य करके संघ, उद्घ ये निपातन हैं। संहननं संघः, गवां संघः। यहां सम्पूर्वक हन् से भाव में अप् प्रत्यय और टिलोप निपातन है। उत्कृष्टो हन्यते ज्ञायत इत्युद्घो मनुष्य । यहां गतित्व से हन् धातु को ज्ञानार्थ मानकर उससे कर्म में अप् और पूर्ववत् टिलोप हो जाता है।

१४३८—निघो निमितम् ॥ ३ । ३ । ८७ ॥

ऊति आदि शब्द क्तिन् प्रत्ययान्त अन्तोदात्त निपातन हैं। ऊतिः—यहां अव धातु से क्तिन् और अव को ऊठ् 'ज्वर०[1]' से आदेश होता है। यूतिः, जूतिः। यु और जु से क्तिन् और उनको दीर्घ होता है। सातिः। यहां 'षो अन्तकर्मणि' को क्तिन् के परे 'द्यति[2]' से प्राप्त जो इकारादेश उसका अभाव निपातन से हो जाता है। अथवा क्तिन् के परे षण धातु को आकारादेश 'जनसन०[3]' से हो जाता है। हेतिः। यहां क्तिन् के परे हन् को हि आदेश वा 'हि गतौ वृद्धौ च' धातु को गुणादेश निपातन है। कीर्त्तिः। यहां 'कॄत संशब्दने' से क्तिन् प्रत्यय होता है।

१४५३—व्रजयजोर्भावे क्यप् ॥ ३ । ३ । ९८ ॥

व्रज और यज धातु से स्त्रीलिंग भाव में क्यप् प्रत्यय हो सो उदात्त हो। व्रज—व्रज्या। यज—इज्या। (२८२) से संप्रसारण होता है॥

१४५४—संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिणः ॥ ३ । ३ । ९९ ॥

संज्ञाविषय में सम्पूर्वक अज आदि धातुओं से स्त्रीलिङ्गविषयक भाव और कर्तृवर्जित कारक में क्यप् प्रत्यय हो। सम् अज—समजन्ति यस्यां सा 'सम्+अज+क्यप्+सु' इस अवस्था में (२५५) सूत्र से अज को वी भाव प्राप्त हुआ उस के निषेध के लिए अगला वार्तिक है—

१४५५—वा०—घञपोः प्रतिषेधे क्यप् उपसंख्यानम् ॥ २ । ४ । ५६ ॥

[1] भा० ५५१। [2] भा० ११३८। [3] भा० ११४।

ग्लै, म्लै, ज्या, ओहाक्, ओहाङ् इन धातुओं से नि प्रत्यय कहना चाहिये। ग्लानिः, म्लानिः, ज्यानिः, हानिः।

१४४९–वा०–ऋकारल्वादिभ्यः क्तिन् निष्ठावत् ॥ ८। २। ४४ ॥

ऋकारान्त और लूञ् छेदने इत्यादि धातुओं से क्तिन् प्रत्यय को निष्ठा के तुल्य कहना चाहिये। कॄ—कीर्णिः, गॄ—गीर्णिः; लूञ्—लूनिः,[धूञ्] धूनि। यहां क्तिन् के निष्ठावद्भाव से 'ल्वादिभ्यः'[1] सूत्र से निष्ठा के तुल्य क्तिन् के तकार को नकारादेश हो जाता है।

१४५०—स्थागापापचो भावे ॥ ३। ३। ९५ ॥

स्था आदि धातुओं से स्त्रीलिङ्ग विषयक भाव में क्तिन् प्रत्यय हो। यह अङ् का अपवाद है। ष्ठा—प्रस्थिति, उपस्थितिः, संस्थिति। गै शब्दे—संगीतिः, उद्गीति। पा—प्रपीति। डुपचष्—पक्तिः।

१४५१—मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः ॥ ३। ३। ९६ ॥

मन्त्रविषय में वृष आदि धातुओं से स्त्रीलिङ्ग भाव में क्तिन् प्रत्यय हो और वह उदात्त भी हो। वृष—वृष्टि', इषु—इष्टि, डुपचष्—पक्ति', मन—मतिः, विद—वित्ति', भू—भूति', वी—वीति', रा—रातिः। यद्यपि धातुमात्र से क्तिन् विहित भी है तथापि उदात्तत्व के लिए विधान है।

१४५२—ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्त्तयश्च ॥ ३। ३। ९७ ॥

1. भा० ११५२।

ऊति आदि शब्द क्तिन् प्रत्ययान्त अन्तोदात्त निपातन हैं। ऊतिः—यहां अव धातु में क्तिन् और अव को ऊठ् 'उ३८०'[1] से आदेश होता है। यूतिः, जूतिः। यु और जु से क्तिन् और इनको दीर्घ होता है। सातिः। यहां 'षो अन्तकर्मणि' को क्तिन् के परे 'द्यति'[2] से प्राप्त जो इकारादेश उसका अभाव निपातन से हो जाता है। अथवा क्तिन् के परे षण धातु को आकारादेश 'जनसन०'[3] से हो जाता है। हेतिः। यहां क्तिन् के परे हन् को हि आदेश वा 'हि गतौ वृद्धौ च' धातु का गुणादेश निपातन है। कीर्तिः। यहां 'कॄत संशब्दने' से क्तिन् प्रत्यय होता है।

१४५३—व्रजयजोर्भावे क्यप् ॥ ३ । ३ । ९८ ॥

व्रज और यज धातु से स्त्रीलिंग भाव में क्यप् प्रत्यय हो सो उदात्त हो। व्रज—व्रज्या। यज—इज्या। (२८२) से संप्रसारण होता है।

१४५४—संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिणः ॥ ३ । ३ । ९९ ॥

संज्ञाविषय में सम्पूर्वक अज आदि धातुओं से स्त्रीलिङ्गविषयक भाव और कर्तृभिन्न कारक में क्यप् प्रत्यय हो। सम् अज—समजन्ति यस्यां सा 'सम्+अज+क्यप्+सु' इस अवस्था में (२५५) सूत्र से अज को वी भाव प्राप्त हुआ उस के निषेध के लिए अगला वार्त्तिक है—

१४५५—वा०—घञपोः प्रतिषेधे क्यप् उपसंख्यानम् ॥ २ । ४ । ५६ ॥

१ भा० ५५९। २ भा० ११३८। ३ भा० ३९४।

घञ् और अप् प्रत्यय के परे अज धातु को वी भाव के प्रतिषेध में क्यप् प्रत्यय का भी उपसंख्यान करना चाहिये। इससे वी भाव का प्रतिषेध होगया। समज्या सभा। निषद—निषीदन्त्यस्यां सा निषद्या=दूकान। निपत—निपतन्त्यस्यां निपत्या। खदकीलो भूमि। मन—मन्यतेऽनयेति मन्या गलपार्श्वशिरा। विद—विदन्त्यनयेति विद्या। षुञ्—सवनं सुत्या अभिषव.। शीङ्—शेतेऽस्यामिति शय्या। भृञ्—भरणं भरन्त्यनया वा भृत्या। इण—ईयते गम्यतेऽनया सा इत्या शिबिका=पालकी।

१४५६—कृञः श च ॥ ३। ३। १०० ॥

कृञ् धातु से स्त्रीलिङ्ग विषयक भावादिकों में श और क्यप् प्रत्यय हो। क्रिया (२३९) कृत्या।

१४५७-वा०-कृञः श चेति वा वचनम् ॥
३। ३। १०० ॥

'कृञ श च' यहां विकल्प भी ग्रहण करना चाहिये। जिससे क्तिन् प्रत्यय भी हो। कृति।

१४५८—इच्छा ॥ ३। ३। १०१ ॥

इष धातु से भाव में श प्रत्यय और यक् (७२०) का अभाव निपातन है। इष+श+सु— इच्छा (२७३)।

१४५९—अत्यल्पमिदमुच्यते इच्छेति—वा०—इच्छा-परिचर्यापरिसर्यामृगयाऽटाट्यानामुप-संख्यानम् ॥ ३। ३। १०१ ॥

इच्छा इतना निपातन अत्यन्त न्यून है इससे इच्छा, परिचर्या, परिसर्या, मृगया, अटाट्या इन शब्दों का उपसंख्यान करना चाहिये। परिचर्यादिकों में श प्रत्यय और उसके परे यक् (७२०) भी होता है। परिचर—परिचर्या, परिचर्या=सत्कार। परिसृ—परिसर्या परिसर्या=फिरना। यहां गुण भी निपातन से है। मृग अन्वेषणे। चुरादि अदन्त है। मृग+णिच्+यक्+श+सु=मृगया। यहां यक् के परे (१७७) से णिलोप हो जाता है। अट गतौ। अट+यङ्+श+सु=अटाट्या। यहां (ट्य) भाग को द्वित्वादि तथा "हलादिः शेषः" होकर दीर्घ भी जाता है।

१४६०—वा०—जागर्तेरकारो वा ॥३।३।१०१॥

जागृ धातु से अ प्रत्यय विकल्प करके हो। जागरा (२६२) जागर्या।

१४६१—अ प्रत्ययात् ॥ ३ । ३ । १०२ ॥

अप्रत्ययान्त धातु से स्त्रीविषयक भावादिकों में अ प्रत्यय हो। कृन्+सन्+अ+सु=चिकीर्षा, पिपासा, कण्डूया इत्यादि।

१४६२—गुरोश्च हलः ॥ ३ । ३ । १०३ ॥

गुरुमान् जो हलन्त धातु उससे स्त्रीलिंग में अ प्रत्यय हो। ईहा, ऊहा। गुरुग्रहण से यहां न हुआ—भज—भक्तिः, शक्लृ—शक्तिः। हल् ग्रहण से यहां न हुआ—चितिः, नीतिः, भीतिः।

१४६३—षिद्भिदादिभ्योऽङ् ॥३।३।१०४॥

षू जिनका इत्संज्ञक हो उनसे और भिद् आदि धातुओं से स्त्रीलिंग में अङ् प्रत्यय हो। जॄष्—जरा, त्रपूष्—त्रपा। भिदिर् विदारणे—भिदा।

१४६४-वा०-भिदा विदारण इति वक्तव्यम्।

विदारण अर्थ में 'भिदा' यह प्रयाग हो, अन्यत्र—"भित्ति" होता है।

छिदिर्—छिदा।

१४६५-वा०-छिदा द्वैधीकरण इति वक्तव्यम्।

दो भाग करने अर्थ में 'छिदा' यह हो। अन्यत्र—'छित्तिः' होता है।

आङ्+ऋ+अङ्+सु=आरा। यहां (सन्धि० १४३) सूत्र से वृद्धि होती है।

१४६६-वा०-आरा शस्त्र्यामिति वक्तव्यम्।

शस्त्री (जो भाषा में आरा प्रसिद्ध है) अर्थ में 'आरा' यह प्रयोग हो। अन्यत्र—'आर्त्तिः' होता है।

धृञ्—ध्रियते धार्य्यते वा जलमनयेति, धारा।

१४६७-वा०-धारा प्रपात इति वक्तव्यम्।

अत्यन्त गिरने (जो भाषा में धारा प्रसिद्ध है) अर्थ में 'धारा' यह प्रयाग हो। अन्यत्र—'धृति' होता है।

गुहू—गुहा।

१४७५—रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम् ॥ ३ । ३ । १०८॥

रोग की आख्या गम्यमान हो तो स्त्रीलिङ्ग में धातु से बहुल करके ण्वुल प्रत्यय हो। प्रच्छर्दिर् दीप्तिदेवनयो —प्रच्छर्दिका । वह प्रापणे—प्रवाहिका । चर्च अध्ययने—विचर्चिका । बहुलग्रहण से कहीं नहीं भी होता—शिरोऽर्ति ।

१४७६—वा०—धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल ॥३।३।१०८॥

धात्वर्थनिर्देश अर्थात् क्रिया के निर्देश मे धातु से ण्वुल् प्रत्यय कहना चाहिये । आस उपवेशने—आसिका, का नामासिका अन्यत्वीहमानेषु । औरों के काम करते हुए क्या बैठक ? यहां उपवेशन क्रिया का कथन करना है । का नाम शायिका अन्येष्वधीयानेषु । औरों क पढ़ते हुए क्या सोना ? यहां भी शयन क्रिया का कथन है ।

१४७७-वा०—इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे ॥३।३।१०८॥

धातु के कहने मात्र में इक् और श्तिप् प्रत्यय कहना चाहिये । पचि, पचतिः । (१४५६) इस के बहुल विषय से कहीं नहीं भी होता है जैसे "कृञः श च"[1] यद्यपि यह श्तिप कर्ता में नहीं होता, तथापि शित करण से श्तिप् क परे शप् आदि विकरण होते ही हैं जैसे—"भवतेः[2]" इत्यादि ।

१४७८—वा०—वर्णात्कारः ॥ ३ । ३ । १०८ ॥

---

१ भा० १४५७ ॥

२. भा० ७२ ॥

वर्ण के निर्देश में अर्थ में कार प्रत्यय कहना चाहिये। अकारः, ककारः, मकारः। बहुलविषय से कहीं नहीं भी होता जैसे "अस्य च्वौ"[1] कहीं वर्णसमुदाय से भी होता है—एवकार। कित्‌विषयक प्रयोजनों के अभाव में कार प्रत्यय के ककार की इत् संज्ञा नहीं होती और कृत् अधिकार में विधान से इस कार प्रत्यय की कृत् संज्ञा होती है इससे "अकारः" आदि में कृदन्त मान कर प्रातिपदिक संज्ञा आदि कार्य होते हैं।

१४७९—वा०—रादिफः ॥ ३ । ३ । १०८ ॥

र वर्ण के निर्देश में र से इफ प्रत्यय कहना चाहिये। रेफः[2]।

१४८०—वा०—मत्वर्थाच्छः ॥ ३ । ३ । १०८ ॥

मत्वर्थ शब्द से छ प्रत्यय कहना चाहिये। "मत्वर्थीयः" यहां छ प्रत्यय के परे भ संज्ञा के बिना भी भाष्यकार के "मत्वर्थीयः" इस शब्द के पढ़ने से वा बहुलभाव से छ के पूर्व अकार का लोप हो जाता है।

१४८१—वा०—इणजादिभ्यः ॥ ३ । ३ । १०८॥

अज आदि धातुओं से इण प्रत्यय कहना चाहिये। अज गतिक्षेपणयोः—आजिः। अत सातत्यगमने—आतिः। अद—आदिः।

१४८२—वा—इञ् वपादिभ्यः ॥ ३ । ३ । १०८॥

वप आदि धातुओं से इञ् प्रत्यय कहना चाहिये। डुवप बीजसंताने—वापिः, वासिः, वादिः।

१४८३—वा०—इक् कृष्यादिभ्यः ॥ ३ । ३ । १०८॥

---

1. अष्टा० ७ । ४ । ३२ ॥

2. वा:सरूपार्थविधानम्। भा०३.० निवम से कार प्रत्यय भी होता है। यथा—रकारादीनि नामानि भयं जनयन्ति माघ। रामा०।

कृप आदि धातुओं से इकु प्रत्यय कहना चाहिये। कृप विलेखने—कृपिः। कृ विक्षेपे—किरिः। गृ निगरणे, गृ शब्दे वा—गिरिः।

१४८४—वा०—संपदादिभ्यः क्विप्॥३।३।१०८॥

संपद आदि धातुओं से क्विप् प्रत्यय कहना चाहिये। सम्+पद+क्विप्+सु=संपत्, विपत्, आपत्, प्रतीपत्, परिसीदन्ति जना अस्यां सा परिपत्। बहुलभाव से क्तिन् (१४४५) भी होता है। संपत्ति, विपत्तिः इत्यादि।

१४८५—संज्ञायाम्॥३।३।१०९॥

स्त्रीलिङ्गविषयक संज्ञा में धातु से ण्वुल् प्रत्यय हो। भञ्जो आमर्दने—उद्दालकपुष्पभञ्जिका। वह प्रापणे—वारणपुष्पवाहिका।

१४८६—विभाषाख्यानपरिप्रश्नयोरिञ् च॥
३।३।११०॥

परिप्रश्न=पूछना, आख्यान=कहना अर्थात् उसका उत्तर देना गम्यमान हो तो स्त्रीलिङ्ग में धातु से इञ् और ण्वुल् विकल्प करके हों। दूसरे पक्ष में यथाप्राप्त प्रत्यय होते हैं। प्रथम प्रश्न तदनन्तर उसका उत्तर होता है, परन्तु अल्पाच्तर होने से सूत्र में आख्यान शब्द का पूर्वनिपात है। त्वं कां कारिमकार्षीः, त्वं कां कारिकामकार्षीः, कां क्रियामकार्षीः, [कां कृत्यामकार्षीः], कां कृतिमकार्षीः। तूने कौन क्रिया की। अहं सर्वां कारिमकार्षम्, सर्वां कारिकामकार्षम्, सर्वां क्रियामकार्षम्, सर्वां कृत्यामकार्षम्, सर्वां कृतिमकार्षम्। मैंने सब क्रिया करली, इत्यादि।

१४८७—पर्यायार्हर्णोत्पत्तिषु ण्वुच्॥३।३।१११॥

पर्याय=परिपाटी क्रम, अर्ह=योग्यता, ऋण=दूसरे का द्रव्य धारण करना, उत्पत्ति=जन्म ये अर्थ गम्यमान हों तो स्त्रीलिङ्ग

में धातु से ण्वुच् प्रत्यय विकल्प करके हो। पर्याय—तव शायिका, तुम्हारी सोने की बारी। मम शायिका, मेरी सोने की बारी। अर्ह—त्वमर्हसि दुग्धपायिकाम्, तू योग्य है दूध पीने को। ऋण—मम शाकभक्षिकां धारय, मेरी शाकभाजी तू लिये रह। उत्पत्ति—मह्यं शाकभक्षिकामुदपादि, मेरे लिये शाकभाजी बना। इसी प्रकार—ओदनभोजिका, अग्रगामिका, अग्रमासिका, इक्षुभक्षिका आदि बहुत प्रयोग बन सकते हैं। द्वितीय पक्ष में—तव चिकीर्षा, मम चिकीर्षा, तव क्रिया, मम क्रिया इत्यादि।

१४८८—आक्रोशे नञ्यनिः ॥ ३ । ३ । ११२ ॥

आक्रोश=कोसना गम्यमान हो और नञ् उपपद हो तो धातु से स्त्रीलिङ्ग में अनि प्रत्यय हो। यह क्तिन् आदि का अपवाद है। अजीवनिस्ते शठ भूयात्। आक्रोश से अन्यत्र—अजीवनमस्य रोगिणः। यहां ल्युट् हो जाता है। नञ्ग्रहण से यहां न हुआ—मृतिस्ते वृषल भूयात्। इसी सूत्र तक "भावे, अकर्तरि०, कारक०" इन सूत्रों की अनुवृत्ति है।

१४८९—नपुंसके भावे क्तः ॥ ३ । ३ । ११४ ॥

नपुंसकलिङ्गविषयक भाव में धातु से क्त प्रत्यय हो। हसे हसने—हसितम्। षह मर्षणे—सहितम्।

१४९०—ल्युट् च ॥ ३ । ३ । ११५ ॥

नपुंसकलिङ्ग भाव में धातु से ल्युट् प्रत्यय हो। कृञ्—करणम्। पठ—पठनम्। शीङ्—शयनम्।

१४९१—कर्मणि च येन संस्पर्शात् कर्तुः शरीरसुखम् ॥ ३ । ३ । ११६ ॥

जिसके स्पर्श से कर्ता को शरीर का सुख हो ऐसा कर्म उपपद हो तो धातु से ल्युट् प्रत्यय हो। यह पूर्व सूत्र (१४९०) से सिद्ध था, परन्तु उपपद समास होने के लिये विधान है। पयःपानं सुखम्। कर्मग्रहण से यहां न हुआ—तूलिकाया उत्थानं सुखम्। यहां तूलिका शब्द अपादान है। संस्पर्शग्रहण से यहां न हुआ—अग्निकुण्डस्योपासनं सुखम्। कर्तृग्रहण से यहां न हुआ—गुरोः स्नापनं सुखम्। यहां गुरु शब्द कर्म है। शरीर ग्रहण से यहां न हुआ—पुत्रस्य परिष्वञ्जनं सुखम्। यहां सुख मानस प्रीति है। सुख ग्रहण से यहां न हुआ—कण्टकानां मर्दनं दुःखम्।

१४९२—वा यौ ॥ २ । ४ । ५७ ॥

यु अर्थात् ल्युट् प्रत्यय [परे] हो तो अज धातु को वी आदेश विकल्प करके हो। प्र+अज+ल्युट्+सु = प्रवयणम्, प्राजनम्।

१४९३—करणाधिकरणयोश्च ॥३।३।११७॥

करण और अधिकरण में धातु से ल्युट् प्रत्यय हो। ओव्रश्चू—प्रवृश्चतीध्मानि येन स इध्मप्रव्रश्चनः कुठारः। दुह—गां दोग्धि यस्यां सा गोदोहनी स्थाली।

दो उपसर्गों से रहित जो छादि अंग उसकी उपधा को ह्रस्व आदेश हो। दन्ताच्छाद्यन्तेऽनेनेति दन्तच्छदः। उरश्छदः पटः। अद्व्युपसर्गग्रहण से यहां उपधा को ह्रस्व नहीं होता—समुपच्छादः। द्विप्रभृत्युपसर्गस्येति वक्तव्यम्। महाभाष्ये। ६।४।९६॥ दो आदि उपसर्गयुक्त को निषेध करना चाहिये—समुपाभिच्छादः।

१४६६—गोचरसंचरवहव्रजव्यजापणनिगमाश्च॥ ३।३।११९॥

संज्ञा अभिधेय हो तो पुंल्लिङ्गविषयक करण और अधिकरण में गोचर, संचर, वह, व्रज, व्यज, आपण, निगम ये घ प्रत्ययान्त निपातन हैं। गावश्चरन्त्यस्मिन्निति गोचरो देशः। संचरन्त्यस्मिन्निति संचरो मार्गः। वह—वहन्ति येन वहः स्कन्धः। व्रज—व्रजो मार्गः। गावो व्रजन्त्यस्मिन्निति व्रजो=गोष्ठः गोठ। व्यज—व्यजन्ति तेन व्यजः तालवृन्तः। ताड़ की डार वा ताड़ का व्यजन=पंखा। यहां निपातन से वी भाव (१५५) नहीं होता। आपणन्ते व्यवहरन्तेऽस्मिन्निति आपणः—पण्यस्थानम्=दूकान। निगच्छन्त्यनेन पदार्थान् इति निगमो वेदः। यहां चकार अनुक्त के समुच्चय के लिए है। कषन्ति तेन कषः निकषः।

१४६७—अवे तृस्त्रोर्घञ्॥ ३।३।१२०॥

पुंल्लिङ्गविषयक संज्ञावाच्य हो और अव उपपद हो तो करण और अधिकरण में धातु से घञ् प्रत्यय हो। पिछले घ (१४९४) प्रत्यय का अपवाद है। अवतारः, अवस्तारः जवनिका=ओट,कनात। यहां 'प्राय' शब्द की अनुवृत्ति करके (१४९४) कहीं असंज्ञा में भी होता है। अवतारः सागरस्य, सागर का उतरना।

१४९८—हलश्च ॥ ३ । ३ । १२१ ॥

संज्ञावाच्य हो तो हलन्त धातु से पुंल्लिङ्गविषयक करण और अधिकरण में घञ् प्रत्यय हो। आरमन्त्यस्मिन्निति आरामः=बाग। अपमृज्यन्ते रोगा अनेनेति[1] अपामार्गः=चिरचिटा। विदन्ति तत्वज्ञानमनेनेति वेदः।

१४९९—वा०—घञ्विधौ अवहाराधारावायाना-मुपसंख्यानम् ॥ ३ । ३ । १२१ ॥

घञ् के विधान में अवहार आधार आवाय इन शब्दों का भी उपसंख्यान करना चाहिये। अवह्रियन्तेऽस्मिन्निति अवहारः, आध्रियन्तेऽस्मिन्निति आधारः, आवयन्त्यस्मिन्निति आवायः।

१५००—अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च ॥३।३।१२२॥

संज्ञावाच्य हो तो पुंल्लिङ्गविषयक करण और अधिकरण में घञ् प्रत्ययान्त अध्याय आदि शब्द निपातन हैं। अधीङ्—अधीयतेऽस्मिन्निति अध्यायः, नीयन्तेऽनेन व्यवहारा इति न्यायः उद्युवन्ति अस्मिन्निति उद्यावः, संह्रियन्तेऽनेन भवाद्य इति संहारः।

१५०१—उदङ्कोऽनुदके ॥ ३ । ३ । १२३ ॥

---

१ इसकी दूसरी व्युत्पत्ति इस प्रकार है:—अपविद्धो मार्गो यस्य स अपामार्गः। अन्य यवादि ओषधियों के फलों का मुख ऊपर को होता है, इसके बीज उलटे लगते हैं। इसलिए मारवाड़ में आँधी (ऊंधा) झाड़ा कहते हैं।

उदकभिन्न संज्ञाविषय में उदङ्क यह निपातन है। घृतमुदच्यतेऽस्मिन्निति घृतोदङ्कः, घृत जिसमें निकालें वह घृतोदङ्क कहाता है। यहां उद् पूर्व अञ्चु धातु से घञ् प्रत्यय निपातन से और इस (९४४) सूत्र से कुत्व तथा परसवर्ण (२६४) से ङ् हो जाता है। अनुदकग्रहण से यहां न हुआ—'उदकोदञ्चनः', जल भरने का पात्र।

१५०२—जालमानायः ॥ ३ । ३ । १२४ ॥

जाल वाच्य हो तो आनाय यह निपातन है। आनीयन्ते मत्स्यादयोऽनेनेति आनायः। धीवर आदि जनों का जाल। जाल से अन्यत्र—आनयन।

१५०३—खनो घ च ॥ ३ । ३ । १२५ ॥

खन् धातु से करण और अधिकरण में घ और घञ् प्रत्यय हों। आ+खनु=आखनः, आखानः। इस सूत्र में जो घ प्रत्यय का विधान किया है इस में घ पढ़ना अनर्थक है क्योंकि घित् कार्य खन् को नहीं प्राप्त है इससे घित्करण सामर्थ्य से घ प्रत्यय और धातुओं से भी होता है। जैसे, भज—भग, पद—पदम् इत्यादि।

१५०४—वा०—खनो डडरेकेकवकाः ॥ ३ । ३ । १२५ ।

खन् धातु से ड, डर, इक, इकवक ये प्रत्यय कहने चाहियें। ड—आख, डर—आखर, इक—आखनिक, इकवक—आखनिकवकः।

१५०५—ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ॥ ३ । ३ । १२६ ॥

कृच्छ्र=दुःख और अकृच्छ्र=सुख अर्थ में वर्तमान ईषद्, दुर्, सु उपपद हों तो धातु से खल् प्रत्यय हो। यह प्रत्यय (९१६) सूत्र के अनुसार भाव और कर्म में होता है। 'ईषद्, दुर्, सु' इन

१५१३—अन्येभ्योऽपि दृश्यते ॥३।३।१३०॥

वेदविषय में कृच्छ्राकृच्छ्रार्थ ईषदादि उपपद हों तो गत्यर्थकों से अन्य जो धातु हैं उन से भी युच् प्रत्यय देखा गया है। सुदोहनाम-कृणोद् ब्रह्मणे गाम्, सुवेदनामकृणोद् ब्रह्मणे गाम्।

१५१४-वा०—भाषायां शासियुधिदृशिधृषिभ्यो युच् ॥ ३ । ३ । १३० ॥

भाषा=लोक में कृच्छ्राकृच्छ्रार्थ ईषदादि उपपद हों तो शासि, युधि, दृशि, धृषि इन धातुओं से युच् प्रत्यय कहना चाहिये। दुःशासनः, दुर्योधनः, दुर्दर्शनः, दुर्धर्षणः इत्यादि।

१५१५-वा०—मृषेश्चेति वक्तव्यम् ॥३।३।१३०॥

उक्तविषय में मृष धातु से भी युच् प्रत्यय कहना चाहिये। दुर्मर्षणः।

१५१६—आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः ॥३।३।१७०॥

आवश्यक और आधमर्ण्य=ऋण लेना अर्थ युक्त कर्त्ता वाच्य हो तो धातु से णिनि प्रत्यय हो। अवश्यंकारी, शतंदायी। यहां (साम०, मयूर० १५७) से समास होता है।

१५१७—कृत्याश्च ॥ ३ । ३ । १७१ ॥

आवश्यक और आधमर्ण्य अर्थ में धातु से कृत्य संज्ञक प्रत्यय हों। भवतावश्यं गुरुः सेव्यः, भवतावश्यं सहस्रं देयम्।

१५१८—क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् ॥३।३।१७४॥

संज्ञा गम्यमान हो तो आशीर्वाद अर्थ में धातु से क्तिच् और क्त प्रत्यय हों। भूतिर्भवतात्। भूति नामवाला हो। यहां "तीतुत्रत०" (अष्टा० ७।२।९) इस सूत्र से इट न हुआ। क्त प्रत्यय संज्ञा में देखो—

में दुर् के साथ कृच्छ्र और ईषत् तथा सु के साथ अकृच्छ्र अर्थ की योग्यता है। ईषत्करः, दुष्करः, सुकरः कटो भवता। ईषद्गमः, दुर्गमः, सुगमः। ईषद् आदि के ग्रहण से यहा न हुआ—कृच्छ्रेण कटः कार्यः। कृच्छ्राकृच्छ्रार्थग्रहण से यहा न हुआ—ईषत्कार्यः।

१५०६–वा०–निमिमीलियां खलचोः प्रतिषेधः॥

६।१।५०॥

कर्ता और कर्म ये यथाक्रम से उपपद हों तथा ईषत् आदि भी उपपद हों तो भू और कृञ् धातु से खल् प्रत्यय हो।

१५१०—खल्कर्तृकर्मणोश्च्व्यर्थयोः ॥ महाभाष्ये ॥ ३।३।१२७॥

यह खल् प्रत्यय च्व्यर्थ अर्थात् अभूततद्भाव अर्थ में कर्ता और कर्म हों तो [ऐसा] कहना चाहिये। यहां ईषदादिकों से परे कर्ता कर्म और उनसे परे धातु का प्रयोग होता है। जैसे अनाढ्येन भवता ईषदाढ्येन शक्यं भवितुम् ईषदाढ्यम्भव भवता। (१०४३) से मुम्। अनाढ्येन भवता दुःखेनाढ्येन भवितुं शक्यं दुराढ्यम्भवं भवता। अनाढ्येन भवता सुखेनाढ्येन भवितुं शक्यं स्वाढ्यम्भवं भवता। अनाढ्यमीषदाढ्यं कर्तुं शक्यम् ईषदाढ्यंकरः। अनाढ्यं दुःखेनाढ्यं कर्तुं शक्यं दुराढ्यंकरः। अनाढ्यं सुखेनाढ्यं कर्तुं शक्यं स्वाढ्यंकरः। च्व्यर्थ कहने से 'आढ्येन सुभूयते' * इत्यादि में नहीं होता।

१५११—आतो युच् ॥ ३ । ३ । १२८ ॥

कृच्छ्र और अकृच्छ्रार्थ ईषत् आदि उपपद हों तो आकारान्त धातु से युच् प्रत्यय हो। ईषत्पानः सोमो भवता, दुष्पानः, सुपानः।

१५१२—छन्दसि गत्यर्थेभ्यः ॥ ३ । ३ । १२९ ॥

वेदविषय में कृच्छ्र तथा अकृच्छ्रार्थ ईषत् आदि उपपद हों तो गति अर्थ वाले धातुओं से युच् प्रत्यय हो। सु+उप+सद्= सूपसदनोऽग्निः, सूपसदनमन्तरिक्षम् इत्यादि।

---

* (आढ्येन सुभूयते) यह जयादित्य ने प्रत्युदाहरण दिया है सो उनका भ्रम प्रमाद है क्योंकि जहां खल् प्रत्यय नहीं होता वहां धातु से अलग उपसर्ग का प्रयोग नहीं होता किन्तु 'ते प्राग्धातोः'(अष्टा० १।४।८०) इस सूत्र के अनुसार पूर्व ही प्रयोग होता है।

में दुर् के साथ कृच्छ्र और ईषत् तथा सु के साथ अकृच्छ्र अर्थ की योग्यता है। ईषत्करः, दुष्करः, सुकरः कटो भवता। ईषद्गमः, दुर्गमः, सुगमः। ईषद् आदि के ग्रहण से यहां न हुआ—कृच्छ्रेण कटः कार्यः। कृच्छ्राकृच्छ्रार्थग्रहण से यहां न हुआ—ईषत्कार्य।

१५०६—वा०—निमिमीलियां खलचोः प्रतिषेधः॥ ६।१।५०॥

खल् और अच् प्रत्यय के परे *निमि, मी, ली* इन धातुओं के एच् को आकारादेश न हो। यहाँ अच् यह (१३९९, ९७७) सूत्र विहित अचों का ग्रहण है। खल्—नि+डुमिञ्=ईषन्निमय, दुर्निमय, सुनिमयः। अच्—निमयो वर्तते, निमयः पुरुषः। इसी प्रकार—*ईषत्प्रमयः, सुप्रमयः। ली—ईषद्विलयः इत्यादि समझना चाहिये।*

१५०७—उपसर्गात् खल्घञोः॥७।१।६७॥

खल् और घञ् प्रत्यय परे हों तो उपसर्ग से ही परे लभ धातु को नुमागम हो। खल्—ईषत्प्रलम्भः, दुष्प्रलम्भः, सुप्रलम्भः। घञ्—उपालम्भः। उपसर्गग्रहण से यहां न हुआ—ईषल्लभः, लाभः।

१५०८—न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम्॥७।१।६८॥

खल्, घञ् परे हों तो केवल सु और दुर् से परे लभ धातु को नुम् न हो। सुलभः, दुर्लभः। केवलग्रहण से यहां होता है—सुप्रलम्भ, अतिदुर्लम्भः। 'अतिसुलभम्, अतिदुर्लभम' ये तो सु, अति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा में होंगे। जैसे सुलभमतिक्रान्तम्=अतिसुलभम इत्यादि।

१५०९—कर्तृकर्मणोश्च भूकृञोः॥३।३।१२७॥

कर्त्ता और कर्म ये यथाक्रम से उपपद हों तथा ईषत् आदि भी उपपद हों तो भू और कृञ् धातु से खल् प्रत्यय हो।

१५१०—खल्कर्तृकर्मणोश्च्व्यर्थयोः ॥ महाभाष्ये ॥ ३।३।१२७॥

यह खल् प्रत्यय च्व्यर्थ अर्थात् अभूततद्भाव अर्थ में कर्त्ता और कर्म हों तो [ऐसा] कहना चाहिये। यहां ईषदादिकों से परे कर्त्ता कर्म और उनसे परे धातु का प्रयोग होता है। जैसे अनाढ्येन भवता ईषदाढ्येन शक्यं भवितुम् ईषदाढ्यम्भवं भवता। (१०४२) से मुम्। अनाढ्येन भवता दुःखेनाढ्येन भवितुं शक्यं दुराढ्यम्भवं भवता। अनाढ्येन भवता सुखेनाढ्येन भवितुं शक्यं स्वाढ्यम्भवं भवता। अनाढ्यमीषदाढ्यं कर्त्तुं शक्यम् ईषदाढ्यंकरः। अनाढ्यं दुःखेनाढ्यं कर्त्तुं शक्यं दुराढ्यंकरः। अनाढ्यं सुखेनाढ्यं कर्त्तुं शक्यं स्वाढ्यंकरः। च्व्यर्थ कहने से 'आढ्येन सुभूयते' * इत्यादि में नहीं होता।

१५११—आतो युच् ॥ ३। ३। १२८ ॥

कृच्छ्र और अकृच्छ्रार्थ ईषत् आदि उपपद हों तो आकारान्त धातु से युच् प्रत्यय हो। ईषत्पानः सोमो भवता, दुष्पानः, सुपानः।

१५१२—छन्दसि गत्यर्थेभ्यः ॥ ३। ३। १२९ ॥

वेदविषय में कृच्छ्र तथा अकृच्छ्रार्थ ईषत् आदि उपपद हों तो गति अर्थ वाले धातुओं से युच् प्रत्यय हो। सु+उप+सद= सूपसदनोऽग्निः, सूपसदनमन्तरिक्षम् इत्यादि।

---

* (आढ्येन सुभूयते) यह जयादित्य ने प्रत्युदाहरण दिया है सो उनका मत अशुद्ध है क्योंकि जहां खल् प्रत्यय नहीं होता वहां धातु से अलग उपसर्ग का प्रयोग नहीं होता किन्तु 'ते प्राग्धातोः' (अष्टा० १।४।८०) इस सूत्र के अनुसार पूर्व ही प्रयोग होता है।

१५१३—अन्येभ्योऽपि दृश्यते ॥३।३।१३०॥

वेदविषय में कृच्छ्राकृच्छ्रार्थ ईषदादि उपपद हों तो गत्यर्थकों से अन्य जो धातु हैं उन से भी युच् प्रत्यय देखा गया है। सुदोहनाम-कृणोद् ब्रह्मणे गाम्, सुवेदनामकृणोद् ब्रह्मणे गाम्।

१५१४—वा०—भाषायां शासियुधिदृशिधृषिभ्यो युच् ॥ ३ । ३ । १३० ॥

भाषा=लोक में कृच्छ्राकृच्छ्रार्थ ईषदादि उपपद हों तो शासि, युधि, दृशि, धृषि इन धातुओं से युच् प्रत्यय कहना चाहिये। दुःशासनः, दुर्योधनः, दुर्दर्शनः, दुर्धर्षणः इत्यादि।

१५१५—वा०—मृषेश्चेति वक्तव्यम् ॥३।३।१३०॥

उक्तविषय में मृष धातु से भी युच् प्रत्यय कहना चाहिये। दुर्मर्षणः।

१५१६—आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः ॥३।३।१७०॥

आवश्यक और आधमर्ण्य=ऋण लेना अर्थ युक्त कर्ता वाच्य हो तो धातु से णिनि प्रत्यय हो। अवश्यंकारी, शतंदायी। यहां (सामा०, मयूर० १५७) से समास होता है।

१५१७—कृत्याश्च ॥ ३ । ३ । १७१ ॥

आवश्यक और आधमर्ण्य अर्थ में धातु से कृत्य संज्ञक प्रत्यय हों। भवतावश्यं गुरुः सेव्यः, भवतावश्यं सहस्रं देयम्।

१५१८—क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् ॥३।३।१७४॥

संज्ञा गम्यमान हो तो आशीर्वाद अर्थ में धातु से क्तिच् और क्त प्रत्यय हों। भूतिर्भवतात्। भूति नामवाला हो। यहां "तीतुत्रत०" (अष्टा० ७।२।९) इस सूत्र से इट् न हुआ, क्त प्रत्यय संज्ञा में जैसे—प्रजा एनं देयात्, प्रजादत्तः, ईश्वरदत्त।

१५१९—न क्तिचि दीर्घश्च ॥ ६ । ४ । ३९ ॥

क्तिच् प्रत्यय परे हो तो अनुदात्तोपदेश तथा वनति और तनोति आदि अङ्गों के अनुनासिक [का] लोप तथा उनकी उपधा को दीर्घ न हो। अनुदात्तोपदेश—यन्छतात् यन्तिः। जो कार्यों से निवृत्ति को प्राप्त होता है वह "यन्ति" कहाता है। यन्तिर्येच्छतात्। यन्ति नाम वाला निवृत्त हो। वनुत इति वन्तिः, वन्तिर्वनुतात्। तनुत इति तन्तिः, तन्तिस्तनुतात् इत्यादि।

१५२०—सनः क्तिचि लोपश्चास्यान्यतरस्याम्॥ ६ । ४ । ४५ ॥

क्तिच् प्रत्यय के परे सन् धातु को आकारादेश और उसका लोप विकल्प करके हो। सन्—सातिः, सतिः, सन्तिः, सनुतात्।

१५२१—तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः ॥३।४।९॥

वेदविषय में तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में धातु से से, सेन्, असे, असेन्, क्से, कसेन, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, तवेन् ये प्रत्यय हों। तुमर्थ से भाव* लिया जाता है। से—वच्—वक्षे। 'वक्तुं' प्राप्त था। यहां वच् धातु से 'से' प्रत्यय (सन्धि० १८९) से कुत्व और ष (५६) ये आदेश हो जाता है। वक्षे राय.। सेन्—एषे। इण् धातु को सेन् प्रत्यय के परे गुण (२१) और षत्व हो जाता है। तावामेषे रथानाम्। असे,

*तुमुन् प्रत्यय किसी विशेष अर्थ में नहीं कहा और "अनिर्दिष्टार्थाश्च प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति"(परि० १००) जिन प्रत्ययों का विशेष अर्थ नहीं कहा है वे स्वार्थ में होते हैं स्वार्थ धातुओं का भावमात्र है इससे तुमर्थ करके भाव का ग्रहण है॥

असेन्—जीव—क्त्वे दत्ताय जीवसे, शारदो जीवसे धाः। कसे—प्र+इण = प्रेषे भगाय। कसेन्—श्रिन्—गवामिव श्रियसे। अध्यै, अध्यैन्—उप+आङ्+चर = कर्मण्युपाचरध्यै। कध्यै—आङ्+हु = इन्द्राग्नी आहुवध्यै। कध्यैन्—श्रिन्—श्रियध्यै। शध्यै—मदी+णिच् = राधसः सह मादयध्यै। यहां शध्यै के परे शप् होकर णिच् को गुण हो जाता है। शध्यैन्—पा—वायवे पिबध्यै। तवै—[पा] पाने- सोममिन्द्राय पातवे। तवेङ्—पूङ—दशमे मासि सूतवे। तवेन्-गम्लृ—स्वर्देवेषु गन्तवे।

१५२२—प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै ॥३।४।१०॥

वेदविषय में प्रयै, रोहिष्यै, अव्यथिष्यै ये शब्द तुमर्थ में निपातन किये हैं 'प्रयै' यहां प्रपूर्वक या धातु से के प्रत्यय और आलोप (२४४) हो जाता है। प्रयै देवेभ्यः। 'प्रयातुम्' प्राप्त था। 'रोहिष्यै' यहां रुह धातु से इष्यै प्रत्यय होता है—अपामोषधीना रोहिष्यै। 'रोहितुम्' प्राप्त था। 'अव्यथिष्यै' यहां नञ्पूर्वक व्यथ धातु से इष्यै प्रत्यय होता है। 'अव्यथितुम्' प्राप्त था।

१५२३—दृशे विख्ये च ॥ ३ । ४ । ११ ॥

वेदविषय में तुमर्थ में दृशे विख्ये ये निपातन हैं। दृश धातु से के प्रत्यय हो जाता है। दृशे विश्वाय सूर्यम्। वि+ख्या से 'के' प्रत्यय हुआ। विख्ये त्वा हरामि।

१५२४—शकि णमुल्कमुलौ ॥३।४।१२॥

वेदविषय में शक्लृ धातु उपपद हो तो तुमर्थ में धातु से णमुल् और कमुल् प्रत्यय हो। णमुल्—वि+भज=अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन्। 'विभक्तुम्' प्राप्त था, णित् से वृद्धि हो जाती है। कमुल्—अप+लुप्लृ = अपलुपं नाशक्नुवन्। 'अपलोप्तुं' प्राप्त था।

१५२५—ईश्वरे तोसुन्कसुनौ ॥३।४।१३॥

वेदविषय में ईश्वर शब्द उपपद हो तो धातु से तोसुन् और कसुन् प्रत्यय हों। ईश्वरो विचरितोः। 'विचरितुम्' प्राप्त था। ईश्वरोऽभिचरितोः। 'अभिचरितुम्' प्राप्त था। ईश्वरो विलिखः। 'विलिखितुम्' प्राप्त था।

१५२६—कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः॥ ३।४।१४॥

वेदविषय में कृत्यार्थ=भाव, कर्म में धातु से तवै, केन, केन्य, त्वन् ये प्रत्यय हों। तवै-म्लेच्छ-म्लेच्छितवै, म्लेच्छितव्यम्। अनु+इण्=अन्वेतवै, अन्वेतव्यम्। कन्—अव+गाहू=नावगाहे, नावगाहितव्यम्। केन्य—शु+सन्=शुश्रूषेण्य, शुश्रूषितव्यम्। त्वन्—डुकृञ्—कर्त्वं हविः,'कर्तव्यम्' प्राप्त था।

१५२७—अवचक्षे च ॥ ३। ४। १५ ॥

वेदविषय में कृत्यार्थ में अवपूर्वक चक्षिङ् धातु से एश् प्रत्यय निपातन है। रिपुणा नावचक्षे। 'अवख्यातव्यम्' प्राप्त था।

१५२८—भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन् ॥ ३। ४। १६ ॥

वेदविषय में भावलक्षण=क्रिया जिससे लक्षित हो उस अर्थ में वर्तमान स्था, इण्, कृञ्, वदि, चरि, हु, तमि, जनि इन धातुओं से तुमर्थ में तोसुन् प्रत्यय हो। सम्+स्था—[आ], संस्थातोर्वेद्यां सीदन्ति। समाप्तिपर्यन्त वेदी में ठहरते हैं यहां संस्थिति अर्थात् समाप्ति से ठहरना क्रिया लक्षित होता है। इसलिये सम् पूर्वक स्था धातु से तोसुन् प्रत्यय हुआ। इसी प्रकार अगले प्रयोग भी समझने चाहियें। उद्+इण्—पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः। अप+आङ्+कृञ्—पुरा वत्सानामपाकर्तोः। प्र+वद—पुरा

प्रवदितोरग्नौ प्रहोतव्यम्। प्र+चरि—पुरा प्रचरितोराग्नीध्रे होतव्यम्। हु—आहोतोरप्रमत्तस्तिष्ठति। तमु—आतमितोरासीत्। जनी—काममाविजनितोः सम्भवाम।

१५२९—सृपितृदोः कसुन्॥ ३। ४। १७॥

वेदविषय में भावलक्षण में वर्तमान सृपि और तृद धातु से तुमर्थ में कसुन् प्रत्यय हो। सृप—पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्। तृद—पुरा जत्रुभ्य आतृद।

१५३०—अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा॥ ३। ४। १८॥

प्रतिषेध अर्थ वाले अलं और खलु उपपद हों तो प्राचीनों के मत में धातु से क्त्वा प्रत्यय हो। कृत्प्रत्ययान्त अव्यय भाव में होते हैं इससे क्त्वा को भाव में जानना चाहिये। डुदाञ्—अलं दत्वा, मत देओ। पठ—खलु पठित्वा, मत पढ़ो। अलं खलु ग्रहण से यहां न हुआ—माकार्षीत्, वह मत करे। प्रतिषेध ग्रहण से यहां न हुआ—अलंकारः। यहां प्राचां ग्रहण सत्कार के लिए है[1], क्योंकि वासरूपविधि से यथाप्राप्त अन्य प्रत्यय हो ही जायगा। जैसे—अलं रोदनेन।

१५३१—उदीचां माङो व्यतीहारे॥३।४।१९॥

उदीचों के मत में व्यतीहार=उलट पलट होना अर्थ में वर्तमान मेङ् धातु से क्त्वा प्रत्यय हो। 'अप+मेङ्+क्त्वा+सु' यहां 'कुगति०'[2] सूत्र से समास होकर—

---

१ अष्टाध्यायी भाष्य में 'प्राचाम्' ग्रहण विकल्पार्थ माना है। इस सूत्र के अष्टाध्यायी भाष्य की टिप्पणी द्रष्टव्य है।

२ सामा० १८२।

१५३२—समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ॥ ७ । १ । ३७ ॥

नञ्पूर्वक समास न हो तो क्त्वा के स्थान में ल्यप् आदेश हो। इससे 'क्त्वा' का ल्यप् आदेश होकर "अप्+मेङ्+ल्यप्+सु" इस अवस्था में—

१५३३—मयतेरिदन्यतरस्याम् ॥६।४।७०॥

ल्यप् पर हो तो आकारान्त मेङ् धातु को इकारादेश विकल्प करके हो। (सन्धि० ८६) इस सूत्र के अनुसार मेङ् के अन्त्य को इकार होकर (सन्धि० २०६) से तुक् हो जाता है। जैसे—अपमित्य याचते। भिक्षुक पहिले मांगता है पीछे वस्त्र फैलाता है। जहां इकार न हुआ, वहां आत्व (२४२) से हो जाता है। जैसे—अपमाय याचते। यहां पूर्वकाल की प्रतीति नहीं है इससे यह क्त्वा विधान किया क्योंकि पूर्वकाल में क्त्वा (१५३६) से विधान करेंगे। उदीचो के ग्रहण से औरों के मत में पूर्वकालिक क्त्वा भी मेङ् धातु से होता है, जैसे—याचित्वा अपमयते।

१५३४—क्त्वापि छन्दसि ॥ ७ । १ । ३८ ॥

वेद विषय में अनञ्पूर्वसमास में क्त्वा को क्त्वा और ल्यप् आदेश हों। क्त्वा—कृष्णं वासो यजमानं परिधापयित्वा, प्रत्यञ्चमर्कं प्रत्यर्पयित्वा। ल्यप्—उद्धृत्य जुहोति। वा ग्रहण से भी दोनों आदेश हो जाते, तथापि यहां क्त्वा ग्रहण सर्वोपाधि की निवृत्ति के लिए है। इससे असमास में भी ल्यप् होता है—अर्च्य वान् देवान् गत,।

१५३५—परावरयोगे च ॥ ३ । ४ । २० ॥

पर से पूर्व का और अवर अर्थात् पूर्व से पर का योग गम्यमान हो तो धातु से क्त्वा प्रत्यय हो। परयोग—अप्राप्य ग्राम पर्वत

स्थितः। ग्राम को न पाकर पर्वत रहा अर्थात् ग्राम से परे पर्वत है। यहां प्रपूर्वक आप्लृ धातु से क्त्वा प्रत्यय, फिर प्रादिसमास (सामा०, कुगति० १८२) होने से ल्यप् आदेश होकर नञ्समास होता है। अन्वयोग—अतिक्रम्य पर्वतं ग्रामः स्थितः। पर्वत को अतिक्रमण करके ग्राम रहा। अर्थात् पर्वत ग्राम से पहिले है।

१५३६—समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले ॥३।४।२१॥

जिनका समान कर्ता है ऐसे जो धातु उन में जो पूर्वकाल विषयक अर्थ में वर्तमान धातु उससे क्त्वा प्रत्यय हो। भुक्त्वा व्रजति। भोजन करके जाता है। यहां भोजन क्रिया प्रथम करना है इससे भुज धातु से क्त्वा प्रत्यय हो गया। इसी प्रकार—'स्नात्वा पठति' इत्यादि समझना चाहिये। 'समानकर्त्तृकयोः' यह द्विवचन अतन्त्र है इससे स्नात्वा, पीत्वा, भुक्त्वा, पठित्वा गच्छति। इत्यादिकों में भी क्त्वा प्रत्यय होता है। समानकर्तृक ग्रहण से यहा न हुआ—वर्षति मेघे देवदत्तो गतः। पूर्वकालग्रहण से यहां न हुआ—गच्छन् पठति, जाता हुआ पढ़ता है। यहां पूर्वकालता नहीं [है]। तथा 'मुखं व्यादाय स्वपिति' यहां भी पूर्वकालता नहीं क्योंकि सोने वाले का मुख सोने के पीछे फैलता है तथापि मुख फैले पीछे जो निद्रा है उससे मुख का फैलना पूर्वकाल में है इससे पूर्वकालता सिद्ध है क्योंकि सोनेवाला मुख फैले पीछे कुछ देर अवश्य सोवेगा।

इट् नहीं होता उस पक्ष में (१३९) से प्राप्त जो नलोप उसका निषेध हो गया—स्यन्त्वा। और जहां इट् होता है वहां—

१५३८—न क्त्वा सेट् ॥ १। २। १८॥

सेट् (इट्सहित) क्त्वा प्रत्यय कित् संज्ञक न हो। इससे कित् संज्ञा का निषेध होकर नलोप भी नहीं होता। जैसे—स्यन्दित्वा। शयित्वा। सेट् ग्रहण इसलिये है कि—कृत्वा। हत्वा। इत्यादि में कित् निषेध न हो।

१५३९—मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वा ॥ १। २। ७॥

मृड, मृद, गुध, कुष, क्लिश, वद और वस धातु से परे सेट् क्त्वा कित् संज्ञक हो। पिछले सूत्र से कित् संज्ञा का निषेध था इसलिये विधान किया। मृडित्वा। क्लिशू विबाधने—क्लिशित्वा (स्वरि०) क्लिष्ट्वा। वद—उदित्वा (२८३) वस—उषित्वा।

१५४०—नोपधात्थफान्ताद्वा ॥ १। २। २३॥

नकार जिस के उपधा में तथा थ और फ अन्त में हों उस धातु से परे सेट् क्त्वा कित् संज्ञक विकल्प करके हो। थान्त—श्रथित्वा, श्रन्थित्वा। फान्त—गुफित्वा, गुम्फित्वा। नोपधग्रहण से—कोथित्वा। यहां कित् संज्ञा का विकल्प नहीं होता, किन्तु (१५१८) से नित्य कित् संज्ञा का निषेध होकर गुण हो जाता है।

१५४१—वञ्चिलुञ्च्यृतश्च ॥ १। २। २४॥

वञ्चि, लुञ्चि, ऋत् इन धातुओं से परे सेट् क्त्वा विकल्प करके कित् संज्ञक हो। वञ्चु गतौ—वञ्चित्वा, वचित्वा। लुञ्च अपनयने—लुञ्चित्वा, लुचित्वा। ऋत्—यह सौत्रधातु है। ऋतित्वा, अर्तित्वा।

१५४१—तृषिमृषिकृशेः काश्यपस्य ॥१।२।२५॥

काश्यप आचार्य के मत में तृषि, मृषि और कृशि धातु से परे सेट् क्त्वा विकल्प करके कित् संज्ञक हो। नितृष—तृषित्वा, तर्षित्वा। मृष—मृषित्वा, मर्षित्वा। कृश—कृशित्वा, कर्शित्वा।

द्युतित्वा, द्योतित्वा; लिखित्वा लेखित्वा(५१४); वृषित्वा, वर्षित्वा (११८४), भञ्जित्वा (११८३), लुभित्वा, लोभित्वा (११८५)।

१५४३—जृव्रश्च्योः क्त्वि ॥ ७। २। ५५ ॥

जॄ और व्रश्चू धातु से परे क्त्वा को इट् आगम हो। जॄष्—जरित्वा (२६४) जरीत्वा। ओव्रश्चू—व्रश्चित्वा।

१५४४—उदितो वा ॥ ७। २। ५६ ॥

जिस का उकार इत्संज्ञक हो उस धातु से परे क्त्वा को इट् विकल्प करके हो। शमु—शमित्वा, शान्त्वा (५८८)।

१५४५—क्रमश्च क्त्वि ॥ ६। ४। १८ ॥

झलादि क्त्वा प्रत्यय परे हो तो क्रम् धातु के उपधा को विकल्प करके दीर्घ हो। क्रमु—क्रन्त्वा, क्रान्त्वा (सन्धि०, १९२, १९७)। झलादि ग्रहण से यहां उपधादीर्घ न हुआ—क्रमित्वा (१५५४) [से इट् विकल्प]।

१५४६—जान्तनशां विभाषा ॥ ६। ४। ३२ ॥

जकार जिनके अन्त में हो उन अङ्गों और नश अङ्ग की उपधा का लोप विकल्प करके हो। भञ्जो आमर्दने—भक्त्वा, भङ्क्त्वा। रञ्ज—रक्त्वा, रङ्क्त्वा। नश—नष्ट्वा। यहां (४०९) से नुम् होता है उसका एक पक्ष में लोप हो गया और दूसरे पक्ष में न हुआ। जैसे—नंष्ट्वा, (४०७) सूत्र से पक्ष में—नशित्वा। स्नात्वा (३९४)। दो—दित्वा। षो—सित्वा। मा—मित्वा। स्था—स्थित्वा। इन सभों में (१२१८) सूत्र से इकार होता है। डुधाञ्—हित्वा (१२२०)।

१५४७—जहातेश्च क्त्वि ॥ ७ । ४ । ४३ ॥

वेदविषय में जहाति=ओहाक् अङ्ग को विकल्प करके हि आदेश हो क्त्वा परे हो तो। ओहाक् त्यागे—हित्वा। और "ओहाङ् गतौ" इस का "हात्वा" होगा। अद—जग्ध्वा। (१२१६) सूत्र से जग्धि आदेश हो जाता है।

१५४८—वा ल्यपि ॥ ६ । ४ । ३८ ॥

ल्यप् प्रत्यय परे हो तो अनुदात्तोपदेश वनति और तनात्यादि अङ्ग के अनुनासिक का लोप विकल्प करके हो। यह व्यवस्थित विभाषा है इससे मकारान्त अङ्ग के अनुनासिक का लोप विकल्प करके तथा औरों के का नित्य होता है। जैसे मान्त ऋकार-गम्-आगत्य, आगम्य। नम्-प्रणत्य, प्रणम्य। मान्ता से अन्यत्र-हन्—प्रहत्य। मन्—प्रमत्य। वन्—प्रवत्य। (परिभा० ४६) परिभाषा[1] के अनुसार ल्यप् के विषय में "हि, दथ्, आ, इत्, दीर्घ, इट्" ये विधि क्त्वा प्रत्यय के आश्रय से होने वाले अन्तरङ्ग भी हैं पर नहीं होंगे, किन्तु क्त्वा को बहिरङ्ग ल्यप् आदेश हो जाता है। जैसे हि विधाय (१२२०) दथ्—प्रदाय (१२२२) आ—प्रखन्य (८९४) इत्—प्रस्थाय। दीर्घ—प्रक्रम्य (८८८) इट्—प्रदीव्य (४७)।

१५४९—न ल्यपि ॥ ६ । ४ । ६९ ॥

ल्यप् परे हो तो घुसञ्ज्ञक मा, स्था, गा, पा, जहाति=ओहाक् और सा इन अङ्गों को ईकारादेश न हो। धेट्—प्रधाय। माङ्—प्रमाय। स्था—प्रस्थाय। गै—प्रगाय। पा पाने—प्रपाय। हा—प्रहाय। षो—प्रसाय। माङ् हिंसायाम्—प्रमाय। डुमिञ् प्रक्षेपणे—निमाय। क्षाङ् क्षये—अवदाय। इनमें आत्व (८९९) से। लीङ्

1 अन्तरङ्गानपि विधीन् बाधित्वा बहिरङ्गो ल्यब् भवति।

श्लेषणे—विलाय। इनमें (४००) से [विकल्प से] आत्व होजाता है। दूसरे पक्ष में—विलीय। विचर+णिच्=विचार्य। यहां णिलोप (१७७) से हो जाता है।

१५५०—ल्यपि लघुपूर्वात्॥ ६। ४। ५६॥

ल्यप् परे हो तो पूर्व जो लघु हो उसके परे णि के स्थान में अय् आदेश हो। वि+गण+णिच्=विगणय्य, प्रणमय्य। यहां णकार का अकार पूर्व है उससे उत्तर णि को अय् आदेश होजाता है किन्तु लोप (१७७) से नहीं होता। लघुपूर्व ग्रहण से यहां न हुआ—सम्प्रधृत्+णिच्=संप्रधार्य।

१५५१—विभाषापः॥ ६। ४। ५७॥

आप्लृ धातु से परे णि को अय् आदेश विकल्प करके हो। प्र+आप्लृ+णिच्=प्रापय्य, प्राप्य वा पठति। यहाँ णिलोप (१७७) से हो जाता है।

१५५२—जनिता मन्त्रे॥ ६। ४। ५३॥

मन्त्र विषय मे णिलोप से जनिता यह निपातन है। यो न. पिता जनिता। यहा जन धातु से इडादि तृच् प्रत्यय के परे णिलोप निपातन से होता है। मन्त्र से अन्यत्र—जनयिता।

१५५३—शमिता यज्ञे॥ ६। ४। ५४॥

यज्ञ कर्म में णिलोप से शमिता यह निपातन है। शृतं हविः शमित। यह सबुद्धि विषय में प्रयोग है यहां शमु धातु से तृच् प्रत्यय के परे णिच् का लोप हो जाता है। यज्ञ से अन्यत्र—'शमयित' यह प्रयोग होगा।

१५५४—युप्लुवोर्दीर्घश्छन्दसि॥ ६। ४। ५८॥

ल्यप् परे हो तो वेद विषय मे यु और प्लु धातु को दीर्घादेश हो।

यु—दानयजुपूर्वं वियूय। यहां विपूर्वक यु धातु का ल्यप् के परे दीर्घ होता है। प्लु—यत्राया दक्षिणा परिप्लूय। यहां परिपूर्वक प्लु को दीर्घ होता है। वेद से अन्यत्र—संयुत्य, सम्प्लुत्य।

१५५५—क्षियः ॥ ६ । ४ । ५९ ॥

ल्यप् परे हो तो क्षि धातु को दीर्घादेश हो। प्रक्षीय, सक्षीय।

१५५६—ल्यपि च ॥ ६ । १ । ४१ ॥

ल्यप् परे हो तो वेञ् धातु को सम्प्रसारण न हो। प्र+वेञ्= प्रवाय तिष्ठति।

१५५७—ज्यश्च ॥ ६ । १ । ४२ ॥

ल्यप् परे हो तो ज्या धातु को भी सम्प्रसारण न हो। ज्या वयोहानौ—प्रज्यायोपरमते। बुड्ढा होकर सब कामों से निवृत्त होता है।

१५५८—व्यश्च ॥ ६ । १ । ४३ ॥

ल्यप् के पर व्यञ् धातु का भी सम्प्रसारण न हो। व्येञ् संवरणे—उपव्याय।

१५५९—विभाषा परेः ॥ ६ । १ । ४४ ॥

ल्यप् परे हो तो परि उपसर्ग से परे व्येञ् धातु को विकल्प करके सम्प्रसारण हो। परिवीय। यहां सम्प्रसारण किये पश्चात् (सन्धि० २०६) सूत्र से तुक् प्राप्त था उसका बाध कर 'हलः'[1] सूत्र से दीर्घादेश हो जाता है।

१५६०—आभीक्ष्ण्ये णमुल् च ॥३।४।२२॥

आभीक्ष्ण्य—बार २ होना अर्थ गम्यमान हो तो समानकर्तृक धातुओं में जो पूर्वकाल में वर्त्तमान धातु है उससे क्त्वा और णमुल् प्रत्यय भी हो।

१ अष्टा० ६ । ४ । २ ॥

१५६१—वा०—आभीक्ष्ण्ये द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥ ८ । १ । १२ ॥

आभीक्ष्ण्य * अर्थ में वर्तमान जो शब्द है उसको द्विर्वचन हो। जैसे भुज्—भोजं भोजं व्रजति, भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति। स्मृ—स्मारं स्मारं पठति, स्मृत्वा स्मृत्वा पठति। यहां पूर्व सूत्र से णमुल् प्रत्यय होकर क्त्वा और णमुल् प्रत्ययान्त को द्विर्वचन होजाता है।

१५६२—न यद्यनाकाङ्क्षे ॥ ३ । ४ । २३ ॥

यद् शब्द उपपद हो और अनाकाङ्क्ष वाच्य हो तो धातु से क्त्वा और णमुल् प्रत्यय न हो। जिस वाक्य में अगली पिछली दो क्रिया रहें और वह कुछ पर की आकाङ्क्षा न करे उसका यहां ग्रहण है। जैसे—यदयं पठति ततः पचति। जब यह पढ़ लेता है तदनन्तर पाक करता है। यहां 'यदयं पठति' इस अंश में जो पठन क्रिया है उसको कुछ पचन की आकाङ्क्षा नहीं है। अनाकाङ्क्ष ग्रहण से यहां निषेध नहीं होता—यदयं पठित्वा गच्छति, तत परमेव

---

* "नित्यवीप्सयोः" इस सूत्र से जो द्विर्वचन होता है वह नित्य अर्थात् क्रिया के अविच्छिन्न होने में होता है किन्तु वार २ होने में नहीं होता जैसे किसी ने कहा—'स जीवति जीवति' यहां यह अर्थ प्रतीत होगा कि वह जीवता ही है। किन्तु जी के मरता फिर मर के जीता यह नहीं प्रतीत होगा। "भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति, भोजं भोजं व्रजति" यहां भोजन करता फिर जाता है। फिर भोजन करता फिर जाता है यह भोजन क्रिया का वार वार होना प्रतीत होता है। इसलिए क्रिया के वार वार होने में 'नित्यवीप्सयो' से द्विर्वचन नहीं प्राप्त था इससे आभीक्ष्ण्य अर्थ में द्विर्वचन का विधान किया है।

---

१ अष्टा० ८ । १ । ४ ॥

प्रसीदति। जब यह पद के जाता है तदनन्तर ही प्रसन्न होता है। यदयं बालः श्राव श्रावं विस्मरति तत परमेव पापृच्छ्यते इत्यादि।

१५६३—विभाषाग्रेप्रथमपूर्वेषु ॥३।४।२४॥

अग्रे प्रथम पूर्व ये उपपद हों तो समानकर्तृकों में जो पूर्वकाल में वर्तमान धातु है उससे क्त्वा और णमुल् प्रत्यय विकल्प करके हो। यह अप्राप्त विभाषा है। अग्रे पठित्वा गच्छति, अग्रे पाठं गच्छति; प्रथमं पठित्वा गच्छति, प्रथमं पाठं गच्छति; पूर्वं पठित्वा गच्छति, पूर्वं पाठं गच्छति। विभाषा ग्रहण इसलिये है कि जब क्त्वा और णमुल् नहीं होते तब लट् आदि प्रत्यय होते हैं, जैसे— अग्रे पठति ततो व्रजति। आभीक्ष्ण्य अर्थ में तो पूर्व विप्रतिषेध से नित्य क्त्वा और णमुल् होते हैं, जैसे—अग्रे पठित्वा पठित्वा गच्छति, अग्रे पाठं पाठं गच्छति इत्यादि।

१५६४—कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुञ् ॥३।४।२५॥

आक्रोश गम्यमान हो और कर्म उपपद हो तो समानकर्तृकों में जो पूर्वकाल में वर्तमान धातु उससे खमुञ् प्रत्यय हो। चोरंकारमाक्रोशति। चोर कह कर कोसता है। यहां कृञ् धातु उच्चारण अर्थ में है।

१५६५—स्वादुमि णमुल् ॥ ३ । ४ । २६ ॥

स्वादु शब्द के अर्थ वाले शब्द उपपद हों तो समानकर्तृकों में जो पूर्वकाल में वर्तमान धातु है उससे णमुल् प्रत्यय हो। स्वादुंकारं भुङ्क्ते, संपन्नकारं भुङ्क्ते। लवणकारं भुङ्क्ते। यहां 'संपन्नं' और 'लवणं' शब्द स्वादु शब्द के पर्यायवाचक हैं। "स्वादुमि मान्तनिपातनं क्रियते ईकाराभावार्थम्, च्व्यन्तस्य च मकारार्थम्" ॥ महाभाष्ये। ३। ४। २६। स्वादु शब्द से ईकार का अभाव अ

च्व्यन्त स्वादु शब्द को मकारान्त रहने के लिये "स्वादुमि" यहां स्वादु शब्द को मकारान्त निपातन किया है। ईकार—स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय से प्राप्त है। जैसे—स्वाद्वीं कृत्वा यवागूं भुङ्क्ते। यहां (स्त्रैण० ७६) इस सूत्र से उकारान्त गुणवाची स्वादु शब्द से ङीप् प्राप्त था सो न हुआ। च्व्यन्त—अस्वादु स्वादु कृत्वा भुङ्क्ते, स्वादुंकारं भुङ्क्ते। अब णमुल् का अधिकार है, सो समानकर्तृकों में जो पूर्वकाल में वर्त्तमान धातु है उस से प्रायः होता है।

१५६६—अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत् ॥ ३। ४। २७ ॥

जो सिद्ध कृञ् धातु का अप्रयोग हो और अन्यथा, एवं, कथं, इत्थं ये उपपद हों तो कृञ् धातु से णमुल् प्रत्यय हो। जो कृञ् धातु के प्रयोग के विना भी अभीष्ट अर्थ वाक्य से कहा जाय तो कृञ् के प्रयोग को भी अप्रयोग के तुल्य समझना चाहिये। जैसे—अन्यथाकारं पठति शिक्षाविरहो बालः। शिक्षा से रहित बालक अन्यथा अर्थात् उच्चारणादि नियम से रहित पढ़ता है। यह अर्थ तो "अन्यथा पठति शिक्षाविरहो बाल" इस वाक्य से भी होता है। इसलिये पूर्व वाक्य में सिद्ध कृञ् धातु का अप्रयोग समझना चाहिये। सिद्धाप्रयोगग्रहण से यहां णमुल् नहीं होता—शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते। शिर को और ढंग से करके भोजन करता है। यह अर्थ "शिरोऽन्यथा भुङ्क्ते" इस वाक्य से न होगा।

१५६७—यथातथयोरसूयाप्रतिवचने ॥ ३। ४। २८ ॥

सिद्ध कृञ् धातु का अप्रयोग हो, असूयाप्रतिवचन गम्यमान हो और यथा तथा शब्द उपपद हों तो कृञ् धातु से णमुल् प्रत्यय हो।

असूया अर्थात् जो न सहन कर के दूसरे की निन्दा करना उसका प्रतिवचन=उत्तर । जैसे—कथं त्वं पठिष्यसि ? यथाकारं पठिष्यामि तथाकारं पठिष्यामि किं त्वानेन ? कैसे वहां पढ़ेगा ? जैसे पढ़ूंगा वैसे पढ़ूंगा तुमको इसमें क्या ? असूयाप्रतिवचन के ग्रहण से यहां न हुआ—यथा कृत्वाऽहं पठिष्यामि तथा त्वं द्रक्ष्यसि । सिद्धाप्रयोग के ग्रहण से यहां न हुआ—शिरो यथा कृत्वाऽहं भोक्ष्ये किं त्वानेन ।

१५६८—कर्मणि दृशिविदोः साकल्ये ॥३।४।२९॥

कर्म उपपद हो तो साकल्य अर्थ में दृश और विद धातु से णमुल् प्रत्यय हो । पुस्तकदर्शं पठति । अर्थात् जो जो पुस्तक देखता है उस उस का पढ़ लेता है । भिक्षुवेदं ददाति । जिस जिस भिखारी को जानता पाता विचारता [है] उस उस को देता है । ब्राह्मणवेदं भोजयति । "विद" से ज्ञान लाभ और विचार इन अर्थों वाले विद धातु का ग्रहण है । साकल्य ग्रहण से यहां न हुआ—पुस्तकं दृष्ट्वा पठति ।

१५६९—यावति विन्दजीवोः ॥ ३ । ४ । ३० ॥

यावत् उपपद हो तो विदॢ और जीव धातु से णमुल् प्रत्यय हो । यावद्वेदं भुङ्क्ते । अर्थात् जितना पाता है उतना भोजन करता है । यावज्जीवमधीते । जितना जीता है उतना अध्ययन करता है ।

१५७०—चर्मोदरयोः पूरेः ॥ ३ । ४ । ३१ ॥

चर्म और उदर उपपद हों तो णिजन्त पूरी धातु से णमुल् प्रत्यय हो । पूरी+णिच्=चर्मपूरमाच्छादयति । चाम पूरा ढांपता है अर्थात् जितना शरीर का चाम है सब ढांपता है । उदरपूरं भुङ्क्ते । पेट भर भोजन करता है ।

१५७१—वर्षप्रमाण ऊलोपश्चास्यान्यतरस्याम् ॥ ३ । ४ । ३२ ॥

प्रकृति प्रत्यय के समुदाय से जो वर्षा का प्रमाण गम्यमान हो तो कर्मोपपद णिजन्त पूरी धातु से णमुल् प्रत्यय हो और इस पूरी धातु के ऊकार का लोप भी विकल्प करके हो। गोः पदं गोष्पदं, गोष्पदं पूरयित्वा वृष्टो मेघः = गोष्पदपूरं वृष्टो मेघः। ऊलोपपक्ष में— गोष्पदप्रं वृष्टो मेघः। गौ के खुर भरने मात्र मेघ बरसा। 'अस्य' ग्रहण इसलिये है कि धातु ही के ऊकार का लोप हो, उपपद के ऊकार का न हो। जैसे—मूषिकाबिलपूरं वृष्टो मेघः, मूषिकाबिलप्रं वृष्टो मेघः।

१५७२—चेले क्नोपेः ॥ ३ । ४ । ३३ ॥

वर्षा का प्रमाण गम्यमान हो और चेल शब्दार्थक कर्म उपपद हो तो णिजन्त क्नूयी धातु से णमुल् प्रत्यय हो। चेलक्नोपं वृष्टो मेघः, वसनक्नोपं वृष्टो मेघः, चीरक्नोपं वृष्टो मेघः। कपड़ा भिगोने भर मेघ बरसा।

१५७३—निमूलसमूलयोः कषः ॥३।४।३४॥

निमूल और समूल कर्म उपपद हों तो कष धातु से णमुल् प्रत्यय हो। निमूलं कषति, निमूलकाषं कषति। जड़ को छोड़ के जैसे काटता हो वैसे काटता है। समूलं कषति, समूलकाषं कषति। जड़ समेत जैसे काटता हो वैसे काटता है। यहां से कषादिकों का प्रकरण है इन में यथाविधि अनुप्रयोग अर्थात् जिस धातु से णमुल् विधान करें उसी धातु का पीछे प्रयोग होता है। और इस प्रकरण में पूर्वकाल की अनुवृत्ति नहीं है।

१५७४—शुष्कचूर्णरूक्षेषु पिषः ॥३।४।३५॥

शुष्क, चूर्ण, रूक्ष ये कर्म उपपद हों तो पिष धातु से णमुल् प्रत्यय हो। शुष्कपेषं पिनष्टि। सूखा पीसता हो वैसे पीसता है। चूर्णपेषं पिनष्टि, रूक्षपेषं पिनष्टि।

१५७५—समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः ॥ ३ । ४ । ३६ ॥

समूल, अकृत, जीव ये कर्म उपपद हों तो यथासङ्ख्य करके हन्, कृञ् और ग्रह धातु से णमुल् प्रत्यय हो। समूलघातं हन्ति। मूल समेत जैसे मारता हो वैसे मारता है। अकृतकारं करोति। न किये को जैसे करता हो वैसे करता है। जीवग्राहं गृह्णाति। जीव का ग्रहण करता हो वैसे ग्रहण करता है।

१५७६—करणे हनः ॥ ३ । ४ । ३७ ॥

करण उपपद हो तो हन् धातु से णमुल् प्रत्यय हो। पादेन हन्ति, पादघातं हन्ति, यष्टिघातं हन्ति। लात वा लट्ठ से मारता हो वैसे मारता है।

१५७७—स्नेहने पिषः ॥ ३ । ४ । ३८ ॥

स्नेहन अर्थात् जिससे सचिक्कण करे ऐसा करण उपपद हो तो पिष धातु से णमुल् प्रत्यय हो। उदपेषं[1] पिनष्टि, तैलपेषं पिनष्टि, कषायपेषं पिनष्टि। उदक से पीसता है इत्यादि।

१५७८—हस्ते वर्तिग्रहोः ॥ ३ । ४ । ३९ ॥

हस्तवाची करण उपपद हो तो णिजन्त वृतु और ग्रह धातु से णमुल प्रत्यय हो। हस्तेन वर्तयति, हस्तवर्तं वर्तयति। करवर्तं वर्तयति। हस्तेन गृह्णाति, हस्तग्राहं गृह्णाति, करग्राहं गृह्णाति।

---

1 पेषं वासवाहनधिषु च (अष्टा० ६ । ३ । ५८) सूत्र से उदक को उद आदेश होता है।

१५७६—स्वे पुषः ॥ ३ । ४ । ४० ॥

स्वशब्दार्थक करण उपपद हो तो पुष धातु से णमुल् प्रत्यय हो। स्व शब्द आत्मा, आत्मीय, ज्ञाति और धन का वाची है। स्वेन पुष्णाति, स्वपोषं पुष्णाति, आत्मपोषं पुष्णाति, पितृपोषम्, मातृपोषम्, धनपोषम्, रैपोषम् वा पुष्णाति।

१५८०—अधिकरणे बन्धः ॥ ३ । ४ । ४१ ॥

अधिकरणवाची उपपद हो तो बन्ध धातु से णमुल् प्रत्यय हो। चक्रे बध्नाति चक्रबन्धं बध्नाति, शकटबन्धं बध्नाति, मुष्टिबन्धं बध्नाति। पहिये गाड़ी वा मुट्ठी में बांधता हो वैसे बांधता है।

१५८१—संज्ञायाम् ॥ ३ । ४ । ४२ ॥

संज्ञाविषय में बन्ध धातु से णमुल् प्रत्यय हो। क्रौंच इव बध्नाति, क्रौंचबन्धं बध्नाति, क्रौंचबन्धं बद्धः, मयूरिकाबन्धं बध्नाति, अट्टालिकाबन्धं बध्नाति। ये बन्धनों के नाम हैं। क्रौंचपक्षी, मोरनी और अटारी के समान बांधता हो वैसे बांधता है।

१५८२—कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्नशिवहोः ॥३।४।४३॥

कर्तृवाचक जीव और पुरुष शब्द उपपद हों तो यथासंख्य करके नश और वह धातु से णमुल् प्रत्यय हो। जीवनाशं नश्यति। जीव नष्ट होता है। पुरुषवाहं वहति। अर्थात् पुरुष जैसे जहां तहां वस्तु लेजाने लेआने में वहता रहता है वैसे वहता है। कर्तृवाचक के ग्रहण से यहां न हुआ—'जीवेन नष्टः, पुरुषेणोढः' यहां जीव और पुरुष ये करण हैं इससे णमुल् न हुआ, किन्तु क्त प्रत्यय हो जाता है।

१५८३—ऊर्ध्वे शुषिपूरोः ॥ ३ । ४ । ४४ ॥

ऊर्ध्व शब्द कर्तृवाचक उपपद हो तो शुष् और पूरी धातु से णमुल् प्रत्यय हो। ऊर्ध्वशोषं शुष्यति। ऊपर को सूखता हो वैसे सूखता है। वृक्ष

आदि ऊपर ही को खड़े २ सूखते हैं। ऊर्ध्वपूरं पूर्यते घटः। ऊपर को पूरा होता हो वैसे घट पूरा होता है अर्थात् घट आदि का ऊपर को मुख होता [है], वर्षा आदि के जल से परिपूर्ण भर जाता है।

१५८४—उपमाने कर्मणि च ॥ ३ । ४ । ४५ ॥

उपमानवाची कर्त्ता व कर्म उपपद हों तो धातु से णमुल् प्रत्यय हो। कर्म—घृतमिव निदधाति घृतनिधायं निदधाति जलम्। घी के समान धरता हो वैसे जल को धरता है। कर्त्ता—अज इव नश्यति अजनाशं नश्यति। बकरे के समान नष्ट होता हो वैसे नष्ट होता है।

१५८५—कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः ॥३।४।४६॥

उक्त कषादिकों में यथाविधि अनुप्रयोग हो। अर्थात् जिस जिस धातु से णमुल् कहा है उसी का पीछे से प्रयोग हो। इसी क्रम से कषादिकों में उदाहरण दिये हैं। जैसे—निमूलकाषं कषति इत्यादि।

१५८६—उपदंशस्तृतीयायाम् ॥ ३ । ४ । ४७ ॥

तृतीयान्त उपपद हो तो समानकर्तृको में जो पूर्वकाल विषयक अर्थ में उपपूर्वक दंश धातु उससे णमुल् प्रत्यय हो। यहां से णमुल् के प्रकरण की समाप्ति तक पूर्वकाल का सम्बन्ध है। मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते, मूलकोपदंशं भुङ्क्ते। मूली को काट के उससे भोजन करता है। यहां 'मूलकमुपदशति' इस अवस्था में मूलक शब्द उपदंश धातु का कर्म भी है। तथापि भुजि क्रिया का करण होने से तृतीयान्त हो जाता है। यद्यपि मूलक शब्द का उपदंश के साथ शब्द-सम्बन्ध नहीं है तथापि कर्म होने से उसका अर्थकृत सम्बन्ध है। इतने ही सामर्थ्य से "मूलक+टा+उपदश" इससे णमुल् प्रत्यय होता है और (सामा० तृतीया० १९५) इस सूत्र सामर्थ्य से उपपद समास होता है तथा आगे भी उसी सूत्र से विकल्प करके उपपद समास होता है।

१५८७—हिंसार्थानां च समानकर्मकाणाम् ॥ ३ । ४ । ४८ ॥

तृतीयान्त उपपद हो तो अनुप्रयोग जो धातु उससे जिनका समान कर्म है उन हिंसार्थकों से णमुल् प्रत्यय हो। दण्डोपघातं गाः कलयति, दण्डेनोपघातं गाः कलयति। दण्ड से पीट कर गौओं को गिनता है। दण्डताडं वृषं बध्नाति, दण्डेनोपताडं वृषं बध्नाति। समानकर्मक ग्रहण से यहां नहीं होता—अश्वं दण्डेनोपहत्य गाः कलयति। यहां उपपूर्व हन् और कल धातु का एक कर्म नहीं है।

१५८८—सप्तम्यां चोपपीडरुधकर्षः ॥३।४।४९॥

सप्तम्यन्त और तृतीयान्त उपपद हो तो उपपूर्वक पीड, रुध और कर्ष धातु से णमुल् प्रत्यय हो। पार्श्वोपपीडं शेते, पार्श्वयोरुपपीडं शेते। पसली में दाब कर सोता है। पार्श्वाभ्यामुपपीडं शेते। पसली से दाब कर सोता है। व्रजावरोधं गाः कलयति, व्रजे उपरोधं गाः कलयति। गोशाला में रोक कर गौओं को गिनता है। व्रजेनावरोधं गाः कलयति। गोशाला से रोक कर गौओं को गिनता है। पाण्युपकर्षं धानाः संगृह्णाति, पाणावुपकर्षं धानाः संगृह्णाति। हाथ से मीज कर [मलकर] धानों का संग्रह करता है। पाणिनोपकर्षं धानाः संगृह्णाति। हाथ से मीज कर धानों का संग्रह करता है।

१५८९—समासत्तौ ॥ ३ । ४ । ५० ॥

समासत्ति = सन्निकट अर्थ गम्यमान हो और तृतीयान्त वा सप्तम्यन्त उपपद हो तो धातु से णमुल् प्रत्यय हो। केशग्राहं युध्यन्ते, केशेषु ग्राहम्, केशैर्ग्राहं वा युध्यन्ते, हस्तग्राहम्, हस्तेषु ग्राहम्, हस्तैर्ग्राहं वा युध्यन्ते अर्थात् युद्ध की प्रबलता से अत्यन्त निकट होकर लड़ते हैं।

१५९०—प्रमाणे च ॥ ३ । ४ । ५१ ॥

प्रमाण गम्यमान हो और तृतीयान्त वा सप्तम्यन्त उपपद हो तो धातु से णमुल् प्रत्यय हो। द्व्यङ्गुलोत्कर्षम्, द्व्यङ्गुल उत्कर्षम्, द्व्यङ्गुलेनोत्कर्षम् वा काष्ठं छिनत्ति। दो अंगुल के प्रमाण में वा दो अंगुल के प्रमाण से काष्ठ को काटता है इत्यादि।

१५६१—अपादाने परीप्सायाम् ॥३।४।५२॥

अपादान उपपद हो तो परीप्सा=सब ओर से चाहना अर्थ में धातु से णमुल् प्रत्यय हो। शय्याया उत्थाय, शय्योत्थायं धावति। खाट से उठा और भगा अर्थात् और कुछ काम नहीं देखता है। जहां परीप्सा नहीं है वहां नहीं होता। जैसे—आसनादुत्थाय गच्छति।

१५६२—द्वितीयायां च ॥ ३ । ४ । ५३ ॥

द्वितीयान्त भी उपपद हो तो परीप्सा अर्थ में धातु से णमुल् प्रत्यय हो। यष्टिग्राहं युध्यन्ते, लोष्टग्राहं युध्यन्ते। युद्ध की शीघ्रता में और शस्त्रों को छोड़ लाठी वा ढेले लेकर युद्ध करते हैं।

१५६३—अपगुरोर्णमुलि ॥ ६ । १ ५३ ॥

णमुल् परे हो तो अपपूर्वक गुरी धातु के एच् को विकल्प करके आकारादेश हो। गुरी उद्यमने—असिमपगूर्य युध्यन्ते, अस्यपगोरम्, अस्यपगारं वा युध्यन्ते।

१५६४—स्वांगेऽध्रुवे ॥ ३ । ४ । ५४ ॥

अध्रुव=अस्थिर[1] स्वाङ्गवाची द्वितीयान्त उपपद हो तो धातु से

---

1. अध्रुव का लक्षण है—यस्मिश्छिन्नेऽपि प्राणी न म्रियते तदध्रुवम्। अर्थात् जिस अंग के काट देने पर भी प्राणी नहीं मरता वह अंग अध्रुव कहाता है।

णमुल् प्रत्यय हो। अक्षिनिकाणं जल्पति। आंख निकाल कर कहता है। भ्रूविक्षेपं कथयति। भौंहों को फरका कर कहता है। अध्रुव ग्रहण से यहां न हुआ—उत्क्षिप्य शिरः कथयति। शिर पटक के कहता है।

१५६५—परिक्लिश्यमाने च ॥ ३ । ४ । ५५ ॥

परिक्लिश्यमान अर्थात् सब प्रकार से विशेष पीड़ा को प्राप्त जो स्वाङ्ग तद्वाचक जो द्वितीयान्त सो उपपद हो तो धातु से णमुल् प्रत्यय हो। उरःपेषं युध्यन्ते। छाती पीसते लड़ते हैं। उरःप्रतिपेषं युध्यन्ते, शिरःपेषं युध्यन्ते, शिरःप्रतिपेषं युध्यन्ते। समस्त शिर पीसते लड़ते हैं। यह ध्रुवार्थ आरम्भ है।

१५६६—विशिपतिपदिस्कन्दां व्याप्यमानासेव्यमानयोः ॥ ३ । ४ । ५६ ॥

व्याप्यमान = व्याप्ति को प्राप्त और आसेव्यमान = सेवा को प्राप्त अर्थ गम्यमान हो और द्वितीयान्त उपपद हो तो विश आदि धातुओं से णमुल् प्रत्यय हो। विश आदि क्रियाओं से जो गेहादि द्रव्यों का निश्शेष सम्बन्ध है सो यहां व्याप्ति और क्रिया का जो वार वार होना वह 'आसेवा' समझनी चाहिये। द्रव्य में व्याप्ति और क्रिया में आसेवा रहती है। विश—गेहानुप्रवेशमास्ते। घर घर में प्रवेश करके बैठता है वा घर में पैठ पैठ बैठता है। यहां समास से ही व्याप्ति और आसेवा उक्त हैं। इससे 'नित्य०'[1] सूत्र से णमुल् प्रत्ययान्त का द्विर्वचन नहीं होता और उपपदसमास का जहां विकल्प पक्ष है वहां व्याप्ति अर्थ में द्रव्य को द्विर्वचन और आसेवा में क्रिया को द्विर्वचन होता है। जैसे व्याप्ति—गेहं गेहमनुप्रवेशमास्ते। आसेवा—

1 अष्टा० ८ । १ । ४ ॥

गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशमास्ते । पति—गेहानुप्रपातमास्ते, गेहं गेहमनुप्रपातमास्ते, गेहमनुप्रपातमनुप्रपातमास्ते । पदि—गेहानुप्रपादमास्ते, गेहं गेहमनुप्रपादमास्ते, गेहमनुप्रपादमनुप्रपादमास्ते । स्कन्दिर्—गेहावस्कन्दमास्ते, गेहं गेहमवस्कन्दम्, गेहमवस्कन्दमवस्कन्दम् । व्याप्यमान आसेव्यमान अर्थों के ग्रहण से यहां न हुआ—गेहमनुप्रविश्य भुङ्क्ते । आसेवा आभीक्ष्ण्य है और आभीक्ष्ण्य अर्थ में णमुल् कहा है इसलिये यह सूत्र द्वितीयोपपद होने से उपपद समास के लिये है ।

१५६७—अस्यतितृषोः क्रियान्तरे कालेषु ॥ ३ । ४ । ५७ ॥

कालवाची द्वितीयान्त उपपद हो तो क्रिया का व्यवधान कराने वाला जो अर्थ उस में वर्तमान जो अस्यति, तृष धातु उनसे णमुल् प्रत्यय हो । अनु चेपणे—द्व्यहात्यासं गा: पाययति, द्व्यहमत्यासं गा: पाययति । दो दिन छोड़ के गौओं को पिलाता है । यहां द्व्यह शब्द कालवाची द्वितीयान्त है । अतिपूर्वक अस धातु पान क्रिया के व्यवधान में वर्तमान है । इसी प्रकार—"द्व्यह तर्षं गा: पाययति, द्व्यहं तर्षं गा: पाययति" यहां भी जानना चाहिये । अस्यति, तृष ग्रहण से यहां न हुआ— द्व्यहमुपोष्य भुङ्क्ते । क्रियान्तर ग्रहण से यहां न हुआ—अहरत्यस्य बाणान् गत: । कालग्रहण से यहां न हुआ—योजनमत्यस्य जलं पिबति । यहां अध्वविषयक योजन शब्द उपपद है ।

१५६८—नाम्न्यादिशिग्रहोः ॥ ३ । ४ । ५८ ॥

द्वितीयान्त नाम शब्द उपपद हो तो आङ्पूर्वक दिश् और ग्रह धातु से णमुल् प्रत्यय हो । नामादिश्याचष्टे, नामादेशमाचष्टे, नामगृहीत्वाचष्टे, नामग्राहमाचष्टे । नामोच्चारण कर वा नाम लेकर कहता है ।

१५९९—अन्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञः

क्त्वाणमुलौ ॥ ३ । ४ । ५९ ॥

अयथाभिप्रेताख्यान = अभिप्रायविरुद्ध अर्थात् अप्रिय वाक्य को ऊंचे स्वर से कहना और प्रिय वाक्य का नीचे स्वर से कहना अर्थ गम्यमान हो और अन्यय उपपद हो तो कृञ् धातु से क्त्वा और णमुल् प्रत्यय हों । उच्चैःकृत्य, उच्चैः कृत्वा, उच्चैः कारम-प्रियमाचष्टे । नीचैःकृत्य, नीचैःकृत्वा, नीचैः कारम् प्रियं ब्रवीति । अप्रिय को ऊंचे स्वर से और प्रिय को नीचे स्वर से अर्थात् धीरे से कहता है । यहां क्त्वा ग्रहण "क्त्वा च" इस सामासिक (१९७) सूत्र से समास होने के लिये है ।

१६००—तिर्यच्यपवर्गे ॥ ३ । ४ । ६० ॥

अपवर्ग = समाप्ति अर्थ गम्यमान हो और तिर्य्यच् शब्द उपपद हो तो कृञ् धातु से क्त्वा और णमुल् प्रत्यय हों । तिर्यक्कृत्य, तिर्यक्कृत्वा, तिर्यक्कारं कार्यंगत । कार्य को समाप्त करके गया । जहां अपवर्ग न हो वहां नहीं होते—तिर्यक्कृत्वा (१५३६) काष्ठं गतः । काठ को तिरछा करके गया । यहां समाप्ति कथन नहीं है ।

१६०१—स्वाङ्गे तस्प्रत्यये कृभ्वोः ॥ ३ । ४ । ६१ ॥

तस् प्रत्ययान्त स्वाङ्गवाची उपपद हो तो कृ, भू धातु से क्त्वा और णमुल् प्रत्यय हों । मुखतः कृत्य गतः, मुखतः कृत्वा गतः, मुखतः कारं गतः । मुख की ओर करके गया । पृष्ठतो भूय, पृष्ठतो भूत्वा, पृष्ठतो भावं गतः । पीठ की ओर हो के गया । स्वाङ्ग ग्रहण से यहां

न हुआ—सर्वतः कृत्वा गतः । तस् ग्रहण से यहां न हुआ-मुखीकृत्य गतः । यहां (सं० ८९६) च्वि प्रत्यय होता है।

१६०२—नाधार्थप्रत्यये च्व्यर्थे ॥ ३ । ४ । ६२ ॥

च्व्यर्थ नाधार्थप्रत्ययान्त शब्द उपपद हों तो कृ और भू धातु से क्त्वा और णमुल् प्रत्यय हों। अनाना नानाकृत्वा गतः—नानाकृत्वा गतः, नानाकृत्य गतः, नानाकारं गतः । थोड़े को बहुत करके गया। विनाकृत्वा गतः, विनाकृत्य गतः, विनाकारं गतः, नानाभूय गतः, नानाभूत्वा गतः, नानाभावं गतः, विनाभूय गतः, विनाभूत्वा गतः, विनाभावं गतः, द्विधाकृत्य, द्विधाकृत्वा, द्विधाकारं गतः, द्विधाभूय, द्विधाभूत्वा, द्विधाभावं गतः, द्वैधकृत्य, द्वैधंकृत्वा, द्वैधकारं गतः, द्वैधंभूय, द्वैधंभूत्वा, द्वैधंभावं गतः । प्रत्यय ग्रहण से यहां नहीं होते—हिरुक् कृत्वा गतः। बिना करके गया। पृथक् कृत्वा गतः। अलग करके गया। च्व्यर्थग्रहण से यहां न हुआ—नाना कृत्वा काष्ठानि गतः। काष्ठों को फैला के गया।

१६०३—तूष्णीमि भुवः ॥ ३ । ४ । ६३ ॥

तूष्णीम् शब्द उपपद हो तो भू धातु से क्त्वा और णमुल् प्रत्यय हों। तूष्णीं भूत्वा स्थितः, तूष्णीं भावं स्थितः । चुप होकर ठहर रहा।

१६०४—अन्वच्यानुलोम्ये ॥ ३ । ४ । ६४ ॥

अन्वच् शब्द उपपद हो तो भू धातु से आनुलोम्य=अनुकूलपन अर्थात् दूसरे के चित्त की प्रसन्नता रखने अर्थ में क्त्वा और णमुल्

प्रत्यय हों। अन्वग्भूय आस्ते, अन्वग्भूत्वास्ते, अन्वग्भावमास्ते। दूसरे के अनुकूल होकर बैठता है। आनुलोम्य ग्रहण से यहां नहीं होते—अन्वग् भूत्वा (१५१६) पठति। पीछे होकर पढ़ता है।

इत्याख्यातः प्रचरितगिराख्यात आख्यातिकेन,
प्रोक्तः पातञ्जलमथ मतं प्रेक्ष्य दाक्षीसुतस्य।
वेदाधीनाखिलविषयस्थानमारोप्य योगान्,
विज्ञायन्तां निगमवचनान्याशु जिज्ञासुभिर्यत्॥

इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृत आख्यातिको ग्रन्थः पूर्त्तिमगात्।



आख्यातान्तर्गतानां धातूनामकारादिवर्णानुक्रमेण सूचीपत्रम्

धातु	पृ०	प०	धातु	पृ०	प०
कर्त	३२९	१७	कीट	३१८	९
कर्द	५१	१६	कील	१०५	१०
कर्प	८८	३	कु	२१४	१६
कर्व	११०	६	कुक	५६	१७
कल	१०२	२४	कुङ्	१७५	११
,,	३१६	११	,,	२८५	५
,,	३२२	१६	कुच	६३	[illegible]
,,	२२७	२०	,,	१५२	११
कल्ल	१०३	२	,,	२८४	७
कश	२०८	१०	कुजु	६४	४
कष	१२६	५	कुञ्च	६३	८
कस	१५२	१	कुट	२८३	२६
,,	२०८	९	,,	३२०	२१
कसि	२०८	७	कुट्ट	३१४	१८
काक्षि	१२५	१०	,,	३२०	२८
काचि	६२	१	कुंठि	७७	२६
काल	३२८	१०	कुठि	३१५	१७
काशृ	११७	२२	कुड	२८४	२३
,,	२५८	३	,,	२८१	३
कासृ	११६	६	कुडि	७२	१७
कि	२४९	७	,,	७१	२०
किट	७४	२८	,,	३१५	१६
,,	७५	१६	कुण	२८१	२६
कित	१८७	१६	,,	३२८	२४
किल	२८३	१२	कुत्स	३२०	१९

धातु	पृ०	प०	धातु	पृ०	प०
कुथ	२५२	१२	कूल	१०५	११
कुथि	४७	८	कृञ्	२७१	१२
कुद्रि	३१३	३	”	३००	५
कुन्थ	३०८	१२	कृड	२८४	२२
कुपे	२६७	२७	कृती	२९१	७
”	३२३	१०	”	२९३	२९
कुबि	८८	१०	कृप	३२७	२३
”	३१८	२३	कृपू	१३८	२०
कुभि	३१८	२४	”	३२३	४
कुमार	३२८	६	कृवि	११३	१४
कुर	२८२	७	कृश	२६७	१६
कुर्द	४१	१३	कृष	१८६	१७
कुल	१८८	१८	”	२७८	६
कुशि	३२३	१०	कॄ	२८७	१
कुष	३०८	१५	”	३०६	७
कुस	२६७	२	कॄञ्	३०५	१०
कुसि	३२३	१०	केत	३१८	१८
कुस्म	३२१	७	केपृ	८०	१८
कुह	३२९	४	केलृ	१०५	२६
कूङ्	२८५	२५	केवृ	१०३	११
कूज	६६	१५	कै	१६६	३
कूट	३२०	२३	क्नसु	२५१	१९
”	३२८	२२	क्नूय्	३०४	२२
कूण	३२०	१२	क्नूयी	१००	२५
”	३२८	२६	क्मर	१०६	२५

धातु	पृ०	पं०
ड		
डप	३२०	३
डिप	२६७	२७
,,	२८४	११
,,	३१९	१९
,,	३२०	३
डीङ्	१७०	१४
,,	२५४	१०
ढ		
ढौकृ	५७	८
ण		
णख	१२४	२५
णक्ष	५९	६
णक्षि	५९	६
णट	७५	४
,,	१४२	७
णद	५०	१५
,,	३०२	११
णभ	२३६	१७
,,	२६८	५
,,	३०९	४
णम	१८२	१८
णय	९९	१५
णल	१४८	१३
णश	२६३	[illegible]
णस	११६	१३
णह	२५८	१८
णास	११६	११
णि[illegible]	१२४	२३
णिजि	२०८	१७
णिजिर्	२४५	१७
णिदि	५३	९
णिद्	१५४	११
णिल	२८३	२०
णिवि	११०	१४
णिश	१३२	१०
णिसि	२०८	१४
णभ्	१६१	१०
णील	१०५	८
णीव	१०९	११
णु	२११	३
णुद	२७७	९
,,	२८९	२०
णू	२८५	१५
णेद	१५४	११
णेषृ	११६	२
त		
तक	५८	१६

धातु	पृ०	प०	धातु	पृ०	प०
तुड्	७८	१३	तूरी	२५७	८
तुण	२८१	२३	तूल	१०५	१४
तुत्थ	३३१	१४	तूष	१२५	१६
तुद	२७७	२	तृंहू	२८३	६
तुप	८७	१२	तृक्ष	१२४	२४
"	२८१	३	तृणु	२९९	८
तुफ	८७	१२	तृदिर्	२९३	१९
"	२८१	३	तृप	२६३	१६
तुबि	८८	११	"	२७६	७
"	३१८	२५	"	२८०	१६
तुभ	१३६	१७	"	३२५	३
"	२६८	५	तृफ	२८१	१
"	३०९	४	तृम्प	२८०	१६
तुम्प	८७	१२	तृम्फ	२८१	२
"	२८१	३	तृष	२६७	१७
तुम्फ	८७	१२	तृह	२९५	४
"	२८१	३	तृहू	२८३	६
तुर	२४९	१०	तॄ	१७७	१८
तुर्वी	१०९	१६	तज	६८	१३
तुल	३१६	६	तपृ	७९	१६
तुष	२६१	१८	तवृ	१०३	४
तुस	१२८	१४	त्यज	१८४	८
तुहिर्	१३३	१६	त्रकि	५७	७
तूड्	७८	१४	त्रख	६०	१३
तूण	३२०	१३	त्रदि	५४	६

धातु	पृ०	पं०	धातु	पृ०	पं०
ग्रवि	१८५	२	घेट्	८०	१३
ग्रपूप्	८१	१	**द**		
ग्रस	३०२	१२	दंश	१८६	१३
ग्रसि	३२३	९	दघ	११५	१२
ग्रसी	२५२	६	,,	१८०	११
ग्रिथि	६०	१२	दप	२०६	६
ग्रुट	२८४	१५	दरद	३३०	२३
,,	३२०	२०	दद	४०	१३
ग्रुप	८७	१२	दध	३८	९
ग्रुरु	८७	१२	दमु	२६५	६
ग्रुम्प	८०	१२	दम्भु	२७५	८
ग्रुम्फ	८०	१२	दय	१००	१६
ग्रैच्	१०७	५	दरिद्रा	२१२	९
ग्रोठ	५७	८	दल	१०६	१४
लघू	१२९	१	,,	३३३	८
लगि	५९	७	दवि	१८५	१
लप	२८०	८	दशि	३१९	२५
लच्छु	६३	१५	,,	३२३	१०
लप	१४१	१२	दसि	३२०	९
िलष	१८९	११	दंस	३००	९
सार	१०६	२१	,,	३२४	२
			दंभु	२६६	१८
धिट्	८०	११	दह	१८०	६
दुड	२८४	२६	दाप्	२४४	७
घुवी	१०९	१६	दाशृ	११८	३

धातु	पृ०	पं०	धातु	पृ०	पं०
बिस	२६७	१	भञ्जो	२९४	२५
बुक्क	५८	२२	भट	४४	२५
"	३२१	११	"	१४०	८
बुगि	६०	१९	भडि	७२	२०
बुध	२५२	१५	"	३१५	२४
"	२५९	२४	भण	९५	१७
बुधिर्	१५४	११	भदि	३९	२०
बुल	३१६	१०	भर्व	११०	५
बुस	२६७	३	भर्त्स	३२०	७
बुस्त	३१६	१	भल	१०२	२१
बृह	१३३	११	"	३२०	२२
बृहि	१३३	१२	भल्ल	१०२	२१
बृहिर्	१३३	१५	भष	१२७	५
बृहू	२८३	४	भस	२४८	१८
•ब्रुस	२६६	२३	भा	२२३	१४
ब्राह्	२५५	७	भाज	३२८	१७
ब्रीह	२५२	२३	भाम	९१	५
ब्रूञ्	२१५	१७	"	३२७	२५
ब्रूस	३१९	१०	भाष	११५	२५
			भासृ	११६	१०
भक्ष	१५७	१	भिक्ष	११५	७
"	३१४	१७	भिदि	५३	४
भज	१८८	२३	भिदिर्	२९३	१
"	३२२	१२	भी	२४०	६
भजि	३२३	९	भुज	२९५	९

धातु	पृ०	पं०	धातु	पृ०	पं०
मिश	१३२	१२	मुर	२८२	१२
मिश्र	३३०	१६	मुर्छा	६५	१६
मिष	२८३	१२	मुर्वी	११०	१
मिषु	१२७	१७	मुष	३१०	५
मिह	१८७	११	मुस	२६७	४
मी	३२५	११	मुस्त	३१८	२
मीङ्	२५४	२०	मुह	२६४	१५
मीञ्	३०३	१६	मूङ्	१७७	१३
मीमृ	९७	२१	मूञ्	३०५	३
मील	१०५	३	मूत्र	३२९	१२
मीव	१०९	११	मूल	१०५	१६
मुच	३२२	२३	,,	३१६	९
मुचि	६२	३	मूष	१२५	१८
मुच्लु	२९०	१३	मृक्ष	१२५	५
मुज	७०	११	मृग	३२९	३
मुजि	७०	११	मृङ्	२८६	७
मुट	७६	१	मृजू	३२६	२१
,,	२८४	१३	मृजूप्	२२७	१८
,,	३१६	१६	मृड	२८१	१९
मुठि	७२	११	,,	३०८	१४
मुडि	७३	१	मृण	२८१	२२
,,	७६	५	मृद	३०८	१३
मुण	२८१	२५	मृधु	१५४	१३
मुद	४०	१०	मृश	२८९	१८
,,	३२२	१५	मृषि	३२४	६

धातु	पृ०	पं०	धातु	पृ०	पं०
षु	२८६	२४	ष्टुच्	६२	९
षुल्	२७०	२	ष्टुन्	२१५	७
षुट्ट	३१४	२०	ष्टुप	३१९	१९
षुर	२८७	५	ष्टुभु	८३	१५
षुह	२५३	२	ष्टृक्ष्	१२४	२४
षू	२८६	२४	ष्टृहू	२८३	६
षूक्ष्	२०९	१२	ष्टृ	७९	१६
,,	२५३	२०	ष्टै	१६६	१६
षूद	४२	३	ष्ट्यै	१६५	१२
,,	३२१	१८	ष्ठल	१४८	११
षृभु	८९	१	ष्ठा	१६७	२१
षृम्भु	८९	१	ष्ठिवु	१०७	८
षेलृ	१०६	५	,,	२५१	१५
षेवृ	१०३	८	ष्णसु	२५१	१८
षै	१६५	२२	ष्णा	२२३	१५
षो	२५६	५	ष्णिह	२६४	२०
ष्टक	१४२	१०	,,	३१५	७
ष्टगे	१४३	१	ष्णु	२११	२०
ष्टन	९६	१७	ष्णुसु	२५१	१७
ष्टभि	८२	९	ष्णुह	२११	२०
ष्टम	१४८	१	,,	२६४	१७
ष्टिघ	२७४	२५	ष्णै	१६६	१७
ष्टिपृ	७९	१६	[illegible]	१७४	१९
ष्टिम	२५२	२१		१८१	३
ष्टीम	२५	२१		४०	२१

धातु	पृ०	प०	धातु	पृ०	प०
स्पृ	२७३	१६	स्यन्दू	१३७	२५
स्पृश	२८९	६	स्यम	३२०	१७
स्पृह	३२७	२४	स्यमु	१४७	१९
स्फर	२८५	४	स्रंसु	१३६	२०
स्फायी	१०१	१	स्रकि	५६	८
स्फिट्ट	३१८	३	स्रम्भु	८३	१३
स्फिठ	३१५	७	,,	१३७	२
स्फुट	७२	४	स्रिवु	२५१	१४
,,	२८४	१२	स्रु	१७२	७
,,	३२१	२१	स्रेकृ	५६	७
स्फुटि	३१३	२	स्वन	१४५	५
स्फुटिर	७६	१४	,,	१४७	१९
स्फुड	२८५	१	स्वर	३७७	१८
,,	२८५	६	स्वर्द	४०	२१
स्फुडि	३१३	१	स्वाद	४३	४
स्फुर	२८५	३	स्वाद	३२४	७
स्फुर्छा	६५	१७	स्वृ	१६९	२
स्फुल	२८५	५			
स्फूर्जा	६९	१	ह		
स्मिङ्	३१५	९	हट	७५	६
स्मिट	३१५	८	हठ	७७	७
स्मील	१०५	३	हद	१८१	१८
स्मृ	१४४	३	हन	१९९	१६
,,	१६९	१५	हम्म	९७	२१
,,	२७३	१८	हय	१०४	१